भारतीय साहित्यशास्त्र

(भारतीय साहित्यशास्त्रके मुख्य सिद्धान्तोंका तुलनात्मक अध्ययन)

प्रथम खंड

लेखक

बलदेव उपाध्याय, एम० ए० साहित्याचार्य

प्राध्यापक, संस्कृत-पाली-विभाग

हिन्दू विश्व विद्यालय, काशी

तथा

रामदीन रीडर (१९५०)

पटना विश्वविद्यालय,

पटना

MEHARCHAND MUNSHIRAM

SANSKRIT & HINDI BOOK-SELLERS

Nai Sarak, DELHI.

२००७ संवत्

प्रकाशक

प्रसाद परिषद्

काशी

प्रथम सस्करण २०००

मूल्य आठ रुपया

मुद्रक—

देवताप्रसाद गहमरी

संसार प्रेस, काशीपुरा

बनारस

काव्यशास्त्र

विना न साहित्यविदापरत्र
गुणः कथञ्चित् प्रथते कवीनाम् ।
आलम्बते तत्क्षणमम्भसीव
विस्तारमन्यत्र न तैलबिन्दुः ॥

—मङ्खक

*　*

शब्दार्थमात्रमपि ये न विदन्ति तेऽपि
यां मूर्च्छनामिव मृगाः श्रवणैः पिबन्तः ।
संरुद्ध-सर्व-करण-प्रसरा भवन्ति
चित्रस्थिता इव कवीन्द्रगिरं नुमस्तान् ॥

—जगद्धर

*　*　*

भुजतरुवनच्छायां येषां निषेव्य महौजसां
जलधिरशना मेदिन्यासीद् असावकुतोभया ।
स्मृतिमपि न ते यान्ति क्ष्मापा विना यदनुग्रहं
प्रकृतिमहते कुर्मस्तस्मै नमः कविकर्मणे ॥

—कल्हण

लेखककी रचनायें

संस्कृत

भरत—नाट्य शास्त्र

भामह—काव्यालङ्कार

श्री हर्ष—नागानन्द

वररुचि—प्राकृत प्रकाश

माधव—शङ्कर दिग्विजय

सायण—वेदभाष्य भूमिका

हिन्दी

भारतीय दर्शन

धर्म और दर्शन

बौद्ध दर्शन मीमांसा

आचार्य सायण और माधव

श्री शङ्कराचार्य

आर्य संस्कृतिके मूलाधार

संस्कृत साहित्यका इतिहास

संस्कृत वाङ्मय

वैदिक कहानियाँ

संस्कृत कवि चर्चा

सूक्ति मुक्तावली

कवि और काव्य

भारतीय साहित्यशास्त्र (दो भागोंमें)

गुरुवर

महामहोपाध्याय

साहित्याचार्य

पण्डित रामावतार शर्म्मा एम० ए०

की

पुण्य स्मृति में

सादर

स म र्पि त

वक्तव्य

आज हिन्दीके मर्मज्ञोंके करकमलमें 'भारतीय साहित्यशास्त्र'का एक नवीन खण्ड अर्पित करते मुझे विशेष हर्ष हो रहा है। पूर्वखण्डके प्रकाशनके लगभग तीन वर्ष बाद इस नूतन खण्डके प्रकाशनका अवसर आया है। इस बीचमें 'भारतीय सहित्यशास्त्र'का पूर्वप्रकाशित खण्ड विद्वानोंके समादरका भाजन बना, अनेक विश्वविद्यालयोंके एम० ए० परीक्षाका पाठ्यग्रन्थ बना तथा स्थानीय 'उत्तर प्रदेश' की सरकारकी ओरसे मान्य हिन्दी ग्रन्थ होनेके नाते पुरस्कार पानेमें भी समर्थ हुआ। मैं इस विषयमें अनेक विद्वानोंका आभार मानता हूँ।

प्रस्तुत खण्ड ग्रन्थका आदिम खण्ड है। इसमें चार परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेदमें साहित्यशास्त्रके **ऐतिहासिक विकासका** पूर्ण निदर्शन किया गया है तथा मान्य आचार्योंके समयके निरूपण तथा उनके कार्योंका विवरण प्रामाणिक ढंगसे प्रस्तुत किया गया है। इस परिच्छेदके परिशिष्ट-रूपमें '**भामहका एक विशिष्ट अनुशीलन**' जोड़ दिया गया है। यह अनुशीलन हमारे उस अँग्रेजी लेखका हिन्दी अनुवाद है जो भामहके काव्यालंकारके मूल संस्करणके साथ काशी (चौखम्भा संस्कृत सीरीजमें) से प्रकाशित हो चुका है। इस लेखमें निर्दिष्ट सिद्धान्त इतिहासज्ञोंको सर्वथा मान्य हैं। भारतमें ही नहीं, प्रत्युत भारतके बाहर भी यूरोपीय विद्वानों ने उन्हें युक्तियुक्त माना है। जर्मन विद्वान् डा० नोबेल ने तथा इटालियन विद्वान् डा० तुशीने अपने विभिन्न लेखोंमें इनकी प्रामाणिकता अंगीकृत की है। इसका हिन्दी अनुवाद हिन्दीके मान्य मासिक 'समालोचक' में धारावाहिक रूपमें प्रकाशित हुआ था। उसीका संशोधित रूप इस परिशिष्टका विषय है।

द्वितीय परिच्छेदमें साहित्यशास्त्रके **सैद्धान्तिक विकासका** दिग्दर्शन है। आलोचनाशास्त्रके अभ्युदयके साथ-साथ नवीन सम्प्रदायोंका भी जन्म यहाँ हुआ। जो लोग भारतीय आलोचना-शास्त्रको एकाकार प्रवाहित धारा मानते हैं वे तथ्यसे नितान्त दूर हैं। साहित्यशास्त्रमें जीवनी शक्ति थी। इसी लिए इसमें नये-नये सम्प्रदायकोंका उदय हुआ तथा साहित्यका अनुशीलन एक नूतन दृष्टिकोणसे होने लगा। आलोचनाके इतिहासमें भारतीय साहित्य-शास्त्र एक भव्य विभूति है जिसकी प्रभा समयके आवरणसे ढकती नहीं, प्रत्युत नये-नये रूपमें उन्मेष पा रही है।

तृतीय परिच्छेद—**कविरहस्य**—में कविविषयक सिद्धान्तोंका निर्धारण है। अलंकारशास्त्र विज्ञानके साथ ही साथ कला भी है; सिद्धान्त और व्यवहारका अनुपम सम्मिलन है। कविकलाके व्यवहारपक्षका निरूपण इस अध्यायकी विशेषता है।

चतुर्थ परिच्छेद—**काव्यरहस्य**—में काव्यविषयक नाना समस्याएँ सुलझाई गई हैं। काव्यके रूप, प्रयोजन तथा लक्ष्य आदि महनीय प्रश्नोंका उत्तर भारतीय पद्धतिसे देनेका यहाँ प्रयास किया गया है। पाश्चात्य आलोचनामें जो विषय विशेष महत्त्वशाली समझे जाते हैं, उनका यहाँ उभय पद्धतियोंको ध्यान में रखकर मार्मिक विवेचन किया गया है। कलामें प्रेरणा कहाँसे आती है? काव्यमें प्रतिभाका उपयोग कितना है? काव्यका क्षेत्र कितना विशाल है? काव्यमें बाह्य प्रकृतिका किरूप चित्रण अपेक्षित होता है? काव्यमें प्रेमकी भावना किस प्रकार अभिव्यक्त की गई है? आदि महत्त्वपूर्ण समस्याओंका मैंने समाधान उदार दृष्टिसे प्राचीन आचार्योंके मतोंका अनुगमन करते हुए किया है। मैंने काव्यके मौलिक तथ्योंको विशालदृष्टि रखकर समझाया है और यह दिखलाया है कि हमारे प्राचीन आलोचक आलोचनाके मर्मसे भली भाँति परिचित थे। उनके तथ्योंका समर्थन पाश्चात्य मनीषी भी अपनी दृष्टिसे आज करने लगे हैं।

मैंने अपनी विवेचन-पद्धतिको तुलनात्मक बनानेका यथेष्ट उद्योग किया है। पाश्चात्य आलोचकोंके मतोंका निर्देश पूर्वखण्डकी अपेक्षा इसमें कहीं अधिक है। अपने कथनकी पुष्टिमें मैंने उन लेखकोंके ग्रन्थोंके भी पर्याप्त उद्धरण स्थान स्थान पर दिये हैं। इन अँग्रेजी उद्धरणोंका भावानुवाद अवश्यमेव दे दिया गया है। इस प्रकार मेरी दृष्टिमें यह ग्रन्थ भारतीय आलोचनाको व्यवस्थाकी सुदृढ़ नींवपर रखनेका श्लाघनीय प्रयास यथाशक्ति कर रहा है।

इस ग्रन्थके बाह्य आवरणपर जो रुचिर चित्र दिया गया है, वह काशीके प्रौढ चित्रकार स्वर्गीय कण्टालेजीकी कृति है। राधाकृष्णकी युगल मूर्तिका संसृष्ट चित्र वागर्थमय काव्यका उज्ज्वल प्रतीक है। इस चित्रके दक्षिण भागमें मोरमुकुटधारी मुरलीधारी वनमालीकी छवि विराजती है, तो वाम भागमें उचित वेशभूषासे सुसज्जित राधिकाकी शोभा सरसती है। दोनोंका एक संतुलित रूपमें आविर्भाव 'साहित्य' के सौन्दर्यका चरम अवसान है। कालिदासने वागर्थके निमित्त अर्धनारीश्वरकी उपमा दी है, परन्तु यहाँ वैष्णव मतका अनुगमन कर एक नवीन कल्पना प्रस्तुत की गई है। इस चित्रके विषयमें हम कालिदासके श्लोकमें किञ्चित् परिवर्तन कर कह सकते हैं—

वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थ-प्रतिपत्तये।
जगतः सुहृदौ वन्दे राधिकाराधिकेश्वरौ॥

अन्तमें मैं उन ग्रन्थकारोंका बड़ा आभार मानता हूँ जिनके ग्रन्थोंसे स्थान स्थान पर सहायता ली गई है। मैं अपने अनुज डाक्टर कृष्णदेव उपाध्याय एम० ए०, पी एच० डी०, प्राध्यापक गवर्नमेण्ट टीचर्स ट्रेनिंग कालेज, लखनऊ को आशीर्वाद देता हूँ जिनकी 'निर्झर लेखनी'ने इस ग्रन्थके एक विशाल भागको अल्पकालमें ही लिपिबद्ध किया था। इस ग्रन्थके प्रूफ-संशोधनका दुष्कर कार्य बड़ी लगन तथा बड़े परिश्रमसे किया है हमारे पुराने

छात्र तथा वर्तमान सहयोगी, 'प्रसाद परिषद्' के वर्तमान मन्त्री, हिन्दी तथा संस्कृतके प्रौढ विद्वान् पण्डित करुणापति त्रिपाठी, एम० ए०, व्याकरणाचार्यने। एतदर्थ वे हमारे विशेष आशीर्वाद तथा विपुल आभारके भाजन हैं।

इस खण्डके प्रकाशनके साथ हमारी योजनाका आधा भाग आज सफल हो रहा है। अभी इसके दो खण्ड अवशिष्ट हैं। अगला खण्ड रस—ध्वनिवाला खण्ड होगा जो हमारी दृष्टिमें इस वाङ्मय-मन्दिरका कलशस्थानीय होगा। विश्वास है कि भगवान् विश्वनाथके अनुग्रहसे यह खण्ड भी निकट भविष्यमें कभी प्रकाशित हो सकेगा; तथास्तु।

व्योम्नीव नीरदभरः सरसीव वीचिव्यूहः सहस्रमहसीव सुधांशुधाम।
यस्मिन्निदं जगदुदेति च लीयते च तच्छाम्भवं भवतु वैभवमृद्धये नः॥

हरिप्रबोधिनी एकादशी
सं० २००७
२०–११–५०
काशी।

बलदेव उपाध्याय

विषय सूची

प्रथम परिच्छेद

साहित्यशास्त्रका ऐतिहासिक विकास

परिशिष्ट

भामह—एक अध्ययन

—o—

द्वितीय परिच्छेद

साहित्यशास्त्रका सैद्धान्तिक विकास

———

तृतीय परिच्छेद

कवि–रहस्य

———

चतुर्थ परिच्छेद

काव्य-रहस्य

अनुक्रमणिका

भा

र

ती

य

साहित्य

शा

स्त्र

साहित्यशास्त्र
का
ऐतिहासिक
विकास

*

भारतवर्षका यह सुन्दर देश सदासे प्रकृति-नटीका रमणीय रंगस्थल बना हुआ है। प्रकृति देवीने अपने कर-कमलोंसे सजाकर इसे शोभाका आगार तथा सुषमाका निकेतन बनाया है। इसका बाह्य रूप जितना अभिराम है, आन्तर रूप उतना ही आभासन है। इसका बाहरी रूप कितना सुन्दर है--उत्तरमें हिमसे आच्छादित हिमकिरीटी हिमालय है, जिसकी शुभ्र शिखर-श्रेणी सौन्दर्यका मूर्तिमान् अवतार है। दक्षिणमें नीलआभामय नीलाम्बुधि, जिसकी चपल लहरियां इसके चरण-युगलको धोकर निरन्तर शोभाका विस्तार करती है। पश्चिममें अरबका प्रभामण्डित अर्णव और पूरबमें श्यामल बंगालकी खाड़ी। मध्य देशमें बहती है, गंगा-यमुनाकी विमल धाराएँ। इस बाह्य रूपके समान ही इसका आभ्यन्तर भी सुन्दर तथा अभिराम है। इसे ललित कला तथा कमनीय कविताकी जन्मभूमि मानना सर्वथा उचित है। अत्यन्त प्राचीन कालमें कोमल कविताका उद्गम इसी भारत-भूतलपर सम्पन्न हुआ।

नामकरण

आलोचना शास्त्रकी भी उत्पत्ति इस देशमें अपेक्षाकृत प्राचीन समयमें हुई तथा उसका विकास अनेक शताब्दियोंके साहित्यिक प्रयासका परिणाम है। आलोचनाशास्त्रका प्राचीन तथा लोकप्रिय अभिधान है--अलंकारशास्त्र। साहित्यशास्त्र भी इसीका अभिधान है, परन्तु कालक्रमसे इसकी उत्पत्ति मध्ययुगीन तथा अवान्तरकालीन है। 'अलंकार-शास्त्र' नामकरण उस युगकी स्मृति बनाये हुए है जब अलंकारका

तत्त्व काव्यमयी अभिव्यंजनाके लिए सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता था। अलंकार-युग हमारे शास्त्रके आद्य आचार्य भामहसे भी प्राचीनतर है तथा वह उद्भट, वामन तथा रुद्रटके समय तक विद्यमान था। इन आचार्योंके ग्रंथोंके नामसे भी इसका पूरा परिचय मिलता है। भामहके ग्रन्थका नाम है—काव्यालंकार। इनके टीकाकार उद्भटके ग्रन्थका अभिधान है—काव्यालंकार-सार-संग्रह। वामन तथा रुद्रटके ग्रन्थोंका नाम भी इसी शैलीपर काव्यालंकार है। दण्डीके ग्रन्थका नाम 'काव्यादर्श' अलंकारके तत्त्वपर आश्रित नहीं है; फिर भी, दण्डी 'अलंकार'को काव्यमें आवश्यक उपकरण माननेमें इन सब आचार्योंमें अप्रतिम है। साहित्यशास्त्रके आरम्भयुगमें 'अलंकार' ही कविताका सबसे अधिक महत्त्वशाली उपकरण माना जाता था। अलंकारयुग इस शास्त्रके इतिहासमें अनेक दृष्टियोंसे महत्त्व रखता है। कारण यह है कि अलंकारकी गहरी मीमांसा करनेसे एक ओर 'वक्रोक्ति' का सिद्धान्त उद्भूत हुआ, और दूसरी ओर दीपक, पर्यायोक्त, तुल्ययोगिता आदि अलंकारोंके द्वारा काव्यमें प्रतीयमान अर्थसम्पन्न 'ध्वनि'के सिद्धान्तका भी उद्गम हुआ। वक्रोक्ति तो अलंकार-युगकी ही देन है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। इसी लिए इसके अप्रतिम आचार्य कुन्तकने अपने ग्रन्थ 'वक्रोक्तिजीवित'को 'काव्यालंकार'के नामसे अभिहित किया है[1]। कुमारस्वामीका यह कथन बिलकुल ठीक है कि रस, ध्वनि, गुण आदि विषयोंके प्रतिपादक होनेपर भी प्राधान्य दृष्टिसे ही इस शास्त्रका 'अलंकार-शास्त्र' अभिधान युक्तियुक्त है[2]।

१—काव्यस्यायमलंकारः कोऽप्यपूर्वो विधीयते ।

—व० जी० १।२

२—यद्यपि रसालंकाराद्यनेकविषयमिदं शास्त्रं तथापि छत्रिन्यायेन अलंकारशास्त्रमुच्यते ।

—प्रतापरुद्रीयकी टीका—रत्नापण, पृ० ३

वामनने 'अलंकार' शब्दके अभिप्रायको और भी महत्त्वपूर्ण तथा उपादेय बना डाला। उनकी दृष्टिमें अलंकार केवल शब्द तथा अर्थकी बाह्य शोभाका वर्धक भूषणमात्र न होकर काव्यका मूलभूत तत्त्व है। वामनके लिए अलंकार सौन्दर्यका ही प्रतीक है——**सौन्दर्यमलंकारः** (वामन——काव्यालंकार १।१।२)। काव्यमें जितने शोभाधायक तत्त्व हैं——दोषोंका अभाव तथा गुणोंका सद्भाव——जिनके द्वारा काव्यकी विशिष्टता अन्य प्रकारके शब्दार्थोंसे सिद्ध होती है उन सबका सामान्य अभिधान है——अलंकार। वामनके हाथमें आकर इस शब्दने अत्यन्त महत्त्व तथा गौरव प्राप्त कर लिया और यह सौन्दर्य शास्त्रका प्रतिनिधि माना जाने लगा।

सौन्दर्यशास्त्र

हमारे आलोचकोंकी सूक्ष्म गवेषणा काव्यके तत्त्वोंमें 'सौन्दर्य'पर जाकर टिकी थी। वे भली भांति जानते थे कि काव्यमें सौन्दर्य ही मौलिक तत्त्व है जिसके अभाव में न तो अलंकारमें अलंकारत्व रहता है और न ध्वनिमें ध्वनित्व। दण्डीके शब्दोंमें काव्यमें शोभा करनेवाले धर्मोंका ही नाम अलंकार है।

काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते।

—काव्यादर्श २।१

यदि अलंकारमें शोभाधायक गुणका अभाव हो, तो वह 'भूषण' न होकर निःसन्देह 'दूषण' बन जायगा। अभिनवगुप्तने अलंकारके लिए चारुत्वके अतिशयको नितान्त आवश्यक माना है[1]। चारुत्वके अतिशयसे

१—तथा जातीयानामिति। चारुत्वातिशयवतामित्यर्थः। सुन्दरा इति यत् किलैषा तद्विनिर्मुक्तं रूपं न तत् काव्येऽभ्यर्थनीयम्। उपमा हि 'यथा गौस्तथा गवयः' इति .... एवमन्यत्। न चैवमादि काव्योपयोगीति।

—लोचन, पृ० २१०

विरहित अलंकारकी काव्यमें कोई भी उपादेयता नहीं होती। जो सोनेकी अंगूठी अँगुलियोंकी शोभा बढ़ानेमें समर्थ नहीं होती, वह सर्वथा त्याज्य होती है, स्पृहणीय नहीं। अतः अलंकारका सर्वमान्य गुण है चारुत्व, सौन्दर्य।

भोजराजका भी यही मत है। उन्होंने भी दण्डीके मतका अनुसरण कर 'काव्यशोभाकरत्व'को अलंकारका सामान्य लक्षण माना है और 'धूमोऽयमग्नेः' (अग्निके कारण यह धूम है)—वाक्य किसी प्रकारके सौन्दर्यके अभावमें किसी भी अलंकारका उदाहरण नहीं बन सकता। अप्पय दीक्षितने अपनी 'चित्रमीमांसा'में इसी बातपर विशेष जोर देते हुए लिखा है—

सर्वोऽपि ह्यलङ्कारः कविसमयप्रसिद्ध्यनुरोधेन हृद्यतया काव्यशोभाकर एव अलङ्कारतां भजते। अतः 'गोसदृशः गवयः' इति नोपमा।

—चित्रमीमांसा पृ० ६ (नि० सा०)

'गायके सदृश गवय होता है' इस वाक्यमें सादृश्य होनेपर भी उपमा अलंकारका इसी लिए अभाव है कि यहां किसी प्रकारका सौन्दर्य नहीं है। अलंकारके लिए यह सामान्य नियम है कि वह हृदयावर्जक होता हुआ काव्यकी शोभाका विधायक अवश्यमेव होता है।

अलङ्कारके लिए ही इस आवश्यक उपकरणकी अपेक्षा नहीं रहती, प्रत्युत ध्वनिके लिए भी। किसी काव्यमें प्रतीयमान अर्थका सद्भाव ही 'ध्वनि'के लिए पर्याप्त नहीं होता, प्रत्युत उसे सुन्दर भी होना ही चाहिए। असुन्दर प्रतीयमान अर्थसे 'ध्वनि'का उदय कभी नहीं होता। अभिनव गुप्तका इस विषयमें स्पष्ट कथन है कि ध्वनन व्यापार होनेपर भी गुण, अलंकारके औचित्यसे सम्पन्न, सुन्दर शब्दार्थ शरीरवाले वाक्यको काव्यकी पदवी दी जाती है[१]। इसलिए ध्वनन

१.—गुणालंकारौचित्यसुन्दरशब्दार्थशरीरस्य सति ध्वननात्मनि आत्मनि काव्यरूपताव्यवहारः। —लोचन, पृ० १७

व्यापार होनेपर ध्वनि'की सत्ता सर्वत्र मानी नहीं जा सकती, क्योंकि ध्वनिके लिए केवल ध्वनन व्यापारकी ही अपेक्षा नहीं रहती, प्रत्युत उसके सौन्दर्य-मण्डित होनेकी भी नितान्त आवश्यकता रहती है। अभिनव-गुप्तकी उक्ति नितान्त स्पष्ट है—

तेन सर्वत्रापि न ध्वननसद्भावेऽपि तथा व्यवहारः। (लोचन पृ० २८)

इसलिए अभिनवगुप्तका यह परिनिष्ठित मत है—**सौन्दर्य ही काव्यकी, कलाकी, आत्मा है**—

यच्चोक्तम्—'चारुत्वप्रतीतिः तर्हि काव्यस्य आत्मा' इति तद् अंगीकुर्म एव। नास्ति खल्वयं विवाद इति। (लोचन पृ० ३३)

इस अनुशीलनसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि भारतीय आलोचकोंकी दृष्टि काव्यके बाह्य उपकरणोंको हटाकर अन्तस्तल तक पहुँची हुई थी। वे केवल बाह्य अलंकारको काव्यका भूषण माननेके लिए तबतक उद्यत नहीं होते थे जबतक उसमें 'सौन्दर्य'की सत्ता नहीं होती थी। यही सौन्दर्य भिन्न-भिन्न अभिधानोंसे प्रसिद्ध था। चमत्कार, विच्छित्ति, वैचित्र्य तथा वक्रता इसी सौन्दर्य-तत्त्वकी भिन्न-भिन्न संज्ञाएं हैं। सौन्दर्यको अत्यन्त महत्त्वशाली माननेपर भी हमारा शास्त्र 'सौन्दर्य-शास्त्र'के नामसे अभिहित होते-होते बच गया। ऐसा होनेपर यह पाश्चात्योंके 'एस्थेटिक्स'का पर्यायवाची शास्त्र बन गया होता। परन्तु सौन्दर्यशास्त्रका क्षेत्र साहित्यशास्त्रके क्षेत्रसे कहीं अधिक व्यापक तथा विशाल है। साहित्यशास्त्र तो केवल शब्दके माध्यम द्वारा निर्मित कलाकी ही द्योतना करता है, परन्तु सौन्दर्यशास्त्र ललित कलाओं, जैसे भास्कर्य, चित्र तथा संगीत आदिमें निर्दिष्ट चारुत्वको भी अपने क्षेत्रके अन्तर्गत करता है। अतः दोनोंका पार्थक्य मानना न्यायसंगत ही है।

साहित्यशास्त्र

मध्ययुगमें हमारे शास्त्रके लिए 'साहित्यशास्त्र' का अभिधान पड़ा। सबसे प्रथम राजशेखरने (१० शतक) इस शब्दका प्रयोग हमारे शास्त्रके

लिए किया है—पञ्चमी साहित्यविद्या इति यायावरीयः (काव्य-मीमांसा, पृ० ४)। साहित्य शब्दकी उत्पत्तिके मूलमें शब्द तथा अर्थके परस्पर वैयाकरण सम्बन्धकी घटना जागरूक है। इस शब्दकी उत्पत्ति भामहकृत काव्यलक्षणसे हुई। भामहका लक्षण है—शब्दार्थौ सहितौ काव्यम् (काव्यालंकार १।१६) और साहित्यकी व्युत्पत्ति है—सहितयोः शब्दार्थयोः भावः = साहित्यम्। आनन्दवर्धनके समयमें इस शब्दकी महत्ता अंगीकृत हो चली थी, परन्तु भोज और कुन्तकने इस शब्दके वास्तव महत्त्वपूर्ण तात्पर्यका प्रकाशन कर इसकी महिमाका स्फुटीकरण किया। कुन्तक 'साहित्य'के अभिप्राय-प्रकाशक हमारे मान्य आलोचक हैं। उनके पश्चात् इस शब्दका गौरव बढ़ने लगा और रुय्यकने 'साहित्यमीमांसा' तथा कविराज विश्वनाथन 'साहित्यदर्पण' लिखकर इस अभिधानको और भी लोकप्रिय बनाया। विश्वनाथ कविराजके ग्रन्थके समधिक लोकप्रिय होनेसे यह नाम अधिकतर व्यापक हुआ। इस प्रकार 'अलंकारशास्त्र'के समान प्राचीन न होने पर भी यह नाम उतना ही लोकप्रिय तथा व्यापक है।

क्रियाकल्प

इन अभिधानोंकी अपेक्षा इस शास्त्रका एक प्राचीनतर नाम है—क्रियाकल्प, जिसका उल्लेख चौंसठ कलाओंकी गणनामें कामशास्त्रमें किया गया है। 'काव्यक्रिया'के अनन्तर दो सहायक विद्याओंके नाम आते हैं—(१) अभिधानकोश, (२) छन्दोज्ञान। तदनन्तर क्रियाकल्पका नाम कलाओंकी गणनामें आता है। यह विद्या भी काव्य-विद्यासे ही सम्बद्ध होनी चाहिये और है भी यह वैसी ही। क्रियाकल्पका पूरा नाम है काव्यक्रियाकल्प अर्थात् काव्यक्रियाकी विधि या आलोचना-शास्त्र। इस अर्थमें इस शब्दका प्रयोग साहित्य ग्रंथोंमें मिलता भी है। ललितविस्तरमें कलाओंकी गणनामें 'क्रियाकल्प'का उल्लेख है।

जयमंगलाके अनुसार इसका अर्थ है—क्रियाकल्प इति काव्यकरण-विधिः काव्यालंकार इत्यर्थः (अलंकारशास्त्र)। दण्डी इस नामसे परिचित प्रतीत होते हैं। उनका कथन है—

वाचां विचित्रमार्गाणां निबबन्धुः क्रियाविधिम् (काव्यादर्श १।९)

यहां 'क्रियाविधि' क्रियाकल्पका ही नामान्तर है और दण्डीके टीकाकारोंने इस शब्दकी व्याख्या इसी अर्थमें की है। रामायणके उत्तरकाण्डमें अनेक कलाओं और विद्याओंके साथ इस शब्दका भी प्रयोग उपलब्ध होता है। ९४ वें अध्यायमें (श्लोक ४-१०) वाल्मीकिने लवकुशके गायनको सुननेवाले विद्वानोंकी चर्चा की है जो रामकी सभामें उपस्थित थे। उनमें पण्डित, नैगम, पौराणिक, शब्दविद् (वैयाकरण), स्वर-लक्षणज्ञ, गान्धर्व, कलामात्रविभागज्ञ, पदाक्षरसमासज्ञ, छन्दसि परिनिष्ठित लोग उपस्थित थे। इनके साथ उपस्थित थे—

क्रियाकल्पविदश्चैव तथा काव्यविदो जनान् (श्लोक ७)।

व्याकरण तथा छन्दःशास्त्रके साथ अलंकारशास्त्रका ही निर्देश युक्ततर प्रतीत होता है।

अतः दण्डी, वात्स्यायन तथा रामायणके साक्ष्यपर यह निस्सन्देह प्रतीत होता है कि हमारे आलोचना-शास्त्रका प्राचीनतम नाम 'क्रियाकल्प' था और यह सुप्रसिद्ध चतुःषष्टि कलाओंमें अन्यतम कला मानी जाती थी।

शास्त्रका प्रारम्भ

भारतीय साहित्यमें अलंकारशास्त्र एक महनीय तथा सुप्रतिष्ठित शास्त्र है जिसके सिद्धान्तका प्रतिपादन विक्रमके आरम्भकालसे लेकर आजतक—लगभग २००० वर्षके सुदीर्घ कालमें—होता चला आ रहा है। परन्तु इस शास्त्रका आरम्भ किस कालमें हुआ, यह निश्चित रूपसे

नहीं कहा जा सकता। राजशेखरने काव्यमीमांसाके आरम्भमें इस शास्त्रके उदयकी चर्चा की है। यह वर्णन किसी भी अलंकार ग्रन्थमें अबतक उपलब्ध नहीं हुआ है। परन्तु अबतक अज्ञात होनेके कारण इस वर्णनकी हम अवहेलना भी नहीं कर सकते। बहुत संभव है कि राजशेखर किसी प्राचीन परम्पराका अनुसरण कर रहे हों जो या तो सर्वथा उच्छिन्न हो गयी है या बहुत ही कम प्रसिद्ध है। राजशेखरके अनुसार काव्यमीमांसाका प्रथम उपदेश भगवान् श्रीकृष्णने ब्रह्मा, विष्णु आदि अपने ६४ शिष्योंको दिया। स्वयंभू ब्रह्माने भी अपने मानसजन्मा विद्यार्थियोंको इस शास्त्रका उपदेश दिया। इन्हींमें सबसे वन्दनीय सर्वशास्त्रवेत्ता थे सरस्वतीके पुत्र सारस्वतेय काव्यपुरुष। प्रजापतिने प्रजाओंकी हित-कामनासे प्रेरित होकर इन्हीं काव्य-पुरुषको काव्य-विद्याकी प्रवर्तनाके लिये नियुक्त किया। उन्होंने इस विद्याको अठारह अधिकरणोंमें लिखकर अठारह शिष्योंको अलग-अलग पढ़ाया। इन शिष्योंने गुरुके द्वारा प्रदत्त विद्याके बहुल प्रचारके लिए काव्यके अठारहों अङ्गोंपर अठारह ग्रन्थोंका निर्माण किया।[1] सहस्राक्षने कविरहस्यका, उक्तिगर्भने औक्तिकका, सुवर्णनाभने रीतिनिर्णयका, प्रचेतायनने अनुप्रासका, चित्राङ्गदने यमक और चित्रका, शेषने शब्दश्लेषका, पुलस्त्यने वास्तवका, औपकायनने औपम्यका, पाराशरने अतिशयका, उतथ्यने अर्थश्लेषका, कुबेरने उभयालंकारिकका, कामदेवने विनोदका, भरतने रूपक-निरूपणका, नन्दिकेश्वरने रसाधिकारिकका, धिषणने दोषाधिकरणका, उपमन्युने गुणोपादानिकका तथा कुमारने औपनिषदिकका स्वतन्त्र शास्त्रोंमें वर्णन किया।

इन आचार्योंमें कतिपय आचार्य वात्स्यायनके 'कामसूत्र'में भी वर्णित हैं। सुवर्णनाभ और कुचमार (अथवा कुचुमार) कामशास्त्रमें

१.—राजशेखर—काव्यमीमांसा, पृ० १

उपजीव्य आचार्योंके रूपमें उल्लिखित किये गये हैं (कामसूत्र १।१।१३,१७) । नाट्यशास्त्रके रचयिता भरतको रूपकका शास्त्रकर्ता मानना उचित ही है। नन्दिकेश्वरका रसविषयक ग्रन्थ अभीतक उपलब्ध नहीं हुआ है। परन्तु कामशास्त्र, संगीत तथा अभिनयके विशेषज्ञके रूपमें उनका उल्लेख मिलता है । उदाहरणार्थ पंचसायक तथा रतिरहस्यमें नन्दीश्वर कामशास्त्रके विषयके रचयिता माने गये हैं। अभिनय-विषयक इनका ग्रन्थ अभिनय-दर्पण[1]के नामसे प्रसिद्ध है। संगीत-रत्नाकरमें शार्ङ्गदेव नन्दिकेश्वरको संगीतका आचार्य मानते हैं। इन आचार्योंके अतिरिक्त राजशेखरके द्वारा उल्लिखित ग्रन्थकारोंका परिचय नहीं मिलता ।

वेदोंमें अलंकार

वैदिक साहित्यमें अलंकार शास्त्रका कहीं भी निर्देश नहीं मिलता और न वेदके षडङ्गोंमें ही अलंकार शास्त्रकी गणना है । परन्तु इस शास्त्रके मूलभूत अलंकार—उपमा, रूपक, अतिशयोक्ति आदिके—अत्यन्त सुन्दर उदाहरण हमें वैदिक संहिताओं और उपनिषदोंमें उपलब्ध होते हैं । अलंकारोंमें उपमा तो अत्यन्त प्राचीन है । इसका संबंध कविताके प्रथम आविर्भावसे ही है । आर्योंकी प्राचीनतम कविता ऋग्वेदमें उपनिबद्ध है। बहुतसे अलंकारोंके उदाहरण ऋग्वेदकी ऋचाओंमें मिलते हैं। उषा-विषयक इस ऋचामें चार उपमाएँ एक साथ दी गई हैं—

१—'अभिनय-दर्पण' संस्कृत मूल तथा अंग्रेजी अनुवादके साथ कलकत्ता संस्कृत सीरीज़में (नं० ५, १९३४ ई०) प्रकाशित हुआ है। इसके पहले डा० कुमारस्वामीने इसका केवल अंग्रेजी अनुवाद 'मिरर आफ जेश्चर'के नामसे किया है।

अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची, गर्तारुगिव सनये धनानाम् ।
जायेव पत्य उशती सुवासा, उषा हस्रेव नि रिणीते अप्सः ॥
ऋ० वे० १।१२४।७

अतिशयोक्ति अलंकारका यह उदाहरण देखिये—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया, समानं वृक्षं परि षस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति ॥
ऋ० वे० १।१६४।२०

रूपकालंकारका सुन्दर प्रयोग कठोपनिषद्के इस सुप्रसिद्ध मन्त्रमें है—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि, मनः प्रग्रहमेव च ॥
कठोपनिषद् १।३।३

इन उदाहरणोंसे स्पष्ट है कि वैदिक मन्त्रोंमें अलंकारोंकी सत्ता स्पष्टतः विद्यमान है । यही क्यों ? उपमा शब्द भी ऋग्वेदमें (५।३४।६;१।३१।१५) उपलब्ध होता है जिसका सायणने अर्थ किया है— उपमान या दृष्टान्त । परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि इतने प्राचीन कालमें उपमाका शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत किया था । यह केवल सामान्य निर्देश है, इसका विशेष ऐतिहासिक मूल्य नहीं हो सकता ।

निरुक्तमें 'उपमा'

उपमाके वर्णन तथा विभाजनका निश्चित रूपसे विवेचन निघण्टु तथा निरुक्तमें मिलता है । भाषाके सामान्य विवेचनके अनन्तर उसे शोभित करनेवाले अलंकारोंकी ओर लेखकोंकी दृष्टि जाना स्वाभाविक है । निरुक्तमें अलंकार शब्द पारिभाषिक अर्थमें उपलब्ध नहीं होता, परन्तु यास्कने 'अलंकरिष्णु' शब्दका प्रयोग अलंकृत करनेके शीलवाले व्यक्तिके अर्थमें अवश्य किया है । यह शब्द इसी अर्थमें शतपथ ब्राह्मण (३।५।१।३६) तथा छान्दोग्य उपनिषद् में (८।८।५) भी उपलब्ध होता है । परन्तु निघण्टुमें वैदिक उपमाके द्योतक बारह निपातों—

अव्ययोंका उल्लेख किया गया है। इसी प्रसंगमें यास्कने उपमाके अनेक भेद तथा गार्ग्य नामक वैयाकरण द्वारा उपमाके लक्षणका वर्णन अपने ग्रन्थमें किया है। गार्ग्य निरुक्तकार यास्कसे भी प्राचीन आचार्य थे। उनका उपमाका लक्षण इस प्रकार है[1]—उपमा यत् अतत् तत्सदृशमिति—अर्थात् उपमा वहां होती है जहां एक वस्तु दूसरी वस्तुसे भिन्न होते हुए भी उसीके सदृश हो। दुर्गाचार्यने इसकी व्याख्या करते हुए स्पष्ट लिखा है कि उपमा वहां होती है जहां स्वरूपतः भिन्न होते हुए भी कोई वस्तु किसी अन्य वस्तुके साथ गुणकी समानताके कारण सदृश मानी जाय[2]। गार्ग्यका यह भी उल्लेख है कि उपमानको उपमेयकी अपेक्षा गुणोंमें श्रेष्ठ तथा अधिक होना चाहिए। इसके विपरीत भी उदाहरण दिये गये हैं जहां हीन गुणवाले उपमानसे अधिक गुणवाले उपमेयकी तुलना की गयी है और इस प्रसंगमें ऋग्वेदसे उदाहरण भी दिये गये हैं। गार्ग्यके इस उपमा-लक्षणको देखकर किसी भी आलोचकको मम्मटके सुप्रसिद्ध उपमा-लक्षणका स्मरण आये बिना नहीं रहेगा[3]। इससे स्पष्ट है कि निरुक्तकारसे (६०० ईसा-पूर्व) पूर्व ही उपमाकी शास्त्रीय कल्पना हो चुकी थी।

यास्कने पांच प्रकारकी उपमाका वर्णन अपने ग्रन्थमें किया है[4]। उपमाके द्योतक निपात इव, यथा, न, चित्, नु और आ हैं। इन वाचक

१—अथात उपमा यत् अतत् तद् सदृशमिति गार्ग्यः। तदासां कर्म ज्यायसा वा गुणेन प्रख्याततमेन वा कनीयांसं वा प्रख्यातं वोपमिमीते, अथापि कनीयसा ज्यायांसम्—निरुक्त ३।१३।

२—एवं एतत् तत्स्वरूपेण गुणेन गुणसामान्यात् उपमीयते इत्येव गार्ग्याचार्यो मन्यते। दुर्गाचार्य—निरुक्तकी टीका ३।१३।

३—साधर्म्यं उपमा भेदे। काव्यप्रकाश १०।१।

४—यास्क—निरुक्त ३।१३।१८।

पदोंके प्रयोग होनेपर यास्कके अनुसार 'कर्मोपमा' होती है । 'भ्राजन्तो अग्नयो यथा' (ऋ० वे० १।५०।३) = 'अग्निके समान चमकते हुए' यह कर्मोपमाका उदाहरण है ।

भूतोपमा वहां होती है जहां उपमित स्वयं उपमान बन जाता है । रूपोपमा वहां होती है जहां उपमित उपमानके साथ स्वरूपके विषयमें समता रखता है । सिद्धोपमामें उपमान स्वतः सिद्ध रहता है और एक विशेष गुण या कर्मके द्वारा अन्य वस्तुओंसे बढ़कर रहता है । वत् प्रत्ययके जोड़नेपर यह उपमा निष्पन्न होती है—'ब्राह्मणवत्', 'वृषलवत्' । अन्तिम भेद अर्थोपमा है जिसका दूसरा नाम लुप्तोपमा है । यह पिछले आलंकारिकोंका रूपकालंकार है । इस उपमाके उदाहरण हैं— 'सिंहः पुरुषः' तथा 'काकः पुरुषः' । यास्कके अनुसार सिंह तथा व्याघ्र शब्द पूजाके अर्थमें और श्वा तथा काक, निन्दाके अर्थमें प्रयुक्त होते हैं । इस विभाजनसे यह प्रतीत होता है कि यास्कके समयमें अलंकारका शास्त्रीय विवेचन आरम्भ हो चुका था ।

पाणिनि और उपमा

पाणिनिके (५०० ईसा-पूर्व) समयमें उपमाकी यह शास्त्रीय कल्पना सर्वत्र स्वीकृत की गयी थी । इसी लिए पाणिनिकी अष्टाध्यायीमें उपमा, उपमान, उपमित तथा सामान्य जैसे अलंकार शास्त्रके पारिभाषिक शब्द प्रयुक्त किये गये हैं[1] । पूर्ण उपमाके चार अंग होते हैं—उपमान, उपमेय, सादृश्यवाचक तथा साधारण धर्म—और इन चारोंका स्पष्ट निर्देश पाणिनिने अपने व्याकरण शास्त्रमें किया है । इतना ही नहीं, कृत्, तद्धित, समासान्त प्रत्ययों, समासके विधान तथा स्वरके

१.—तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयान्यतरस्याम्। २।३।७२

उपमानानि सामान्यवचनैः। २।१।५५

उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे। २।१।५६

ऊपर सादृश्यके कारण जो व्यापक प्रभाव पड़ता है उसका पाणिनिके सूत्रोंमें स्पष्ट उल्लेख है। कात्यायन इस विषयमें पाणिनिके स्पष्ट अनुयायी हैं। शान्तनव नामक आचार्यने अपने फिट् सूत्रोंमें (२।१६, ४।१८) स्वरविधानपर सादृश्यका जो प्रभाव पड़ता है उसका स्पष्ट वर्णन किया है। पतञ्जलिने पाणिनिके द्वारा प्रयुक्त 'उपमान' शब्दकी व्याख्या महाभाष्यमें (२।१।५५) की है। उनका कहना है कि मान वह वस्तु है जो किसी अज्ञात वस्तुके निर्धारणके लिए प्रयुक्त की जाती है। 'उपमान' मानके समान होता है और वह किसी वस्तुका अत्यन्त रूपसे नहीं, प्रत्युत सामान्य रूपसे निर्देश करता है; जैसे—'गौरिव गवयः' गायके समान नीलगाय होती है[1]। काव्यपद्धतिसे 'गौरिव गवयः' चमत्कारविहीन होनेके कारण उपमालंकारका उदाहरण नहीं हो सकता, तथापि शास्त्रीय तथा ऐतिहासिक दृष्टिसे पतंजलिका यह उपमा-निरूपण महत्त्व रखता है।

व्याकरणका अलंकारशास्त्रपर प्रभाव

अलंकार शास्त्रके उदयका इतिहास जाननेके लिए उसपर व्याकरण शास्त्रके व्यापक प्रभावको समझ लेना भी आवश्यक है। उपमाका श्रौती तथा आर्थी रूपमें विभाजन पाणिनिके सूत्रोंपर ही अवलम्बित है। जहां यथा, इव, वा, आदि पदोंके द्वारा साधर्म्यकी प्रतीति होती है वहां आर्थी उपमा होती है। पाणिनिके 'तत्र तस्येव' सूत्रके अनुसार 'इव'के अर्थको द्योतित करनेके लिए जब वत् प्रत्ययका प्रयोग किया जाता है तब श्रौती उपमा होती है, यथा—'मथुरावत् पाटलिपुत्रे प्रासादाः' अर्थात् मथुराके समान पाटलिपुत्रमें महल हैं। यहां 'मथुरावत्' पदमें 'वत्' प्रत्यय सप्तमी विभक्तिसे

१—मानं हि नाम अनिर्ज्ञातार्थमुपादीयते अनिर्ज्ञातमर्थं ज्ञास्यामीति। तत्समीपे यत् नात्यन्ताय मिमीते तद् उपमानं गौरिवं गवय इति। पाणिनिपर २।१।५५ महाभाष्य।

युक्त होनेपर जोड़ा गया है। यहां 'मथुरावत्' का—अर्थ है 'मथुरायामिव'। इसी प्रकार 'चैत्रवत् गोविन्दस्य गावः' इस वाक्यमें 'वत्' प्रत्यय षष्ठी विभक्तिसे युक्त पदमें जोड़ा गया है, चैत्रवत्—चैत्रस्य इव। परन्तु जहां क्रियाके साथ सादृश्यका बोध कराना अभीष्ट होता है वहां भी 'वति' प्रत्यय जोड़ा जाता है और वहां आर्थी उपमा होती है। 'ब्राह्मणवत् क्षत्रियो अधीते' इस वाक्यमें आर्थी उपमा है और यह 'तेन तुल्यं क्रियाचेद्वतिः' सूत्रके अनुसार है। इसी प्रकार समासगा श्रौती उपमा 'इव' पदके प्रयोग करनेपर 'इवेन सह नित्यसमासो विभक्त्यलोपश्च' वार्तिकके अनुसार होती है। इसी तरह कर्म तथा आधारमें 'क्यप्' प्रत्ययके प्रयोग होनेपर तथा 'क्यङ्' प्रत्ययके विधान करनेपर कई प्रकारकी लुप्तोपमाएं उत्पन्न होती हैं। उपमाका यह समग्र विभाजन पाणिनिके सूत्रोंके आधारपर ही किया गया है। इस विभाजनको सर्व प्रथम आचार्य उद्भटने किया था। अतः यह अर्वाचीन आलंकारिकोंके प्रयत्नका फल नहीं है, वरन् अलंकारशास्त्रके आदिम युगसे सम्बन्ध रखता है।

संकेत

संकेत-ग्रहके विषयमें भी आलंकारिक वैयाकरणोंका ही अनुयायी है[1]। नैयायिक लोग जातिविशिष्ट व्यक्तिमें संकेत मानते हैं। मीमांसक केवल जातिमें ही शब्दोंका संकेत मानता है और जातिके द्वारा वह व्यक्तिका आक्षेप स्वीकार करता है। परन्तु आलंकारिक वैयाकरणोंके 'चतुष्टयी हि शब्दानां प्रवृत्तिः' सिद्धान्तका अनुगमन करता है। पतञ्जलिके अनुसार शब्दका संकेत जाति, गुण, क्रिया तथा यदृच्छा शब्दमें हुआ करता है और आलंकारिकोंका भी यही मत है। इतना ही नहीं, ध्वनि तथा व्यञ्जनाके मौलिक सिद्धान्त

१—संकेतितश्चतुर्भेदो जात्यादिर्जातिरेव वा।

—काव्यप्रकाश २।४

भी वैयाकरणोंके तथ्योंपर ही आश्रित है। ध्वनिकी कल्पना स्फोटके ऊपर पूर्णतः अवलम्बित है, यह मम्मटने स्पष्टतः स्वीकार किया है। वैयाकरण स्फोटको अभिव्यञ्जित करनेवाले शब्दमात्रके लिए ध्वनि शब्दका प्रयोग करता है परन्तु आलंकारिक शब्दके अर्थको विस्तृत कर व्यंजनामें समर्थ शब्द तथा अर्थ, दोनोंके लिये 'ध्वनि'का प्रयोग करता है—

"बुधैः वैयाकरणैः प्रधानभूतव्यङ्ग्यव्यञ्जकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृतः। तन्मतानुसारिभिः अन्यैरपि न्यग्भावितवाच्यवाचकस्य शब्दार्थयुगलस्य।"

—काव्यप्रकाश, उद्योत १

भारतीय दार्शनिकोंके मतोंका खंडनकर आलंकारिकोंने 'व्यञ्जना' नामक जिस नवीन शब्दशक्तिकी स्वतन्त्र प्रतिष्ठाके लिए अश्रान्त परिश्रम किया है उस व्यापारकी उद्भावना वैयाकरणोंने पहिले ही की थी[1]। स्फोटकी सिद्धिके लिए व्यञ्जनाकी कल्पना व्याकरण शास्त्रमें की गई है। इसी कल्पनाके आधारपर आलंकारिकोंने भी व्यञ्जनाका अपना भव्य प्रासाद खड़ा किया है। अतः व्याकरणको अलंकारका उपजीव्य आनन्दवर्धनने स्पष्टतः स्वीकार किया है—

"प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणाः। व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानाम्।"

—ध्वन्यालोक, उद्योत १

इस उपर्युक्त वर्णनसे हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जिन सिद्धान्तोंको आधार मानकर अलंकार शास्त्र विकसित होनेवाला था वे विक्रमसे बहुत पूर्व व्याकरणके आचार्यों द्वारा उद्भावित किये गये थे। अलंकारशास्त्रके प्रारम्भिक इतिहासकी खोज करते समय उपर्युक्त

१—पतञ्जलि—महाभाष्य

बातोंपर ध्यान देना आवश्यक है। इससे यह ज्ञात होता है कि अलंकार शास्त्रका प्रारम्भ भी उतना ही प्राचीन है जितना वैयाकरणोंके द्वारा इस शास्त्रके कतिपय सिद्धान्तोंका निर्देश है।

वाल्मीकि—प्रथम आलोचक

इस प्रसङ्गमें संस्कृत भाषामें निबद्ध प्राचीन काव्योंका अनुशीलन भी अनेक अंशमें उपयोगी सिद्ध हो सकता है। रामायणके रचयिता महर्षि वाल्मीकि संस्कृत साहित्यके आदि कवि ही नहीं थे प्रत्युत आदिम आलोचक भी थे। कारयित्री प्रतिभाके विलाससे कविता होती है और भावयित्री प्रतिभाका परिणाम भावकता होती है। वाल्मीकिमें यह दोनों प्रकारकी प्रतिभा पूर्णरूपसे विद्यमान थी। व्याधके बाणसे बिधे हुए क्रौञ्चके लिए विलाप करनेवाली क्रौञ्चीके करुण क्रन्दनको सुनकर जिस ऋषिके मुँहसे—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

यह श्लोक बरबस निकल पड़ता है वह निःसन्देह सच्चा कवि है। जो व्यक्ति इसकी व्याख्या करते समय

समाक्षरैश्चतुर्भिर्यः पादैर्गीतो महर्षिणा।
सोऽनुव्याहरणाद् भूयः शोकः श्लोकत्वमागतः॥

—बालकाण्ड २।४०

लिखकर 'शोक' का 'श्लोक'के साथ समीकरण करता है वह निःसन्देह एक महनीय भावक है, आलोचक है। कविताका मूल स्रोत भावाभिव्यक्ति है। कविके हृदयमें उद्वेलित होनेवाले भावोंको शब्दोंके द्वारा प्रकट करनेवाली ललित वस्तुका ही नाम 'कविता' है। इसका व्याख्याता एक महनीय आलोचक है। महाकवि कालिदास[1]

१.—तामभ्यगच्छद् रुदितानुसारी, कविः कुशेध्माहरणाय यातः।
निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थः, श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः॥
रघुवंश १४।७०

तथा आनन्दवर्धन[1]ने शोक तथा श्लोकका समीकरण करनेवाले वाल्मीकिको महान् कवि होनेके अतिरिक्त महान् आलोचक भी माना है। बात यह है कि संस्कृत कविताके जन्मके साथ ही साथ संस्कृत आलोचना-शास्त्रका भी जन्म हुआ। जिस प्रकार वाल्मीकि रामायणको उपजीव्य मानकर पिछले महाकवियोंने महाकाव्य लिखनेकी स्फूर्ति प्राप्त की, उसी प्रकार आलंकारिकोंने भी काव्य-स्वरूपका संकेत इसी आदिम महाकाव्यसे ग्रहण किया।

वाल्मीकि रामायणके आधारपर प्रवर्तित प्रथम महाकाव्यके रचयिता महर्षि पाणिनि ही हैं। इनका 'जाम्बवती विजय' नामक महाकाव्य यद्यपि आजकल उपलब्ध नहीं होता तथापि सूक्ति-संग्रहों तथा अलंकार ग्रन्थोंके उल्लेखसे उसका सरस तथा चमत्कारपूर्ण होना निःसन्देह सिद्ध होता है। यह महाकाव्य कमसे कम १८ सर्गोंमें लिखा गया था। पतंजलिने वररुचिके द्वारा निर्मित 'वाररुचं काव्यम्' का उल्लेख अपने भाष्यमें किया है। कात्यायनने अपने वार्तिकमें 'आख्यायिका' नामक ग्रन्थोंका उल्लेख किया है, जिसकी व्याख्या करते समय पतंजलिने 'वासवदत्ता', 'सुमनोत्तरा' और 'भैमरथी' नामक आख्यायिकाओंका उदाहरणरूपमें निर्देश किया है। आजकल उपलब्ध न होनेपर भी प्राचीन कालमें इनकी सत्ता अवश्य विद्यमान थी। पतंजलिने अन्य बहुतसे श्लोकोंको अपने ग्रन्थमें उद्धृत किया है। बौद्ध कवि अश्वघोषने दो महाकाव्यों—सौन्दरनन्द और बुद्धचरितकी रचना कीं। कविताका आश्रय लेकर अपने धर्मका सन्देश जनताके हृदयतक पहुँचाना ही उनका महनीय उद्देश्य था। इस युगके कवियोंमें हरिषेण तथा वत्सभट्टिका नामोल्लेख गौरवकी वस्तु है। हरिषेणने ३५० ई० के

१—काव्यस्यात्मा स एवार्थः, तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः, शोकः श्लोकत्वमागतः॥
ध्वन्यालोक १।१८

आसपास समुद्रगुप्तके दिग्विजयका वर्णन गद्य-पद्य मिश्रित फड़कती भाषामें किया है। यह शिलालेख चम्पूकाव्य-शैलीका उत्कृष्ट नमूना है। परन्तु इससे दो सौ वर्ष पहले ७२ शक सम्वत् (१५० ई०) में निबद्ध रुद्रदामनका गिरनार पर्वतपर उट्टंकित शिलालेख भाषाके सौन्दर्य तथा प्रवाहके कारण गद्य-काव्यका आनन्द देता है। इस शिला-लेखमें रुद्रदामनको यौधेयोंका उत्सादक, महती विद्याओंका पारगामी, स्फुट, लघु, मधुर, चित्र, कान्त, तथा उदार एवं अलंकारमंडित गद्य, पद्यकी रचनामें प्रवीण बतलाया है :—

"सर्वक्षत्राविष्कृतवीरशब्दजातोत्सेकाभिधेयानां यौधेयानां प्रसह्योत्सादकेन ..... शब्दार्थगान्धर्वन्यायाद्यानां विद्यानां महतीनां पारणधारणविज्ञानप्रयोगावाप्तविपुलकीर्तिना .... स्फुटलघुमधुरचित्रकान्तशब्दसमयोदारालंकृतगद्यपद्य .... स्वयमधिगतमहाक्षत्रपनाम्ना नरेन्द्रकन्या—स्वयम्वरानेकमाल्यप्राप्तदाम्ना महाक्षत्रपेण रुद्रदाम्ना।"

—रुद्रदामन् का गिरनार शिलालेख।

इस शिलालेखसे स्पष्ट है कि द्वितीय शतकमें काव्यके गद्य और पद्य—दो भेद स्वीकृत किये गये थे। अलंकार ग्रन्थोंमें उल्लिखित बहुतसे गुणोंकी कल्पना की जा चुकी थी। इस लेखमें उल्लिखित स्फुट, मधुर, कान्त तथा उदार काव्य 'काव्यादर्श'में निर्दिष्ट प्रसाद, माधुर्य, कान्ति तथा उदारता नामक गुणोंका क्रमशः प्रतिनिधि प्रतीत होता है। इन सब प्रमाणोंसे स्पष्ट है कि इस कालके पहले—विक्रमके आविर्भावके कमसे कम तीन सौ वर्ष पहले—आलोचनाकी शास्त्रीय व्यवस्था हो चुकी थी तथा अलंकारशास्त्र-संबंधी ग्रन्थ भी बन चुके थे जो आजकल उपलब्ध नहीं होते। यदि ऐसा शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत नहीं होता तो काव्यका गद्य-पद्यमें विभाजन, महाकाव्यकी कल्पना, आख्यायिकाका निर्माण और काव्यके विभिन्न गुणोंका निर्देश भला कैसे सम्भव था?

नाट्यकी प्राचीनता

ऐतिहासिक अनुशीलनसे हम इस निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि नाट्यका शास्त्रीय निरूपण अलंकारके निरूपणसे कहीं प्राचीन है। पाणिनिके समयमें ही नटोंकी शिक्षा, दीक्षा तथा अभिनयसे संबंध रखनेवाले ग्रन्थोंकी रचना हो चुकी थी, क्योंकि इन्होंने अपने सूत्रोंमें शिलालि तथा कृशाश्वके द्वारा रचित नटसूत्रोंका उल्लेख किया है।[१] पतञ्जलिने महाभाष्यमें 'कंसवध' तथा 'बलिबंधन' नामक नाटकोंके अभिनयका विस्तृत उल्लेख किया है।[२] भरतका नाट्यशास्त्र तो सुप्रसिद्ध ही है, जिसमें अलंकारशास्त्रसे सम्बद्ध चार अलंकार, दस गुण एवं दस दोषोंका वर्णन सोलहवें अध्यायमें किया गया ह। इस प्रकार अलंकार शास्त्र नाट्यशास्त्रके सहायक शास्त्रके रूपमें पहले नाट्यग्रन्थोंमें वर्णित किया जाता था। सर्वप्रथम भामहको इसे स्वतन्त्र शास्त्रके रूपमें वर्णित करनेका श्रेय प्राप्त है। इन्होंने कुछ ऐसे अलंकार शास्त्रके सिद्धान्तोंका उल्लेख किया है जो पहलेसे ही स्वीकृत थे। मेधावीरुद्र नामक आचार्यके नामका तो इन्होंने स्पष्टतः ही उल्लेख किया है। काव्यादर्शकी हृदयंगमा टीकाके अनुसार काव्यादर्शकी रचनाके पूर्व 'काश्यप' तथा वररुचि' एवं अन्य आचार्योंने लक्षण ग्रन्थोंकी रचना की थी। काव्यादर्शकी ही एक दूसरी 'श्रुतानुपालिनी' टीका काश्यप, ब्रह्मदत्त, तथा नन्दिस्वामीको दण्डीसे पूर्ववर्ती आचार्य मानती है। सिंहली भाषामें निबद्ध 'सिय-बस-लकर' नामक अलंकार ग्रन्थमें भी आचार्य काश्यपका उल्लेख मिलता है। काश्यप, ब्रह्मदत्त तथा नन्दिस्वामी दण्डी तथा

१.—पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः।
कर्मन्द—कृशाश्वादिनिः।

२.—ये तावदेते शोभमिका नामैते प्रत्यक्षं संघातयन्ति, प्रत्यक्षञ्च बलिं बन्धयन्तीति।

—महाभाष्य भाग २ पृ० ३४,३६ (कीलहार्नका संस्करण)

भामहके पूर्ववर्ती निःसन्देह प्राचीन आलंकारिक थे परन्तु इनके ग्रन्थों तथा मतोंसे हम आज नितान्त अपरिचित हैं।

कौटिल्यके अर्थशास्त्र (विक्रमपूर्व ३००) में राज्यशासनवाले प्रकरणमें अर्थक्रम, परिपूर्णता, माधुर्य, औदार्य तथा स्पष्टत्व नामक गुणोंका उल्लेख किया गया है।[१] कौटिल्यने राजकीय शासनों (राजाज्ञा) को इन उपर्युक्त गुणोंसे युक्त होना लिखा है। ये अलंकार ग्रन्थोंमें वर्णित काव्यगुणोंके निश्चित प्रकार हैं। इन सब उल्लेखोंसे यही तात्पर्य निकलता है कि अलंकारशास्त्रका उदय भरतसे बहुत पहले हो चुका था। भामह तथा दण्डीमें जो अलंकारशास्त्रकी सामग्री उपलब्ध होती है वह कालक्रमसे भरतसे अर्वाचीन भले ही हो, परन्तु सिद्धान्त-दृष्टिसे भरतसे अत्यन्त प्राचीन है। इस प्रकार अलंकारशास्त्रका प्रारम्भ विक्रम संवत्से अनेक शताब्दी पूर्व हुआ, इस सिद्धान्तके माननेमें विप्रतिपत्ति लक्षित नहीं होती।

सर्वांग सम्पूर्ण काव्यका विचार प्रथम नाटकके रूपमें था और इसलिए प्रथमतः अलंकारशास्त्र नाट्यशास्त्रके अन्तर्गत आता था। पर साहित्यकी उन्नति होनेपर, काव्य नाटकके अन्तर्हित नहीं रह सका। उसके लिए स्वतन्त्र स्थान दिया गया और समय पाकर उसमें नाटकका अन्तर्भाव होने लगा। इसलिए संस्कृत अलंकारशास्त्रका इतिहास सुविधाके लिए तीन अवस्थाओंमें अध्ययन किया जा सकता है। पहिली तो वह अवस्था है जब अलंकारशास्त्र नाट्यशास्त्रके अन्तर्गत था। दूसरी वह जब दोनोंपर स्वतन्त्र विचार होता था। और तीसरी वह अवस्था जब नाट्यशास्त्र अलंकारशास्त्रके अन्तर्गत समझा जाने लगा। पहिली अवस्थामें वैसे ही साधारण विचार थे जैसा प्रारम्भमें एक नयी विद्याके लिए हो सकते हैं। तीसरी अवस्थामें विचार-गाम्भीर्य आ गया और प्रायः साहित्यशास्त्र अपनी पूर्णताको प्राप्त हो गया।

अब कालक्रमके अनुसार इस शास्त्रके प्रधान आचार्योंका ऐतिहासिक विवरण यहां प्रस्तुत किया जा रहा है।

१.—कौटिल्य—अर्थशास्त्राधिकरण

१—भरत

संस्कृतके अलंकारशास्त्रमें भरतका नाम नाट्यशास्त्रके अमर रचयिताके रूपमें सदा अमर रहेगा। इनका ग्रन्थ नाट्यशास्त्र इस शास्त्रका आदिग्रन्थ ही नहीं है, प्रत्युत यह अलंकारशास्त्रका विश्वकोष है। इसमें नाट्योत्पत्ति, नाट्यगृह, अलंकार, छन्द, नृत्यकला, रस, अभिनय तथा संगीत आदिका इतना सुन्दर सांगोपांग वर्णन प्रस्तुत किया गया है जो अन्यत्र उपलब्ध नहीं है। भरतके पहले अलंकारशास्त्रकी उत्पत्ति अवश्य हुई थी, परन्तु अलंकार और रसके सर्वप्रथम विवेचनका श्रेय आचार्य भरतको ही प्राप्त है। सच तो यह है कि इनका महान् ग्रन्थ प्राचीन भारतीय ललितकलाका निकेतन है। यदि इनका यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता तो प्राचीन कालमें अभिनयकी कला कैसी थी? नृत्यकलाका प्रकार क्या था? संगीत-कलाकी कितनी उन्नति हुई थी? इन बातोंका पता हमें कैसे चलता?

राजशेखरने अपनी काव्यमीमांसामें लिखा है कि काव्यके १८ अधिकरणोंमें रूपक-निरूपण नामक अधिकरण लिखनेका श्रेय भरतको प्राप्त है। इस प्रकार न इनके ग्रन्थमें नाट्यका ही सांगोपांग विवेचन नहीं है; प्रत्युत नाट्योपयोगी होनेके कारण संगीतशास्त्र, अलंकारशास्त्र, तथा छन्दःशास्त्रका सर्वप्राचीन विवरण भी उपलब्ध होता है। जिस प्रकार भरत नाट्यके आद्य आचार्य हैं उसी प्रकार ये संगीतशास्त्र तथा अलंकार शास्त्रके भी आद्य आचार्य हैं।

भरतका व्यक्तित्व

यह बड़े ही दुःखका विषय है कि भरतके व्यक्तित्वसे हम नितान्त अपरिचित हैं। संस्कृतके प्राचीन महाकवियोंके उल्लेखोंसे ही पता चलता है कि ये अत्यन्त प्राचीन कालमें ही ऐतिहासिक व्यक्तिके रूपमें न माने जाकर एक प्राचीन काल्पनिक मुनिके रूपमें माने जाते थे। इन्हींके नामपर नाटकके प्रयोग करनेवाले नट भी 'भरत' के नामसे संस्कृत साहित्यमें

विख्यात हैं। भरतके नामसे जो आजकल नाट्यशास्त्र मिलता है वह इनके सिद्धान्तोंका द्योतक संग्रहग्रन्थ है। यह इनके द्वारा रचित मूलग्रन्थ कदापि नहीं है। भरतके देश तथा कालका कथमपि निर्णय नहीं किया जा सकता। अतः उपलब्ध नाट्यशास्त्रके समय तथा विषयके विवेचनसे ही हमें सन्तोष करना होगा।

नाट्यशास्त्र

भरतका नाट्यशास्त्र दो स्थानोंमे प्रकाशित हुआ है। प्रथम संस्करण काव्यमाला, बम्बईसे सन् १८९४ ई० में प्रकाशित हुआ था। इसका दूसरा संस्करण काशी संस्कृत सीरीज काशीसे सन् १९३५ ई० में निकला है। यह संस्करण काव्यमाला वाले संस्करणकी अपेक्षा कहीं अधिक विशुद्ध तथा विश्वसनीय है। अभिनवभारतीके साथ यह ग्रन्थ गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज (नं० ३६, नं० ६८)में बड़ौदासे प्रकाशित हुआ है। यह ग्रन्थ दो भागोंमें अभी आधा ही छपा है। अभिनवभारतीकी केवल एक ही प्रति उपलब्ध हुई है और वह इतनी अशुद्ध और अधूरी है कि उत्तरार्धका संस्करण रोकना पड़ा है।

यह समस्त ग्रन्थ ३६ अध्यायोंमें विभक्त है और लगभग ५ पांच हजार श्लोक हैं जो अधिकतर अनुष्टुप छन्दोंमें ही निबद्ध हैं। कहीं-कहीं विशेषतः अध्याय ६, ७ तथा २७ में कुछ गद्य अंश भी हैं। कहीं-कहीं आर्या छन्द भी मिलता है। छठें अध्यायमें रस निरूपणके अवसरपर कतिपय सूत्र तथा उनके गद्यात्मक व्याख्यान (भाष्य) भी उपलब्ध होते हैं। भरतने अपनी कारिकाओंकी पुष्टिमें अनुवंश्य श्लोकोंको उद्धृत किया है।[१] अभिनवगुप्तके अनुसार शिष्य परम्परासे आनेवाले श्लोक 'अनुवंश्य कहे जाते हैं।[२] इनकी रचना भरतसे भी किसी प्राचीनकालमें की गई थी।

१.—भरत नाटचशास्त्र पृ० ७४—७६.

२.—ता एता ह्यार्या एकप्रघट्टकतया पूर्वाचार्यैर्लक्षणत्वेन पठिताः। मुनिना तु सुखसंग्रहाय यथास्थानं निवेशिताः।

—अभिनवभारती अध्याय ६।

प्रमाणभूत होनेके कारण ही भरतने अपने सिद्धान्तकी पुष्टिमें इनका उद्धरण किया है। वर्तमान नाट्यशास्त्र किसी एक समयकी अथवा किसी एक लेखककी रचना नहीं है। इस ग्रन्थके गाढ़ अनुशीलनसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इसका निर्माण अनेक लेखकों द्वारा अनेक शताब्दियोंके दीर्घ व्यापारका परिणत फल है। आजकल नाट्यशास्त्रका जो रूप दिखाई पड़ता है वह अनेक शताब्दियोंमें क्रमशः विकसित हुआ है। नाट्यशास्त्रमें तीन स्तर दीख पड़ते हैं—(१) सूत्र, (२) भाष्य (३) श्लोक या कारिका। इन तीनोंके उदाहरण हमें इसमें देखनेको मिलते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि मूलग्रन्थ सूत्रात्मक था जिसका रूप ६ और ७ वें अध्याय-में आज भी देखनेको मिलता है। तदनन्तर भाष्यकी रचना हुई जिसमें भरतके सूत्रोंका अभिप्राय उदाहरण देकर स्पष्ट समझाया गया है। तीसरा तथा अन्तिम स्तर कारिकाओंका है जिनमें नाटकीय विषयोंका बड़ा ही विपुल तथा विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया गया है।

विषय विवेचन

नाट्यशास्त्रके अध्यायोंकी संख्यामें भी अन्तर मिलता है। उत्तरी भारतके पाठ्यानुसार उसमें ३७ अध्याय हैं, परन्तु दक्षिण भारतीय तथा प्राचीनतर पाठ्यानुसार उसमें ३६ अध्याय ही हैं और यही मत ही उचित प्रतीत होता है। अभिनवने भरतसूत्रको संख्यामें ३६ बतलाया है[१]—यहां सूत्रसे अभिप्राय भरतके अध्यायों-से ही प्रतीत होता है। नाट्यशास्त्रमें उतने ही अध्याय हैं जितने शैवमता-

---

१.—षट्त्रिंशकात्मक जगत् गगनावभास—
संविन्मरीचिचयचुम्बितविश्वशोभम्।
षट्त्रिंशकं भरतसूत्रमिदं विवृण्वन्
वन्दे शिवं तदर्थविवेकि धाम।

अभिनवभारती पृ० १, श्लोक २।

नुसार विश्वमें तत्त्व होते हैं। काव्यमाला संस्करणमें ३७ अध्याय हैं, काशी संस्करणमें ३६ और अभिनवगुप्तकी मान्यतापर ३६ अध्यायोंमें ग्रन्थका विभाजन प्राचीनतर तथा युक्ततर है।

नाट्यशास्त्रका विषय-विवेचन बड़ा ही विपुल तथा व्यापक है। नामके अनुसार इसका मुख्य विषय है नाट्यका विस्तृत विवेचन, परन्तु साथ ही साथ छन्दःशास्त्र, अलंकारशास्त्र, संगीतशास्त्र आदि सम्बद्ध शास्त्रोंका भी प्रथम विवरण यहां उपलब्ध होता है। इसी लिए प्राचीन ललितकलाओंका इसे विश्वकोश मानना ही न्याय्य है। इसके अध्यायों-का विषय-क्रम इस प्रकार है—(१) अध्यायमें नाट्यकी उत्पत्ति, (२) अध्यायमें नाट्यशाला (प्रेक्षागृह), (३) अ० में रंगदेवताका पूजन, (४) अ० में ताण्डव सम्बन्धी १०८ करणोंका तथा ३२ अंग-हारोंका वर्णन, (५) अ० में पूर्वरंगका विस्तृत विधान, (६) अ० में रस तथा (७) अ० में भावोंका व्यापक विवरण। अष्टम अध्यायसे अभि-नयका विस्तृत वर्णन आरम्भ होता है—(८) अध्यायमें उपांगों द्वारा अभिनयका वर्णन, (९) अ० में हस्ताभिनय, (१०) अ० में शरीराभिनय, (११) अ० में चारी (भौम तथा आकाश) का विधान, (१२) अ० में मण्डल (आकाशगामी तथा भौम) का विधान, (१३) अ० में रसानुकूल गतिप्रचार, (१४) अ० में प्रवृत्तिधर्मकी व्यञ्जना, (१५) अ० में छन्दोविभाग, (१६) अ० में वृत्तोंका सोदाहरण लक्षण, (१७) अ० में वागभिनय जिसमें लक्षण, अलंकार, काव्यदोष तथा काव्यगुण का वर्णन है (अलंकार शास्त्र), (१८) अ० में भाषाओंका भेद तथा अभि-नयमें प्रयोग, (१९) अ० में काकुस्वर व्यञ्जना, (२०) अ० में दश-रूपकोंका लक्षण, (२१) अ० में नाटकीय पंचसन्धियों तथा सन्ध्यंगोंका विधान, (२२) अ० में चतुर्विध वृत्तियोंका विधान, (२३) अ० में आहार्य अभिनय, (२४) अ० में सामान्य अभिनय, (२५) अ० में बाह्य उपचार, (२६) अ० में चित्राभिनय, (२७) अ० में सिद्धि व्यञ्जनका

निर्देश। अठाइसवें अध्यायसे संगीतशास्त्रका वर्णन (२८ अ० से ३३ अ० तक) हुआ है—(२८) अ० में आतोद्य, (२९) अ० में ततातोद्य, (३०) अ० में सुषिरातोद्यका विधान वर्णित है। (३१) अ० में ताल, (३२) अ० में ध्रुवाविधान, (३३) अ० में वाद्यका विस्तृत विवेचन है। अन्तिम तीन अध्यायोंमें विविध विषयोंका वर्णन है—(३४) अ० में प्रकृति (पात्र)का विचार, (३५) अ० में भूमिकाकी रचना तथा (३६) अ० में नाट्यके भूतलपर अवतरणका विवरण है। यही है संक्षिप्त विषय-क्रम

नाट्यशास्त्रका विकास

भरतका मूल सूत्रग्रन्थ किस प्रकार वर्तमान कारिकाके रूपमें विकसित हुआ? इस प्रश्नका यथार्थ उत्तर देना अभीतक सम्भव नहीं है। नाट्यशास्त्रके अन्तिम अध्यायसे प्रतीत होता है कि कोहल नामक किसी आचार्यका हाथ इस ग्रन्थके विकासके मूलमें अवश्य है। भरतने स्वयं भविष्यवाणी की है कि—'शेषं प्रस्तारतन्त्रेण कोहलः कथयिष्यति'। इससे कोहलको इस ग्रन्थको विस्तृत तथा परिवर्धित करनेका श्रेय प्राप्त है। 'कोहल' नामके आचार्यका, नाट्याचार्यके रूपमें, परिचय हमें अनेक अलंकारग्रन्थोंमें उपलब्ध होता है। दामोदर गुप्तने कुट्टनीमत (श्लोक ८१)में भरतके साथ कोहलका भी नाम नाट्यके प्राचीन आचार्यके रूपमें निर्दिष्ट किया है। शार्ङ्गदेव कोहलको अपना उपजीव्य मानते हैं (संगीत रत्नाकर ११५)। हेमचन्द्रने नाटकके विभिन्न प्रकारोंके विभाजनके अवसरपर भरतके साथ कोहलका भी उल्लेख किया है।[१] शिंगभूपालने भी रसार्णवसुधाकरमें भरत, शाण्डिल्य, दत्तिल और मतंगके साथ कोहलको भी मान्य नाट्यकर्ताके रूपमें निर्दिष्ट किया है—

१–प्रपञ्चस्तु भरत कोहलादि शास्त्रेभ्योऽवगन्तव्यः।
हेमचन्द्र–काव्यानुशासन पृ० ३२५, ३२९

(विलास १, श्लोक ५०–५२)। कोहलके नामसे एक 'तालशास्त्र' नामक संगीत ग्रन्थका भी वर्णन मिलता है। कोहलके साथ दत्तिल नामक आचार्यका नाम भी संगीतके ग्रन्थोंमें उपलब्ध होता है। 'दत्तिलकोहलीय' नामक संगीतशास्त्रका एक ग्रन्थ उपलब्ध हुआ है जिसमें कोहल तथा दत्तिलके संगीत–विषयक सिद्धान्तोंका वर्णन किया गया प्रतीत होता है। अभिनवगुप्तने भरतके एक पद्य (६।१०)की टीका लिखते समय लिखा है कि यद्यपि नाट्यके पांच ही अंग होते हैं तथापि कोहल और अन्य आचार्योंके मतके अनुसार एकादश अंगोंका वर्णन मूल ग्रन्थमें यहां किया गया है।[१] इससे स्पष्ट है कि नाट्यशास्त्रके विस्तृतीकरणमें आचार्य कोहलका विशेष हाथ है। कोहलके अतिरिक्त नाट्यशास्त्रमें शाण्डिल्य, वत्स तथा धूर्तिल नामक नाट्यके आचार्योंके नाम भी उल्लिखित हैं।[२] इनके मतका भी समावेश वर्तमान नाट्यशास्त्रमें किया प्रतीत होता है। 'आदिभरत' तथा 'वृद्धभरत'के नाम भी इस प्रसंगमें यत्र-तत्र लिये जाते हैं। परन्तु वर्तमान जानकारीकी दशामें भरतके मूल ग्रन्थका विकास वर्तमान रूपमें किस प्रकार सम्पन्न हुआ, इस प्रश्नका यथार्थ उत्तर नहीं दिया जा सकता।

भावप्रकाशनके अनुशीलनसे पता चलता है कि शारदातनयकी सम्मतिमें नाट्यशास्त्रके दो रूप थे। प्राचीन नाट्यशास्त्र बारह हजार श्लोकोंमें निबद्ध था, परन्तु वर्तमान नाट्यशास्त्र विषयकी सुगमताके लिए उसका आधा ही भाग है अर्थात् वह छः हजार श्लोकोंमें ही

१–अभिनयत्रयं गीतातोद्ये चेति पंचागं नाट्यम्.............अनेन तु श्लोकेन कोहलादिमतेन एकादशांगत्वमुच्यते॥

अभिनवभारती ६।१०.

२–नाट्यशास्त्र–३७।२४

निबद्ध है।[1] इनमेंसे पूर्व नाट्यशास्त्रके रचयिताको शारदातनय 'वृद्ध-भरत' के नामसे तथा वर्तमान नाट्यशास्त्रके कर्ताको केवल 'भरत' के नामसे पुकारते हैं।[2] धनञ्जय[3] तथा अभिनवगुप्त[4] दोनों ग्रन्थकार भरतको 'षट्साहस्त्रीकार'के नामसे उल्लिखित करते हैं। अभिनवगुप्तने भी नाट्यशास्त्रके विषयमें बड़ी जानकारीकी बात लिखी है। उनका कहना है कि जो आलोचक इस ग्रन्थको सदाशिव, ब्रह्म तथा भरत, इन तीनों आचार्योंके मतोंका संक्षेप मानते हैं वे नास्तिक हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ केवल भरतके ही मत और सिद्धान्तका प्रतिपादन करता है[5]। परन्तु उनकी सम्मतिमें भी इस नाट्यशास्त्रमें प्राचीन कालकी भी उपादेय सामग्री संगृहीत की गई है। भरतने अपने मतकी पुष्टिमें जिन अनुवंश्य श्लोकों या आर्याओंका उद्धरण अपने ग्रन्थमें, विशेषतः षष्ठ तथा सप्तम अध्यायमें, दिया है वे भरतसे प्राचीनतर हैं और पुष्टि तथा प्रामाण्यके लिए ही यहां निर्दिष्ट की गई हैं।

काल

भरतके आविर्भाव कालका निर्णय भी एक विषम समस्या है। महाकवि भवभूतिने भरतको 'तौर्यत्रिक सूत्रधार' कहा है[6] जिससे भरतके ग्रन्थका सूत्रात्मक रूप सिद्ध होता है। यह तो सुप्रसिद्ध ही है कि

१—एवं द्वादशसाहस्रैः श्लोकैरेकं तदर्धतः।
षड्भिः श्लोकसहस्रैर्यो नाट्यवेदस्य संग्रहः
भरतैर्नामतस्तेषां प्रख्यातो भरताह्वयः॥
—भावप्रकाशन पृ० २८७

२—भावप्रकाशन पृ० ३६.

३—दशरूपकालोक ४।२

४—अभिनवभारती पृ० ८, २४ (प्रथम भाग)

५—अभिनवभारती पृ० ८

६.—उत्तर रामचरित ४।२२

दशरूपक (दशम शतक) वर्तमान नाट्यशास्त्रका संक्षिप्त रूप है। अभि नव गुप्तने नाट्यशास्त्रपर अपनी टीका **अभिनवभारती**की रचना ११वीं शताब्दीके अन्तिम कालमें की। भरतका सबसे प्राचीन निर्देश कालिदास महाकविकी विक्रमोर्वशीयमें उपलब्ध होता है। कालिदासका कथन है कि भरत देवताओंके नाट्याचार्य थे तथा नाटकका मुख्य उद्देश्य आठ रसोंका विकास करना था तथा नाटकके प्रयोगमें अप्सराओंने भरतको पर्याप्त सहायता दी थी—

मुनिना भरतेन यः प्रयोगो भवतीष्वष्टरसाश्रयः प्रयुक्तः।
ललिताभिनयं तमद्य भर्ता मरुतां द्रष्टुमनाः सलोकपालः॥

विक्रमोर्वशीय अंक २, श्लोक १८

कालिदासके द्वारा उल्लिखित नाट्यकी यह विशेषता वर्तमान नाट्यशास्त्रमें निःसन्देह उपलब्ध होती है। रघुवंश[१]में भी कालिदासने नाट्यको 'अंगसत्त्ववचनाश्रयम्' कहा है जो मल्लिनाथकी टीकाके अनुसार भरतकी इस कारिकासे समानता रखता है:—

सामान्याभिनयो नाम ज्ञेयो वागङ्गसत्त्वजः।

नाट्यशास्त्र।

इससे स्पष्ट है कि कालिदास भरतके वर्तमान 'नाट्यशास्त्र'से पूर्ण परिचित थे। अतः नाट्यशास्त्रका समय कालिदाससे अर्वाचीन कथमपि नहीं हो सकता। नाट्यशास्त्रके निर्माणकी यह पश्चिम अवधि है। इसकी पूर्व अवधिका पता अबतक नहीं लगता। वर्तमान नाट्यशास्त्रमें शक, यवन, पल्लव, तथा अन्य वैदेशिक जातियोंका वर्णन है जिन्होंने भारतवर्षके ऊपर ई० सन्‌की प्रथम शताब्दीके आसपास आक्रमण किया था। वर्तमान नाट्यशास्त्रका यही समय है। मूल सूत्रग्रन्थोंकी रचना सम्भवतः ईसापूर्व चतुर्थ शताब्दीमें हुई, क्योंकि संस्कृतके इतिहासमें 'सूत्र-काल' यही है जब सूत्ररूपमें शास्त्रीय ग्रन्थोंके रचनेकी परिपाटी सर्वत्र

१—रघुवंश १९।३६

प्रचलित थी। इतना तो निश्चित है कि कारिकाग्रन्थ मूल सूत्रग्रन्थके बहुत ही पीछे लिखा गया था, क्योंकि इसमें भरत नाट्यवेदके व्याख्याता एक प्राचीन ऋषि रूपमें उल्लिखित किये गये हैं।[1] इस प्रकार भरतनाट्य-शास्त्रका रचना काल विक्रमपूर्व द्वितीय शतकसे लेकर द्वितीय शतक विक्रमी तक माना जाता है।

भरतके टीकाकार

भरतका ग्रन्थ विपुल व्याख्यासम्पत्तिसे मण्डित है। अभिनवगुप्त तथा शार्ङ्गदेवके द्वारा उल्लिखित काल्पनिक तथा वास्तविक टीकाकारोंके नाम नीचे दिये जाते हैं—(१) उद्भट (२) लोल्लट (३) शंकुक (४) भट्टनायक (५) राहुल (६) भट्टयन्त्र (७) अभिनवगुप्त (८) कीर्तिधर (९) मातृगुप्ताचार्य।

(१) **उद्भट**—इनका नाम अभिनवगुप्तने अभिनवभारती (६।१०) में दिया है। शार्ङ्गदेवके भी इनको भरतका टीकाकार बतलाया है।[2] परन्तु इनकी टीका अभीतक उपलब्ध नहीं हुई है।

(२) **लोल्लट**—ये भरतके निश्चित रूपसे टीकाकार थे। इनका परिचय केवल अभिनवगुप्तके उल्लेखोंसे ही नहीं मिलता, प्रत्युत मम्मट (काव्यप्रकाश ४।५), हेमचन्द्र (काव्यानुशासन पृ० ६७, टीका पृष्ठ

१—भरतके काल निर्णयके लिये विशेष विवरणके लिये देखिये—
डा० डे, हिस्ट्री आफ संस्कृत पोयटिक्स, भाग १ पृ० ३२-३६
डा० काणे—साहित्यदर्पणकी भूमिका पृ० ८-१३

२—व्याख्यातारो भारतीये लोल्लटोद्भटशंकुकाः।
भट्टाभिनवगुप्तश्च श्रीमत्कीर्तिधरोऽपरः॥
—संगीतरत्नाकर

२१५), मल्लिनाथ, (तरला पृ० ८५, ८८) और गोविन्दठक्कुर (काव्य प्रदीप ४।५)के निर्देशोंसे भी प्राप्त होता है। लोल्लटके कतिपय श्लोक हेमचन्द्र तथा राजशेखरने 'आपराजिति'के नामसे उल्लिखित किया है। इससे इनके पिताका नाम 'अपराजित' होना सिद्ध होता है।[1] अभिनव-गुप्तने काश्मीरी उद्भटके मतका खण्डन करनेके लिए लोल्लटका उल्लेख किया है, जिससे इनका उद्भटके बाद होना सिद्ध होता है। नामकी विशि-ष्टतासे स्पष्ट है कि लोल्लट काश्मीरके ही निवासी थे।

(३) शङ्कुक—अभिनवगुप्तने शंकुकको भट्टलोल्लटके मतके खण्डनकर्ताके रूपमें चित्रित किया है। कल्हण पण्डितने राजतरंगिणीमें किसी शंकुक कवि तथा उनके काव्य 'भुवनाभ्युदय'का नामोल्लेख किया है।[2] यह निर्देश काश्मीर नरेश अजितपीड़के समयका है जिनका काल ८१३ ई० के आसपास है। यदि हमारे आलंकारिक शंकुक कवि शंकुकके साथ अभिन्न व्यक्ति माने जायँ, तो उनका समय नवम शताब्दीका आरम्भकाल (८२० ई०) माना जा सकता है।

(४) भट्टनायक—इन्होंने शंकुकके अनन्तर नाट्यशास्त्रपर टीका लिखी थी, क्योंकि ये अभिनवभारतीमें शंकुकके सिद्धान्तका खण्डन करते हुए दिखलाये गये हैं। इनके कतिपय श्लोकोंको हेमचन्द्र, महिमभट्ट, माणिक्यचन्द्र, आदि ग्रन्थकारोंने अपने अलंकार ग्रन्थोंमें उद्धृत किया है। ये श्लोक इनके 'हृदयदर्पण' नामक ग्रन्थसे उद्धृत किये गये हैं। यह भरतके नाट्यशास्त्रकी व्याख्यासे नितान्त पृथक् ग्रन्थ प्रतीत होता है जो अनुष्टुप् छन्दोंमें लिखा गया था और ध्वनिका मार्मिक खण्डन होनेके कारण 'ध्वनि-

---

१.—द्रष्टव्य इस ग्रन्थका द्वितीय खण्ड, पृष्ठ ५३

२—कविर्बुधमनाः सिन्धुशशांकः शंकुकाभिधः।
यमुद्दिश्याकरोत् काव्यं भुवनाभ्युदयाभिधम्॥
राजतरंगिणी ४।७०५.

ध्वंस'के नामसे विख्यात था। भट्टनायक आनन्दवर्धनके 'ध्वन्यालोक' से पूर्णतः परिचित थे। अभिनवगुप्तने ही सर्वप्रथम इनका उल्लेख किया है। अतः इनका आविर्भावकाल आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्तके मध्य-युगमें हुआ था। अतः इनका नवमके अन्त तथा दशम शतकके आरम्भ-कालमें आविर्भूत होना सिद्ध है। कल्हणने काश्मीर नरेश अवन्तिवर्माके पुत्र तथा उत्तराधिकारी शंकरवर्माके समयके किसी भट्टनायक नामक विद्वान्का राजतरंगिणीमें उल्लेख किया है।[१] बहुत सम्भव है कि ये दोनों एक ही व्यक्ति हों।[२]

(५) राहुल—अभिनवगुप्तने इनके मतका उल्लेख अनेक स्थलोंपर अपनी अभिनवभारतीमें किया है। अभिनवभारतीके प्रथम खण्डमें दो स्थानोंपर इनका प्रामाण्य उद्धृत हुआ है। पृ० ११५ (अ० ४।६८) पर राहुलकृत 'रेचित' शब्दकी व्याख्या उद्धृत की गई है तथा पृ० १७२ (अ० ४।२६७) पर राहुलके नामसे यह पद्य निर्दिष्ट किया गया है—

परोक्षेऽपि हि वक्तव्यो नार्यां प्रत्यक्षवत् प्रियः।
सखी च नाट्यधर्मोऽयं भरतेनोदितं द्वयम्॥

(६) भट्टयन्त्र तथा (७) कीर्तिधराचार्यके नाट्यविषयक मतका उल्लेख अभिनवभारतीमें पृ० २०८ पर एक बार किया गया है। प्रतीत होता है कि ये प्राचीन नाट्याचार्य थे। भरतके टीकाकार होनेकी बात सन्देहहीन नहीं है।

(८) वार्तिक—अभिनवभारतीके अनुशीलनसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि अभिनवगुप्तसे पहिले नाट्यशास्त्रपर 'वार्तिक ग्रन्थ' की रचना हो चुकी थी जिसका उल्लेख उन्होंने नाट्य तथा नृत्यके पार्थक्य दिखलानेके अवसरपर किया है (पृ० १७२, १७४)। इस वार्तिकके रचयिता कोई

१–राजतरंगिणी ५।१५६

२–इनका विशेष वर्णन आगे दिया जायेगा।

हर्ष थे। अतः उनके नामपर यह ग्रन्थ 'हर्षवार्तिक' के नामसे प्रसिद्ध था। यह ग्रन्थ अधिकतर आर्या छन्दमें निबद्ध था; परन्तु कहीं-कहीं गद्यात्मक अंश भी इसमें विद्यमान थे।[१]

(८) **अभिनव-गुप्त**—इनकी सुप्रसिद्ध टीकाका नाम 'अभिनवभारती' है। भरतकी यही एकमात्र टीका है जो सम्पूर्णतया उपलब्ध होती है। पूर्व टीकाकारोंका नाम तथा सिद्धान्तोंका परिचय केवल इसी टीकासे हमें मिलता है। इस टीकाके प्रत्येक पृष्ठके ऊपर टीकाकारकी विद्वत्ताकी छाप पड़ी हुई है। भरतके रहस्योंका उद्घाटन इस टीकाकी सहायताके बिना कथमपि नहीं हो सकता। भरतका नाट्यशास्त्र अत्यन्त प्राचीन होनेके कारण दुरूह बन गया था, परन्तु अभिनवगुप्तने ही अपनी गम्भीर टीका लिखकर इसे सुबोध तथा सरल बनाया। इनके देश तथा कालका विस्तृत वर्णन आगे किया जायगा।

(९) **मातृगुप्ताचार्य**—अभिज्ञान शाकुन्तलकी टीकामें राघवभट्टने मातृगुप्तके नामसे अनेक पद्योंको उद्धृत किया है। ये श्लोक नाटकके पारिभाषिक शब्दोंकी व्याख्यामें उद्धृत किये हैं। विशेषतः सूत्रधार (पृ० ५), नान्दी (पृ० ४), नाटक-लक्षण (पृ० ९) और यवनी (पृ० २७) के लक्षणके अवसरपर इनके पद्य दिये गये हैं। राघवभट्टने अपनी टीकामें एक स्थान (पृ० १५) पर भरतके आरम्भ तथा बीजके विषयवाले पद्योंको उद्धृत किया है और यह लिखा है कि मातृगुप्ताचार्यने इसका विशेष वर्णन किया है :—

> अत्र विशेषो मातृगुप्ताचार्य्यैरुक्तः—
>
> क्वचित् कारणमात्रन्तु, क्वचिच्च फलदर्शनम् ।
>
> ....॥

सुन्दर मिश्रने अपने नाट्यप्रदीप (रचनाकाल १६१३ ई०) में भरतके ग्रन्थसे (नाट्यशास्त्र ५।२५, ५।२८) नान्दीका लक्षण

१–द्रष्टव्य अभिनवभारती (प्रथम खण्ड) पृ० २०७.

उद्धृत किया है और मातृगुप्ताचार्यके उस पथकी व्याख्या की ओर संकेत किया है--

"अस्य व्याख्याने मातृगुप्ताचार्यैः षोडशांघ्रिपदापीयम् उदाहृता।"

सुन्दर मिश्रके इस उल्लेखसे मातृगुप्त भरतके व्याख्याता प्रतीत होते हैं परन्तु राघवभट्टके निर्देशसे यह जान पड़ता है कि इन्होंने नाट्य-शास्त्रके विषयमें कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखा था। राजतरंगिणीमें हर्ष विक्रमादित्यके द्वारा काश्मीरके सिंहासनपर प्रतिष्ठित किये जानेवाले कवि मातृगुप्तका वर्णन मिलता है। परन्तु यह कहना कठिन है कि मातृ-गुप्ताचार्य कवि मातृगुप्तसे अभिन्न व्यक्ति थे या भिन्न।[1]

२—मेधाविरुद्र

मेधाविरुद्र नामक ग्रन्थकारका उल्लेख भामह, नमिसाधु तथा राज-शेखरने अपने ग्रन्थोंमें किया है। राजशेखरके अनुसार मेधाविरुद्र कवि थे और जन्मसे ही अन्धे थे। इनके नामका उल्लेख राजशेखरने प्रतिभाके प्रभाव-निरूपणके प्रसंगमें किया है। प्रतिभावाले कविको कोई भी विषय न दिखाई देनेपर भी प्रत्यक्षके समान ही प्रतीत होता है, जैसे मेधाविरुद्र, कुमारदास आदि जन्मान्ध सुने जाते हैं।[2] नमिसाधुने मेधाविरुद्रको अलंकार ग्रन्थका रचयिता माना है।[3] विचारणीय प्रश्न है कि मेधा-

१—विशेष वर्णनके लिये देखिये—

बलदेव उपाध्याय—१ संस्कृत साहित्यका इतिहास पृ० १००-०१

२ संस्कृत-कवि-चर्चा, पृ० १३८-१४३

२—प्रत्यक्षप्रतिभावतः पुनरपश्यतोपि प्रत्यक्ष इव, यतो मेधाविरुद्रकुमार-दासादयो जात्यन्धाः कवयः श्रूयन्ते। काव्यमीमांसा पृ० ११-१२

३—ननु दण्डिमेधाविरुद्रभामहादिकृतानि सन्त्येव अलंकारशास्त्राणि, रुद्रट—काव्यालंकारकी टीका १।२

विरुद्र एक नाम है अथवा मेधावी और रुद्र दो नाम हैं। भामहने अपने अलंकार ग्रन्थमें मेधावी नामक आचार्यके नामका उल्लेख दो बार किया है।[१] अतः मेधावी भामहसे प्राचीनतर आचार्य निःसन्देह हैं। परन्तु मेधावी और मेधाविरुद्र एक ही व्यक्ति हैं; इसका यथार्थतः निर्णय नहीं किया जा सकता।

मेधावीके सिद्धान्त

(१) भामहके अनुसार मेधावीने उपमाके सात दोषोंका वर्णन किया है।[२]—हीनता, असम्भव, लिंगभेद, वचनभेद, विपर्यय, उपमानाधिक्य, उपमानासादृश्य। इन्हीं उपमा-दोषोंका निर्देश करते हुए नमिसाधुने मेधावीका नाम अपनी रुद्रटकी टीकामें उल्लिखित किया ह।[३] इन दोनों निर्देशोंसे स्पष्ट है कि उपमाके दोषोंका प्रथम निर्देश करनेका श्रेय मेधावीको ही प्राप्त है। इन दोषोंका उल्लेख वामनने काव्यालंकारमें तथा मम्मटने भी काव्यप्रकाशमें किया है। वामनने ऊपर निर्दिष्ट विपर्यय दोषको हीनता और अधिकताके भीतर ही सम्मिलित कर दिया है। अतः

१—भामह—काव्यालंकार २।४०; २।८८

२—हीनताऽसंभवो लिंगवचोभेदो विपर्ययः।
उपमानाधिकत्वञ्च तेनासदृशतापि च॥
त एत उपमा दोषाः सप्त मेधाविनोदिताः।
सोदाहरणलक्ष्माणो वर्ण्यन्तेऽत्र च ते पृथक्॥
भामह—काव्यालंकार २।३९,४०

३—अत्र च स्वरूपोपादानं सत्यपि चत्वार इति ग्रहणाद्यन्मेधाविप्रभृतिभिरुक्तं यथा लिंगवचनभेदौ हीनताधिक्यमसंभवो विपर्ययो सादृश्यमिति सप्तोपमादोषाः ······ तदेतन्निरस्तम्॥
रुद्रट—काव्यालंकारकी टीका ११।२४

उनकी दृष्टिमें उपमा-दोष छः ही प्रकारके होते हैं।[1] मम्मटने भी इस विषयमें वामनका ही पदानुसरण किया है।

(२) भामहने अपने ग्रन्थमें (२।८८) मेधावीका उल्लेख इस प्रकार किया है:—

यथासंख्यमथोत्प्रेक्षामलंकारद्वयं विदुः ।
संख्यानमिति मेधाविनोत्प्रेक्षाभिहिता क्वचित् ॥

इस श्लोकका यह पाठ अशुद्ध प्रतीत होता है। इसके उत्तरार्धका यह तात्पर्य है कि मेधावी उत्प्रेक्षा अलंकारको संख्यान नामसे पुकारते हैं। परन्तु दण्डीके कथनानुसार कुछ आचार्य 'यथासंख्य' अलंकारको 'संख्यान' नामसे पुकारते हैं।[2] दण्डीके इस कथनके अनुसार मेधावी ही यथासंख्य अलंकारको संख्यानके नामसे उल्लिखत करनेवाले आचार्य प्रतीत होते हैं। यदि यह बात सत्य हो तो उपर्युक्त पाठके स्थानपर होना चाहिये—

संख्यानमिति मेधावी नोत्प्रेक्षाभिहिता क्वचित् ।

(३) नमिसाधुके अनुसार मेधाविरुद्रने शब्दके चार ही प्रकार माने हैं यथा—नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात। इन्होंने कर्मप्रवचनीयको नहीं माना है।[3]

इन उल्लेखोंसे ज्ञात होता है कि **मेधाविरुद्र** भामहपूर्व-युगके एक महनीय आचार्य थे। इनका ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता, परन्तु मतोंका परिचय ही उपर्युक्त आलंकारिकोंके निर्देशसे मिलता है।

१—अनयोर्दोषयोर्विपर्ययाख्यस्य दोषस्यान्तर्भावान्न पृथगुपादानम्। अत एवास्माकं मते षड् दोषा इति ।

वामन—काव्यालंकारसूत्र ४।२।११ की वृत्ति ।

२—यथासंख्यमिति प्रोक्तं संख्यानं क्रम इत्यपि। काव्यादर्श—२।२७३

३—एत एव चत्वारः शब्दविधाः इति येषां सम्यङ् मतं तत्र तेषु नामादिषु मध्ये मेधाविरुद्रप्रभृतिभिः कर्मप्रवचनीया नोक्ता भवेयुः॥ रुद्रटकी टीका २।२ पृ० ६ देखिये।

३—भामह

आचार्य भामह भारतीय अलंकार-शास्त्रके आद्य आचार्य माने जाते हैं। भरतके 'नाट्यशास्त्र'में अलंकार शास्त्रके तत्त्वोंका विवेचन गौण रूपसे किया गया है, प्रधान रूपसे नहीं। भरतके अनुसार अभिनय चार प्रकारके होते हैं जिनमें वाचिक अभिनयके प्रसङ्गमें भरतने अलंकार-शास्त्रका सन्निवेश किया है। भामहका ग्रन्थ ही भरत-पश्चात् युगका सर्वप्रथम मान्य ग्रन्थ है जिसमें अलंकारशास्त्र नाट्यशास्त्रकी परतन्त्रतासे अपनेको मुक्त कर एक स्वतन्त्र शास्त्रके रूपमें हमारे सामने प्रस्तुत होता है। निश्चय रूपसे हम नहीं कह सकते कि भामह किस देशके निवासी थे तथा किस कालको उन्होंने अपने आविर्भावसे विभूषित किया था। अनेक अनु-मानोंके आधारपर उनके देश और कालका निर्णय किया जा सकता है। काश्मीरके आलंकारिकोंके ग्रन्थोंमें ही इनके नाम तथा मतका प्रथम समुल्लेख इन्हें काश्मीरी सिद्ध करता है। काश्मीरके ही मान्य विद्वान् भट्ट उद्भटने इनके 'काव्यालंकार'के ऊपर 'भामह-विवरण' नामक एक अपूर्व व्याख्या ग्रन्थ लिखा था जो अभीतक उपलब्ध नहीं हुआ है। यदि यह ग्रन्थ उपलब्ध होता तो इससे भामहके ही सिद्धान्तोंका पूर्ण परिचय नहीं मिलता प्रत्युत अलंकार-शास्त्रके आरम्भिक युगकी अनेक समस्याओंका भी अनायास समाधान हो जाता। काश्मीरी पण्डितोंका भी प्रवाद है—भामहने काश्मीर देशको ही अपने जन्मसे अलंकृत किया था।

जीवनी

भामहके पिताका नाम 'रक्रिलगोमी' था।[१] यह नाम कुछ विलक्षण सा प्रतीत होता है। कतिपय आलोचक सोमिल, राहुल, पोसिल आदि

१.—अवलोक्य मतानि सत्कवीनामवगम्य स्वधिया च काव्यलक्ष्म।
सुजनावगमाय भामहेन, ग्रथितं रक्रिलगोमिसूनुनेदम्॥
—भामहालंकार ६।६४

बौद्ध नामोंकी समतासे रक्रिलको भी बौद्ध मानते हैं। चान्द्र व्याकरणके अनुसार पूज्य अर्थमें 'गोमिन्' शब्दका निपात (गोमिन् पूज्ये) होता है। चान्द्र व्याकरणके रचयिता चन्द्रगोमी स्वयं बौद्ध थे। इस प्रकार रक्रिल तथा गोमी, इन दोनों पदोंके सानिध्यसे यही प्रतीत होता है कि भामहके पिता बौद्ध ही थे। इस सिद्धान्तके दृढ़ीकरणमें भामहके ग्रन्थका मंगलाचरण भी सहायता करता है।[१] भामहने अपने मंगल श्लोकमें सार्व सर्वज्ञको प्रणाम किया है। अमरकोशके प्रमाणसे—सर्वज्ञःसुगतो बुद्धो मारजित् लोकजिज्जिनः—सर्वज्ञ शब्द भगवान् बुद्धका ही दूसरा नाम है। सार्व शब्द भी 'सर्वेभ्यो हितम्' इस अर्थमें सर्व शब्दसे 'ण' प्रत्यय करनेसे सिद्ध होता है। अतएव यह शब्द भी परोपकारियोंमें अग्रगण्य बुद्धदेवका ही सूचक सिद्ध होता है। अतएव सर्वज्ञकी स्तुति करनेवाले रक्रिलगोमीके पुत्र भामहको बौद्ध मानना ही न्यायसंगत प्रतीत होता है।

कतिपय आलोचकोंका यह उपर्युक्त सिद्धान्त तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता। अमरने 'सर्वज्ञ' शब्दको बुद्धका पर्यायवाची अवश्य माना है परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि सर्ववेत्ता भगवान् शंकरके लिये इस शब्दका अभिधान हो ही नहीं सकता। शंकरका नाम भी सर्वज्ञ है, इसे अमर सिंहने स्वयं ही लिखा है।[२] बौद्ध व्याकरणके अनुसार गोमिन् भले ही सिद्ध हो परन्तु इसका क्या प्रमाण है कि वह बौद्धोंके लिये ही पूजाके अर्थमें प्रयुक्त होता था? 'काव्यालंकार'में भामहने बुद्धके जीवनकी किसी भी घटनाका कहीं भी उल्लेख नहीं किया है। इसके विपरीत रामायण, महाभारत तथा बृहत्कथाके प्रख्यात आख्यान, उनके नायकोंके नाम तथा कामका

१—प्रणम्य सार्वं सर्वज्ञं मनोवाक्कायकर्मभिः।
काव्यालंकार इत्येष यथाबुद्धि विधास्यते॥
—काव्या० १।१

२—कृशानुरेताः सर्वज्ञो धूर्जटिः नीललोहितः।
—अमरकोश

स्फुट वर्णन स्पष्ट शब्दोंमें वर्णित किया गया है। अतः इससे हम इसी निश्चित सिद्धान्तपर पहुँचते हैं कि भामह बौद्ध न होकर वैदिक धर्मावलम्बी ब्राह्मण थे।

समय

एक समय था जब दण्डी और भामहके काल-निर्णयके सम्बन्धमें विद्वानोंमें बड़ा मतभेद था। कुछ आलोचक दण्डीको ही भामहसे पूर्ववर्ती मानते थे। परन्तु अब तो प्रबलतर प्रमाणोंसे भामह ही दण्डीसे पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं। बौद्धाचार्य शान्तरक्षितने (अष्टम शतक) अपने 'तत्त्व-संग्रह' नामक ग्रन्थमें भामहके मतका निर्देश करते हुए इनके ग्रन्थसे कतिपय श्लोकोंको उद्धृत किया है। अतः इनका अष्टम शतकसे पूर्ववर्ती होना ध्रुव सत्य है। आनन्दवर्धनने भामहके एक श्लोक[1]को बाणभट्टके एक वाक्य[2]से प्राचीनतर बतलाया है। आनन्दकी सम्मतिमें बाणभट्टका वाक्य भामहके पद्यानुयायी होनेपर भी ध्वनिकी सत्ताके कारण ही नवीन प्रतीत होता है। अतः आनन्दकी सम्मतिमें भामह बाणभट्टसे (६२५ ई०) प्राचीन थे।

भामहने अपने ग्रन्थके पंचम परिच्छेदमें न्याय-निर्णयके अवसरपर बौद्ध दार्शनिकोंके सिद्धान्तोंसे अपना गाढ़ परिचय दिखलाया है। इस अवसर-पर इन्होंने प्रत्यक्ष प्रमाणका जो लक्षण दिया है वह आचार्य दिङ्नागके ही मतसे साम्य रखता है परन्तु वह उनके व्याख्याकार धर्मकीर्तिके मतसे भिन्न है[3]। दिङ्नागका प्रत्यक्ष लक्षण है—प्रत्यक्षं कल्पनापोढम्—अर्थात् प्रत्यक्ष कल्पनासे रहित होता है। और 'कल्पना' कहते हैं किसी

१—शेषो हिमगिरिस्त्वञ्च महान्तो गुरवः स्थिराः।
यदलंघितमर्यादाश्चलन्तीं बिभ्रते भुवम्॥
काव्या० ३।२८

२—धरणीधारणाय अधुना त्वं शेषः।
हर्षचरित। द्रष्टव्य ध्वन्यालोक उद्योत ४

३—काव्या० ५।६

वस्तुके विषयमें नाम, तथा जाति आदिकी कल्पनाको। इस लक्षणमें धर्मकीर्तिने 'अभ्रान्त' पद जोड़कर इसे भ्रान्ति रहित बनानेका उद्योग किया है। भामह धर्मकीर्तिके इस लक्षण-सुधारसे परिचित नहीं है। प्रतिज्ञा-दोषके भेद और दृष्टान्त विङ्नागके 'न्यायप्रवेश'से साम्य रखते हैं। अतः भामहका समय विङ्नागके (५०० ई०) पश्चात् और धर्मकीर्ति (६२०ई०) से पूर्व मानना चाहिये। अतः इनका समय षष्ठ शतकका मध्यकाल है।

ग्रन्थ

यह कहना नितान्त असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है कि हमारे ग्रन्थकारने प्रसिद्ध काव्यालंकारको छोड़कर और कोई ग्रन्थ लिखा या नहीं। इसमें सन्देह नहीं कि भामहका नाम बहुतसे ऐसे वाक्योंके साथ लिया जाता है जो काव्यालंकारमें नहीं मिलते। राघवभट्टने अपने अभिज्ञान शाकुन्तलकी टीका 'अर्थद्योतनिका'में दो बार भामहके नामसे ऐसे वाक्योंको दिया है जो काव्यालंकारमें कहीं नहीं मिलते। एक वाक्य तो किसी छन्दः-शास्त्रसे लिया गया है और दूसरा अलंकार-शास्त्रसे[२]। दूसरा वाक्य आश्चर्य है, कि कुछ परिवर्तनके साथ उद्भटके काव्यालंकारमें मिलता है और उसका उदाहरण काव्यप्रकाशमें मिलता है। कुछ श्लोक नारायण

१—क्षेमं सर्व गुरुर्दत्ते मगणो भूमिदैवतः।
इतिभामहोक्तेः ॥
अभिज्ञान-शाकुन्तल टीका पृ० ४ (नि० सा०)

२. तल्लक्षणमुक्तं भामहेन—पर्यायोक्तं प्रकारेण यदन्येनाभिधीयते। वाच्य-वाचक शक्तिभ्यां शून्येनावगमात्मना इति। उदाहृतं च हयग्रीववधस्थं पद्यं 'यं प्रेक्ष्य चिररूढापि निवास-प्रीतिरुज्झिता। मदेनैरावणमुखे मानेन हृदये हरेः' इति पृ० १०

भट्टने 'वृत्त रत्नाकर'पर अपनी टीकामें भामहके नामसे कहे हैं। यह शायद किसी छन्दः-शास्त्र'से लिया गया है।

इन वाक्योंके सिवा जो हमें भामहके नामसे सुनाई देते हैं और जो शायद ऐसे ग्रन्थोंसे लिये गये हैं जो अब लुप्त हो गये हैं, हम लोगोंको भामहभट्टके नामसे उस प्राकृत प्रकाशकी प्रसिद्ध टीका मिलती है जिसके द्वारा वररुचिने सूत्ररूपमें प्राकृतका व्याकरण लिखा है। यह 'प्राकृत-मनोरमा' कहलाती है और बची हुई टीकाओंमें सबसे प्राचीन समझी जाती है।

हमारे पास इस बातके सिद्ध या असिद्ध करनेके लिये कोई सक्षात् प्रमाण नहीं है कि काव्यालंकारके रचयिता ही इन ग्रन्थोंके भी लिखने-

---

१. तदुक्तं भामहेन—

अवर्णात् सम्पत्तिर्भवति मदि वर्णाद्धनशता-
न्युवर्णादख्यातिः सग्भसमृवर्णाद्धग्हितात्।
तथा ह्येचः सौख्यं ङञणरहितादक्षग्गणात्
पदादौ विन्यासात् भरवहलहाहाविरहितात्॥ वृत्तरत्नाकर पृ० ६

तदुक्तं भामहेनैव—

देवतावाचकाः शब्दाः ये च भद्रादिवाचकाः।
ते सर्वे नैव निन्द्याः स्युर्लिपितो गणतोऽपि वा॥
कः खो गो घश्च लक्ष्मीं वितरति, वियशो ङस्तथा चः सुखं छः।
प्रीतिं जो मित्रलाभं भयमरणकरौ झञौ टठौ खेद-दुःखे॥
डः शोभां ढो विशोभां भ्रमगमथ च णस्तः सुखं थश्च युद्धम्।
दो धः सौख्यं मुदं नः सुखभयमरणक्लेशदुःखं पवर्गः॥
यो लक्ष्मी रश्च दाहं व्यसनमथ लवौ शः सुखं षश्च खेदं
सः सौख्यं हश्च खेदं विलयमपि च लः क्षः समृद्धिं करोति॥
संयुक्तं चेह न स्यात् सुख-मरण-पटुर्वर्ण-विन्यास-योगः
पद्यादौ गद्यवक्त्रे वचसि च सकले प्राकृतादौ समोऽयम्॥

वृत्तरत्नाकर पृ० ७. (काशी सं०)

वाले थे। कौन कह सकता है कि इस एक ही नामके कई व्यक्ति न हों। पर एक ही नामके हरएक पुरुष उसी प्रकार प्रसिद्ध नहीं होते। कुछ लोग तो प्राकृत-मनोरमाके रचयिताको काव्यालंकारके लिखनेवालेसे भिन्न नहीं समझते। पिटर्सनका अनुसरण करते हुए डा० पिशेल[1]को इसका सन्देह भी नहीं हुआ कि यह दो भामह भिन्न थे[2]। जहांतक हमें मालूम होता है, उनका कहना पण्डितोंके कथनोंके आधारपर है। कितना ही विश्वास योग्य उनका मत हो, हम लोग यही चाहेंगे कि उनके मतको पुष्ट करनेके लिये कोई ऐतिहासिक प्रमाण हो जिससे उनका मत दृढ़ हो जाय। पर यह विश्वास करना बिलकुल असम्भव मालूम होता है कि काव्यालंकारके रचयिताके ऐसा प्रखर विद्वान् अलंकार शास्त्रके ऐसे अपूर्व ग्रंथ लिखनेके पूर्व या अनन्तर बिलकुल चुप बैठा हो। एक शब्दमें इतना ही कह सकते हैं कि किसी ओर हम अपना निश्चित मत नहीं दे सकते।

काव्यालंकार

इस ग्रन्थ[3]में ६ परिच्छेद हैं जिनमें पांच विषयोंका विवरण है। वे इस प्रकार हैं:—

---

१. Pischel's Grammatik der Prakrit Sprachen p. 35.

२. सुभाषितावलि p. 79.

३. भामहने काव्यलंकारके अन्तमें इस प्रकार सबका सार दे दिया है:—

षष्ट्या शरीरं निर्णीतं शतषष्ट्या त्वलंकृतिः।
पञ्चाशता दोषदृष्टिः सप्तत्या न्यायनिर्णयः॥
षष्ट्या शब्दस्य शुद्धिः स्यादित्येवं वस्तुपंचकम्।
उक्तं षड्भिः परिच्छेदैर्भामहेन क्रमेण वः॥

(१) काव्य-शरीर—इसमें ६० श्लोक हैं जिनमें काव्य, उनके प्रयोजन लक्षणादि दिये हैं (प्रथम परिच्छेद)

(२) अलंकार—इसमें अलंकारोंके लक्षण और उदाहरण दिये हैं। यहां थोड़े कवियोंके नाम भी सौभाग्यवश सुनाई पड़ते हैं जिनको हम अब बिलकुल नहीं जानते। इसमें १६० श्लोक हैं। (द्वितीय तथा तृतीय परि०)

(३) दोष—काव्योंके दोष ५० श्लोकोंमें यहां दिये हैं। (चतुर्थ-परि०)।

(४) न्याय-निर्णय—इसका विशेष वर्णन ७० श्लोकोंमें है। (पंचम परिच्छेद)।

(५) शब्द-शुद्धि—व्याकरण सम्बन्धी अशुद्धियोंका वर्णन कर विशिष्ट शब्दोंकी साधुता प्रदर्शित की गई है। ६० श्लोक हैं। (षष्ठ-परिच्छेद)।

भामहके मान्य सिद्धान्त हैं—

(१) शब्द और अर्थ दोनोंके मिलनेसे काव्यकी निष्पत्ति होती है। शब्दार्थौ सहितं काव्यम्।

(२) भरत-प्रतिपादित दशगुणोंके स्थानपर ओज, माधुर्य तथा प्रसाद इस गुणत्रयका निर्देश तथा निरूपण।

(३) वक्रोक्तिका समस्त अलंकारोंका मूलभूत होना। इसका चरम विकास कुन्तककी 'वक्रोक्ति-जीवित'में दीख पड़ता है।

(४) दशविध दोषोंके अतिरिक्त अन्य नवीन दोषोंकी कल्पना।[१]

४—दण्डी

भामहके बाद दण्डी अलंकार-शास्त्रके प्रधान आचार्य माने जाते हैं। इनका समय निरूपण अत्यन्त विवादका विषय है। आनन्दवर्धनने जिस

१—भामहके काल, ग्रन्थ तथा सिद्धान्तके विस्तृत वर्णनके लिए इस खंडका परिशिष्ट देखिये।

प्रकार भामहको अपने ग्रन्थमें उद्धृत किया है उस प्रकार दण्डीको नहीं किया है। दण्डीका सर्वप्रथम निर्देश प्रतिहारेन्दुराजने (पृ० २६) किया है। दक्षिण-भारतकी भाषाओं के अलंकारशास्त्र विषयक ग्रन्थोंसे—जिनकी रचना सम्भवतः नवम शताब्दीमें की गई थी—दण्डी एक सिद्ध तथा प्रामाणिक आलंकारिकके रूपमें दिखाई पड़ते हैं। सिंहली भाषाके अलंकार ग्रन्थ 'सिय-बस-लकर'— (स्वभाषालंकार) जिसकी रचना नवम शताब्दीसे कथमपि पश्चात् नहीं मानी जा सकती—दण्डीको अपने उपजीव्य ग्रन्थकारोंमें मानता है। कन्नड़ भाषामें लिखित 'कविराजमार्ग' नामक ग्रन्थमें, जिसकी रचनाका श्रेय राष्ट्रकूट-नरेश अमोघवर्ष नृपतुंग (नवम शतकका प्रथमार्ध)को है—अलंकारोंके उदाहरणमें जो अनेक श्लोक उद्धृत किये गये हैं वे दण्डीके काव्यादर्शके अक्षरशः अनुवाद हैं। इन ग्रन्थोंके अतिरिक्त वामनके 'काव्यालंकार'के अनुशीलनसे प्रतीत होता है कि वामन दण्डीसे परिचित थे। दण्डीने केवल दो ही रीति या मार्गका वर्णन किया है परन्तु वामनने एक मध्यवर्तिनी रीति—पाञ्चाली—का भी निर्देशकर अपनी मौलिकताका परिचय दिया है। इससे स्पष्ट है कि दण्डी वामनसे प्राचीन हैं। अतः इनके कालकी अन्तिम अवधि अष्टम शतकके पश्चात् नहीं हो सकती।

इनके कालकी पूर्व अवधिका निश्चय करना सरल नहीं है। दण्डीके एक श्लोकमें बाणभट्टके द्वारा कादम्बरीमें वर्णित यौवनके दोषोंके वर्णनकी छाप स्पष्ट दीख पड़ती है[1]। दण्डीके एक अन्य पद्यमें माघके शिशुपाल-

---

१—अरत्नालोकसंहार्यं, अवार्यं सूर्यरश्मिभिः।
दृष्टिरोधकरं यूनां यौवनप्रभवं तमः॥ काव्यालंकार २।१९७
कादम्बरीकी निम्नलिखित पंक्तियोंसे इसकी तुलना कीजिये—
केवलं च निसर्गत एवाभानुभेद्यमरत्नालोकोच्छेद्यमप्रदीपप्रभापनेयमतिगहनं तमो यौवनप्रभवम्।

वधकी छाया है[१]। डाक्टर के० बी० पाठकके अनुसार दण्डीने कर्मके निर्वर्त्य, विकार्य तथा प्राप्य नामक भेदत्रयकी कल्पना, भर्तृहरिके वाक्यपदीयके अनुसार की है[२]। दण्डीने अपनी 'अवन्तिसुन्दरी-कथा'में बाणभट्टकी पूरी कादम्बरीका सरस सारांश उपस्थित किया है। इन निर्देशोंसे स्पष्ट है कि बाण, भर्तृहरि और माघ (सप्तम शतक)से प्रभावित होनेवाले दण्डी सप्तम शतकके उत्तरार्धमें उत्पन्न हुए थे।

टीका

भामहकी अपेक्षा दण्डी अधिक भाग्यवान् थे। भामहकी प्राचीन व्याख्या (भामह-विवरण) अभीतक उपलब्ध नहीं है। भामहके ग्रन्थका मूल पाठ भी विशुद्ध रुपसे अभी उपलब्ध नहीं है। इनके ग्रन्थका उद्धार भी अभी कुछ दिन पूर्व ही हुआ है। परन्तु दण्डीका व्यापक प्रभाव प्राचीनकालसे ही लक्षित हो रहा है। सिंहली भाषामें मान्य अलंकार ग्रन्थ 'सिय-बस-लकर'पर दण्डीके 'कायादर्श'की छाप है। कन्नड़ भाषाका कविराजमार्ग तो दण्डीके प्रभावसे ओतप्रोत ही नहीं है, प्रत्युत उसके अलंकारोंके उदाहरणोंमें दण्डीके श्लोकोंके निःसंदिग्ध अनुवाद हैं। सम्भवतः तिब्बती भाषामें भी इनके ग्रन्थका अनुवाद हुआ था। इनके ग्रन्थके ऊपर अनेक टीकाएं लिखी गई हैं जिनसे उसकी लोकप्रियताका पता चलता है। 'काव्यादर्श'की सबसे प्राचीन टीका तरुणवाचस्पति द्वारा विरचित है। इनकी दूसरी टीकाका नाम 'हृदयंगमा' है जिसके लेखकके नामका पता नहीं चलता। ये दोनों टीकायें मद्राससे प्रकाशित हुई हैं।

दण्डीने तीन ग्रन्थोंकी रचना की है—(१) काव्यादर्श (२) दश-कुमार-चरित और (३) अवन्ति-सुन्दरी-कथा। दशकुमार-चरितमें दस

१—दण्डी २।३०२ = माघ २।४

२—दण्डी २।२४० = भर्तृहरि ३।४५.

राजकुमारोंका जीवन-चरित वर्णित है। यह उपन्यास ग्रन्थ है जिसमें राजकुमारोंको शिक्षा दी गई है। अवन्ति-सुन्दरी-कथा सुन्दर भाषामें लिखा गया सुन्दर गद्यकाव्य है। परन्तु इनका सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ काव्यादर्श है जिसपर अनेक टीकाएँ लिखी गई हैं। इस ग्रन्थमें तीन परिच्छेद हैं तथा समस्त श्लोकोंकी संख्या ६६० है। प्रथम परिच्छेदमें काव्य-लक्षण, काव्य-भेद, गद्यके दो भेद--आख्यायिका और कथा, रीति, गुण, तथा कविके आवश्यक गुणोंका वर्णन किया गया है। द्वितीय परिच्छेदमें अलंकारकी परिभाषा, ३५ अलंकारोंकी परिगणना तथा उदाहरणका विवरण है। तृतीय परिच्छेदमें यमक, चित्रबन्ध--जैसे गोमूत्रिका, सर्वतोभद्र और वर्णनियम आदि, १६ प्रकारकी प्रहेलिका और १० प्रकारके दोषोंका सुविस्तृत वर्णन है।

दण्डी केवल आलंकारिक ही नहीं थे प्रत्युत सरस काव्य-कलाके उपासक सफल कवि थे। उनका दशकुमार-चरित संस्कृत गद्यके इतिहासमें अपनी चारुता, मनोरंजकता तथा सरसताके लिये सदा स्मरणीय रहेगा। काव्यादर्शके समग्र उदाहरण दण्डीकी निजी रचनाएँ हैं। इन पद्योंमें सरसता तथा चारुता पर्याप्त मात्रामें विद्यमान है। अतः आलंकारिक दण्डीकी अपेक्षा कवि दण्डीका स्थान कुछ कम उन्नत नहीं है। इसी लिये प्राचीन आलोचकोंने वाल्मीकि और व्यासकी मान्य श्रेणीमें दण्डीको स्थान दिया है।

जाते जगति वाल्मीकौ कविरित्यभिधाभवत्।
कवी इति ततो व्यासे कवयस्त्वयि दण्डिनि॥

५—उद्भट भट्ट

प्रसिद्धि

संस्कृत अलंकार-शास्त्रके आचार्योंमें उद्भट भट्टका भी स्थान बड़ा ऊँचा है। पीछेके बड़े-बड़े शास्त्रकारोंने बड़े आदरके

साथ उनका और उनके मतका उल्लेख किया है। जो उनका मत नहीं भी मानते, अनेक बातोंमें उनके पूरे विरोधी हैं, वे भी जब उनका नाम अपने ग्रन्थोंमें लेते हैं, उनके प्रति पूरा सम्मान दिखानेका प्रयत्न करते हैं। ध्वन्यालोकके रचयिता आनन्दवर्द्धनाचार्य कितने बड़े पण्डित थे, यह बतानेकी आवश्यकता नहीं है। वे भी अपने ग्रन्थमें एक स्थानपर यों लिखते हैं—"अन्यत्र वाच्यत्वेन प्रसिद्धो यो रूपकादिरलंकारः सोन्यत्र प्रतीयमानतया बाहुल्येन प्रदर्शितस्तत्रभवद्भिर्भट्टोद्भटादिभिः"[१]। रुय्यकका अलंकारसर्वस्व प्रसिद्ध ही है[२]। उसीके आधारपर अप्पय दीक्षितने अपने अलंकार-ग्रन्थोंमें बहुत कुछ लिखा है। इसमें भी भट्ट उद्भटका नाम आया है। बल्कि यह कहना चाहिए कि भामह और इनके नामसे ही ग्रन्थ प्रारम्भ होता है—"इह हि तावद् भामहोद्भट प्रभृतयश्चिरन्तनालंकारकारा[३]" इत्यादि। यही रुय्यक जब व्यक्तिविवेक ऐसे बड़े महत्त्वके ग्रन्थकी टीका लिखने बैठे, तब भी उद्भट भट्टको न भूले थे। वहां वे यों लिखते हैं—"इह हि चिरन्तनैरलंकार-तन्त्रप्रजापतिभिर्भट्टोद्भटप्रभृतिभिः शब्दधर्मा एवालंकाराः प्रतिपादिता नाभिधाधर्मा"[४]। इन प्राचीनोंकी बात ही क्या है; पीछेके जो उद्धतसे उद्धत भी नवीन आचार्य हुए हैं, उनको भी भट्ट उद्भटके सामने सिर नवाना ही पड़ा है। जिसने रसगंगाधर एक बार भी पढ़ा है, वह अच्छी तरह जानता है कि पण्डितराज जगन्नाथ कैसे थे। किसकी उन्होंने खबर

१—ध्वन्यालोक, पृ० १०८. (निर्णयसागर)

२—दक्षिणके टीकाकार समुद्रबन्धका कहना है कि रुय्यकने केवल सूत्र ही लिखा। उन सूत्रोंकी वृत्तिका ही नाम अलंकार-सर्वस्व है, जो उनके शिष्य मंखुकने लिखा। किन्तु यह मत कई कारणोसे ठीक नहीं ठहरता।

३—अलंकार-सर्वस्व, पृ० ३. (निर्णयसागर)।

४—व्यक्तिविवेक-टीका, पृ० ३ (अनन्तशयन)।

न ली ! अप्पय दीक्षितके धुर्रे उड़ा दिए, विमर्षिणीकारके छक्के छुड़ा दिए। पर वे भी जहां कहीं उद्भटका नाम लेते हैं, आदर ही दिखाते हैं। कहीं उनके ग्रन्थके लगानेका प्रयत्न किया, कहीं उनपर किए गए आक्षेपोंका उत्तर दिया, और कहीं अपने कथनके समर्थनमें उनका उल्लेख किया। एक स्थानसे लिए हुए वाक्यको नमूनेके तौरपर देखिए—"अत्राहुरुद्भटाचार्यः। येन नाप्ताप्ते य आरभ्यते स तस्य बाधक इति न्यायेनालंकारान्तरविषय एवायमाभारायमाणोऽलंकारान्तरं बाधते"[1] इत्यादि। और कहां तक कहें, भट्ट उद्भटकी प्रसिद्धि इतनी जोरोंकी हुई कि बेचारे भामह सबसे प्राचीन आचार्य कोसों दूर पड़े रह गये। इनके आगे वे फीकेसे जँचने लगे। यही कारण है कि भामहके काव्यालंकारकी पुस्तक तक नहीं मिलती।

देश और समय

"उद्भट" नाम सुनते ही कौन न कह बैठेगा कि ये काश्मीरी होंगे। पुराने काश्मीरियोंके नाम गजबके होते थे। इस समयके लोग तो उन्हें सुनते ही फड़क उठते है। भला कहिये, कैयट, जैयट, वैयट, मम्मट, अल्लट, भल्लट, कल्लट सरीखे नाम और किस देशमें निकलेंगे ! ये जो नाम ऊपर दिये गये हैं, वे सब एकसे एक बढ़े-चढ़े आचार्योंके हैं। अब उद्भट नामको इन सबके बगलमें रखिय और देखिये कि यह किस नामसे कम उद्भट है।

केवल नाम ही की बात नहीं, और भी दूसरे विश्वासार्ह प्रमाण हैं, जिनसे उनका काश्मीरका होना अच्छी तरह सिद्ध होता है।

राजतरंगिणीमें कल्हण किसी एक भट्ट उद्भटको महाराज जयापीड़का सभापति बतलाते हैं। महाराज जयापीड़का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं—

१—रसगंगाधर, पृ० ६२३ (काशी)।

विद्वान् दीनारलक्षेण प्रत्यहं कृतवेतनः ।
भट्टोऽभूदुद्भटस्तस्य भूमिभर्तुः सभापतिः ॥–४. ४९५.

उस राजाके सभापति विद्वान् उद्भट भट्ट थे, जिनका दैनिक वेतन एक लाख दीनार था। यह उद्भट, जिनके संरक्षक महाराज जयापीड़ थे, और जिनका उल्लेख हम ऊपर कर आए हैं, जहां तक पता लगा है, दोनों एक ही थे। इन दोनोंका एक व्यक्ति होना डॉ० ब्यूलरकी काश्मीर-रिपोर्टमें बहुत प्रमाणोंसे सिद्ध किया गया है[1]। डॉ० ब्यूलरने ही पहले-पहल काश्मीर जाकर अन्य ग्रन्थोंके साथ भट्ट उद्भटके अलंकारसार-संग्रहका पता लगाया था।

महाराज जयापीड़ वै० सं० ८३६ से ८७० तक राज्य करते रहे। अपने राज्यके अन्तिम कालमें ये कुछ बदनामसे हो गए थे। इनसे प्रजाओंको पीड़ा होते देखकर ब्राह्मणोंने सब सम्बन्ध छोड़ दिया था। इसी कारण डॉ० याकोबी भट्ट उद्भटको इनके राज्यके पहले भागमें रखना अधिक उचित समझते हैं। यही समय इनका दूसरी तरहसे भी प्रमाणित होता है। ध्वन्यालोकके रचयिता आनन्दवर्द्धनाचार्यने इनका नाम कई बार लिया है[2]। आनन्दवर्द्धनाचार्यका भी नाम राजतरंगिणीमें आया है—

मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्द्धनः ।
प्रथां रत्नाकरश्चागात् साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः ॥ ५-३४.

मुक्ताकण, शिवस्वामी, कवि आनन्दवर्द्धन तथा रत्नाकर, ये सब अवंतिवर्माके राज्य-कालमें प्रसिद्ध हुए। महाराज अवन्तिवर्मा वै० सं०

१–Dr. G. Buhler's Detailed Report of a Tour in Search of Sanskrit MSS. made in Kashmir etc. Extra number of the J. B. R. A. S., 1877.

२–ध्वन्यालोक, पृ० ९६ और १०८ (निर्णयसागर)।

६१२ से ६४५ तक काश्मीरका शासन करते रहे। आनन्दवर्द्धनका भी पूर्वोक्त श्लोकके अनुसार, यही समय मानना चाहिए। इसलिए इस बातसे भी भट्ट उद्भटका पूर्वोक्त समय ही ठीक प्रमाणित होता है। एक दूसरी बात भी यहां ध्यान रखने योग्य है। वह यह कि भट्ट उद्भटने कहीं आनन्द-वर्द्धनाचार्यका क्या, ध्वनि-मतका भी अच्छी तरह उल्लेख नहीं किया है। इससे यही अनुमान किया जा सकता है कि उनके समयतक ध्वनिमतकी पूर्ण रूपसे स्थापना नहीं हुई थी। ऐसा ही पता प्रतिहारेन्दुराजकी टीकासे तथा अन्य ग्रन्थोंसे भी चलता है[१]। इन सब बातोंका विचार करनेसे यही सिद्ध होता है कि भट्ट उद्भट ई० नवम शतकके पूर्वार्द्धमें अवश्य विद्यमान थे[२]।

ग्रंथ

अभी तक भट्ट उद्भटके तीन ग्रन्थोंका पता लगा है। वे ये हैं—

(१) भामह-विवरण, (२) कुमारसंभव काव्य और (३) अलंकारसार-संग्रह।

भामह-विवरण

भामह-विवरणका केवल नाम ही नाम मिला है, पुस्तक कहीं नहीं मिली है। प्रतिहारेन्दुराज अलंकारसार संग्रहकी लघु-विवृति नामकी

१–अलंकारसारलघुविवृति, पृ० १६—"कैश्चित् सहृदयैर्ध्वनिर्नाम व्यंजकभेदात्मा काव्यधर्मोऽभिहितः। स कस्मादिह नोपदिष्टः। उच्यते। एष्वलंकारेष्वन्तर्भावात्।" अलंकारसर्वस्व टीका (अलंकार विमर्शिणी) पृ० ३ (निर्णयसागर)—"ध्वनिकारमतमेभिर्नदृष्ट-मितिभावः।"

२–Winturniz, Geschichte der Indischen Literatur, Vol. III. p. 17; Dr. S. K. De, History of Sanskrit Poetics, Vol. I. p. 75; P. V. Kane, Introd. to साहित्यदर्पण p. XLV.

टीकामें एक स्थलपर लिखते हैं—"विशेषोक्तिलक्षणे च भामह विवरणे भट्टोद्भटेन एकदेशशब्द एवं व्याख्यातो यथैतास्माभिर्निरूपितः"[१]। इस कथनसे स्पष्ट ही प्रतीत होता है कि भामह-विवरण नामका ग्रंथ भट्ट उद्भटने लिखा था। इस कथनकी पुष्टि अभिनव गुप्ताचार्य भी कई स्थलोंपर करते हैं[२]। एक स्थलपर वे यों लिखते हैं—"भामहोक्तं 'शब्दछन्दोभिधानार्थः' इत्यभिधानस्य शब्दाद् भेदं व्याख्यातुं भट्टोद्भटो बभाषे।[३]" इससे तो स्पष्ट ही निकलता है कि भट्ट उद्भटने भामहके ग्रंथपर व्याख्या लिखी थी। अन्य स्थलोंसे भी यही सिद्ध होता है। हेमचंद्र भी अपने काव्यानुशासनकी अलंकार-चूड़ामणि नामकी टीकामें भट्ट उद्भटकृत भामह-विवरणका कई बार उल्लेख करते हैं[४]। रुय्यक अपने अलंकारसर्वस्वमें इस भामह-विवरणका 'भामहीय-उद्भट-लक्षण' कहकर उल्लेख करते हैं[५]। इसी अलंकार-सर्वस्वकी टीकामें समुद्रबंध इसको 'काव्यालंकार विवृति' कहते हैं[६]। भट्ट उद्भटके अलंकारसार-संग्रहसे पता चलता है कि इन्होंने भामहके अलंकार लक्षणोंको बहुत स्थलोंपर वैसेका वैसा ही उठा लिया है। इससे भी यही मालूम होता है कि इनका भामहके साथ घनिष्ठ संबंध था।

कुमारसम्भव काव्य

भट्ट उद्भटके दूसरे ग्रंथकी भी यही दशा है। इस ग्रंथका नाम था कुमारसंभव काव्य। प्रतिहारेन्दुराजके कथनसे उसके अस्तित्वका पता

१—पृ० १३.

२—ध्वन्यालोकलोचन (निर्णयसागर) पृ० १०.

३— ,, ,, पृ० ४०, १५६.

४—काव्यानुशासन टीका (निर्णयसागर) पृ० १७, ११०.

५—अलंकारसर्वस्व पृ० १८३.

६—अलंकारसर्वस्व टीका (अनंतशयन) पृ० ८९.

चलता है, तथा यह मालूम होता है कि अलंकारसार-संग्रहमें आए हुए उदाहरण प्रायः उसी काव्यसे लिए गए हैं। प्रतिहारेन्दुराज अपनी लघुविवृतिमें एक स्थानपर यों लिखते हैं—"अनेन ग्रन्थकृता स्वोपरचित-कुमारसंभवैकदेशोऽत्रोदाहरणत्वेन उपन्यस्तः[1]।" जैसा काणे महाशय कहते हैं[2], इन श्लोकोंको देखनेसे स्पष्ट यही प्रतीत होता है कि मानों कालिदासके कुमारसंभवकी नकल की गई हो। यह सादृश्य केवल शब्द और अर्थका ही नहीं है, बल्कि घटनोल्लेखका भी है। यहां एक दो उदाहरण दिखाना अप्रासंगिक न होगा।

उद्भटका श्लोक—प्रच्छन्ना शस्यते वृत्तिः स्त्रीणां भावपरीक्षणे।
प्रतस्थे धूर्जटिरतस्तनुं स्वीकृत्य वाटवीम्॥
(२. १०)[3]

कालिदासका श्लोक—विवेश कश्चिज्जटिलस्तपोवनं
शरीरबद्धः प्रथमाश्रमो यथा। इत्यादि।
(२. १२)

उद्भटका श्लोक—अपश्यच्चातिकष्टानि तप्यमानां तपांस्युमाम्।
असंभाव्य पतीच्छानां कन्यानां का परा गतिः॥
(२. १२)[4]

कालिदासका श्लोक—इयेष सा कर्तुमवन्ध्यरूपतां
स माधिमास्थाय तपोभिरात्मनः।
अनाप्यते वा कथमीदृशं द्वयं
तथाविधं प्रेमपतिश्च तादृशः॥
(५. २)

१—अलंकारसार-संग्रह, लघु-विवृति, पृ० १३, (निर्णयसागर)।
२—Introduction to साहित्यदर्पण p. XLV.
३—अलंकारसार-संग्रह, लघुविवृति पृ० ३३.
४— ,, पृ० ३४.

उद्भटका श्लोक--शीर्णपर्णाम्बुवाताशकष्टेऽपि तपसि स्थिताम् ।
(२. १)[1]

कालिदासका श्लोक--स्वयं विशीर्णद्रुमपर्णवृत्तिता
परा हि काष्ठा तपसस्तया पुनः । इत्यादि ।
(५. २८)

अलंकारसार संग्रह

भट्ट उद्भटका तीसरा ग्रंथ है अलंकारसार-संग्रह । इस समय एक यही साधन है, जिससे भट्ट उद्भटकी विद्वत्ताका पता चल सकता है। इसका पहले-पहल पता डा० ब्यूलरने काश्मीरमें लगाया था और इसका पूरा विवरण अपनी रिपोर्टमें दिया था। इसका अनुवाद कर्नल जेकबने निकाला था। पर ग्रंथ जबतक निर्णयसागरमें न छपा, तबतक सर्व साधारणके लिये दुर्लभ ही था। वै० सं० १९७२में पण्डित मंगेश रामकृष्ण तैलंगने प्रतिहारेन्दुराजकी लघु-विवृति नामकी टीकाके साथ इसका संपादन कर इसे प्रकाशित किया।

यह ग्रंथ छः वर्गोंमें विभक्त है। इसमें लगभग ७९ कारिकाओं द्वारा ४१ अलंकारोंके लक्षण दिए गए हैं। इनके उदाहरणकी तरह लगभग १०० श्लोक अपने कुमारसंभव काव्यसे (जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है) दिये गये हैं।

जिन अलंकारोंके लक्षण और उदाहरण इसमें दिये गये हैं, उनके नाम वर्गक्रमसे नीचे दिये जाते हैं।

प्रथम वर्ग--(१) पुनरुक्तवदाभास, (२) छेकानुप्रास, (३) त्रिविध अनुप्रास (परुषा, उपनागरिका, ग्राम्या या कोमला), (४) लाटानुप्रास, (५) रूपक, (६) उपमा, (७) दीपक, (आदि, मध्य, अन्त), (८) प्रतिवस्तूपमा।

१--अलंकारसार-सग्रह, लघुविवृति पृ० ३७.

द्वितीय वर्ग--(१) आक्षेप, (२) अर्थान्तरन्यास, (३) व्यतिरेक, (४) विभावना, (५) समासोक्ति, (६) अतिशयोक्ति।

तृतीय वर्ग--(१) यथासंख्य, (२) उत्प्रेक्षा, (३) स्वभावोक्ति।

चतुर्थ वर्ग--(१) प्रेय, (२) रसवत्, (३) उर्जस्वित्, (४) पर्यायोक्त, (५) समाहित, (६) उदात्त (द्विविध), (७) श्लिष्ट।

पंचम वर्ग--(१) अपन्हुति, (२) विशेषोक्ति, (३) विरोध, (४) तुल्ययोगिता, (५) अप्रस्तुतप्रशंसा, (६) व्याजस्तुति, (७) विदर्शना, (८) उपमेयोपमा, (९) सहोक्ति, (१०) संकर (चतुर्विध), (११) परिवृत्ति।

षष्ठ वर्ग--(१) अनन्वय, (२) ससंदेह, (३) संसृष्टि, (४) भाविक, (५) काव्यलिंग, (६) दृष्टांत।

भामहसे सम्बन्ध

(१) सादृश्य

ऊपर एक स्थानपर कहा जा चुका है कि भट्ट उद्भट भामहके बड़े भक्त थे। उन्होंने भामहके काव्यालंकारपर भामह-विवरण नामकी टीका लिखी। इतना ही नहीं, उसी ग्रन्थका बहुत कुछ सहारा लेकर उन्होंने अपना अलंकारसार-संग्रह लिखा। अब यहां यह देखना भी उचित होगा कि उन्होंने इस ग्रन्थके बनानेमें कहांतक भामहका अनुकरण किया और कहांतक अपनी बुद्धि लगाई। पहली बात जो देखते ही दृष्टिगत होती है, वह यह है कि अलंकारोंके लक्षण और उदाहरण जिस क्रमसे भामहके काव्यालंकारमें कहे गये हैं, उसी क्रमसे यहां भी दिये गये हैं। दो लक्षणोंको मिलानेसे पता लगता है कि आक्षेप, विभावना, अतिशयोक्ति, यथासंख्य, पर्यायोक्त, अपन्हुति, विरोध, अप्रस्तुतप्रशंसा, सहोक्ति, ससन्देह और अनन्वयके लक्षण हूबहू वहीके वही हैं। कुछ और दूसरे अलंकार जैसे अनुप्रास, उत्प्रेक्षा, रसवत्, भाविक आदि ऐसे हैं,

जिनके लक्षण बिलकुल वहीके वही तो नहीं हैं, पर तो भी दोनोंमें बहुत कुछ सादृश्य अवश्य है। यह तो हुई ऊपरी समता। भीतरी मत भी भामह और भट्ट उद्भटका करीब-करीब एक-सा था। दोनों अलंकार-मतके माननेवाले थे।

(२) विलक्षणता

इतना सादृश्य होनेपर भी भट्ट उद्भट बिलकुल ही अनुकरण करनेवाले न थे। उन्होंने भामहके कहे हुए कितने ही अलंकारोंके नाम तक नहीं लिये हैं, और कितने ही भामहके न कहे हुए अलंकारोंको अपने ग्रंथमें स्थान दिया है। यमक, उपमारूपक, उत्प्रेक्षावयव भामहके काव्यालंकारमें आए हैं, पर उद्भटके अलंकारसार-संग्रहमें उनका कहीं नाम भी नहीं मिलता। इसी तरह पुनरुक्तवदाभास, संकर, काव्यलिंग और दृष्टान्त भामहके ग्रन्थमें न आनेपर भी भट्ट उद्भटके ग्रन्थमें मिलते हैं। निदर्शनाको उद्भट विदर्शना कहते हैं, पर बहुत संभव है कि यह लिखनेकी ही भूल हो।

इसके अतिरिक्त और भी कई बातें हैं, जिनमें इनका मत भामहके मतसे नहीं मिलता। प्रतिहारेन्दुराज एक स्थानपर कहते हैं--

"भामहो हि ग्राम्योपनागरिकावृत्तिभेदेन द्विप्रकारमेवानुप्रासं व्याख्यातवान्। तथा रूपकस्य ये चत्वारो भेदा वक्ष्यन्ते तन्मध्यादाद्यमेव भेदद्वितयं प्रादर्शयत्[१]।" भामहने ग्राम्या वृत्ति और उपनागरिका वृत्ति, यही दो प्रकारके अनुप्रास माने हैं। रूपकके भी उन्होंने दो ही भेद दिखाये हैं। इसके विरुद्ध उद्भट भट्टने अनुप्रास तीन तरहके माने हैं। इन्होंने एक परुषा वृत्ति और जोड़ दी है। इसी तरह रूपकके भी इन्होंने दो और भेद जोड़कर चार भेद कर दिये हैं। प्रतिहारेन्दुराज फिर एक दूसरे स्थानपर कहते हैं--"भामहो हि 'तत्सहोक्त्युपमाहेतुनिर्देशास्त्रिविधं यथा।

१--अलंकारसार लघुवृत्ति, पृ० १.

इति श्लिष्टस्य त्रैविध्यमाह"[१]। भामहने श्लेषके तीन भेद माने हैं, पर उद्भट दो ही भेद मानते हैं।

संस्कृत अलंकारशास्त्रमें बहुतसे भिन्न-भिन्न मत हो चुके हैं। अलंकार सर्वस्वकी टीकामें समुद्रबन्ध उन मतोंके यों विभाग करते हैं—"विशिष्टौ शब्दार्थौ काव्यम्। तद्वैशिष्ट्यं धर्ममुखेन, व्यापारमुखेन, व्यंग्यमुखेन च"[२]। विशिष्ट शब्द-अर्थको काव्य कहते हैं। इस विशिष्टताका प्रकाश तीन तरहसे होता है—धर्मसे, व्यापारसे और व्यंग्यसे। धर्मके दो भेद होते हैं—स्थायिधर्म अर्थात् गुण, और अस्थायिधर्म अर्थात् अलंकार। जो लोग अलंकार ही को काव्यमें सबसे प्रधान समझते हैं, उनका मत अलंकारमत कहा जाता है। इस मतके माननेवाले उद्भटको छोड़कर भामह, दण्डी, रुद्रट, प्रतिहारेन्दुराज आदि कहे जा सकते हैं।

विशेषताएँ

उद्भटके मतसे कई बातें सबसे विलक्षण हैं। यहां उनका संग्रह कर देना अनुचित न होगा। प्रतिहारेन्दुराज एक स्थानपर कहते हैं—"अर्थभेदेन तावच्छब्दा भिद्यन्ते इति भट्टोद्भटस्य सिद्धान्तः"[३]। अर्थभेदसे शब्दोंका भेद होता है, यह भट्टोद्भटका सिद्धान्त है। ये दो तरहका श्लेष मानते हैं—शब्दश्लेष और अर्थश्लेष; और दोनोंको अर्थालंकार ही मानते हैं[४]। श्लेषको यह प्रधान अलंकार मानते हैं और सब अलंकारों-का बाधक समझते हैं[५]। इन्होंने स्पष्ट कहा है—"अलंकारान्तरगतां

१—अलंकारसार-लघुवृत्ति, पृ० ४७.

२—अलंकारसर्वस्व-टीका (अनन्तशयन), पृ० ४.

३—अलंकारसार-लघुवृत्ति, पृ० ५५.

४—काव्यप्रकाश, ९ उल्लास.

५—ध्वन्यालोक, पृ० ९६.

प्रतिभां जनयत्पदैः"। ये अभिधा व्यापार तीन तरहका मानते थे[१]। अर्थ ये दो तरहके मानते थे--अविचारित सुस्थ और विचारित रमणीय[२]। गुणोंको ये संघटनाके धर्म मानते थे[३]। व्याकरणके विचारपर जो बहुतसे उपमाके भेद पाये जाते हैं, वे सब प्रायः उद्भटके ही निकाले हुए हैं[४]।

इतना कहनेके बाद अब यह फिर दोहरानेकी आवश्यकता नहीं कि भट्ट उद्भट बड़े भारी विद्वान् और धुरंधर आलंकारिक थे। जिस किसी बड़े अलंकार ग्रन्थको उठाकर देखिये, कहीं न कहीं भट्ट उद्भटका नाम अवश्य देखनेमें आवेगा। इनका मत पीछेसे उड़-सा गया। जब लोग व्यंग्य को ही काव्यका आत्मा मानने लगे, तब अलंकारोंका बाहरी उपकरण ठहराया जाना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। इतना होनेपर भी उनकी कीर्ति अक्षुण्ण बनी रही, यह क्या बहुत बड़ी बात नहीं है ?

इनके दो टीकाकारोंका पता चलता है--

(१) **प्रतिहारेन्दुराज**--इनकी टीकाका नाम लघुवृत्ति[५] है, जिसमें इन्होंने भामह, दण्डी, वामन, ध्वन्यालोक तथा रुद्रटके पद्योंको उद्धृत किया है। अन्तिम तीन ग्रन्थोंके नामका भी स्पष्ट निर्देश यहां मिलता है। ये कोंकणके निवासी तथा मुकुल भट्टके शिष्य थे। ये मुकुल भट्ट भट्ट कल्लटके (नवम शतकका मध्यभाग) पुत्र तथा 'अभिधावृत्ति-मातृका'के रचयिता थे। अतः मुकुलका समय हुआ नवम शतकका अन्तिम काल तथा प्रतिहारेन्दुराजका समय हुआ १० शतकका प्रारम्भकाल। अभिनव-

---

१--काव्यमीमांसा, पृ० २२.

२--काव्यमीमांसा, पृ० ४८; व्यक्तिविवेक टीका, पृ. ४.

३--ध्वन्यालोकलोचन, पृ० १३४.

४--P. V. Kane, Introd. to साहित्यदर्पण, p. XLIV.

५--संस्करण काव्यमाला तथा बाम्बे संस्कृत सीरीजमें

गुप्तके एक गुरुका नाम भट्टेन्दुराज था जो इनसे भिन्न प्रतीत होते हैं। प्रतिहारेन्दुराज ध्वनिसे परिचित होनेपर भी उसकी प्रधानता नहीं मानते थे। अतः ध्वनिवादी अभिनवगुप्तका उन्हें गुरु मानना युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता।

(२) राजानक तिलक—इनकी टीकाका नाम 'उद्भटविवेक' है[१]। यह टीका अल्पाक्षरा है जिसमें उद्भटके सिद्धान्तका संक्षिप्त विवेचन है। ये मध्ययुगी काश्मीरी आलोचक थे।

६—वामन

संस्कृतके आलंकारिकोंमें वामनका एक विशिष्ट स्थान है। इन्होंने रीतिको काव्यकी आत्मा मानकर साहित्य-जगत्में एक नवीन सम्प्रदायकी स्थापना की, जो रीति-सम्प्रदायके नामसे प्रसिद्ध है। इनके प्रतिद्वन्द्वी आचार्य उद्भटने तो आलोचनाशास्त्रके एकदेश—अलंकार—पर ही ग्रन्थ रचना कर कीर्ति-लाभ किया, परन्तु वामनाचार्यने आलोचनाशास्त्रके समस्त तत्त्वोंको अपनी विद्वत्तापूर्ण समीक्षासे उद्भासित किया। इस दृष्टिसे इनकी तुलना अलंकार सम्प्रदायके प्रवर्तक आचार्य भामहके साथ की जा सकती है। उद्भट और वामन, दोनों ही काश्मीरी थे और एक ही राजा जयापीड़की सभाके सभा-पण्डित थे। परन्तु यह आश्चर्य है कि दोनों एक दूसरेके विषयमें मौन हैं। न तो वामनने उद्भटके सिद्धान्तका अपने ग्रन्थमें उल्लेख किया है और न उद्भटने वामनके सिद्धान्तका निर्देश।

समय

वामनके समयका निरूपण पुष्ट प्रमाणोंके आधारपर किया गया है। इनके समयकी पूर्व अवधि महाकवि भवभूति (७००–७५० ई०) है

१—संस्करण गायकवाड़ सीरीज नं० ५५।

जिनके एक पद्य[1]को वामनने रूपक अलंकारके उदाहरणमें प्रस्तुत किया है। अतः वामनका भवभूतिसे पश्चाद्वर्ती होना न्यायसिद्ध है। राजशेखरने (९२० ई०) काव्यमीमांसामें वामनके सम्प्रदायके अन्तर्भुक्त आलंकारिकोंका उल्लेख 'वामनीयाः' शब्दसे किया है। अभिनवगुप्तकी समीक्षासे प्रतीत होता है कि आनन्दवर्धनसे पहले ही वामनका आविर्भावकाल था। आनन्दवर्धनने ध्वन्यालोकमें--

अनुरागवती सन्ध्या दिवसस्तत् पुरःसरः।
अहो दैवगतिः कीदृक् तथापि न समागमः॥

इस श्लोकको उद्धृत किया है। इसके ऊपर लोचनकारका कहना है कि इस पद्यमें वामनके अनुसार आक्षेपालंकार है और भामहकी सम्मतिमें समासोक्ति अलंकार है। इस आशयको अपने हृदयमें रखकर ग्रन्थकारने समासोक्ति और आक्षेप, इन दोनों अलंकारोंका यह एक ही उदाहरण दिया है[2]। अतः लोचनकार अभिनवगुप्ताचार्यकी सम्मतिमें वामन आनन्दवर्धनसे (८५० ई०) पूर्ववर्ती है।

इस प्रकार इनका समय ७५० से ८५० ई० के बीचमें लगभग ८०० ई० के है। कल्हणने राजतरंगिणीमें काश्मीर-नरेश जयापीड़के

१--इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्त्तिनयनयो-
रसावस्याः स्पर्शो वपुषि बहुलश्चन्दनरसः।
अयं बाहुः कण्ठे शिशिरमसृणो मौक्तिकसरः
किमस्याः न प्रेयो यदि परमसह्यस्तु विरहः॥ उ० रा० च० १।३८।

२--वामनाभिप्रायेणायमाक्षेपः, भामहाभिप्रायेण तु समासोक्तिरित्यमुमाशयं हृदये गृहीत्वा समासोक्त्याक्षेपयोरिदमेकमेवोदाहरणं व्यतरत् ग्रन्थकृत्। लोचन, पृष्ठ ३७।

मन्त्रियोंमें वामन नामक मन्त्रीका उल्लेख किया है[1]। काश्मीरी पण्डितोंका यह प्रवाद है कि जिस वामनको जयापीड़ने मन्त्रिकार्यमें नियुक्त किया था वे ही काव्यालंकारसूत्रके रचयिता आलंकारिक वामन हैं। देश और कालकी अनुकूलताके कारण हम इस प्रवादको सत्य मानते हैं। यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है कि जो व्यक्ति सरस्वतीकी साधनासे लब्धप्रतिष्ठ हो, वह मन्त्रणाके महनीय कार्यमें नियुक्त न किया जाय।

ग्रन्थ

वामनके ग्रन्थका नाम है काव्यालंकारसूत्र। इस ग्रन्थकी यह विशेषता है कि अलंकार शास्त्रके इतिहासमें यही एक ग्रन्थ ऐसा है जो सूत्रशैलीमें लिखा गया है। इस ग्रन्थके तीन भाग हैं--सूत्र, वृत्ति और उदाहरण। इसमें दिये गये उदाहरण संस्कृतके प्रामाणिक काव्योंसे उद्धृत किये गये हैं। सूत्र और वृत्ति दोनोंकी रचना स्वयं वामनने की। इसका निदश ग्रन्थके मंगल श्लोकमें ग्रन्थकारने स्वयं किया है[2]। पीछेके आलंकारिकोंने भी निःसन्देह रूपसे वामनको ही वृत्तिका रचयिता स्वीकार किया है। प्रतिहारेन्दुराजने वृत्तिमें उपलब्ध होनेवाले इस वाक्यको वामनकी ही रचना स्वीकार की है[3]। लोचनकार अभिनवगुप्तने वामनके आक्षेप अलंकारके उदाहरणोंको--जो वृत्तिमें दिये गये हैं--वामनकी ही रचना माना है। इससे स्पष्ट है कि वामनने ही सूत्र तथा वृत्ति, दोनोंकी रचना स्वयं की।

१--मनोरथः शंखदत्तश्चटकः सन्धिमांस्तथा।
बभूवुः कवयस्तस्य वामनाद्याश्च मन्त्रिणः॥ राज-तरं० ४।४९७.

२--प्रणम्य परमं ज्योतिर्वामनेन कविप्रिया।
काव्यालंकारसूत्राणां स्वेषां वृत्तिर्विधीयते॥ का० सू० मंगलश्लोक

३--लक्षणायां हि झगित्यर्थप्रतिपत्तिक्षमत्वं रहस्यमाचक्षते।
वामन, का० लं० सू० ४।३।८ की वृत्ति।

यद्यपि यह ग्रन्थ इतना प्रसिद्ध तथा महत्त्वपूर्ण था तथापि मध्ययुगमें इसका प्रचार लुप्त हो गया था। कहा जाता है कि काश्मीरके प्रसिद्ध आलोचक मुकुल भट्टने कहींसे इसकी हस्तलिखित प्रति (आदर्श) प्राप्त-कर इसका उद्धार किया। इसकी सूचना वामनके टीकाकार सहदेवने दी है।[१]

वामनका ग्रन्थ पांच अधिकरणोंमें विभक्त है। प्रत्येक अधिकरणमें कतिपय अध्याय हैं। इस प्रकार पूरे ग्रन्थमें पांच अधिकरण, बारह अध्याय तथा ३१९ सूत्र हैं। प्रथम अधिकरणमें काव्यके प्रयोजन तथा अधिकारीका वर्णन है। रीतिको काव्यकी आत्मा बतलाकर वामनने रीतिके तीन भेद तथा काव्यके अनेक प्रकारोंका वर्णन किया है। दूसरा अधिकरण (दोष-दर्शन) पद, वाक्य तथा वाक्यार्थके दोषोंका दर्शन कराता है। तृतीय अधि-करण (गुणविवेचन) अलंकार और गुणके पार्थक्यका विवेचनकर शब्द तथा अर्थके दशगुणोंका पृथक्-पृथक् विस्तारके साथ विवरण प्रस्तुत करता है। चतुर्थ अधिकरणमें (आलंकारिक) अलंकारका विस्तारसे वर्णन है। पंचम अधिकरणमें (प्रायोगिक) संदिग्ध शब्दोंके प्रयोग तथा शब्द-शुद्धिकी समीक्षा है।

वामनने अपने ग्रन्थमें अनेक ऐतिहासिक तथ्योंका उल्लेख किया है। अर्थ-प्रौढ़िके उदाहरणमें उन्होंने एक प्राचीन पद्य उद्धृत किया है जिसमें इन्होंने चन्द्रगुप्तके पुत्रको वसुबन्धुके आश्रयदाताके रूपमें प्रस्तुत किया

१—वेदिता सर्वशास्त्राणां भट्टोभून् मुकुलाभिधः।
लब्ध्वा कुतश्चिदादर्श भ्रष्टाम्नायं समुद्धृतम्॥
काव्यालंकारशास्त्रं यत्तेनैतद्वामनोदितम्।
असूया तत्र कर्तव्या विशेषालोकिभिः क्वचित्॥

है[1]। इस श्लोककी व्याख्याके प्रसंगमें ऐतिहासिकोंमें घनघोर वादविवाद उठ खड़ा हुआ। अधिकांश विद्वानोंकी यही सम्मति है कि गुप्तवंशी नरेश चन्द्रगुप्त प्रथमके पुत्र समुद्रगुप्त ही बौद्ध आचार्य वसुबन्धुके आश्रय-दाता थे। इस ऐतिहासिक तथ्यका निर्धारण वामनकी सहायतासे हुआ है।

वामनका विशिष्ट मत

रीति सम्प्रदायके उन्नायक होनेके कारण वामनके कतिपय विशिष्ट सिद्धान्त हैं जिनमें पहला सिद्धान्त है (१) "रीतिरात्मा काव्यस्य"। रीतिका सिद्धान्त आलोचना शास्त्रमें अत्यन्त प्राचीन है। भामहसे पूर्वकाल-में ही रीति सिद्धान्तकी उद्भावना हुई थी परन्तु रीति काव्यकी आत्मा है, इतना महत्त्वपूर्ण प्रतिपादन वामनकी निजी विशेषता है। (२) भामह और दण्डी रीतिके द्विविध भेद--वैदर्भी और गौड़ी--से ही परिचित थे। परन्तु वामनको पाञ्चाली रीतिके आविर्भावका श्रेय प्राप्त है। इसका वर्णन तथा समीक्षण वामनने ही सर्वप्रथम किया। (३) गुण और अलंकार दोनों ही काव्यके शोभाधायक तत्त्व माने जाते थे। इन दोनोंके पार्थक्यके निर्देशका श्रेय वामनको ही प्राप्त है। (४) वामनके पूर्व अलंकार जगत्में केवल दश गुण ही माने जाते थे परन्तु वामनने अपने प्रतिभाके बलसे दश शब्द-गुण और दश अर्थ-गुण---इस प्रकार बीस गुणों-की उद्भावना की। यद्यपि वामनका यह मत पीछेके आलंकारिकोंको मान्य नहीं हुआ फिर भी उनकी मौलिकतामें किसीको सन्देह नहीं हो सकता। (५) अलंकारोंके विवेचनमें भी इनकी मौलिकता दीख पड़ती है। इन्होंने उपमाको मुख्य अलंकार माना है। अन्य समस्त अलंकार

१—साभिप्रायत्वं यथा—

"सोऽयं सम्प्रति चन्द्रगुप्ततनयश्चन्द्रप्रकाशो युवा।
जातो भूपतिराश्रयः कृतधियां दिष्ट्या कृतार्थश्रमः॥"

आश्रयः कृतधियामित्यस्य च वसुबन्धु-साचिव्योपक्षेपपरत्वात् साभिप्रायत्वम्। का० लं० सू० २।३।२

उपमाके ही प्रपञ्च स्वीकृत किये गये हैं। (६) वक्रोक्तिके विषयमें इनकी कल्पना नितान्त मौलिक और विलक्षण है। भामह और दण्डी वक्रोक्तिको अलंकारका मुख्य आधार मानते थे परन्तु वामनने इसे अर्थालंकारके रूपमें माना है। उनका लक्षण है—सादृश्यात् लक्षणा वक्रोक्तिः। अर्थात् सादृश्यसे उत्पन्न होनेवाली लक्षणा वक्रोक्ति कहलाती है। (७) ये आक्षेपको दो प्रकारका मानते हैं। मम्मटने इनमेंसे एकको प्रतीप अलंकार माना है और दूसरेको समासोक्ति। (८) वामन काव्यमें रसकी सत्ताके विशेष पक्षपाती हैं। अलंकार सम्प्रदायमें रस केवल बाह्य काव्य-साधनके रूपमें ही अंगीकृत किया गया था, किन्तु वामनने उसे कान्ति नामक गुणके रूपमें स्वीकृत कर काव्यमें रसको अधिक व्यापकता, अधिक स्थायिता तथा अधिक उपादेयता प्रदान की है,। इन्हीं विशिष्टताओंके कारण वामन अलंकार जगत्के एक ज्वाजल्यमान रत्न माने जाते हैं।

७—रुद्रट

आचार्य रुद्रटका नाम अलंकार शास्त्रके इतिहासमें अत्यन्त प्रसिद्ध है। इन्होंने अलंकारोंका सर्वप्रथम वैज्ञानिक श्रेणी-विभाग कुछ निश्चित सिद्धान्तोंके आधारपर किया था। इनके जीवनवृत्तके विषयमें हमारी जानकारी अत्यन्त अल्प है। इनके नामसे पता चलता है कि ये काश्मीरी थ। इन्होंने अपने ग्रन्थके प्रारम्भमें गणेश और गौरीकी वन्दना की है और अन्तमें भवानी, मुरारि और गजानन की। इससे पता चलता है कि ये शैव थे। इनके टीकाकार नमिसाधुके एक उल्लेखसे ज्ञात होता है कि इनका दूसरा नाम शतानन्द था[१]। इनके पिताका नाम था वामुकभट्ट तथा ये सामवेदी थे।

१—अत्र च चक्रे स्वनामांकभूतोऽयं श्लोकः कविनान्तर्भावितो
यथा—शतानन्द - पराख्येन भट्टवामुकसूनुना ।
साधितं रुद्रटेनेदं सामाजा धीमता हितम् ॥
काव्यालंकार ५।१२–१४ की टीका

अलंकार ग्रन्थोंमें इनके मतका उल्लेख इतनी अधिकतासे किया गया है कि इनके समय-निरूपणमें विशेष कठिनाई नहीं दीख पड़ती। मम्मट, धनिक तथा प्रतिहारेन्दुराजने अपने ग्रन्थोंमें इनके मत तथा श्लोकोंका उद्धरण स्पष्टतः किया है परन्तु सबसे प्राचीन आलंकारिक जिन्होंने इनके मत तथा श्लोकोंको उद्धृत किया है राजशेखर हैं। इन्होंने अपनी काव्य-मीमांसामें रुद्रटके विशिष्ट मतका उल्लेख किया है कि काकु वक्रोक्ति एक विशिष्ट शब्दालंकार है[1]। वक्रोक्तिको शब्दालंकारके रूपमें माननेका प्रथम निर्देश हमें रुद्रटमें ही मिलता है। इस निर्देशसे रुद्रट राजशेखर (६२० ई०) से पूर्ववर्ती आचार्य सिद्ध होते हैं। रुद्रट ध्वनि सिद्धान्तसे सर्वथा अपरिचित हैं। आनन्दवर्धन ने न तो रुद्रटको अपने ग्रन्थमें उद्धृत किया और न रुद्रटने ही आनन्दवर्धनके विशिष्ट सिद्धान्तोंका उल्लेख अपने विस्तृत ग्रन्थमें किया। इससे यही प्रतीत होता है कि इनका आविर्भाव ध्वनि-सिद्धान्तकी उद्भावनाके पूर्व ही हो चुका था। अतः इनका समय आनन्दवर्धन (८५० ई०) से पहिले अर्थात् नवम शताब्दीके आरम्भमें मानना उचित है।

ग्रन्थ

रुद्रटके ग्रन्थका नाम काव्यालंकार है जो इनकी एकमात्र कृति है। विषयकी दृष्टिसे यह बहुत ही व्यापक तथा विस्तृत ग्रन्थ है; क्योंकि इसमें अलंकार-शास्त्रके समस्त तत्त्वोंका विशिष्ट निरूपण है। पूरा ग्रन्थ आर्या छन्दमें लिखा गया है जिनकी संख्या ७३४ है। इसमें अध्यायोंकी संख्या १६ है। इस ग्रन्थमें काव्यस्वरूप, पांच प्रकारके शब्दालंकार, चार प्रकार-की रीति, पांच प्रकारकी अनुप्रास वृत्ति, यमक, श्लेष, चित्र, अर्थालंकार, दोष, दश प्रकारके रस, नायक-नायिका-भेद तथा काव्यके प्रकारका क्रमशः वर्णन भिन्न-भिन्न अध्यायोंमें किया गया है।

१—काकुवक्रोक्तिर्नाम शब्दालंकारोऽयम्॥ इति रुद्रटः।
का० मी० अध्याय ७ पृ० ३१

रुद्रटके काव्यालंकारके ऊपर तीन टीकाओंका पता चलता है-- (१) रुद्रटालंकार--वल्लभदेवकी यह टीका अभीतक उपलब्ध नहीं हुई है। ये (वल्लभदेव) काश्मीरके मान्य टीकाकार हैं जिन्होंने कालिदास, माघ, मयूर तथा रत्नाकरके काव्योंपर प्रामाणिक व्याख्यायें लिखी हैं। इनका समय दशम शताब्दीका प्रथमार्ध है। रुद्रटकी सबसे प्राचीन टीका यही है। यदि इस टीकाका पता लगा होता तो इससे अलंकार शास्त्रके संबंधमें अनेक नयी बातोंका ज्ञान होता। (२) नमिसाधुकी टीका-- यही टीका उपलब्ध तथा प्रकाशित है। नमिसाधु श्वेताम्बर जैन थे और शालिभद्रके शिष्य थे। इन्होंने अपनी टीकाकी रचनाका समय ११२५ वि० (१०६९ ई०) दिया है[1]। इनकी टीका पाण्डित्यपूर्ण है जिसमें भरत, मेधाविरुद्र, भामह, दण्डी, वामन आदि मान्य आलंकारिकोंके मतका निर्देश स्थान-स्थानपर किया गया है। (३) तीसरी टीकाके रचयिता आशाधर हैं जो एक जैन यति थे और १३ वीं शताब्दीके मध्यभागमें विद्यमान थे।

रुद्रटको अलंकार सम्प्रदायका आचार्य मानना ही उचित है। ये यद्यपि रसयुक्त काव्यकी महत्ता स्वीकार करते हैं और तदनुसार काव्यमें रसविधानका निरूपण बड़े विस्तारके साथ करते हैं तथापि इनका आग्रह अलंकार सिद्धान्तके ऊपर ही विशेष है। अलंकारोंका श्रेणी विभाग करनेका श्रेय आचार्य रुद्रटको है। इन्होंने अर्थालंकारोंको चार तत्त्वों--वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष--के आधारपर विभक्त करनेका प्रयत्न किया है। यह श्रेणी विभाग उतना वैज्ञानिक तो नहीं है, फिर भी अलंकारोंके प्रति रुद्रटकी सूक्ष्म दृष्टिका पर्याप्त परिचायक है।

१—पञ्चविंशति - संयुक्तैरेकादश - समाशतैः।
विक्रमात् समतिक्रान्तैः प्रावृषीदं समर्थितम्॥
टीकाका अन्तिम श्लोक।

रुद्रटने अनेक नवीन अलंकारोंकी भी कल्पना की है। इन्होंने 'भाव' नामक एक नवीन अलंकार माना है जिसको मम्मट और आनन्दवर्धनने अलंकार न मानकर गुणीभूत व्यङ्ग्यका ही एक प्रकार माना है। इनके नवीन अलंकार हैं—मत, साम्य एवं पिहित जिनका वर्णन प्राचीन ग्रन्थोंमें कहीं नहीं मिलता। इन्होंने कुछ प्राचीन अलंकारोंके नवीन नाम दिये हैं। उदाहरणार्थ इनका व्याजश्लेष (१०।११) भामहकी व्याजस्तुति है। अवसर अलंकार (७।१०३) मम्मटका उदात्तका दूसरा प्रकार है। इनकी 'जाति' मम्मटकी स्वभावोक्ति है और पूर्व अलंकार (९।३) अतिशयोक्तिका चतुर्थ प्रकार है। इस अलंकार-विधानके अतिरिक्त काव्यमें रसका विस्तृत विधान रुद्रटके ग्रन्थकी महती विशेषता है।

रुद्रभट्ट

रुद्रभट्टकी एकमात्र रचना शृंगार-तिलक है जिसके तीन परिच्छेदोंमें रसका—विशेषतः शृंगार-रसका—विस्तृत वर्णन किया गया है। प्रथम परिच्छेदमें नवरस, भाव तथा नायक-नायिकाके विविध प्रकारोंका वर्णन है। द्वितीय परिच्छेदमें विप्रलम्भ शृंगारका तथा तृतीयमें इतर रसोंका तथा वृत्तियोंका वर्णन है। नामकी तथा विषयकी समताके कारण अनेक पश्चिमी विद्वानोंने रुद्रभट्टको रुद्रटसे अभिन्न व्यक्ति माना है। सुभाषित ग्रन्थोंमें एकके श्लोक दूसरेके नामसे दिये गये हैं जिससे इन दोनोंके विषयमें और भी भ्रान्ति फैल गई है।

दोनोंके ग्रन्थोंसे गाढ़ अनुशीलनसे इस भ्रान्तिका निराकरण भलीभांति किया जा सकता है। आलोचनाशास्त्रके विषयमें दोनों आचार्योंके दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न हैं। रुद्रटकी दृष्टिमें काव्यका विशिष्ट उपादेय अंग है अलंकार और इसी कारण इन्होंने अपने ग्रन्थके एगारह अध्यायोंमें इस तत्त्वको विवेचन किया है। अन्तिम अध्यायमें इन्होंने रसका वर्णन

सामान्य रूपसे किया है। उधर रुद्रभट्टकी आलोचनाका मुख्य आधार है रस और विशेषतः श्रृंगार रस। इसीलिये इन्होंने काव्यके अन्य अंगोंकी अवहेलना कर रसका विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है। इस प्रकार रुद्रभट्टकी दृष्टि रुद्रटकी अपेक्षा बहुत ही संकुचित तथा सीमित है। रुद्रटने काव्यके समग्र अंगोंका सांगोपांग विवेचन प्रस्तुत किया है तो रुद्र या रुद्रभट्टने काव्यके केवल एक ही अंगमें अपनेको सीमित तथा संकुचित रखा है। तथ्य बात तो यह है कि रुद्रट एक महनीय तथा मौलिक आलंकारिक है और रुद्रभट्ट एक सामान्य कवि है जिन्होंने अपने विषय-विवेचनके लिये रुद्रटके ग्रन्थसे विशिष्ट सहायता ली है।

इन दोनों आचार्योंके ग्रन्थोंमें पर्याप्त पार्थक्य है। रुद्रटके ग्रन्थके चार अध्याय 'श्रृंगार तिलक' के विषयसे पूर्ण समानता रखते है। यदि इन दोनों ग्रन्थोंका रचयिता एक ही व्यक्ति होता तो काव्यालंकारकी रचनाके अनन्तर श्रृंगार तिलकके लिखनेका क्या प्रयोजन था? विषयकी भिन्नता, ग्रन्थकारोंकी भिन्नता स्पष्ट प्रमाणित कर रही है। (१) श्रृंगार-तिलकमें रुद्रभट्टने केवल नव रसोंका वर्णन किया है परन्तु रुद्रटने 'प्रेयः' नामक एक नवीन रसकी उद्भावनाकर रसोंकी संख्या दस कर दी है। (२) रुद्रभट्टने कैशिकी आदि चारों नाट्य वृत्तियोंका काव्यमें उल्लेख किया है। उधर रुद्रटने उद्भटके अनुसार पांच वृत्तियों (मधुरा, प्रौढ़ा, परुषा, ललिता और भद्रा) का वर्णन किया है जो अनुप्रासके ही विविध प्रकार हैं। (३) नायिका-नायकके विभिन्न प्रकारोंमें भी इसी प्रकारका भेद है। नायिकाके तृतीय भेद वेश्याका वर्णन बड़े आग्रहसे रुद्रभट्टने किया है परन्तु रुद्रटने केवल दो श्लोकोंमें वर्णनकर उसे तिरस्कारके साथ हटा दिया है। इन्हीं कारणोंसे रुद्रभट्टको रुद्रटसे भिन्न व्यक्ति मानना ही न्यायसंगत है।

इन दोनों ग्रन्थकारोंके कालमें भी पर्याप्त अन्तर है। हेमचन्द्र ही प्रथम आलंकारिक हैं जिन्होंने 'श्रृंगारतिलक' के मंगल श्लोकको उद्धृत

कर खण्डन किया है। अतः रुद्रभट्टका काल दशम शताब्दीके पूर्व कदापि नहीं माना जा सकता है। परन्तु रुद्रटका समय नवम शताब्दीका आरम्भ-काल है जैसा कि पहले दिखलाया जा चुका है[1]।

८—आनन्दवर्धन

ध्वनि-सिद्धान्तके उद्भावकके रूपमें आचार्य आनन्दवर्धनका नाम अलंकार शास्त्रके इतिहासमें सर्वदा अजर-अमर रहेगा। व्याकरण शास्त्रके इतिहासमें जो स्थान पाणिनिको प्राप्त है तथा अद्वैत वेदान्तमें जो स्थान शंकराचार्यको मिला है, अलंकार शास्त्रमें वही स्थान आनन्दवर्धनका है। आलोचनाशास्त्रको एक नवीन दिशामें ले जानेका श्रेय इन आचार्यको प्राप्त है। पण्डितराज जगन्नाथका यह कथन यथार्थ है कि ध्वनिकारने आलंकारिकोंका मार्ग सदाके लिये व्यवस्थापित तथा प्रतिष्ठित कर दिया। इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक' एक युगान्तरकारी ग्रन्थ है।

आचार्य आनन्दवर्धनके देश और कालसे हमें पर्याप्त परिचय है। ये काश्मीरके निवासी थे और काश्मीर नरेश राजा अवन्ति वर्मा (८५५-८८४ ई०)के सभापण्डितोंमें अन्यतम थे।[2] कल्हण पण्डितका राजतरंगिणी-में यह निर्देश सर्वथा मान्य और प्रामाणिक है। कल्हण पण्डितके उप-

---

१—इस विषयके विशेष वर्णनके लिए देखिये—

(क) डा० एस० के० डे—हिस्ट्री आफ संस्कृत पोइटिक्स भाग १ पृ० ६०–६६

(ख) डा० काणे —हिस्ट्री आफ संस्कृत पोइटिक्स पृ० ५६–५८

२—मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः।
प्रथां रत्नाकरश्चागात् साम्राज्येऽवन्ति वर्मणः॥ राज-तरंगिणी ५।४

युक्त मतकी पुष्टि अन्य प्रमाणोंसे भी की जा सकती है। आनन्दवर्धनके टीकाकार अभिनवगुप्तने अपने 'क्रमस्तोस्त्र' की रचना ९९१ ई० में की। आनन्दवर्धनके अन्य ग्रन्थ 'देवी शतक' के ऊपर कैयटने ९७७ ई० के आस-पास व्याख्या लिखी। इतना ही क्यों, राजशेखरने जिनका समय नवम शताब्दीका अन्त तथा दशमका आरम्भ है—आनन्दवर्धनके नाम तथा मतका स्पष्टतः उल्लेख किया है। इससे इनका समय नवम शताब्दीका मध्यभाग निश्चित रूपसे सिद्ध होता है।

इन्होंने अनेक काव्य-ग्रन्थोंकी भी रचना की है जिनमें 'देवी शतक' 'विषम बाणलीला' और 'अर्जुन चरित' प्रसिद्ध हैं। परन्तु इनकी सर्वश्रेष्ठ और विख्यात रचना ध्वन्यालोक है जो इनकी कीर्तिकी आधारशिला है। ध्वन्यालोकमें ४ उद्योत हैं। प्रथम उद्योतमें ध्वनि विषयक प्राचीन आचार्यों-के मतोंका निर्देश तथा युक्तियुक्त खण्डन है। यह उद्योत ध्वनिके इतिहास जाननेके लिये नितान्त उपादेय तथा महत्त्वपूर्ण है। दूसरे उद्योतमें ध्वनिके विभेदोंका विशिष्ट वर्णन प्रस्तुत किया गया है। साथ ही साथ गुण तथ अलंकारोंका विवेचन भी प्रसंगकी पूर्तिके लिये ग्रन्थकारने किया है। तृतीय उद्योतका विषय भी ध्वनिके विभेदोंका विवेचन ही है।

इस उद्योतमें काव्यके अन्य भेद गुणीभूत व्यंग्य तथा चित्र-काव्यका वर्णन भी उदाहरणोंके साथ दिया गया है। व्यंजना नामक नवीन शब्द व्यापारकी कल्पना काव्य-जगत् में क्यों की गई? क्या अभिधा और लक्षणाके द्वारा काव्यके अभीष्ट अर्थकी अभिव्यक्ति नहीं हो सकती? इन प्रश्नोंका युक्तियुक्त उत्तर आनन्दवर्धनने इस उद्योतमें प्रस्तुत किया है। चतुर्थ उद्योतमें ध्वनिके प्रयोजनका पर्याप्त विवेचन है। ध्वनिकी सहायता-से पूर्वपरिचित अर्थमें भी अपूर्वताका संचार होता है, नीरस विषयमें भी रसवत्ता विराजने लगती है। ध्वनि-काव्यकी रचना करनेमें ही कविकी अमर कलाका विलास है। इसका निरूपण इस उद्योतमें है।

कारिकाकार तथा वृत्तिकार

ध्वन्यालोकके तीन भाग है—(१) कारिका, (२) गद्यमयी वृत्ति तथा (३) उदाहरण। इनमें उदाहरण तो संस्कृतके प्रामाणिक कवियोंके प्रख्यात ग्रन्थोंसे लिये गये है। परन्तु कारिका और वृत्ति एक ही व्यक्ति-की लेखनीसे प्रसूत हुए हैं या इनके रचयिता दो भिन्न व्यक्ति हैं ? यह बड़े ही विवादका विषय है। आलंकारिकोंकी परम्परा सर्वदा आनन्दवर्धनको ही कारिका तथा वृत्तिका अभिन्न रचयिता मानती आती है। परन्तु ध्वन्यालोककी टीका 'लोचन'में कुछ निर्देश ऐसे अवश्य मिलते है जिनसे वृत्तिकार तथा कारिकाकारके पार्थक्यका आभास मिलता है[1]। अभि-नवगुप्तने वृत्तिग्रन्थको कारिकाग्रन्थसे अलग माना है तथा वृत्तिकारके लिये ग्रन्थकृत् और कारिकाकारके लिये मूलग्रन्थकृत् शब्दोंका व्यवहार किया है। इसी आधारपर काणे और डाक्टर डेने कारिकाकारको वृत्तिकारसे भिन्न व्यक्ति माना है[2]। वृत्तिकारका नाम आनन्दवर्धन है परन्तु कारिकाकारका नाम अज्ञात है। डाक्टर काणेने कारिकाकारका नाम 'सहृदय' बतलाया है। परन्तु पिछले आलंकारिकोंने कारिका और वृत्तिके रचयिताओंमें किसी प्रकारका भेद न मानकर आनन्दवर्धनको ही समभावेन दोनोंका निर्माता स्वीकार किया है। (१) राजशेखरने आनन्दवर्धन के मतका उल्लेख करते समय एक श्लोक उद्धृत किया है जो 'ध्वन्या-

१—कतिपय स्थलोंका निर्देश यहा किया जा रहा है:—

(क) न चैतन्मयोक्तं, अपितु कारिकाकाराभिप्रायेणेत्याह तत्रेति। भवति मूलतो द्विभेदत्व कारिकाकारस्यापि संमतमेवेति भाव:। लोचन पृ० ६०

(ख) उक्तमेव ध्वनिस्वरूपं तदाभासविवेकहेतुतया कारिकाकारो-नुवदतीत्यभिप्रायेण वृत्तिकृदुपस्कारं ददाति। लोचन पृष्ठ १२२

२—काणे —साहित्यदर्पणकी भूमिका पृ० ५६।

डा० डे—हिस्ट्री आफ संस्कृत पोइटिक्स पृ० ११४

लोक'की वृत्तिमें उपलब्ध होता है। राजशेखरने आनन्दवर्धनको ही ध्वनिका प्रतिष्ठाता माना है जिसका परिचय इस सुप्रसिद्ध पद्यसे मिलता है—

ध्वनिनातिगभीरेण काव्य तत्त्वनिवेषिणा ।
आनन्दवर्धनः कस्य नासीदानन्दवर्धनः ॥

(२) वक्रोक्ति जीवितकार (कुन्तक) भी वृत्तिकारको ध्वनिकारके नामसे ही पुकारते हैं। उन्होंने आनन्दवर्धनके एक पद्यको रुढ़ि शब्द-वक्रताका उदाहरण देकर स्पष्ट ही लिखा है—ध्वनिकारेण व्यंग्य-व्यञ्जकभावोऽत्र सुतरां समर्थितः किं पौनरुक्त्येन—अतः कुन्तककी सम्मतिमें आनन्दवर्धन ही ध्वनिकार सिद्ध होते हैं। (३) महिमभट्टकी सम्मति भी इसी मतकी पोषिका है। महिमभट्ट काश्मीरके निवासी ही न थे प्रत्युत लोचनके रचयिता अभिनवगुप्तके समकालीन भी थे। उन्होंने 'व्यक्तिविवेक' में 'ध्वन्यालोक' की कारिकायें तथा वृत्तिभागको अनेक स्थानोंपर उद्धृत किया है और उनके रचयिताको सर्वत्र ध्वनिकारके नामसे निर्देश किया है। (४) क्षेमेन्द्रने भी जो अभिनवगुप्तके साहित्य शास्त्रके साक्षात् शिष्य थे और काश्मीरी पण्डितोंकी परम्परासे नितान्त अवगत थे 'औचित्यविचारचर्चा' में 'ध्वन्यालोक' की कारिकाओंको आनन्दवर्धनके नामसे उद्धृत किया है। (५) हेमचन्द्रने 'ध्वन्यालोक'की कारिकाको आनन्दवर्धनकी ही रचना माना है। (६) विश्वनाथ कविराजने भी वृत्तिके लेखकको ध्वनिकारके नामसे उल्लिखित किया है। इतनी प्रौढ़ परम्पराके रहते हुए कारिका तथा वृत्तिके लेखकोंमें भेद मानना कथमपि न्यायसंगत नहीं प्रतीत होता[१]।

१—इन निर्देशोंके लिए देखिये—

डा० काणे—साहित्यदर्पणकी भूमिका पृ० ६१—६४

डा० डे०—हि० सं० पो० पृ० १०७—११२

९—आचार्य अभिनवगुप्त

ध्वन्यालोक तथा नाट्यशास्त्रके व्याख्याताके रूपमें अभिनवगुप्त अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इनकी व्याख्यायें इतनी प्रौढ़, पाण्डित्यपूर्ण तथा तल-स्पर्शनी हैं कि वे मौलिक ग्रन्थोंसे भी अधिक आदरणीय हैं। अलंकार-शास्त्र-के इतिहासमें अभिनवगुप्तको वही श्लाघनीय स्थान प्राप्त है जो व्याकरण शास्त्रके इतिहासमें पतञ्जलिको और अद्वैत वेदान्तके इतिहासमें भामती-कारको प्राप्त है। अभिनवगुप्त आलंकारिककी अपेक्षा दार्शनिक अधिक थे। अतः जब उन्होंने अलंकार शास्त्रमें ग्रन्थ रचना की तब इस शास्त्रको एक निम्न स्तरसे उठाकर दार्शनिक क्षेत्रमें पहुँचाकर ऊँचा उठा दिया।

जीवनी

इनके देश, काल तथा जीवनवृत्तका परिचय हमें पर्याप्तमात्रामें उप-लब्ध होता है। इनके 'परात्रिंशिका विवरण' नामक ग्रन्थसे पता चलता है कि इनके पितामहका नाम वराहगुप्त था, पिताका नाम चुखल एवं अनुजका नाम मनोरथ गुप्त था। इनके भिन्न-भिन्न शास्त्रोंके भिन्न-भिन्न गुरु थे। इनके शैवदर्शनके गुरु लक्ष्मण गुप्त थ। 'लोचन' में इन्होंने अपने अलंकार शास्त्रके गुरुका नाम भट्टेन्दुराज दिया है। भट्टेन्दुराज एक सामान्य कवि नहीं थे, प्रत्युत महान् आलोचक थे। इसका परिचय 'लोचन' के शब्दोंसे ही मिलता है—यथा वा अस्मदुपाध्यायस्य विद्वत्कविसहृदय चक्रवर्तिनो भट्टेन्दुराजस्य। अभिनवगुप्तकी लिखी भगवद्गीताकी टीका से पता चलता है कि भट्टेन्दुराज कात्यायन गोत्रके थे। इनके पितामहका नाम सौचुक और पिताका नाम भूतिराज था। 'लोचन' में इन्होंने अपने गुरुके मत और श्लोकोंको अनेक बार उद्धृत किया है। 'ध्वन्यालोक' के संदिग्ध स्थलोंके निराकरणके लिये अपने गुरुके मतका उल्लेख इन्होंने इस प्रकारसे किया है कि प्रतीत होता है कि शिष्यने गुरुकी मौखिक व्याख्या सुनकर ही इस महनीय टीकाका प्रणयन किया है। 'लोचन' के निर्माण-

की स्फूर्ति जिस प्रकार इन्हें भट्टेन्दुराजके व्याख्यानोंसे हुई, उसी प्रकार नाट्यशास्त्रकी टीका 'अभिनव-भारती' के निर्माणकी प्रेरणा इन्हें अपने दूसरे साहित्य-गुरु भट्टतोत या भट्टतौत से मिली। 'अभिनव-भारती' के विभिन्न भागोंमें इन्होंने अपने गुरु भट्टतौतके व्याख्यानों तथा सिद्धान्तोंका उल्लेख बड़े आदर तथा उत्साहसे किया है। भट्टतौत अपने समयके मान्य आलंकारिक थे, जिनकी महनीय कृति 'काव्य-कौतुक' आज भी विस्मृतिके गर्भमें पड़ी हुई है। अभिनवगुप्तने इसके ऊपर 'विवरण' नामक टीका भी लिखी थी जो मूलके समान ही अभीतक उपलब्ध नहीं है। यदि यह ग्रन्थ उपलब्ध हो जाय तो साहित्य-शास्त्रकी एक टूटी कड़ी का पता लग जाय।

काल

अपने कई ग्रन्थोंका रचना-काल ग्रन्थकारने स्वयं दिया है। इन्होंने अपना 'भैरव स्तोत्र' ६८ लौकिक संवत् (९९३ ई०) में लिखा। उत्पलाचार्यके 'ईश्वर प्रत्यभिज्ञा' नामक महनीय ग्रन्थके ऊपर इन्होंने 'विमर्षिणी' नामक जो बृहती वृत्ति लिखी है उसकी रचना ९० लौकिक संवत् तथा ४११५ कलि वर्ष (१०१५ ई०) में हुई थी। इससे सिद्ध होता है कि इनका आविर्भावकाल दशम शताब्दीका अन्त तथा एकादश शताब्दीका आरम्भ काल है।

इन्होंने दर्शन तथा साहित्यशास्त्रके ऊपर अनेक ग्रन्थोंकी रचना की है। इनके दार्शनिक ग्रन्थोंमें 'ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्षिणी', 'तन्त्रसार', 'मालिनी विजयवार्तिक', परमार्थसार, 'परात्रिंशिका विवरण' त्रिक दर्शनके इतिहासमें नितान्त प्रामाणिक माने जाते हैं। इनका विपुलकाय 'तन्त्रालोक' ग्रन्थ तन्त्र-शास्त्रका विश्वकोष है। साहित्य तथा दर्शनका सुन्दर सामञ्जस्य करनेका श्रेय परम माहेश्वराचार्य आचार्य अभिनवगुप्तको प्राप्त है। सर्वतन्त्र स्वतन्त्र होनेके अतिरिक्त ये एक अलौकिक पुरुष थे।

ये अर्धत्र्यम्बक मतके प्रधान आचार्य शम्भुनाथके शिष्य और मत्स्येन्द्रनाथ सम्प्रदायके एक सिद्ध कौल (तान्त्रिक) थे। साहित्यशास्त्रमें इनकी महनीय कृतियां तीन ही हैं।

ग्रन्थ

(१) **ध्वन्यालोक-लोचन**--आनन्दवर्धनके 'ध्वन्यालोक' की यह टीका सचमुच आलोचकोंको लोचन प्रदान करती है क्योंकि बिना इसकी सहायताके ध्वन्यालोकके तत्त्वोंका उद्‌घाटन नहीं हो सकता था। इस टीकामें रसशास्त्रके प्राचीन व्याख्याकारोंके सिद्धान्त--जिनकी उपलब्धि अन्यत्र होना नितान्त दुर्लभ है--एकत्र दिये गये हैं। यह टीका इतनी पाण्डित्यपूर्ण है कि कहीं-कहीं पर मूलकी अपेक्षा टीका ही दुरूह हो गई है जिसे समझना अत्यन्त कठिन है। ध्वन्यालोकके ऊपर 'लोचन' से पहले चन्द्रिका नामकी टीका लिखी गई थी[1] और इसके लेखक इन्हींके कोई पूर्वज थे। 'लोचन' में इन्होंने इस टीकाका खण्डन अनेक अवसरों-पर किया है[2]। अन्तमें इन्होंने यह भी स्पष्ट लिखा है--अलं निजपूर्व-वंश्यैः विवादेन अर्थात् अपने पूर्वजके साथ अधिक विवाद करनेसे क्या लाभ ?

(२) **अभिनव भारती**--नाट्यशास्त्रके ऊपर एकमात्र यही उपलब्ध टीका है[3]। भरतके कठिन ग्रन्थको समझनेके लिये इस टीका-का गाढ़ अनुशीलन अपेक्षित है। यह 'लोचन'के समान ही पाण्डित्यपूर्ण

१--किं लोचनं विना लोको भाति चन्द्रिकयापि हि।
तेनाभिनवगुप्तोऽत्र लोचनोन्मीलनं व्यधात् ॥
लोचन, उद्योत १ का अन्तिम श्लोक।

२--लोचन पृ० १२३, १७४, १७८, १८५, २१५ (काव्यमाला सं०)

३--गायकवाड़ओरियण्टल सीरीज़ (नं० ३६, ६८) बड़ौदासे प्रकाशित।

व्याख्या है जिसमें प्राचीन आलंकारिकों तथा संगीतकारोंके मतोंका उपन्यास बड़ी ही सुन्दरताके साथ किया गया है। प्राचीन भारतकी नाट्यकला--संगीत, अभिनय, छन्द, करण, अंगहार आदि--के रूपको यथार्थतः समझनेके लिये इस टीकाका अध्ययन तथा अनुशीलन नितान्त अपेक्षित है। परन्तु दुःख है कि यह टीका अभी भी विशुद्ध रूपमें सम्पूर्णतया प्राप्त नहीं है। बड़ौदासे आधी टीका अवश्य प्रकाशित हुई है परन्तु यह अधूरी है। अभिनवभारती टीका नहीं प्रत्युत एक स्वतन्त्र मौलिक महाग्रन्थ है। भरतके ऊपर प्राचीन आलंकारिकोंने भी टीकायें लिखी थीं परन्तु ये सर्वथा उच्छिन्न हो गई हैं। इन टीकाओंका जो कुछ पता हमें चलता है वह 'अभिनवभारती' के उल्लेखसे ही प्राप्त है। यह टीका नितान्त विशद, पाण्डित्यपूर्ण तथा मर्मस्पर्शिणी है।

(३) **काव्यकौतुक विवरण**--ऊपर हमने इनके गुरु भट्ट तौतका उल्लेख किया है। यह 'काव्यकौतुक' उन्हींकी रचना है जिसके ऊपर अभिनवगुप्तने यह 'विवरण' लिखा है। परन्तु यह खेदका विषय है कि आज न तो यह मूल ग्रन्थ ही उपलब्ध है और न उसकी टीका ही। इसकी सत्ताका परिचय भी हमें अभिनव भारतीके उल्लेखसे मिलता है[१]।

१०—राजशेखर

राजशेखर महनीय नाटककारके रूपमें ही अभीतक प्रसिद्ध थे। परन्तु इधर इनका एक अलंकार ग्रन्थ उपलब्ध हुआ है। यह ग्रन्थ इतना महत्त्वपूर्ण है कि इसीके बलपर इनकी गणना प्रधान आलोचकोंमें होने लगी है।

जीवनवृत्त

इनके काल तथा जीवनवृत्तका विशेष विवरण हमें उपलब्ध है। ये विदर्भके निवासी थे। इनका कुल 'यायावर' के नामसे विख्यात था इसीलिये

१—अभिनव भारती पृ० २९१ (प्रथम खण्ड)।

इन्होंने अपने मतका उल्लेख 'यायावरीय' के नामसे किया है। अकाल-जलद, सुरानन्द, तरल, कविराज आदि संस्कृत भाषाके मान्य कवियोंने इस वंशको अलंकृत किया था। ये महाराष्ट्र चूड़ामणि कविवर अकाल जलदके प्रपौत्र थे तथा दुर्दुक और शीलवतीके पुत्र थे। चौहान वंशी अवन्ति सुन्दरी नामक एक क्षत्रिय विदुषी स्त्रीसे इन्होंने अपना विवाह किया था[1]। अवन्तिसुन्दरी संस्कृत तथा प्राकृत दोनों भाषाओंकी विदुषी थी। अलंकार शास्त्रके विषयमें भी उसके कुछ मौलिक सिद्धान्त थे जिसका उल्लेख राजशेखरने अपनी काव्यमीमांसामें स्थान-स्थानपर किया है। ये निवासी तो थे विदर्भ (बरार) देशके परन्तु इनका कर्मक्षेत्र था कन्नौज प्रदेश। यहींके प्रतिहारवंशी नरेश महेन्द्रपाल तथा महीपाल (दशम शतक का प्रथमार्ध) के ये गुरु थे[2]। इस प्रकार इनके जीवनकालमें ही इन्हें विशेष गौरव तथा सन्मान प्राप्त था।

काल

इस उल्लेखसे इनके समयका निरूपण भलीभांति हो जाता है। सियोवोनी शिलालेखसे ज्ञात होता है कि महेन्द्रपालका राज्यकाल ९०७ ई० तक था तथा इनके पुत्र महीपाल ९१७ ई० में राज्य कर रहे थे। इनके समसामयिक होनेसे राजशेखरका भी यही समय (दशम शतकका पूर्वार्ध) है। इस प्रमाणके अतिरिक्त विभिन्न कवियोंके राजशेखर

१—चाहुमानकुल मौलिमालिका राजशेखर-कवीन्द्रगेहिनी।
भर्तुः कृतिमवन्तिसुन्दरी सा प्रयोक्तुमेवमिच्छति ॥

कर्पूरमंजरी १।११ (संस्कृत)

२—आपन्नार्तिहरः पराक्रमधनः सौजन्यवारांनिधि-
स्त्यागी सत्यसुधाप्रवाहशशभृत्कान्तः कवीनां गुरुः।
वर्ण्यं वा गुणरत्नरोहणगिरेः किं तस्य साक्षादसौ,
देवो यस्य महेन्द्रपालनृपतिः शिष्यो रघुग्रामणीः ॥

बाल रामायण १।१८

विषयक निर्देशोंसे भी इनके समयका निरूपण किया जा सकता है। इन्होंने काव्यमीमांसामें काश्मीर नरेश जयापीड़ (७७६ ई०—८१३ ई०) के सभापति उद्भटका तथा अवन्तिवर्मा (८५७–८८४ ई०) के सभा पण्डित आनन्दवर्धनका उल्लेख किया है। राजशेखरके मतका उल्लेख सबसे पहले सोमदेवने अपने 'यशःतिलकचम्पू' में किया है जिसकी रचना ६६० ई० में हुई थी। इन उल्लेखोंसे स्पष्ट है कि राजशेखर लगभग ८८० ई० से लेकर ६२० ई० के बीचमें थे।

इन्होंने अनेक ग्रन्थोंकी रचना की है जिसमें (१) बालरामायण, (२) बालभारत, (३) विद्धशालभञ्जिका तथा (४) कर्पूर मंजरी मुख्य हैं। काव्यमीमांसा इनका अलंकारशास्त्रका एकमात्र ग्रन्थ है जिसकी उपलब्धि आजसे तीस वर्ष पहले हुई। यह ग्रन्थ गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज (नं० १) बड़ौदासे प्रकाशित हुआ है।

राजशेखरने काव्यमीमांसा नामक ग्रन्थ १८ भागों या अधिकरणोंमें लिखा था जिसका 'कविरहस्य' नामक केवल प्रथम अधिकरण ही उपलब्ध है। इस अधिकरणमें १८ अध्याय हैं जिनमें कवि तथा आलोचकके स्वरूप, प्रकार, काव्यके भेद, रीतिनिरूपण,काव्यार्थकी योनि, शब्दहरण तथा अर्थापहरणका विचार आदि अनेक उपादेय विषयोंका नवीन तथा रोचक वर्णन प्रस्तुत किया गया है। इस अधिकरणका नाम कविरहस्य यथार्थ है क्योंकि लेखकने कविके लिये आवश्यक समस्त सिद्धान्तोंका एकत्र निरूपण बड़ी ही सुन्दरता तथा नवीनताके साथ किया है। इस ग्रन्थमें कतिपय नूतन सिद्धान्त हैं। जैसे काव्यपुरुषकी उत्पत्ति तथा साहित्य विद्यावधूके साथ उसका विवाह संबंध। प्राचीनकालमें इस ग्रन्थका आदर खूब ही था क्योंकि हेमचन्द्र, वाग्भट्ट, भोजराज, तथा शारदातनय आदि आलंकारिकोंने इस ग्रन्थसे अनेक प्रसंगोंका पूराका पूरा उद्धरण अपने ग्रन्थमें उठाकर रख दिया है। इस ग्रन्थकी दूसरी विशेषता यह है कि इसमें अनेक अज्ञातनामा, अप्रसिद्ध आलंकारिकोंका निर्देश किया गया है जिससे

हम उनके नाम और सिद्धान्तोंसे अवगत हो सके हैं। राजशेखर भारतके प्राचीन भूगोलके बड़े भारी ज्ञाता थे। इसीलिए प्राचीन भारतीय भूगोल जाननेकी विपुल सामग्री इस ग्रन्थमें उपलब्ध होती है। राजशेखर बहुज्ञ आलंकारिक थे। भारतके विभिन्न प्रान्तोंके कविगण काव्यका पाठ किस रीतिसे किया करते थे इसका रोचक विवरण हमें काव्यमीमांसाके पृष्ठोंमें ही उपलब्ध होता है।

११—मुकुलभट्ट

मुकुलभट्टकी एकमात्र कृति 'अभिधावृत्ति मातृका' है। इसमें केवल पन्द्रह कारिकाएँ हैं जिनके ऊपर ग्रन्थकारने ही वृत्ति लिखी है। इसमें अभिधा तथा लक्षणाका विशिष्ट विवेचन है। ग्रन्थकारने अपनी वृत्तिमें उद्भट, कुमारिलभट्ट, ध्वन्यालोक, भर्तृमित्र, महाभाष्य, विज्जका, वाक्यपदीय तथा शबरस्वामी जैसे ग्रन्थकार और ग्रन्थोंका निर्देश किया है। किसी समय इस ग्रन्थकी इतनी ख्याति थी कि मम्मटने काव्यप्रकाशमें लक्षणाके भेदोंका विवेचन इसी ग्रन्थके आधारपर किया है। काव्यप्रकाशके 'लक्षणा तेन षड्विधा' तथा लक्षणाके स्वरूपका विवेचन 'अभिधावृत्ति-मातृका' की सहायताके बिना कथमपि नहीं समझा जा सकता।

ग्रन्थके अन्तिम श्लोकसे पता चलता है कि ग्रन्थकारके पिताका नाम भट्ट कल्लट था जो कल्हण पण्डितके अनुसार काश्मीर नरेश अवन्तिवर्माके (८५५–८८३ ई०) राज्यकालमें उत्पन्न हुये थे तथा इस प्रकार आनन्दवर्धन और रत्नाकरके समकालीन थे[1]। कल्हणके इस कथनके अनुसार मुकुलभट्टको नवम शताब्दीके अन्त तथा दशमके आरम्भमें मानना उचित होगा। उद्भटके टीकाकार प्रतिहारेन्दुराजका

१—अनुग्रहाय लोकानां भट्टाः श्रीकल्लटादयः।
अवन्तिवर्मणः काले सिद्धा भुवमवातरन्॥
राजतरंगिणी ५।६६

कथन है कि उन्होंने अलंकारशास्त्रकी शिक्षा मुकुलभट्टसे पाई थी[1]। इन्होंने अपनी टीकाके अन्तिम श्लोकमें मुकुलभट्टकी प्रशस्त प्रशंसा की है और उन्हें मीमांसा, व्याकरण, तर्क तथा साहित्यका प्रकाण्ड पण्डित निर्दिष्ट किया है। इस उल्लेखसे मुकुलके शिष्य प्रतिहारेन्दुराजका समय भी दशम शताब्दीके प्रथमार्धमें निश्चित होता है।

१२—धनञ्जय

धनञ्जयका 'दशरूपक' भरत नाट्यशास्त्रका सबसे प्राचीन तथा उपादेय सारग्रन्थ है। नाट्यशास्त्र इतना विपुलकाय ग्रन्थ है कि उसके भीतर प्रवेश करना विद्वानोंके लिए भी कष्टसाध्य है। इसी कठिनाईको दूर करनेके लिए धनञ्जयने दशरूपककी रचना की।

धनञ्जयके पिताका नाम विष्णु था। दशरूपकके टीकाकार धनिक भी अपनेको विष्णुका ही पुत्र बतलाते हैं, जिससे प्रतीत होता है कि वे धनञ्जयके ही भाई थे। दशरूपककी रचना मुञ्जके राज्यकालमें हुई थी[2] जो परमारवंशके सुप्रसिद्ध नरेश थे। मुञ्जका समय ९७४ से ९९४ ई० तक है। यही समय दशरूपककी रचनाका भी है। धनिकने इस ग्रन्थपर अपनी टीका कुछ वर्षोंके अनन्तर लिखी थी, ऐसा प्रतीत होता है। क्योंकि इन्होंने पद्मगुप्त परिमलके 'नवसाहसांक चरित'के कुछ उद्धरण अपनी टीकामें दिया है जिसकी रचना मुञ्जके भाई तथा उत्तराधिकारी सिन्धुराजके समयमें की गई थी।

धनञ्जयका एकमात्र ग्रन्थ दशरूपक है जिसमें चार प्रकाश या अध्याय और लगभग ३०० कारिकाएँ हैं। प्रथम प्रकाशमें सन्धिके पांच

१—विद्वदग्रयान्मुकुलादधिगम्य विविच्यते।
प्रतिहारेन्दुराजेन काव्यालंकारसंग्रहः॥ अन्तिम पद्य

२—विष्णोः सुतेनापि धनंजयेन विद्वन्मनोरागनिबन्धहेतुः।
आविष्कृतं मुञ्जमहीशगोष्ठीवैदग्ध्यभाजा दशरूपमेतत्॥
दशरूपक—४।८६

प्रकार, उनके अंग तथा अन्य नाटकीय वस्तुका विवेचन है। द्वितीय प्रकाशमें नायक-नायिकाके भेद, चारों नाट्य-वृत्तियों तथा उनके अंगोंका वर्णन है। तृतीयमें नाटकके दश प्रकारोंका सांगोपांग निरूपण है। चतुर्थ प्रकाशमें नाटकके रसका विशिष्ट विवेचन है। रस-निष्पत्तिके विषयमें धनञ्जय व्यंजनावादी नहीं हैं। ये तात्पर्यवादी ही हैं, विशेषतः भट्टनायकके मतसे इनका सिद्धान्त मिलता है।

इस ग्रन्थकी टीकाका नाम 'अवलोक' है जिसकी रचना धनञ्जयके ही भ्राता धनिकने की है। यह टीका अनेक दृष्टियोंसे बड़ी ही उपादेय है। धनिकने 'काव्य-निर्णय' नामक एक अलंकार ग्रन्थका भी निर्माण किया था, जिसके अनेक श्लोक इन्होंने इस टीकामें उद्धृत किये हैं। धनञ्जयके ग्रन्थकी प्रसिद्धि प्राचीनकालमें बहुत ही अधिक थी। इसीलिए इसपर अनेक टीकाओंकी रचनाका पता चलता है। नृसिंह भट्ट, देवपाणि, कुर-विरामकी टीकाएँ उतनी महत्त्वपूर्ण भले ही न हों परन्तु बहुरूप मिश्रकी टीका तो बहुत ही उपादेय तथा प्रमेयबहुल है। ये चारों ही टीकाएँ हस्त-लिखित रूपमें उपलब्ध हैं जिनका प्रकाशन—कमसे कम बहुरूप मिश्रकी टीकाका—अत्यन्त आवश्यक है।

१३—भट्ट नायक

आनन्दवर्धनके ध्वनि सिद्धान्तको न माननेवाले आलंकारिकोंमें भट्टनायक प्राचीनतम तथा अग्रगण्य हैं। परन्तु यह हमारा दुर्भाग्य है कि इनका वह मौलिक ग्रन्थ जिसमें इन्होंने व्यंजनाका खण्डन कर काव्यमें भावना-व्यापारको स्वीकार किया है, अभीतक कहीं उपलब्ध नहीं हुआ है। इनके सिद्धान्तका परिचय अभिनवगुप्तके द्वारा 'अभिनवभारती' तथा 'लोचन'में मिलता है। इनके ग्रन्थका नाम 'हृदय-दर्पण' था जिसका पता पिछले आलंकारिकोंके निर्देशोंसे भलीभांति मिलता है। महिमभट्टका कहना है कि उन्होंने 'हृदयदर्पण' का बिना अवलोकन किए ध्वन्यालोकके

खण्डनका समस्त श्रेय प्राप्त करनेकी अभिलाषासे 'व्यक्ति-विवेक'का निर्माण किया।

सहसा यशोऽभिसर्तुं समुद्यताऽदृष्टदर्पणा मम धीः।
स्वालंकार विकल्पप्रकल्पने वेत्ति कथमिवावद्यम् ॥

इस पद्यमें श्लेषके द्वारा यह आशय प्रकट किया गया है कि 'दर्पण' नामक ग्रन्थमें ध्वनिके सिद्धान्तका मार्मिक खण्डन 'व्यक्ति-विवेक'की रचनाके पूर्व ही किया जा चुका था। इस पद्यकी व्याख्या 'दर्पण'के रहस्यको भलीभांति समझाती है—

दर्पणो हृदयदर्पणाख्यो ध्वनिध्वंसग्रन्थोऽपि।

'अलंकार-सर्वस्व'के टीकाकार जयरथने भट्टनायकको हृदयदर्पण-कार कहा है। इन दोनों निर्देशोंसे यही प्रतीत होता है कि जिस 'दर्पण' ग्रन्थका उल्लेख महिमभट्टने किया है वह भट्टनायकका हृदय-दर्पण ही था। भट्टनायकने अपने ग्रन्थको ध्वनिके सिद्धान्तका खण्डन करनेके ही लिए लिखा था, इसका पता लोचनसे भी लगता है। लोचनमें भट्टनायकके मतका उल्लेख अनेक बार आया है। इन निर्देशोंकी समीक्षा हमें इसी सिद्धान्तपर पहुँचाती है कि भट्टनायकने 'ध्वन्यालोक'का खण्डन बड़ी ही सूक्ष्मता तथा मार्मिकताके साथ किया था।

भट्टनायक काश्मीरी थे और आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्तके मध्यमें विद्यमान थे। अभिनवगुप्तने इतना कटु तथा व्यक्तिगत आक्षेप इनपर किया है कि ये आनन्दवर्धनकी अपेक्षा अभिनवगुप्तके समीप ही अधिक ज्ञात होते हैं। अतः इनका समय दशम शतकका मध्यकाल (९५० ई०) मानना नितान्त न्यायसंगत है। रसके विषयमें इनका स्वतन्त्र मत था जिसका खण्डन लोचन तथा अभिनवभारती दोनोंमें किया गया है। इनके काव्यसिद्धान्तका विस्तृत वर्णन अन्यत्र किया गया है[1]।

---

१. बलदेव उपाध्याय—भारतीय साहित्य-शास्त्र भाग २, पृ० ३६८

१४—कुन्तक

कुन्तक या कुन्तल अलंकारशास्त्रके इतिहासमें 'वक्रोक्ति-जीवितकार'के नामसे ही अधिक प्रसिद्ध हैं। इनका विशिष्ट सिद्धान्त यह था कि वक्रोक्ति ही काव्यका जीवनाधायक तत्त्व है। इसीलिए इनका ग्रन्थ 'वक्रोक्ति-जीवित' के नामसे प्रसिद्ध है। यह ग्रन्थ अधूरा ही प्राप्त हुआ है परन्तु इसके उपलब्ध अंशोंसे ही कुन्तककी मौलिकता तथा सूक्ष्म विवेचन-शैलीका पर्याप्त परिचय मिलता है। इस ग्रन्थमें चार अध्याय या उन्मेष हैं जिनमें वक्रोक्तिके विविध भेदोंका बड़ा ही सांगोपांग विवेचन है। वक्रोक्तिका अर्थ है 'वैदग्ध्यभंगीभणितिः' अर्थात् सर्वसाधारणके द्वारा प्रयुक्त वाक्योंसे विलक्षण कहनेका ढंग। वक्रोक्तिकी मूल कल्पना भामहकी है परन्तु उसे व्यापक साहित्यिक तत्त्वमें विकसित करनेका श्रेय कुन्तकको ही है। वक्रोक्तिके भीतर ही समस्त साहित्यिक तत्त्वोंको अन्तर्भुक्त कर कुन्तकने जिस विदग्धताका परिचय दिया है उसपर साहित्य-मर्मज्ञ सदा रीझता रहेगा।

समय

इनके समयका निरूपण ग्रन्थमें निर्दिष्ट आलंकारिकोंकी सहायतासे भलीभांति किया जा सकता है। कुन्तक आनन्दवर्धन (८५० ई०)के ग्रन्थ तथा सिद्धान्तसे भलीभांति परिचित थे[१]। राजशेखरके ग्रन्थोंका उद्धरण 'वक्रोक्ति-जीवित'में इतनी बार किया गया है कि निःसन्दिग्ध कुन्तक राजशेखरके पश्चाद्वर्ती हैं। उधर महिमभट्टने कुन्तकके सिद्धान्तका पर्याप्त खण्डन किया है[२]। महिमभट्टका समय ग्यारह शतकका

---

१. वक्रोक्ति-जीवित पृ० ८६।

२. काव्यकाञ्चनकषाश्ममानिना, कुन्तकेन निजकाव्य-लक्ष्मणि।
यस्य सर्वनिरवद्यतोदिता, श्लोक एष स निर्दशितो मया॥

व्यक्ति-विवेक पृ० ५८

अन्तिम भाग है। अतः कुन्तकका काल दशम शतकका अन्त तथा एकादश शतकका आरम्भ मानना उचित जान पड़ता है। अभिनवगुप्तके आविर्भावका भी यही समय है। इस प्रकार दोनों समकालीन सिद्ध होते हैं। कुन्तकने अभिनवगुप्तका न तो कहीं निर्देश किया है और न अभिनवगुप्तने कुन्तकका। परन्तु 'लोचन' तथा 'अभिनवभारती'से प्रतीत होता है कि अभिनवगुप्त कुन्तककी वक्रोक्तिके विभिन्न प्रकारोंसे परिचित थे।[१] अतः ये अभिनवगुप्तके समसामयिक होते हुए भी अवस्थामें उनसे कुछ वृद्ध मालूम पड़ते हैं।

ग्रन्थ

कुन्तककी एकमात्र रचना 'वक्रोक्ति जीवित' है। इस ग्रन्थमें चार अध्याय या उन्मेष हैं जिनमेंसे प्रथम दो उन्मेष तो पूर्णरूपसे उपलब्ध हुए हैं परन्तु अन्तिम दो उन्मेष अधूरे ही मिले हैं। इस ग्रन्थका सुन्दर संस्करण प्रस्तुत करनेके कारण डाक्टर सुशीलकुमार दे हमारे धन्यवादके पात्र हैं[२]। इस ग्रन्थमें तीन भाग हैं—कारिका, वृत्ति और उदाहरण। कारिका और वृत्ति कुन्तककी अपनी रचना है। उदाहरण संस्कृत साहित्यके प्रसिद्ध ग्रन्थोंसे लिए गए हैं। प्रथम उन्मेषमें काव्यका प्रयोजन, साहित्यकी कल्पना तथा वक्रोक्तिका लक्षण बड़ी सुन्दरताके साथ दिया गया है। वक्रोक्तिके छः भेद ग्रन्थकारने माने हैं तथा इन सभी भेदोंका सामान्य निर्देश इस उन्मेषमें किया गया है। द्वितीय

१—तथा हि—'तटीतारं ताम्यति' इत्यत्र तटशब्दस्य पुंस्त्वनपुंसकत्वे अनादृत्य स्त्रीत्वमेवाश्रितं सहृदयैः स्त्रीति नामापि मधुरम् इति कृत्वा लोचन पृ० १६० । यह समीक्षा वक्रोक्तिजीवित पृ० ३३ के आधारपर है यद्यपि अभिनवने इसका उल्लेख नहीं किया है।

२—कलकत्ता ओरियण्टल सीरीज (नं० ८)में प्रकाशित।
(द्वितीय परिवर्धित स० १९२८)

उन्मेषमें वक्रोक्तिके प्रथम तीन प्रकार—वर्णविन्यासवक्रता, पदपूर्वार्ध-वक्रता तथा प्रत्ययवक्रताका वर्णन किया गया है। तृतीय उन्मेषमें वाक्यवक्रताका विस्तृत विवेचन पाया जाता है। वाक्यवक्रताके अन्तर्गत ही अलंकारोंका अन्तर्निवेश किया गया है। कुन्तकने अलंकारोंकी छानबीन एक नवीन दृष्टिसे की है। इसके परिचयके लिए इस उन्मेषका गाढ़ अनुशीलन अपेक्षित है। चतुर्थ उन्मेषमें वक्रोक्तिके अन्तिम दो प्रकार—प्रकरणवक्रता और प्रबन्धवक्रताका विशिष्ट विवरण प्रस्तुत किया गया है।

कुन्तकका वैशिष्ट्य वक्रोक्तिकी महनीय कल्पनाके कारण है। "वक्रोक्ति अलंकारका सर्वस्व तथा जीवन है", भामहकी इस उक्तिसे स्फूर्ति तथा प्रेरणा ग्रहण कर कुन्तकने वक्रोक्तिका व्यापक विधान काव्यमें निर्दिष्ट किया है। काव्यमें रस तथा ध्वनिके पूर्ववर्ती सिद्धान्तोंसे ये पूर्णतः अवगत थे। परन्तु काव्यमें इन्हें पृथक् स्थान न देकर ये वक्रोक्तिके ही अन्त-र्गत माने गए हैं। कुन्तककी विवेचना नितान्त मौलिक है। इनकी शैली अत्यन्त रोचक तथा विदग्धतापूर्ण है। इनकी आलोचना अलोकसामान्य भावकप्रतिभाकी द्योतिका है। पिछले आलंकारिकोंपर इनका प्रभाव पर्याप्त रूपमें पड़ा है। इनकी वक्रोक्तिको ध्वनिवादी आचार्योंने मान्यता भले ही न प्रदान की हो, परन्तु उसके विशिष्ट प्रकारोंको ध्वनिके भीतर अन्तर्भुक्त मानकर उन लोगोंने कुन्तकके प्रति अपना सम्मान दिखलाया है।

१५—महिमभट्ट

ध्वनिविरोधी आचार्योंमें महिमभट्टका नाम अग्रगण्य है। 'व्यक्ति-विवेक'की रचनाका उद्देश्य ही ध्वनिसिद्धान्तका खण्डन करना था। इस ग्रन्थके प्रारम्भमें ही इन्होंने प्रतिज्ञा की है कि समस्त ध्वनिको अनुमानके अन्तर्भुक्त दिखलानेके लिए ही मैंने इस ग्रन्थकी रचना की है—

अनुमानान्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम्।
व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा परां वाचम्॥

राजानक महिमक या महिमभट्ट साधारणतया काव्यग्रन्थोंमें अपने ग्रन्थके नामके कारण 'व्यक्ति-विवेककार'के नामसे प्रसिद्ध हैं। राजानक उपाधिसे ही प्रतीत होता है कि ये काश्मीरके निवासी थे। इनके पिताका नाम श्रीधैर्य था और गुरुका नाम श्यामल था। इन्होंने भीमके पुत्र तथा अपने पौत्रोंकी व्युत्पत्तिके लिए इस ग्रन्थकी रचना की। इन्होंने 'तत्त्वोक्ति-कोष' नामक एक अन्य अलंकार ग्रन्थ की भी रचना की थी[1] जिसका पता अभीतक नहीं चला है।

इनके मतका उल्लेख 'अलंकार सर्वस्व' में रुय्यकने किया है। अतः ये ११०० ई० से पूर्ववर्ती होंगे। इन्होंने 'बाल-रामायण'के पद्योंको उद्धृत किया है तथा 'वक्रोक्तिजीवित' और 'लोचन'के सिद्धान्तोंका खण्डन किया है। अतः ये १००० ई० के बादमें आविर्भूत हुए थे। अतः इनका समय ११वीं शताब्दीका मध्यकाल मानना उचित है।

ग्रन्थ

महिमभट्टकी एकमात्र कृति व्यक्ति-विवेक है[2]। जैसा कि नामसे ही प्रतीत होता है यह व्यक्ति अर्थात् व्यंजनाका विवेक अर्थात् समीक्षण है। इस ग्रन्थमें तीन अध्याय या विमर्श हैं। प्रथम विमर्शमें व्यंजनाका मार्मिक खण्डन है। ध्वनिको ये लक्षणासे पृथक् नहीं मानते। अतः अनुमानके

१—इत्यादि प्रतिभातत्वमस्याभिरुपपादितम्। शास्त्रे तत्त्वोक्तिकोशाख्ये इति नेह प्रपञ्चितम्। व्यक्ति-विवेक पृ० ११८ (अनन्तशयन संस्करण)

२—रुय्यककी वृत्तिके साथ मूलग्रन्थ अनन्तशयन ग्रन्थमालामें १९०९ ई० में प्रकाशित हुआ था। इधर एक नवीन टीका (मधुसूदन मिश्र लिखित)के साथ यह ग्रन्थ काशीसे प्रकाशित हुआ है।

द्वारा समस्त ध्वनि-प्रकारोंका विवरण दिखलाकर महिमभट्टने अपने प्रौढ़ पाण्डित्यका परिचय दिया है। द्वितीय विमर्शमें अनौचित्यको काव्यका मुख्य दोष स्वीकार कर उसके विभिन्न प्रकारोंका वर्णन बड़े विस्तारके साथ किया गया है। अनौचित्य दो प्रकारका होता है—अर्थविषयक और शब्दविषयक अथवा अन्तरंग और बहिरंग। अन्तरंग अनौचित्यके भीतर रसदोषका अन्तर्भाव किया गया है। बहिरंग अनौचित्य पांच प्रकारका होता है—(१) विधेयाविमर्श, (२) प्रक्रमभेद, (३) क्रमभेद, (४) पौनरुक्त्य और (५) वाच्यावचन। इन्हीं पांचों दोषोंके पाण्डित्यपूर्ण विवरणसे यह विमर्श पूर्ण है। काव्यमें दोष-निरूपणकी दृष्टि महिमभट्टकी सचमुच अलौकिक है। मम्मटने अपने काव्यप्रकाशमें महिमभट्टके इन सिद्धान्तोंको पूर्णतया अपनाया है। आलोचकोंमें मम्मटके दोषज्ञ होनेकी प्रसिद्धि है—दोषदर्शने मम्मटः; परन्तु महिमभट्टसे तुलना करनेपर यह गौरव आचार्य महिमभट्टको ही देना उचित प्रतीत होता है। जिस आलोचकने 'काव्यप्रकाश'की स्तुतिमें यह प्रशस्त पद्य—

काव्यप्रकाशो यवनो काव्याली च कुलांगना।
अनेन प्रसभाकृष्टा, कष्टामेषाऽश्नुते दशाम्॥—

लिखा है सम्भवतः उसे यह ज्ञात नहीं था कि व्यक्तिविवेकमें महिमभट्टने दोषोंका निरूपण तथा व्यवस्थापन बड़ी प्रामाणिकताके साथ पहले ही कर दिया था।

तृतीय विमर्शमें ग्रन्थकार 'ध्वन्यालोक'के ध्वनि-स्थापनपर टूट पड़ता है और इसमेंसे चालीस ध्वनिके उदाहरणोंको लेकर यह दिखलाता है कि य सभी अनुमानके ही प्रकार हैं।

'व्यक्तिविवेक'की एक ही प्राचीन टीका है और वह भी अधूरी ही मिली है। यह टीका मूलके साथ अनन्तशयन ग्रन्थमालामें प्रकाशित हुई है। इस टीका-(वृत्ति)के रचयिताका नाम उपलब्ध नहीं है। परन्तु

आन्तरिक परीक्षासे यह स्पष्ट होता है कि 'अलंकार-सर्वस्व' के रचयिता रुय्यकने ही इस वृत्तिकी रचना की थी। इस वृत्तिकारका कहना है कि (पृ० ३२) कि उसने साहित्य-मीमांसा तथा नाटक-मीमांसा नामक ग्रन्थोंकी रचना की थी और ये ग्रन्थ अलंकार-सर्वस्वके (पृ० ६१) प्रामाण्यपर रुय्यककी ही रचना है। इससे सिद्ध होता है कि रुय्यक ही व्यक्तिविवेककी टीकाके रचयिता हैं। यह टीका बहुत ही पाण्डित्यपूर्ण है परन्तु टीकाकार ध्वनिवादी है। अतः मूलग्रन्थकर्ताके दृष्टिकोणसे टीकाकारका दृष्टिकोण भिन्न होनेके कारण उसने महिमभट्टकी कटु आलोचना की है। रुय्यकने ध्वनिकारके मतका समर्थन करते हुए महिमभट्टकी बड़ी खिल्ली उड़ाई है।—तदेतदस्य विश्वमगणनीयं मन्यमानस्य स्वात्मनः सर्वोत्कर्ष-शालिताख्यापनमिति (पृष्ठ ४१)।

१६—क्षेमेन्द्र

विभिन्न विषयोंके ऊपर विपुल काव्यराशि प्रस्तुत करनेवाले महाकवि क्षेमेन्द्र अलंकार-जगत्में औचित्य विषयक महनीय कल्पनाके कारण सदा प्रख्यात रहेंगे। इन्होंने अपनी बहुमुखी प्रतिभाके बलसे अनेक उपदेशप्रद काव्यग्रन्थोंका प्रणयन किया है। अलंकार साहित्यमें इनकी विशिष्ट कृति 'औचित्यविचार-चर्चा' तथा 'कविकण्ठाभरण' हैं। ये काश्मीरके निवासी थे। इनके पितामहका नाम सिन्धु और पिताका नाम प्रकाशेन्द्र था। ये पहले शैव थे परन्तु अपने जीवनकी सन्ध्यामें सोमाचार्यके द्वारा वैष्णवधर्ममें दीक्षित किए गए। अपने समस्त ग्रन्थोंमें इन्होंने अपना दूसरा नाम व्यासदास लिखा है[1]। साहित्यशास्त्रमें ये अभिनवगुप्तके साक्षात्

१—इत्येष विष्णोरवतारमूर्तेः काव्यामृतास्वादविशेषभक्त्या।
श्री व्यासदासान्यतमाभिधेन, क्षेमेन्द्रनाम्ना विहितः प्रबन्धः॥
दशावतारचरित १०।४१

शिष्य थे[१]। इन्होंने अपने ग्रन्थोंमें उनके रचनाकालका भी उल्लेख किया है। 'औचित्यविचार-चर्चा' तथा 'कविकण्ठाभरण'की रचना काश्मीर नरेश अनन्तके (१०२८–१०६५ ई०) राज्यकालमें की गई थी[२]। इन्होंने 'देशावतार-चरित'का रचनाकाल १०६६ ई० दिया है जब अनन्तके पुत्र तथा उत्तराधिकारी राजा कलश काश्मीर देशमें राज्य कर रहे थे। अतः क्षेमेन्द्रका आविर्भावकाल ११ वीं शतकका उत्तरार्ध है।

ग्रन्थ

इनका सबसे मौलिक ग्रन्थ 'औचित्यविचार-चर्चा' है। इसमें औचित्यके सिद्धान्तकी बड़ी ही सुन्दर व्याख्या की गई है। काव्यमें औचित्यकी कल्पनाका प्रथम निर्देश हमें भरतमें उपलब्ध होता है। इसका विशदीकरण आनन्दवर्धनके 'ध्वन्यालोक'में मिलता है। वहींसे स्फूर्ति ग्रहणकर ध्वनिवादी क्षेमेन्द्रने औचित्यके नाना प्रकारोंका विशिष्ट विवेचन इस छोटे परन्तु महत्त्वपूर्ण ग्रन्थमें किया है। 'सुवृत्त-तिलक' छन्दके विषयमें इनका सुन्दर ग्रन्थ है जिसे 'वृत्त-औचित्य'के विषयमें 'औचित्यविचार-चर्चा'का पूरक ग्रन्थ समझना चाहिये।

'कविकण्ठाभरण' कवि-शिक्षाके विषयमें लिखा गया है। इसमें पांच सन्धि या अध्याय हैं और ५५ कारिकाएँ हैं। इसमें कवित्वप्राप्तिके उपाय, कवियोंके भेद, काव्यके गुण-दोषका विवेचन संक्षेपमें परन्तु सुबोध रीतिसे किया गया है। इन दोनों ग्रन्थोंके अतिरिक्त इन्होंने 'कविकर्णिका' नामक

१–श्रुत्वाभिनवगुप्ताख्यात् साहित्यं बोधवारिधेः।
आचार्यशेखरमणेः विद्याविवृति कारिणः॥
—बृहत्कथामञ्जरी १९।३७

२–तस्य श्रीमदनन्तराजनृपतेः काले किलायं कृतः। —औ० वि० च०
राज्ये श्रीमदनन्तराजनृपतेः काव्योदयोयं कृतः। —कवि-कंठाभरण

ग्रन्थ अलंकारके ऊपर लिखा था। इसका उल्लेख 'औचित्यविचार-चर्चा'के द्वितीय श्लोकमें उपलब्ध होता है परन्तु यह ग्रन्थ अभीतक नहीं मिला है।

अभिनवगुप्तके दर्शनशास्त्रमें एक पट्टशिष्य थे जिनका नाम क्षेमराज था। इन्होंने शैवदर्शनके ऊपर अनेक ग्रन्थोंकी रचना की है तथा अभिनव-गुप्तके 'परमार्थसार' ग्रन्थपर व्याख्या लिखी है। नामकी समताके कारण कुछ लोग इन्हें क्षेमेन्द्रसे अभिन्न व्यक्ति मानते हैं परन्तु यह उचित नहीं है। दोनोंकी धार्मिक दृष्टिमें भेद था। क्षेमराज तो पक्के शैव थे परन्तु क्षेमेन्द्र वैष्णव थे। इसीलिये इन्होंने विष्णुके दशावतारके विषयमें अपना सुन्दर ग्रन्थ 'दशावतार-चरित' लिखा है। क्षेमेन्द्रके कौटुम्बिक वृत्तसे हम भलीभांति परिचित हैं जिसका उल्लेख इन्होंने अपने अनेक ग्रन्थोंमें किया है। परन्तु क्षेमराज अपने विषयमें नितान्त मौन हैं। इन्हीं कारणोंसे सम-कालीन तथा समदेशीय होनेपर भी क्षेमेन्द्र और क्षेमराज दोनों भिन्न व्यक्ति हैं।

१७—भोजराज

धारानरेश भोजराज केवल संस्कृत कवियोंके आश्रयदाता ही नहीं थे प्रत्युत स्वयं एक प्रगाढ़ पण्डित तथा प्रतिभाशाली आलोचक भी थे। अलंकार शास्त्रमें उनकी दो कृतियां हैं और ये दोनों ही अत्यन्त विशाल-काय हैं। भोजका समय प्रायः निश्चित है। मुञ्जराजके अनन्तर राज्य करनेवाले 'नवसाहसांक' उपाधिधारी सिन्धुराज या सिन्धुल भोजराजके पिता थे। भोजराजके एक दान-पत्रका समय संवत् १०७८ (१०२१ ई०) है। भोजके उत्तराधिकारी जयसिंहका एक शिलालेख संवत् १०१२ (१०५५ ई०) का मिला है। इससे सिद्ध होता है कि १०५४ ई० भोजकी अन्तिम तिथि है। अर्थात भोजका आविर्भाव काल ११ वीं शताब्दीका प्रथमार्ध है।

ग्रन्थ

भोजने अलंकार शास्त्र सम्बन्धी दो ग्रन्थोंकी रचना की है—(१) सरस्वती-कण्ठाभरण[1] और (२) शृंगार-प्रकाश[2]। सरस्वतीकण्ठाभरण रत्नेश्वरकी टीकाके साथ काव्यमालामें प्रकाशित हुआ है। यह ग्रन्थ पांच परिच्छेदोंमें विभक्त है। प्रथम परिच्छेदमें दोषगुणका विवेचन है। इन्होने पद, वाक्य, और वाक्यार्थ प्रत्येकके १६ दोष माने हैं। शब्द तथा अर्थके पृथक्-पृथक् २४ गुण माने हैं। दूसरे परिच्छेदमें २४ शब्दालंकारोंका वर्णन है। तीसरे परिच्छेदमें २४ अर्थालंकारों तथा चतुर्थमें २४ उभयालंकारोंका विवेचन है। पंचम परिच्छेदमें रस, भाव, पञ्चसन्धि तथा चारों वृत्तियोंका विवरण प्रस्तुत किया है। सरस्वती-कण्ठाभरणमें इन्होंने प्राचीन ग्रन्थकारोंके लगभग १५०० श्लोकोंको उद्धृत किया है। भोजकी दृष्टि समन्वयात्मिका है। इन्होंने अपने सिद्धान्तको पुष्ट करनेके लिये प्राचीन आलंकारिकोंके मतोंका समावेश अपने ग्रन्थमें अधिकतासे किया है। परन्तु इनके सबसे प्रिय उपजीव्य आलंकारिक हैं दण्डी जिनके काव्यादर्शका आधासे अधिक भाग उदाहरणके रूपमें इन्होंने उद्धृत किया है। इस प्रकार इस ग्रन्थका ऐतिहासिक मूल्य कुछ कम नहीं है, क्योंकि इस ग्रन्थमें आये हुए उद्धरणोंकी सहायतासे संस्कृतके अनेक कवियोंका समयनिरूपण हम बड़ी आसानीसे कर सकते हैं।

१—सरस्वती-कण्ठाभरण—काव्यमाला (नं० ९४) निर्णयसागरसे प्रकाशित।

२—यह ग्रन्थ अभी तक पूरा अप्रकाशित है। केवल तीन परिच्छेद (२२–२४ प्रकाश) मैसूरसे १९२६ में प्रकाशित हुए हैं। ग्रन्थके विवरणके लिए देखिए—डा० राघवनका शृंगार-प्रकाश नामक अंग्रेजी ग्रन्थ।

भोजराजकी दूसरी कृति शृंगार-प्रकाश है। यह ग्रन्थ हस्तलिखित रूपमें सम्पूर्णतया प्राप्त है परन्तु यह अभीतक प्रकाशित नहीं हुआ है। डा० राघवन्ने इसके ऊपर जो अपनी थीसिस (निबन्ध) लिखी है उसीसे इस ग्रन्थका पूरा परिचय प्राप्त होता है। यह ग्रन्थ अलंकारशास्त्रके ग्रन्थोंमें सबसे बड़ा, विस्तृत तथा विपुलकाय है। इसमें ३६ अध्याय या प्रकाश हैं। प्रथम आठ प्रकाशोंमें शब्द और अर्थ विषयक अनेक वैयाकरण सिद्धान्तोंका वर्णन है। नवम और दशम प्रकाशमें गुण और दोषका विवेचन है। एकादश और द्वादश परिच्छेदमें महाकाव्य तथा नाटकका वर्णन क्रमशः दिया गया है। अन्तिम चौबीस प्रकाशोंमें रसका उदाहरणसे मण्डित बड़ा ही सांगोपांग, वर्णन है। शृंगार-प्रकाशको अलंकारशास्त्रका विश्वकोष कहना अनुचित न होगा, क्योंकि इसमें प्राचीन आलंकारिकोंके मतोंके साथ नवीन मतोंका समन्वयकर एक बड़ा ही भव्य विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

साहित्यशास्त्रके इतिहासमें भोजको हम समन्वयवादी आलंकारिक मानते हैं। इन्होंने प्राचीन आलंकारिकोंके मतोंको ग्रहणकर उनके परस्पर समन्वयका विधान बड़ी युक्तिके साथ किया है। काव्यके विविध अंगोंपर इनके नवीन मत हैं। परन्तु इनका सबसे विशिष्ट मत यह है कि शृंगाररस ही समस्त रसोंमें एकमात्र रस है—

> शृङ्गारवीरकरुणाद्भुतरौद्रहास्य—
> बीभत्सवत्सलभयानकशान्तनाम्नः ।
> आम्नासिषुर्दशरसान् सुधियो वयं तु,
> शृङ्गारमेव रसनाद्रसमामनामः ॥

परन्तु यह शृंगार साधारण शृंगारसे भिन्न है। शृंगारको ये अभिमानात्मक मानते हैं और इसी विशिष्ट मतके निरूपणके लिये इन्होंने अपना विपुलकाय ग्रन्थ 'शृंगार-प्रकाश' लिखा है। शृंगार-प्रकाशकी तो टीका

नहीं मिलती परन्तु सरस्वतीकण्ठाभरणकी रत्नेश्वरकृत टीका उपलब्ध है तथा मूल ग्रन्थके साथ प्रकाशित भी है[1]। यह टीका तिरहुतके राजा रार्मासह देवके आग्रहपर लिखी गई थी। यह टीका प्रामाणिक है तथा ग्रन्थको समझनेमें विशेष सहायक है।

१८—मम्मट

अलंकार-शास्त्रके इतिहासमें मम्मटके काव्यप्रकाशका स्थान बड़ा ही गौरवपूर्ण है। अलंकार जगत्में अब तक जो सिद्धान्त निर्धारित किए गए थे, उन सबका दिग्दर्शन कराते हुए काव्यके स्वरूप तथा अंगोंका यथावत् विवेचन मम्मटने अपने ग्रन्थमें किया है। यह ग्रन्थ उस मूल स्रोतके समान है जहांसे काव्य-विषयक विभिन्न काव्य-धारायें फूट निकलीं। ध्वनि-सिद्धान्तकी उद्भावनाके अनन्तर भट्टनायक तथा महिमभट्टने ध्वनिको ध्वस्त करनेकी जो युक्तियां दी थीं, उन सबका खण्डन कर मम्मटने ध्वनि-सिद्धान्त प्रतिष्ठापित किया। इसी कारण वह 'ध्वनि-प्रस्थापक-परमाचार्य'की उपाधिसे विभूषित किए गए हैं।

वृत्त

मम्मटका कौटुम्बिक वृत्त विशेष उपलब्ध नहीं होता। इनके टीकाकार भीमसेनने मम्मटको कैय्यट तथा उव्वटका ज्येष्ठ भ्राता तथा जैय्यटका पुत्र बतलाया है। परन्तु यह कथन विशेष महत्त्व नहीं रखता। क्योंकि उव्वटने अपने ऋक्प्रातिशाख्यके भाष्यमें अपनेको वज्रटका पुत्र लिखा है न कि जैय्यट का। काश्मीरी पण्डितोंकी परम्पराके अनुसार मम्मट नैषधीय चरितके रचयिता श्रीहर्षके मामा माने जाते हैं परन्तु यह भी प्रवादमात्र है। क्योंकि यदि श्रीहर्ष काश्मीरी होते तो काश्मीरमें जाकर

१—काव्यमाला, बम्बईसे प्रकाशित।

काश्मीरी विद्वानोंकी अपने ग्रन्थके विषयमें सम्मति प्राप्त करनेका उद्योग ही क्यों करते ?

मम्मटके प्रकाण्ड पाण्डित्य तथा व्यापक अनुशीलनके विषयमें कोई सन्देह नहीं कर सकता। ये साहित्यके अतिरिक्त व्याकरणके भी महान् मर्मज्ञ विद्वान् प्रतीत होते हैं। महाभाष्य और वाक्यपदीयका उद्धरण देना, शब्द-संकेतके विषयमें वैयाकरणोंके सिद्धान्तको मानना, वैयाकरणोंको सर्वश्रेष्ठ विद्वान् स्वीकार करना इनके व्याकरण-विषयक पक्षपातका यथेष्ट परिचायक है।

समय

मम्मटने अभिनवगुप्तको (जो १०१५ ई० में जीवित थे) तथा महाकवि पद्मगुप्तको (जिन्होंने १०१० ई० के आसपास अपना नवसाहसांक-चरित लिखा) अपने ग्रन्थमें उद्धृत किया है। इन्होंने उदात्त अलंकारके उदाहरण-विषयक पद्यमें विद्वद्जनोंके प्रति की जाननेवाली भोजकी दानशीलताका उल्लेख किया है[१]। इससे स्पष्ट है कि मम्मट भोजके अनन्तर आविर्भूत हुए। काव्यप्रकाशके ऊपर सर्वप्रथम टीका माणिक्यचन्द्र सूरिकी संकेतनाम्नी है जिसकी रचना १२१६ संवत्में (११६० ई०) हुई थी। रुय्यकने 'अलंकार-सर्वस्व'में काव्यप्रकाशके मतका खण्डन किया है। इस प्रकार मम्मटका समय भोज (१०५० ई०) तथा रुय्यकके (११५० ई०) बीचमें अर्थात् ११ वीं शताब्दीके उत्तरार्धमें मानना चाहिए।

ग्रन्थ

मम्मटकी एकमात्र रचना काव्यप्रकाश है। इसमें दस उल्लास हैं तथा समस्त कारिकाओंकी संख्या १५० के लगभग है। यह ग्रन्थ पाण्डित्य

१—यद् विद्वद् भवनेषु भोजनृपतेः तत् त्यागलीलायितम्।

काव्यप्रकाश, उल्लास १०

तथा गम्भीरतामें अपना सानी नहीं रखता। इसकी शैली सूत्रात्मक है। अतः इसे समझनेमें बड़ी कठिनाई उपस्थित होती है। यही कारण है कि भावप्रकाशिनी ७० टीकाओंके लिखे जानेपर भी इसका भावार्थ अभीतक दुर्बोध बना हुआ है। अतः पण्डित-मण्डलीका काव्यप्रकाशके विषयमें निम्नांकित कथन अक्षरशः सत्य प्रतीत होता है:—

काव्यप्रकाशस्य कृता गृहे गृहे, टीकास्तथाप्येष तथैव दुर्गमः।

इस ग्रन्थके प्रथम उल्लासमें काव्यके हेतु, लक्षण तथा त्रिविध भेदका वर्णन है। द्वितीयमें शब्द-शक्तिका विचार तथा विवेचन विस्तारके साथ किया गया है। तृतीय उल्लासमें शाब्दी व्यंजना है। चतुर्थमें ध्वनिके समस्त भेदोंका तथा रस एवं भावका विवेचन विस्तारसे किया गया है। पंचममें गुणीभूत व्यंग्य काव्यकी व्याख्याके अनन्तर व्यंजनाको नवीन शब्द-शक्ति माननेकी युक्तियां बड़ी प्रौढ़ता तथा पाण्डित्यके साथ प्रदर्शित की गई हैं। षष्ठ उल्लास बहुत ही छोटा है और उसमें केवल चित्रकाव्यका सामान्य वर्णन है। सप्तम उल्लासमें काव्य-दोषोंका वर्णन विस्तारके साथ है। यह उल्लास काव्यलक्षणके 'अदोषौ' पदकी व्याख्या करता है। अष्टम उल्लासमें 'सगुणौ'की व्याख्या है। मम्मटके मतमें गुण केवल तीन ही होते हैं—माधुर्य, ओज तथा प्रसाद। इन्हींके भीतर भरत-प्रतिपादित दशगुण तथा वामन-निर्दिष्ट बीस गुणोंका अन्तर्भाव हो जाता है। नवम और दशम उल्लासमें क्रमशः शब्दालंकार तथा अर्थालंकारका निरूपण उदाहरणोंके साथ किया गया है। इस ग्रन्थके उपर्युक्त सारांशसे उसकी व्यापकताका पता लग सकता है।

इस ग्रन्थके तीन भाग हैं—कारिका, वृत्ति और उदाहरण। उदाहरण तो नाना काव्य-ग्रन्थोंसे उद्धृत किये गये हैं। परन्तु कारिका और वृत्ति मम्मटकी ही निजी रचनाएं हैं। इन कारिकाओंमें कहीं-कहीं भरतकी कारिकाएं सम्मिलित कर ली गई हैं। सम्भवतः इसी कारण बंगालमें यह

प्रवाद उठ खड़ा हुआ था कि कारिकाएँ भरत-रचित हैं जिनपर मम्मटने केवल वृत्तिकी रचना की है। परन्तु यह बात ठीक नहीं है। पीछेके आलंकारिकोंने भी कारिकाकार और वृत्तिकारको एक ही माना है। हेमचन्द्र, जयरथ, विद्यानाथ, अप्पयदीक्षित, पण्डितराज जगन्नाथ इन सब मान्य आलंकारिकोंने कारिका तथा वृत्ति दोनोंकी रचनाका श्रेय मम्मटको ही दिया है। अन्तरंग परीक्षासे भी यही मत उचित प्रतीत होता है। (१) चतुर्थ उल्लासमें रसका निर्देश कर उसकी पुष्टिके लिये भरतके रससूत्रका निर्देश किया गया है—यथा तदुक्तं भरतेन। यदि भरत ही काव्यप्रकाशकी कारिकाओंके रचयिता होते तो ऐसा निर्देश वे कभी नहीं करते। (२) दशम उल्लासमें यह निम्नकारिका मिलती है—

"साङ्गमेतन्निरङ्गन्तु शुद्धं माला तु पूर्ववत् ।"

इस कारिकाका आशय है कि रूपकका भी एक प्रभेद मालारूपक होता है और यह मालारूपक पूर्वमें निर्दिष्ट मालोपमाके समान ही होता है। परन्तु मालोपमाका वर्णन कारिकामें न होकर वृत्तिमें ही पहले किया गया है। 'माला तु पूर्ववत्' से स्पष्ट है कि एक ही व्यक्ति वृत्ति तथा कारिका दोनोंके लिखनेके लिये उत्तरदायी है।

काव्यप्रकाशके अन्तमें यह पद्य उपलब्ध होता है जिसकी व्याख्या प्राचीन टीकाकारोंने भिन्न-भिन्न रूपसे की है—

इत्येष मार्गो विदुषां विभिन्नोऽप्यभिन्नरूपः प्रतिभासते यत् ।
न तद् विचित्रं यदमुत्र सम्यक्, विनिर्मिता सङ्घटनैव हेतुः ॥

इसके ऊपर सबसे प्राचीन टीकाकार माणिक्यचन्द्रका कहना है कि यह ग्रन्थ दूसरेके द्वारा आरम्भ किया तथा किसी अन्य व्यक्तिके द्वारा समाप्त किया गया। इस प्रकार दो व्यक्तियोंके द्वारा रचित होनेपर भी संघटनाके कारण यह अखण्ड रूपमें प्रतीत हो रहा है—

"अथ चायं ग्रन्थोऽन्येनारब्धोऽपरेण च समर्थितः इति द्विखण्डोऽपि संघटनावशात् अखण्डायते[1]।"

काश्मीरके ही निवासी राजानक आनन्दने अपनी टीकामें प्राचीन परम्पराका उल्लेख किया है और लिखा है कि मम्मटने परिकर अलंकार (दशम उल्लास) तक ही काव्यप्रकाशकी रचना की थी तथा अवशिष्ट भागको अलक या अल्लट नामक पण्डितने पूरा किया[2]। इसीलिये ग्रन्थकी पुष्पिकामें काव्यप्रकाश राजानक मम्मट तथा अल्लटकी सम्मिलित रचना माना गया है[3]। अर्जुनवर्म देवके एक उल्लेखसे प्रतीत होता है कि अल्लटने मम्मटको सप्तम उल्लासकी रचनामें भी सहायता दी थी[4]। इन निर्देशोंसे यही तात्पर्य निकलता है कि मम्मटको अपने ग्रन्थके सप्तम तथा दशम उल्लासकी रचनामें अल्लटकी सहायता प्राप्त हुई थी।

टीकाकार

काव्यप्रकाशके टीकाकारोंकी संख्या लगभग ७० है। प्राचीन कालमें काव्यप्रकाशपर टीका लिखना ही विद्वत्ताका मापदण्ड था। इसीलिये

---

१. माणिक्यचन्द्रकी उपर्युक्त श्लोककी संकेत टीका।

२. यदुक्तं—कृतः श्रीमम्मटाचार्यवर्य्यैः परिकरावधिः।
प्रबन्धः पूरितः शेषो विधायालकसूरिणा ॥
अन्येनाप्युक्तम्—काव्यप्रकाशदशकोपि निबन्ध कृद्भ्यां,
द्वाभ्यां कृतोऽपि कृतिनां रसतत्त्वलाभः।

३. इति श्रीमद्राजानकामल्लमम्मटरुचकविरचिते निजग्रन्थकाव्यप्रकाश-संकेते प्रथम उल्लासः।

४. यथोदाहृतं दोषनिर्णये मम्मटालकाभ्यां—प्रसादे वर्तस्व। दूसरा संकेत—अत्र केचित् वायुपदेन जुगुप्साश्लीलमिति—दोषमाचक्षते।
......तदा वाग्देवतादेश इति व्यवसितव्य एवासौ।
किंतु ह्लादैकमयीवरलब्धप्रसादौ काव्यप्रकाशकारौ प्रायेण दोषदृष्टी।

मौलिक ग्रन्थ लिखनेवाले आचार्योंने भी काव्यप्रकाशके ऊपर टीका लिख-कर अपने पाण्डित्यका परिचय दिया। इनमें कतिपय प्रसिद्ध टीकाकारोंका उल्लेख यहां किया जाता है। (१) राजानक रुय्यक कृत संकेत टीका (२) माणिक्यचन्द्र सूरि कृत संकेत टीका---रचनाकाल संवत् १२१६ (११६० ई०)। (३) नरहरि या सरस्वतीतीर्थकृत बालचित्तानुरञ्जिनी टीका। रचनाकाल १३वीं शताब्दीका उत्तरार्ध (४) जयन्तभट्टकी टीकाका नाम दीपिका है। रचनाकाल १३५० संवत् (१२९४ ई०)। जयन्तभट्ट गुजरातके राजा शार्ङ्गदेवके पुरोहितके पुत्र थे तथा कादम्बरी कथासारके रचयिता काश्मीरके जयन्तभट्टसे भिन्न हैं। (५) सोमेश्वर-कृत टीकाका नाम काव्यादर्श है। रचनाकाल १३वीं शताब्दीका उत्त-रार्ध है। (६) वाचस्पति मिश्र-कृत टीका। ये भामतीकारसे भिन्न हैं परन्तु मैथिल ग्रन्थकार प्रतीत होते हैं। (७) चण्डीदासकी टीकाका नाम दीपिका है। ये विश्वनाथ कविराजके पितामहके अनुज थे। अतः इनका समय १३वीं शताब्दीका मध्य भाग है। यह टीका सरस्वतीभवन सीरीज, काशीसे आधी प्रकाशित हुई है। (८) विश्वनाथ कविराजकी टीकाका नाम काव्यप्रकाश-दर्पण है। इसका समय १४वें शतकका प्रथमार्ध है। (९) गोविन्द ठक्कुर---इनकी महत्त्वपूर्ण टीकाका नाम है---काव्य-प्रदीप, जिसपर वैद्यनाथने प्रभा तथा नागोजी भट्टने उद्योत नामक टीकाएँ लिखी हैं। गोविन्द ठक्कुर मिथिलाके रहनेवाले थे। ये विश्वनाथ कविराजको अर्वाचीन ग्रन्थकार कहते हैं। प्रभाकरभट्टने (१६वीं शताब्दी) इनका उल्लेख अपने रसप्रदीपमें किया है। अतः इनका समय १५ वीं शताब्दीका अन्तिम भाग है। यह टीका काव्य-माला तथा आनन्दाश्रम-संस्कृत-सीरीजमें प्रकाशित हुई है। (१०) भीमसेन दीक्षित—इनकी टीकाका नाम है सुधासागर या सुबोधिनी; जिसकी रचनाका समय १७२३ ई० है। यह टीका चौखम्भा, काशीसे प्रकाशित हुई है। (११) इधर वामन पण्डित झलकीकरने काव्यप्रकाशके ऊपर

एक बड़ी सरल तथा सुन्दर टीका लिखी है जिसका नाम सुबोधिनी है। इस टीकाकी यह विशेषता है कि इसमें अप्रकाशित प्राचीन टीकाओंका उद्धरण देकर काव्य-प्रकाशका मर्म अच्छी तरहसे समझाया गया है। यह टीका बम्बई संस्कृत सीरीजमें प्रकाशित हुई है। यह बड़ी ही लोकप्रिय टीका है।

काव्यप्रकाशके अतिरिक्त मम्मटने एक अन्य ग्रन्थकी भी रचना की है जिसका नाम 'शब्दव्यापारविचार' है। यह ग्रन्थ बहुत ही छोटा है और शब्द-वृत्तियोंका समीक्षण प्रस्तुत करता है। यह ग्रन्थ निर्णयसागर प्रेस, बम्बईसे प्रकाशित हुआ है।

१६—सागरनन्दी

नाटकलक्षण रत्नकोश—इनका नाटकविषयक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ[१] है। ग्रन्थकारका नाम था सागर, परन्तु नन्दीवंशमें उत्पन्न होनेके कारण ये सागरनन्दीके नामसे विख्यात थे। उनका कहना है कि श्रीहर्ष, विक्रम, मातृगुप्त, गर्ग, अश्मकुट्ट, नखकुट्टक तथा बादरके मतानुसार भरत मुनिके सिद्धान्तोंका अनुशीलन कर इस ग्रन्थकी रचना की गयी है[२]। ये नाट्यके आचार्य प्रतीत होते हैं, परन्तु इनके मतोंका परिचय

---

१. माइलेस डिलन [Myles Dillon] (डबलिनके संस्कृताध्यापक) के द्वारा सम्पादित तथा आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित, १९३७।

२. श्रीहर्ष—विक्रमनराधिप-मातृगुप्त-
गर्गाश्मकुट्टनखकुट्टक-बादराणाम्।
एषां मतेन भरतस्य मतं विगाह्य
घुष्टं मया समनुगच्छत रत्नकोशम्

—ग्रन्थका अन्तिम श्लोक।

नाट्यग्रन्थोंमें विरल ही है। इस ग्रन्थमें नाट्यशास्त्रके निम्नलिखित विषयोंका पर्यालोचन किया गया है—रूपक, अवस्थापञ्चक, भाषाप्रकार, अर्थप्रकृति, अंक, उपक्षेपक, सन्धि, प्रदेश, पताकास्थानक, वृत्ति, लक्षण, अलंकार, रस, भाव, नायिकाके गुण तथा भेद, रूपकके भेद, तथा उपरूपकके अन्य प्रकार। इस प्रकार नाटकके लिए आवश्यक उपकरणोंका सरल वर्णन ग्रन्थकी विशेषता है।

सागरनन्दीके समयका निरूपण अनुमानतः किया गया है। नन्दीके द्वारा उद्धृत ग्रन्थकारोंमें राजशेखर (९२० ई० से) सबसे प्राचीन है। यह उनकी एक अवधि है। दूसरी अवधिका निरूपण नन्दीको अपने ग्रन्थोंमें उद्धृत करनेवाले ग्रन्थकारोंके समयसे किया जा सकता है। सुभूति, सर्वानन्द, जातवेद, रायमुकुट, कुम्भकर्ण, शुभंकर तथा जगद्धरने अपने ग्रन्थोंमें 'रत्नकोश' के मत तथा पद्य उद्धृत किये हैं। इनमें प्रथम चार अमरकोषके टीकाकार हैं। अन्य दो नाट्य तथा संगीतके रचयिता हैं। अन्तिम ग्रन्थकारने मालतीमाधव तथा मुद्राराक्षसकी अपनी टीकामें 'रत्नकोश' को अपना उपजीव्य बतलाया है। इनमें सुभूतिका समय १०६० ई०—११५० ई० तक माना जाता है। अतः सुभूतिके द्वारा उद्धृत किये जानेके कारण सागरनन्दीका समय ११ शतकके मध्यभागसे पूर्ववर्ती होना चाहिये। अतः इन्हें हम दशरूपकके कर्ता धनञ्जयका समकालीन अथवा किञ्चित् पूर्ववर्ती मान सकते हैं।

इनके ग्रन्थमें प्रचलित नाट्यग्रन्थोंसे अनेक वैशिष्ट्य हैं। उदाहरणार्थ सागरनन्दी वर्त्तमान नरपतिके चरित्रको नाटकके विषय बनानेके पक्षमें हैं, परन्तु अभिनवगुप्तकी सम्मति इसके ठीक विपरीत है। वे वर्त्तमान राजाके चरितको नाटककी वस्तु बनानेके विरोधी हैं[1]।

१. वर्त्तमान–राजचरितं चावर्णनीयमेव। तत्र विपरीतप्रसिद्धिबाधया अध्यारोपितस्य अकिंचित्करत्वात् योगानन्दरावणादिविषयचरिताध्यारोपवत। एतदर्थमेव प्रख्यातग्रहणं प्रकर्षद्योतकं पुनः पुनरुपात्तम्।
—अभिनवभारती १८।१।२ पृ० ४१३

नन्दीने वृत्तियोंको रसोंकी दृष्टिसे विभाजनके अवसरपर कोहलका अनुवर्तन किया है, भरतका नहीं। अभिनवभारतीके अनुसार कोहल तथा भरतमें इस प्रसंगमें मतभेद है[1]। अन्य सूक्ष्म भेद भी धनञ्जयके सिद्धान्तसे इस ग्रन्थमें उपलब्ध होते हैं।

इस विवेचनसे स्पष्ट है कि सागरनन्दीका ग्रन्थ हमारे शास्त्रके मध्य-युगमें विशेष महत्त्वपूर्ण माना जाता था। इसका अभी प्रकाशन हुआ है। इसके अनुशीलनसे विशेष ज्ञातव्य तत्त्वोंके परिचय मिलनेकी आशा है[2]।

२०—अग्निपुराण

पुराण भारतीय विद्याके आगार हैं। इनमें केवल भारतीय वैदिक धर्मका ही विशिष्ट विवेचन नहीं है, प्रत्युत वेदसे सम्बद्ध अनेक विद्याओंका भी विवरण अनेक पुराणोंमें उपलब्ध होता है। विशेषतः अग्नि-पुराण तो प्राचीन भारतके ज्ञान और विज्ञानका विश्वकोष ही है। इसके कतिपय

---

१. कोहलका मत—(रत्नकोश पृ० १०५६–६३)

वीराद्भुतप्रहसनैरिह भारती स्यात्

सात्त्वत्यपीह गदिताऽद्भुतवीररौद्रैः।

शृंगारहास्यकरुणैरपि कैशिकी स्या-

दिष्टा भयानकयुताऽरभटी सरौद्रा॥

अभिनवभारतीने इस पद्यकी तृतीय पंक्तिके मतको मुनिमतसे विरुद्ध होनेसे उपेक्षणीय माना है। द्रष्टव्य, अभिनवभारती (द्वि० खण्ड, पृ० ४५२)

२. सागरनन्दीके काल-निर्णयके लिए द्रष्टव्य New Indian Antiquary Vol II No 6 (Sept. 1939) pp 412-419.

अध्यायोंमें साहित्य-शास्त्रका विवरण प्रस्तुत किया गया है। काव्य-प्रकाशकी 'आदर्श' टीकाके रचयिता 'महेश्वर'ने तथा विद्या-भूषणकी 'साहित्य-कौमुदी'की टीका 'कृष्णानन्दिनी'में अग्निपुराण' साहित्य-शास्त्रका सबसे प्राचीनतम ग्रन्थ निर्दिष्ट किया गया है जहांसे स्फूर्ति तथा सामग्री ग्रहणकर भरतमुनिने अपनी कारिकाओंकी रचना की। परन्तु ग्रन्थकी तुलनात्मक परीक्षासे पिछले आलंकारिकोंका यह मत प्रमाणसिद्ध नहीं जान पड़ता।

अग्निपुराणके दस अध्यायोंमें (अध्याय ३३६–३४६) अलंकार शास्त्रसे संबद्ध विषयका विस्तृत वर्णन किया गया है। ३३६ अध्यायमें काव्यका लक्षण, काव्यका भेद, कला, आख्यायिका तथा महाकाव्यका वर्णन किया गया है। ३३७ अध्यायमें नाट्यशास्त्रका विषय—यथा नाटकके भेद, प्रस्तावना, पांच अर्थ-प्रकृति, पंचसन्धि वर्णित हैं। ३३८ वें अध्यायमें रसका विवेचन तथा नायक, नायिकाभेदका वर्णन है। ३३९ वें अध्यायमें चार प्रकारकी रीति (पांचाली-गौड़ी-वैदर्भी और लाटी) तथा चार प्रकारकी वृत्ति—भारती, सात्वती, कैशिकी तथा आरभटी—का वर्णन है। ३४० वें अध्यायमें नृत्यके अवसरपर होनेवाले अंग-विक्षेपोंका विवरण है तथा अगले अध्यायमें चार प्रकारके अभिनयका—सात्त्विक, वाचिक, आंगिक तथा आहार्यका उल्लेख है। ३४२ वें अध्यायमें शब्दालंकारोंका विशेषतः अनुप्रास, यमक (दस भेद) तथा चित्र (सात भेद)

---

१. सुकुमारान् राजकुमारान् स्वादुकाव्यप्रवृत्तिद्वारा गहने शास्त्रान्तरे प्रवर्तयितुमग्निपुराणादुद्धृत्य काव्यरसास्वादकारणमलंकारशास्त्रं कारिकाभिः संक्षिप्य भरतमुनिः प्रणीतवान्।

२. काव्यरसास्वादनाय वह्निपुराणादिदृष्टां साहित्यप्रक्रियां भरतः संक्षिप्ताभिः कारिकाभिः निबबन्ध।

वर्णन प्रस्तुतकर अगले दो अध्यायोंमें अर्थालंकारका निरूपण किया गया है। अन्तिम दो अध्यायोंमें (३४५-४६) गुण तथा दोषका क्रमशः वर्णन प्रस्तुत किया गया है। इन दसों अध्यायोंमें ३६२ श्लोक हैं।

अग्निपुराणके इस साहित्यखण्डकी रचना कब हुई, यह एक विचारणीय प्रश्न है। इस अंशका लेखक साहित्यके किसी मौलिक् सिद्धान्तका प्रतिपादक नहीं है प्रत्युत उसने इस भागको उपयोगी बनानेके लिये अनेक प्राचीन आलंकारिकोंके सिद्धान्तोंका संग्रह-मात्र उपस्थित किया है। भरत-नाट्यशास्त्रके श्लोक तो अक्षरशः इसमें उद्धृत किये गये हैं। रूपक, उत्प्रेक्षा, विशेषोक्ति, विभावना, अपह्नुति तथा समाधि अलंकारोंके लक्षण वे ही हैं जो काव्यादर्शमें दिये गये हैं। रूपक, आक्षेप आदि कतिपय अलंकारोंके लक्षण भामहसे अधिकतर मिलते हैं। अग्निपुराण ध्वनिके सिद्धान्तसे परिचित है परन्तु वह उसको काव्यमें स्वतन्त्र स्थान न देकर आक्षेप, समासोक्ति आदि अलंकारोंके भीतर ही समाविष्ट करता है। 'अलंकारसर्वस्व'के अनुसार यह मत भामह तथा उद्भट आदि प्राचीन आलंकारिकोंका है। इतना ही नहीं, इस भागमें भोजके साहित्य-विषयक विशिष्ट सिद्धान्तोंका समावेश उपलब्ध होता है। मम्मटने काव्यप्रकाशमें विष्णुपुराणका तो उद्धरण दिया है, परन्तु अग्निपुराणका निर्देश कहीं नहीं किया है। अग्निपुराणको अलंकार शास्त्रका प्रमाणभूत ग्रन्थ मानकर इसको उद्धृत करनेवाले सर्वप्रथम आलंकारिक विश्वनाथ कविराज हैं। अग्निपुराणको धर्मशास्त्रके विषयमें प्रमाणभूत ग्रन्थ माननेवाले 'अद्भुतसागर'के रचयिता राजा बल्लालसेन हैं जिन्होंने अपना ग्रन्थ ११६८ ई० में आरम्भ किया था। इन उल्लेखोंसे स्पष्ट है कि अग्निपुराणका यह साहित्य-विषयक अंश भोज तथा विश्वनाथ कविराजके मध्यकालमें लिखा गया था। अर्थात् इस भागकी रचना १२०० ई० के आसपास मानना अनुचित न होगा। अग्निपुराणको प्राचीन मौलिक ग्रन्थ न मानकर एक संग्रह-ग्रन्थ मानना ही न्यायसंगत है।

२१—रुय्यक

रुय्यक या रुचक मम्मटके पश्चाद्वर्ती काश्मीरके मान्य आलोचक हैं। ये निश्चित रूपसे काश्मीरके निवासी थे क्योंकि इनके नामके साथ जो 'राजानक' उपाधि सम्मिलित है वह काश्मीरके ही मान्य विद्वानोंको दी जाती थी। ये राजानक तिलकके पुत्र थे जिन्होंने जयरथके कथनानुसार (विमर्षिणी पृ० २४, ११५) उद्भटके ऊपर 'उद्भट-विवेक' या 'उद्भटविचार' नामक व्याख्या ग्रन्थ लिखा था।

रचयिता—रुय्यक या मंखक ?

रुय्यकका 'अलंकार-सर्वस्व'[1] दो भागोंमें विभक्त है—सूत्र और वृत्ति। 'ध्वन्यालोक'के समान यहां भी यही समस्या है कि रुय्यकने केवल सूत्रोंकी ही रचना की अथवा वृत्तिकी भी। 'अलंकारसर्वस्व'के प्रसिद्ध टीकाकार जयरथने रुय्यकको ही सूत्र तथा वृत्ति दोनोंका रचयिता माना है। ग्रन्थके मंगलश्लोकका उत्तरार्ध इसी मतको पुष्ट करता है। इस उत्तरार्धका रूप यों है—निजालंकारसूत्राणां वृत्त्या तात्पर्यमुच्यते। परन्तु दक्षिण भारतमें उपलब्ध होनेवाली 'अलंकारसर्वस्व'की प्रतियोंमें इसके स्थानपर "गुर्वलंकारसूत्राणां वृत्त्या तात्पर्यमुच्यते" लिखा मिलता है तथा उनकी पुष्पिकामें मंखक या मंखुक–जो काश्मीर नरेशके सान्धि-विग्रहिक थे—वृत्तिके रचयिता बताये गये हैं। इस प्रकार वृत्ति तथा सूत्रकारकी एकतामें सन्देह उत्पन्न होता है।

श्रीकण्ठचरितके रचयिता राजानक मंख या मंखक काश्मीरके निवासी थे तथा रुय्यकके शिष्य थे। यदि ये शिष्य नहीं होते, तो सम्भव है कि यह मत उतना सारहीन नहीं दीख पड़ता परन्तु शिष्य होनेसे इस मतके सत्य होनेमें सन्देह होता है। श्रीकण्ठचरितकी रचनाका काल है

---

१. जयरथकी टीकाके साथ निर्णयसागरसे तथा समुद्रबन्धकी टीकाके साथ अनन्तशयन–ग्रन्थमालामें प्रकाशित।

११३५ ई० से लेकर ११४५ ई०। यहां हमें यह विचार करना है कि हम उत्तरभारतकी परम्पराको सत्य मानें जिसके अनुसार रुय्यकने ही सूत्र और वृत्ति दोनोंकी रचना की थी या दक्षिण भारतीय परम्परामें आस्था रखें जिसके अनुसार रुय्यक केवल सूत्रकार हैं और उनके शिष्य मंखक वृत्तिकार। काश्मीरकी परम्परा निरवच्छिन्न है। परन्तु दक्षिण भारतीय परम्परा अव्यवस्थित है, क्योंकि दक्षिण भारतके ही मान्य आलंकारिक अप्पय दीक्षितने रुय्यकको ही वृत्तिकारके नाम से उल्लिखित किया है। उधर जयरथ रुय्यकके देशवासी ही नहीं थे प्रत्युत उनसे एक शताब्दीके भीतर ही उत्पन्न हुए थे। अतः जयरथको विशुद्ध परम्पराका ज्ञाता मानना नितान्त आवश्यक है। अलंकार ग्रन्थोंमें रुय्यक, रुचक तथा 'सर्वस्वकार' के नामसे तो अनेक बार उद्धृत किये गये हैं परन्तु आलंकारिक रूपसे मंखकका निर्देश कहीं भी प्राप्त नहीं होता। इससे सिद्ध होता है कि रुय्यकने ही 'अलंकार-सर्वस्व' के सूत्र तथा वृत्तिकी रचना स्वयं की है।

समय

रुय्यकके आविर्भावकालकी सूचना अनेक स्थलोंसे प्राप्त होती है। इन्होंने मम्मटके काव्यप्रकाशपर 'काव्यप्रकाशसंकेत' नामक टीका लिखी थी जिससे इनका समय मम्मटके पश्चात् होना निश्चित है। रुय्यकने अपने शिष्य मंखकके प्रसिद्ध महाकाव्य 'श्रीकण्ठचरित'से पांच पद्योंको उदाहरणरूपसे अपने ग्रन्थमें उद्धृत किया है। मंखकके काव्यके रचनाकालकी अन्तिम तिथि ११४५ ई० है। अतः अलंकारसर्वस्वकी रचना इस तिथिसे पहले नहीं हो सकती। अतः रुय्यकका काल १२ वीं शताब्दीका मध्यभाग मानना सर्वथा युक्तियुक्त है।

ग्रन्थ

रुय्यकने अलंकारशास्त्रपर अनेक प्रामाणिक ग्रन्थोंकी रचना की जिनमें केवल तीन ही ग्रन्थ अबतक प्रकाशित होकर ख्याति प्राप्त कर सके हैं। (१) काव्यप्रकाशसंकेत—(२) अलंकारमंजरी (३) अलंकारानुसारिणी

(४) साहित्यमीमांसा (५) नाटकमीमांसा, (६) अलंकारवार्तिक—इन ग्रन्थोंका परिचय हमें रुय्यक और उनके टीकाकार जयरथके निर्देशोंसे मिलता है। इनके प्रकाशित ग्रन्थोंमें (१) सहृदयलीला—एक लघुकाय ग्रन्थ है जिसमें स्त्रियोंके सौन्दर्य गुण तथा आभूषणका विशेष वर्णन है। (२) व्यक्तिविवेक टीका—यह महिमभटके व्यक्तिविवेककी व्याख्या है जो अबतक अधूरी ही मिली है। जयरथने इसका निर्देश 'व्यक्तिविवेक-विचार'के नामसे किया है (विमर्षिणी पृ० १३)। यह वही टीका है जो अनन्तशयन ग्रन्थमालामें मूलग्रन्थके साथ प्रकाशित हुई है। (३) अलंकार-सर्वस्व—रुय्यककी कीर्तिका यही ग्रन्थ एकमात्र आधार है। यह अलंकार-निरूपणके लिये बड़ा ही प्रौढ़ तथा प्रामाणिक ग्रन्थ है। ग्रन्थकार ध्वनि-सिद्धान्तका अनुयायी है और ग्रन्थके आरम्भमें उसने अपने पूर्ववर्ती आचार्योंके मतकी बड़ी ही सुन्दर समीक्षा की है। इन्होंने मम्मटसे अधिक अलंकारोंका निरूपण इस ग्रन्थमें किया है और साधारणतः इनका निरूपण मम्मटकी अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक तथा विस्तृत है। इन्होंने दो नए अलंकारोंकी उद्भावना की है जिनके नाम विकल्प और विचित्र हैं। विश्वनाथ कविराज, अप्पयदीक्षित, तथा विद्याधर आदि पिछले आलंकारिकोंने रुय्यकके इस मान्य ग्रन्थसे प्रेरणा तथा स्फूर्ति प्राप्त की है और इनके मतोंका उद्धरण अपने मतकी पुष्टिके लिये दिया है।

टीकाकार

'अलंकारसर्वस्व'की व्याख्याएँ अनेक विद्वानोंने की हैं जिनमें (१) राजानक अलक—सबसे प्राचीन प्रतीत होते हैं। इनके ग्रन्थका अभीतक उल्लेख ही मिलता है। पूरे ग्रन्थकी उपलब्धि अभीतक नहीं हुई है।

(२) जयरथ—इनकी टीकाका नाम विमर्शिणी है[1]। नामके

१. काव्यमाला नं० ३५ बम्बई से प्रकाशित।

अनुसार ही यह रुय्यकके ग्रन्थकी वास्तविक समीक्षा करती है। यह बड़ी ही विद्वत्तापूर्ण टीका है। जयरथने अभिनवगुप्तके विपुलकाय ग्रन्थ 'तन्त्रालोक'के ऊपर 'विवेक' नामक व्याख्या लिखी थी। इससे सिद्ध होता है कि ये केवल आलोचक ही न थे प्रत्युत एक महनीय दार्शनिक थे। इनके पिताका नाम श्रृंगाररथ था और गुरुका नाम शंखधर। इनका आविर्भावकाल १३ शताब्दीका आरम्भकाल है। इन्होंने दो नूतन ग्रन्थोंका उल्लेख किया है जो अबतक उपलब्ध नहीं हुए हैं। इनमें प्रथम ग्रन्थ अलंकारभाष्य (विमर्शिणी पृ० ३५, ८३, १७३) है। इसका उल्लेख पण्डितराज जगन्नाथने भी किया है (रसगंगाधर पृ० २३९ ३६५)। दूसरा ग्रन्थ अलंकारसार है। पण्डितराज जगन्नाथने जयरथका विशेष खण्डन किया है।

(३) **समुद्रबन्ध**—ये केरल देशके राजा रविवर्माके राज्यकालमें उत्पन्न हुए थे। इस राजाका जन्म १२६५ ई० में हुआ था। अतः समुद्रबन्धका समय १३ वीं शताब्दीका अन्त तथा १४ वीं का आरम्भकाल है। जयरथकी टीकाके समान पाण्डित्यपूर्ण न होनेपर भी यह व्याख्या मूलको समझनेके लिये अत्यन्त उपादेय है[1]। समुद्रबन्ध अलंकार-शास्त्रके मान्य आचार्योंसे पूर्ण परिचित थे। उनके उद्धरणोंसे यह बात स्पष्ट है।

(४) **विद्याचक्रवर्ती**—इनकी टीकाका नाम 'अलंकार संजीवनी' या 'सर्वस्वसंजीवनी' है। इसका उल्लेख दक्षिण भारतके पिछले आलंकारिकोंने अपने ग्रन्थोंमें किया है। इन्होंने मम्मटके ग्रन्थके ऊपर भी 'सम्प्रदाय-प्रकाशिनी' नामक टीका लिखी है। मल्लिनाथके द्वारा उद्धृत किये जानेके कारण इन्हें १४ वीं शताब्दीके अन्तिम भागसे पूर्वमें मानना चाहिये।

---

१. अनन्तशयन ग्रन्थमाला नं० ४० में प्रकाशित।

२२—हेमचन्द्र

समय

जैनधर्मके धुरन्धर विद्वान् आचार्य हेमचन्द्रने अलंकार शास्त्रमें भी एक उपादेय ग्रन्थकी रचना की है। इनके देशकालका परिचय हमें पूर्णतया प्राप्त है। ये गुजरातके अहमदाबाद जिलेके धुन्धुक नामक गांवमें ११४५ वि० (१०८८ ई०) पैदा हुए थे। अनहिलपटनके चालुक्य नरेश जयसिंह सिद्धराजकी (१०९३–११४३ ई०) प्रार्थना पर इन्होंने अपना प्रसिद्ध 'सिद्धहेम' नामक व्याकरण बनाया। जयसिंहके उत्तराधिकारी राजा कुमारपाल (११४३–११७२ ई०) इनके शिष्य थे। इनके आदेशानुसार भी इन्होंने अनेक ग्रन्थोंकी रचना की है। हेमचन्द्रकी मृत्युतिथि ११७२ ई० है। इस प्रकार इनका काल १०८८ ई० से ११७२ ई० है।

ग्रन्थ

इनके ग्रन्थका नाम 'काव्यानुशासन'[1] है जो सूत्रात्मक पद्धतिसे लिखा गया है। ग्रन्थकारने इन सूत्रोंपर स्वयं 'विवेक' नामक टीका लिखी है। यह ग्रन्थ आठ अध्यायोंमें विभक्त है। प्रथम अध्यायमें काव्यके प्रयोजन, काव्यहेतु, लक्षण तथा शब्द और अर्थके स्वरूपका विवेचन है। द्वितीयमें रस तथा उसके भेदोंका सुन्दर विवरण है। तीसरेमें दोषोंका निर्णय है तो चौथेमें माधुर्य, ओज और प्रसाद नामक त्रिविध गुणोंका वर्णन है। पांचवेंमें छः प्रकारके शब्दालंकारोंका तथा छठेंमें २९ प्रकारके अर्थालंकारोंका विवेचन है। हेमचन्द्रने संकर अलंकारके भीतर ही संसृष्टिको रखा है तथा दीपकके भीतर तुल्ययोगिताको।

---

१. (क) काव्यमालामें प्रकाशित।
(ख) गुजरातसे दो खंडोंमें प्रकाशित।

परावृत्ति नामक एक नवीन अलंकारकी इन्होंने उद्भावना की है जिसके भीतर मम्मटका पर्याप्त तथा परिवृत्ति अलंकार दोनों आ जाते हैं। निदर्शनके भीतर प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त तथा प्रसिद्ध निदर्शना अलंकारका निवेश किया गया है। इन्होंने रस और भावसे सम्पर्क रखनेवाले रसवद् आदि अलंकारोंको बिल्कुल छोड़ दिया है। सप्तम अध्यायमें नायक और नायिकाके भेदोंका विवेचन कर अन्तिम अध्यायमें काव्यके भेद तथा उपभेदोंका वर्णन उनके विशिष्ट लक्षणके साथ देकर ग्रन्थ समाप्त किया गया है।

काव्यानुशासन एक संग्रहग्रन्थ है जिसमें विशेष मौलिकता नहीं दीख पड़ती। ग्रन्थकारने राजशेखरकी काव्य-मीमांसा, काव्यप्रकाश, ध्वन्यालोक, लोचन तथा अभिनवभारतीसे लम्बे-लम्बे उद्धरण अपने ग्रन्थमें दिये हैं। इससे कभी-कभी उन मूल ग्रन्थोंके समझनेमें पर्याप्त सहायता मिलती है। हेमचन्द्रने इस ग्रन्थकी वृत्तिमें विभिन्न ग्रन्थकारोंके ग्रन्थोंसे लगभग १५०० पद्य उद्धृत किये हैं जिससे इनके अगाध पाण्डित्यका पता चलता है। पिछले आलंकारिकोंके ऊपर इनका प्रभाव बहुत ही कम पड़ा। अतः इनके मतका उल्लेख अन्य ग्रन्थकारोंके द्वारा बहुत ही कम मिलता है।

२३—रामचन्द्र

रामचन्द्र तथा गुणचन्द्रकी सम्मिलित कृति है—नाट्यदर्पण[१]। इसमें चार विवेक या अध्याय हैं जिनमें नाटक, प्रकरणादिरूपक, वृत्ति-रसभावाभिनय तथा रूपकके साधारण लक्षणका वर्णन क्रमशः किया गया

१. नाट्यदर्पणका प्रकाशन गा० ओ० सी० में (संख्या ४८) बड़ौदासे १९२९ में हुआ है तथा नलविलासका भी प्रकाशन इसी ग्रन्थमाला में (संख्या २९) १९२६ ई० में हुआ है।

है। ग्रन्थ कारिकाबद्ध है जिसपर ग्रन्थकारोंने अपनी वृत्ति लिखी है। नाट्य-विषयक शास्त्रीय ग्रन्थोंमें नाट्यदर्पणका स्थान महत्त्वपूर्ण है। यह वह शृंखला है जो धनंजयके साथ विश्वनाथ कविराजको जोड़ती है। इसमें अनेक विषय बड़े महत्त्वपूर्ण हैं तथा परम्परागत सिद्धान्तोंसे विलक्षण हैं जैसे रसका सुखात्मक होनेके अतिरिक्त दुःखात्मक रूप। प्राचीन और अधुना लुप्तप्राय रूपकोंके उद्धरण प्रस्तुत करनेके कारण भी इसका ऐतिहासिक मूल्य बहुत अधिक है। जैसे 'देवीचन्द्रगुप्त' नामक विशाखदत्त-रचित नाटकके बहुतसे उद्धरण यहां मिलते हैं जिससे चन्द्रगुप्त द्वितीयसे पहले रामगुप्तकी ऐतिहासिक स्थितिका पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध होता है।

रामचन्द्र हेमचन्द्रके शिष्य थे तथा जैनधर्मके मान्य आचार्य थे। ये गुजरातके सिद्धराज (१०९३–११४३ ई०), कुमारपाल (११४३-११७२ ई०) तथा अजयपालके (११७२–७५ ई०) समयमें वर्तमान थे। कहा जाता है कि कारणवश अजयपालकी ही आज्ञासे इन्हें प्राण-दण्ड मिला था। सिद्धराजने जब हेमचन्द्रसे उनके उत्तराधिकारी (पट्टधर)के विषयमें पूछा तो हेमचन्द्रने रामचन्द्रका ही नाम इस पदके लिये लिया। इनका आविर्भावकाल १२ शतकका मध्यभाग है। रामचन्द्रके सहयोगी गुणचन्द्रके विषयमें हम इतना ही जानते हैं कि ये दोनों हेमचन्द्रके शिष्य थे। गुणचन्द्रके किसी स्वतन्त्र ग्रन्थका पता नहीं चलता, परन्तु रामचन्द्र तो 'प्रबन्धशतकर्ता'के नामसे जैन-साहित्यमें विख्यात हैं। इनके एकादश नाटकोंका निर्देश इसी ग्रन्थमें उपलब्ध होता है जिनमें 'नलविलास' मुख्य है।

२४—वाग्भट

हेमचन्द्रके समकालीन एक दूसरे जैन आलंकारिक हुए जिनका नाम वाग्भट है। उनकी एकमात्र कृति 'वाग्भटालंकार' है। इसके एक पद्य की टीकासे पता चलता है कि इनका प्राकृत नाम 'बाहड़' था[1] तथा ये सोमके पुत्र थे तथा किसी राजाके महामात्य पदपर ये प्रतिष्ठित थे। अपने ग्रन्थमें इन्होंने स्वनिर्मित संस्कृत उदाहरणोंके अतिरिक्त प्राकृतमें भी उदाहरण प्रस्तुत किए हैं जिससे इनकी संस्कृत तथा प्राकृत, उभय भाषाकी अभिज्ञता प्रकट होती है। नेमि-निर्वाण महाकाव्यसे भी इन्होंने कई पद्य उद्धृत किये हैं। इस महाकाव्यके रचयिता कोई वाग्भट बतलाए जाते हैं। पता नहीं कि आलंकारिक वाग्भट ही इस महाकाव्यके रचयिता हैं अथवा कोई दूसरे वाग्भट। इस ग्रन्थके उदाहरणोंमें कर्णके पुत्र, अनहिलवाड़के अधिपति चालुक्यवंशी नरेश जयसिंहकी स्तुति उपलब्ध होती है[2] जिससे प्रतीत होता है कि इनका जयसिंहके साथ घनिष्ठ

---

१. बंभण्डसुत्तिसंपुड–मुत्तिअ मणिणो पहासमूह व्व।
सिरिवाहडत्ति तणओ आसि बुहो तस्स सोमस्स। इसकी व्याख्या—
इदानी ग्रन्थकार इदमलंकारकर्तृत्वख्यापनाय वाग्भटाभिधस्य महाकवेर्महामात्यस्य तन्नामगाथयैकया निदर्शयति (४।१४८)

२. इन्द्रेण किं यदि स कर्णनरेन्द्रसूनुरैरावणेन किमहो यदि तद्द्विपेन्द्रः।
दम्भोलिनाप्यलमलं यदि तत्प्रतापः स्वर्गोप्ययं ननु मुधा यदि तत्पुरी सा॥—४।७६

जगदात्मकीर्तिशुभ्रं जनयन्नुद्दामधामदोःपरिघः।
जयति प्रतापपूषा जयसिंहः क्ष्माभृदधिनाथः॥—४।८५

अणहिल्लपाटकं पुरमवनिपतिः कर्णदेवनृपसूनुः।
श्रीकलशनामधेयः करी च रत्नानि जगतीह॥—४।१३२.

संबंध था। जयसिंहने १०९३ ई० से ११४३ ई० तक राज्य किया था। अतः वाग्भटका भी यही समय है—अर्थात् १२वीं शताब्दीका पूर्वार्ध।

ग्रन्थ

इनके ग्रन्थका नाम **वाग्भटालंकार**[1] है। यह कोई अलंकारका विस्तृत ग्रन्थ नहीं है। लेखकने पांच परिच्छेदोंमें २६० पद्योंके भीतर साहित्य शास्त्रके सिद्धान्तोंका संक्षेपमें वर्णन प्रस्तुत किया है। प्रथम परिच्छेदमें काव्यके स्वरूप तथा काव्यके उत्पादक हेतु—प्रतिभा, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास—का वर्णन है। द्वितीय परिच्छेदमें काव्यके नाना भेदोंका प्रदर्शन कर ग्रन्थकारने पद, वाक्य तथा अर्थके दोषोंका संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत किया है। तृतीय अध्यायमें दस गुणोंका उदाहरणके साथ लक्षण दिया गया है। चतुर्थमें चार शब्दालंकार, ३५ प्रकारके अर्थलंकारों तथा दो प्रकारकी रीति—गौड़ी तथा वैदर्भी—का निरूपण है। पंचममें ९ प्रकारके रस, नायक-नायिकाका भेद तथा इसी प्रकारके अन्य विषयोंके वर्णनके साथ ग्रन्थ समाप्त होता है।

टीका

यह ग्रन्थ पर्याप्त रूपसे लोकप्रिय था। इसकी लोकप्रियताका पता इसपर लिखी गई अनेक टीकाओंसे लगता है। इसपर आठ टीकाएँ हैं, जिनमें केवल दो टीकाएँ अभीतक प्रकाशित हो पाई हैं। क्षेमहंसगणिकृत समासान्वय टिप्पण, अनन्तभट्टके पुत्र गणेशकृत विवरण, राजहंस उपाध्यायकृत टीका, समयसुन्दर-रचित व्याख्या, किसी अज्ञातनामा लेखककी अवचूरि व्याख्या अभीतक हस्तलिखित रूपमें ही मिलती हैं[2]।

१. काव्यमाला, नं० ४८, १९१६

२. जिनवर्धन सूरिकी टीका ग्रन्थमाला मद्राससे मूलके साथ प्रकाशित हुई है तथा सिंहदेवगणिकृत टीका काव्यमाला नं० ४८ तथा वेंकटेश्वर प्रेस बम्बईसे प्रकाशित हुई है।

२५—वाग्भट द्वितीय

'काव्यानुशासन'के रचयिता वाग्भटको इस वाग्भटके साथ अभिन्न व्यक्ति नहीं मानना चाहिए। नामकी समता होनेपर भी इनके ग्रन्थोंके अनुशीलनसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि दोनों भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं। ये वाग्भट भी जैन ही थे। इनके पिताका नाम नेमकुमार था। इन्होंने अपने ग्रन्थमें प्रथम वाग्भटका निर्देश किया है। इन्होंने 'ऋषभदेवचरित' तथा 'छन्दोनुशासन' नामक स्वरचित ग्रन्थोंका उल्लेख भी इस ग्रन्थमें किया है। प्रथम वाग्भटके उल्लेख करनेके कारण इस वाग्भटका समय १४वीं शताब्दीके आसपास है।

इनके ग्रन्थका नाम 'काव्यानुशासन'[१] है। यह सूत्रशैलीमें लिखा गया है जिसपर ग्रन्थकारने अलंकारतिलक नामक वृत्ति स्वयं लिखी है। इस ग्रन्थमें पांच अध्याय हैं। प्रथम अध्यायमें काव्यके प्रयोजन, काव्यहेतु, कविसमय, काव्यके नाना प्रकारोंका वर्णन किया गया है। दूसरे अध्यायमें १६ प्रकारके पददोष तथा १४ प्रकारके वाक्य तथा अर्थके दोषोंका वर्णन कर वाग्भटने दण्डीसम्मत दश गुणोंका वर्णन किया है, यद्यपि इनकी सम्मतिमें गुणोंकी संख्या तीन ही होनी चाहिये। तृतीय परिच्छेदमें ६३ अर्थालंकारोंका वर्णन किया गया है जिनमें अन्य, अपर, पूर्व, लेश, पिहित, उभयन्यास, भाव तथा आशीः विलक्षण होनेसे उल्लेख योग्य है। चतुर्थ अध्यायमें छः प्रकारके शब्दालंकारोंका वर्णन है जिसमें वक्रोक्ति अन्यतम है। पंचम अध्याय रसोंका विवेचन करता है। इसमें रसके अंग, ९ प्रकार, नायक-नायिका-भेद, प्रेमकी दश अवस्था तथा रसदोषका समीक्षण कर ग्रन्थ समाप्त किया गया है।

---

१. ग्रन्थकारकी ही व्याख्याके साथ काव्यमाला में (सं० ४३) प्रकाशित बम्बई, १८९४ ई०।

२६—अमरचन्द्र

संस्कृतके आलंकारिकोंने काव्यकी व्यावहारिक शिक्षा देनेका भी श्लाघनीय प्रयत्न किया है। एतद्-विषयक ग्रन्थ कवि-शिक्षाके नामसे प्रसिद्ध हैं। ऐसे ग्रन्थोंमें सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ है काव्यकल्पलता। इस ग्रन्थका अंशतः निर्माण अरिसिंहने किया और पूर्ति अमरचन्द्रने की। अमरचन्द्रने ही इसके ऊपर वृत्ति भी लिखी है जिसका नाम ग्रन्थकी पुष्पिकाके अनुसार कविशिक्षावृत्ति है। वृत्तिसे ही परिचय मिलता है कि इस मूल ग्रन्थकी रचनामें दोनों ग्रन्थकारोंका हाथ है।[1] लावण्य सिंह या लवणसिंहके पुत्र अरिसिंहने ढोलकाके (गुजरात) राणा धीरधवलके प्रसिद्ध जैन मन्त्री वस्तुपालकी स्तुतिमें 'सुकृतसंकीर्तन' नामक काव्य लिखा है। अमरचन्द्र इनसे अधिक बड़े लेखक प्रतीत होते हैं। इन्होंने जिनेन्द्रचरित (दूसरा नाम पद्मानन्द काव्य), बालभारत (काव्यमाला नं० ४५ में प्रकाशित) तथा स्यादि-शब्द-समुच्चय नामक सम्भवतः किसी व्याकरण ग्रन्थकी रचना की थी। काव्यकल्पलताकी वृत्तिमें इन्होंने अपने तीन अन्य ग्रन्थोंका उल्लेख किया है—(१) छन्दोरत्नावली (२) काव्यकल्पलता-परिमल तथा (३) अलंकारप्रबोध।

अमरचन्द्र और अरिसिंह दोनों एक ही गुरुके सहपाठी शिष्य प्रतीत होते हैं। इनके गुरुका नाम था जिनदत्त सूरि। वीरधवल तथा वस्तुपालके समकालीन होनेसे इन दोनों ग्रन्थकारोंका समय १३ शतकका मध्यभाग है। 'काव्यकल्पलतावृत्ति'में चार प्रतान (खण्ड)

१. किञ्चिच्च तद्रचितमात्मकृतञ्च किञ्चित्।
व्याख्यास्यते त्वरितकाव्यकृतेऽत्र सूत्रम्॥
काव्यकल्पलतावृत्ति पृ० १.

हैं और प्रत्येक प्रतानके भीतर अनेक स्तबक (अध्याय) हैं। इन प्रतानोंके विषय क्रमशः हैं--(१) छन्दःसिद्धि, (२) शब्दसिद्धि, (३) श्लेष-सिद्धि और (४) अर्थसिद्धि। कविता सीखनेके लिये यह नितान्त उपादेय ग्रन्थ है[१]।

२७—देवेश्वर

कविशिक्षापर दूसरा प्रसिद्ध ग्रन्थ है--कविकल्पलता। इसके रचयिताका नाम देवेश्वर है। इनके पिताका नाम वाग्भट था जो मालवाके राजाके महामात्य थे। देवेश्वरने अपने ग्रन्थके लिये अमरचन्द्रकी काव्य-कल्पलताको ही अपना आदर्श माना है। विषयके निरूपणमें ही वे उनके ऋणी नहीं हैं, बल्कि बहुतसे नियमों तथा लक्षणोंका अक्षरशः ग्रहण देवेश्वरने अपने ग्रन्थमें किया है। ये अमरचन्द्रके द्वारा दिए गए उदाहरणोंको भी देनेमें संकोच नहीं करते। यह केवल आकस्मिक घटना नहीं है प्रत्युत व्यवस्थित रूपसे जानबूझकर ऐसा किया गया है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि इन्होंने काव्यकल्पलताके अनन्तर ही अपने इस नवीन ग्रन्थकी रचना की।

देवेश्वरका एक पद्य शाङ्र्गधरपद्धतिमें उद्धृत किया गया है (नं० ५४५)। इस सूक्तिग्रन्थकी रचना १३६३ ई० में की गई थी। इसलिये १४ वीं शताब्दीका मध्यभाग देवेश्वरके समयकी अन्तिम अवधि है। इस प्रकार इनका समय अमरचन्द्र तथा शांङ्र्गधरके बीचमें अर्थात् १४वीं शताब्दीके आरम्भमें मानना उचित है। देवेश्वरकी 'कविकल्पलता'के ऊपर अनेक टीकाएँ भी प्रकाशित हुई हैं।

---

१ सं० काशी संस्कृत सीरीज, नं० ६०, काशी, १६३१

२८—जयदेव

जयदेवका 'चन्द्रालोक' अलंकार-शास्त्रका सबसे अधिक लोक-प्रिय ग्रन्थ है। इसकी लोकप्रियताका परिचय इसी घटनासे लग सकता है कि राजा जसवन्तसिंहने इसका हिन्दीमें 'भाषा-भूषण'के नामसे अनुवाद किया है। जयदेवने अपना दूसरा नाम 'पीयूषवर्ष' लिखा है[१]। इनके टीकाकार गागाभट्टके अनुसार पीयूषवर्ष जयदेवका ही नामान्तर था[२]। ये महादेव तथा सुमित्राके पुत्र थे[३]। प्रसन्नराघवके रचयिता जयदेवने भी अपनेको महादेव और सुमित्राका पुत्र बतलाया है[४]। इससे स्पष्ट है कि आलंकारिक जयदेव तथा कवि जयदेव एक ही व्यक्ति थे। ये गीतगोविन्दके रचयिता जयदेवसे नितान्त भिन्न हैं। गीत गोविन्दके रचयिता जयदेव भोजदेव तथा रामादेवीके पुत्र थे तथा बंगालके किन्दुबिल्व नामक गांवके निवासी थे। यह स्थान बंगालके वीरभूमि जिलामें केंदुलीके नामसे आज भी विद्यमान है जहां पुण्यश्लोक जयदेवकी स्मृतिमें विशेष तिथिपर वैष्णवोंका बड़ा भारी मेला लगता है। पीयूषवर्ष जयदेव बंगालके निवासी नहीं प्रतीत होते। प्रसन्नराघवकी प्रस्तावनासे प्रतीत होता है कि जयदेव बड़े भारी

---

१. चन्द्रालोकममुं स्वयं वितनुते पीयूषवर्षः कृती।

चन्द्रालोक १।२

२. जयदेवस्ययैव पीयूषवर्ष इति नामान्तरम्।

गागाभट्ट—राकागम

३. महादेवः सत्रप्रमुखमखविघ्नैकचतुरः।
सुमित्रा तद्भक्ति—प्रणिहितमतिर्यस्य पितरौ॥

चन्द्रालोक १।१६.

४. प्रसन्नराघव अंक १, श्लोक १४–१५.

नैयायिक थे[1]। मिथिलामें यह किवदन्ती है कि चन्द्रालोकके रचयिता ही नैयायिक जगत्में पक्षधर मिश्रके नामसे प्रसिद्ध थे। पक्षधर मिश्रके न्याय-ग्रन्थोंके नामके अन्तमें 'आलोक' शब्द आता है जैसे मण्यालोक। परन्तु जयदेव और पक्षधर मिश्रकी अभिन्नता पुष्ट प्रमाणोंके द्वारा अभीतक प्रमाणित नहीं की जा सकी है।

समय

जयदेवके समयका निरूपण अभीतक निःसन्दिग्ध प्रमाणोंके आधारपर नहीं हो सका है। अनुमानके द्वारा पता चलता है कि इनका समय १३०० ई० से पश्चात् नहीं हो सकता। इनके टीकाकार प्रद्योतनभट्टने 'शरदागम' नामक टीकाका प्रणयन १५८३ ई० में किया था। विश्वनाथ कविराजने ध्वनिके उदाहरणमें प्रसन्नराघवका एक सुप्रसिद्ध श्लोक अपने साहित्य-दर्पणमें (४।३) उद्धृत किया है। प्रसन्नराघवके कतिपय श्लोक शार्ङ्गधरपद्धतिमें उद्धृत किये गये हैं। इस पद्धतिका निर्माणकाल १३६३ ई० है। जयदेवके समयकी यही अन्तिम अवधि है। ऊपरी अवधिके समयमें अनुमान किया जा सकता है। इन्होंने मम्मटके काव्य लक्षण "तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि"—का खण्डन करते हुए यह सुन्दर पद्य लिखा है—

अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती॥

चन्द्रालोक १।८

---

१. ननु अयं प्रमाणप्रवीणोऽपि श्रूयते।
येषां कोमलकाव्यकौशलकला-लीलावती भारती।
तेषां कर्कशतर्कवक्रवचनोद्गारेऽपि किं हीयते॥
प्रसन्नराघव १।१८

अतः जयदेवका मम्मटसे पश्चाद्वर्ती होना युक्तियुक्त है। ये रुय्यकके 'अलंकारसर्वस्व'से भी पूर्णतः परिचित हैं। ऊपर दिखलाया गया है कि रुय्यकने ही सर्वप्रथम विचित्र तथा विकल्प नामक दो नवीन अलंकारोंकी कल्पना काव्यजगत्‌में की। जयदेवने भी इन दोनों अलंकारोंको 'सर्वस्वकार' के शब्दोंमें ही अपने ग्रन्थमें दिया है। अतः जयदेव रुय्यकके भी पश्चाद्वर्ती हैं। अतः रुय्यक (१२०० ई०) तथा शार्ङ्गधर (१३५० ई०) के मध्यवर्ती होनेके कारण जयदेवका समय १३ वीं शताब्दीका मध्यभाग भली भांति माना जा सकता है।

ग्रंथ

इनका अलंकार शास्त्र-संबंधी एक ही ग्रन्थ चन्द्रालोक है। यह पूरा ग्रन्थ १० मयूखों या अध्यायोंमें समाप्त है तथा इसमें ३५० अनुष्टुब् श्लोक हैं। इसकी भाषा बड़ी ही रोचक तथा सुन्दर है। शैली बहुत ही सरस तथा सुन्दर है। पहले मयूखमें काव्यके लक्षण, काव्यके हेतु तथा शब्दके त्रिविध प्रकारका (रूढ़, यौगिक, योग-रूढ़ि) का वर्णन है। द्वितीय मयूख दोषोंका निरूपण करता है तथा तृतीय लक्षण नामक काव्यांगका। चतुर्थमें दशगुणोंका विवेचन है तथा पंचममें पांच शब्दालंकारों तथा एक सौ अर्थालंकारोंका विशिष्ट वर्णन है। छठवें मयूखमें रस, भाव, त्रिविध रीति--गौड़ी, पांचाली, लाटी--तथा पांच वृत्तियों--मधुरा, प्रौढ़ा, परुषा, ललिता तथा भद्रा--का विवेचन है। सप्तममें व्यंजना तथा ध्वनिकाव्यके भेदोंका, अष्टममें गुणीभूतव्यंग्यके प्रकारोंका वर्णन है। अन्तिम दो मयूखोंमें क्रमशः लक्षणा तथा अभिधाका वर्णन देकर जयदेवने अपना यह सुबोध ग्रन्थ समाप्त किया है।

इस ग्रन्थकी विशेषता यह है कि एक ही श्लोकमें अलंकारका लक्षण तथा उसका उदाहरण भी दिया गया है। इस प्रकार समास शैलीमें

अलंकारका इतना सुन्दर विवेचन अन्यत्र उपलब्ध नहीं। इस पद्धतिको दिखलानेके लिये एक दो पद्य नीचे दिये जाते हैं--

व्यतिरेको विशेषश्चेद् उपमानोपमेययोः ।
शैला इवोन्नताः सन्तः किन्तु प्रकृतिकोमलाः ॥—५।५६

विभावना विनापि स्यात् कारणं कार्यजन्म चेत् ।
पश्य लाक्षारसासिक्तं रक्तं त्वच्चरणद्वयम् ॥—५।७७

इस सुबोध शैलीके कारण यह ग्रन्थ अलंकारके जिज्ञासुओंके लिए इतना उपादेय सिद्ध हुआ कि अप्पयदीक्षितने इस ग्रन्थके अलंकार भागको अपने **कुवलयानन्द**में पूर्णतया उठाकर रख दिया है। इन्होंने कतिपय नये उदाहरण देकर अपनी एक पाण्डित्यपूर्ण वृत्ति जोड़ दी है। इस बातको इन्होंने अपने ग्रन्थके अन्तमें स्पष्टतः स्वीकार किया है--

चन्द्रालोको विजयतां, शरदागमसंभवः ।
हृद्यः कुवलयानन्दो यत् प्रसादादभूदयम् ॥

इस पद्यका आशय यह है कि शरदागममें उत्पन्न होनेवाले चन्द्रालोककी विजय हो जिसके प्रसादसे यह रमणीय कुवलयानन्द प्रादुर्भूत हुआ। शरदके आगमनसे ही चन्द्रका आलोक स्पष्ट दीख पड़ता है और तभी कुमुद विकसित होता है। श्लेषालंकारके द्वारा ग्रन्थकार चन्द्रालोकको कुवलयानन्दका आधारग्रन्थ मानता है। शरदागम शब्द भी श्लेषके बलसे चन्द्रालोककी टीकाका निर्देश कर रहा है जिसे प्रद्योतनभट्टने १५८३ ई० में लिखा था।

टीका

जयदेवका यह ग्रन्थ अलंकारजगत्में अत्यन्त लोकप्रिय रहा है। इसके ऊपर छः टीकाएं उपलब्ध होती हैं जिनमें (१) दीपिका, (२) शारद-शर्वरी एवं (३) वाजचन्द्रकी टीका हस्तलिखित रूपमें उपलब्ध हैं। इसकी

प्रकाशित टीकाओंमें सबसे प्राचीन टीका है (४) 'शरदागम'[१]। इसके लेखक अपने समयके बड़े भारी विद्वान् थे। ये बलभद्र मिश्रके पुत्र थे। इनके आश्रयदाताका नाम वीरभद्रदेव या वीररुद्रदेव था जो बुन्देलखण्डके राजा थे। इस टीकाका निर्माण १५८३ ई० में हुआ। इनके आश्रयदाता भी १६वीं शताब्दीके उत्तरार्धमें विद्यमान थे क्योंकि वात्स्यायनके कामशास्त्रके ऊपर उनकी लिखी 'कन्दर्पचूड़ामणि' नामक टीका १५७७ ई० में समाप्त हुई थी।

(५) रमा[२]—इसके लेखकका नाम वैद्यनाथ पायगुण्ड है। वैद्यनाथ तत्सत् गोविन्द ठक्कुरके 'काव्यप्रदीप' तथा अप्पयदीक्षितके कुवलयानन्दके टीकाकार हैं। अनेक ग्रन्थ-सूचियोंमें दोनों एक ही व्यक्ति माने गए हैं। परन्तु दोनोंके कुल नाम बिल्कुल भिन्न हैं। 'रमा' टीकाके आरम्भिक पद्योंमें वैद्यनाथने अपनेको स्पष्टतः 'पायगुण्ड' लिखा है। अतः उनको तत्सत् गोत्रीय वैद्यनाथसे पृथक् भिन्न व्यक्ति मानना ही न्यायसंगत प्रतीत होता है।

(६) राकागम[३] या सुधा—इसके लेखकका नाम विश्वेश्वर भट्ट है जो गागाभट्टके नामसे अधिक प्रसिद्ध हैं। इन्होंने इसके अतिरिक्त मीमांसा शास्त्र तथा स्मृतियोंके ऊपर अनेक ग्रन्थोंका निर्माण किया है। ये काशीके भट्ट वंशके अवतंस थे। ये सुप्रसिद्ध धर्मशास्त्री कमलाकरभट्टके भतीजे थे। ये अपने समयके काशीके इतने सुप्रसिद्ध विद्वान् थे कि छत्रपति शिवाजीके राज्याभिषेक करानेके लिए ये ही नियुक्त किए गए थे। इनका मुख्य विषय मीमांसा तथा धर्मशास्त्र था।

---

१. यह टीका म० म० नारायण शास्त्री खिस्तेके सम्पादकत्वमें काशी संस्कृत सीरीजमें (नं० ७५) प्रकाशित हुई है।

२. काशी, चौखम्भासे प्रकाशित।

३. यह टीका चौखम्भा संस्कृत सीरीज, काशीसे प्रकाशित हुई है।

२९—विद्याधर

समय

एकावलीके रचयिता विद्याधरके ग्रन्थकी विशेषता यह है कि इसके समस्त उदाहरण विद्याधरके द्वारा ही विरचित हैं तथा इनके आश्रयदाता उत्कलके राजा नरसिंहकी स्तुतिमें लिखे गए हैं[1]। इस उल्लेखसे इनके समयका निरूपण भली भांति हो जाता है। विद्याधरने रुय्यकका उल्लेख अपने ग्रन्थमें किया है (एकावली पृ० १५०), जिससे इनके समयकी उत्तर अवधि १२ वीं शताब्दीका मध्यकाल है। नैषधके रचयिता श्रीहर्षके उल्लेख करनेसे इसी अवधिकी पुष्टि होती है। विद्याधरने इसी प्रसंगमें हरिहर नामक कविका भी उल्लेख किया है जिन्होंने अर्जुन नामक राजासे अपनी काव्यप्रतिभाके बलपर असंख्य धन प्राप्त किया था। इनका समय १३वें शताब्दीका आरम्भ काल है। इनके समयकी पूर्व अवधिका पता मल्लिनाथके (१४ वीं शताब्दीका अन्त) द्वारा टीका लिखनेसे तथा शिंगभूपाल (१३३० ई०)के द्वारा उल्लिखित[2] होनेसे चलता है। अतः इनका समय १३ वीं शतकका उत्तरार्ध मानना युक्तियुक्त है। जिस राजा नरसिंहका इन्होंने वर्णन किया है वे उड़ीसाके राजा नरसिंह द्वितीय माने जाते हैं जिनका समय १२८० ई० से १३१४ ई० है। अतः 'एकावली'का रचनाकाल १३वें शतकका अन्त तथा १४वें का आरम्भ है।

---

१. एष विद्याधरस्तेषु कान्तासंमितलक्षणम्।
करोमि नरसिंहस्य चाटुश्लोकानुदाहरन्॥ एकावली।

२. उत्कलाधिपतेः शृंगाररसाभिमानिनो नरसिंहदेवस्य चित्तमनुवर्तमानेन विद्याधरेण कविना बाढमभ्यन्तरीकृतोसि। एवं खलु समर्थितमेकावल्यामनेन। रसार्णवसुधाकर पृ० ३०६ (अनन्तशयन)।

ग्रन्थ

एकावलीमें आठ उन्मेष या अध्याय हैं जिनमें काव्यस्वरूप, वृत्ति-विचार, ध्वनिभेद, गुणीभूत व्यंग्य, गुण और रीति, दोष, शब्दालंकार तथा अर्थालंकारका विवेचन क्रमशः किया गया है। यह ग्रन्थ काव्यप्रकाश तथा अलंकारसर्वस्वपर आधारित है। वस्तुतः यह काव्यप्रकाशका संक्षिप्त संस्करण है। इसकी एकमात्र टीकाका नाम तरला है जिसके लेखक संस्कृत महाकाव्योंके सुप्रसिद्ध टीकाकार मल्लिनाथ (१४वें शतकका अन्तिम काल) हैं। एकावलीपर टीका लिखनेके कारण ही मल्लिनाथने महाकाव्योंकी अपनी टीकामें अलंकारोंके निर्देशके अवसरपर एकावलीका ही उद्धरण दिया है। 'तरला' एक आदर्श टीका है जो मूलके साथ बाम्बे संस्कृत सीरीजमें प्रकाशित हुई है।

३०—विद्यानाथ

समय

विद्यानाथ 'प्रतापरुद्रयशोभूषण'के रचयिता हैं। यह ग्रन्थ दक्षिण भारतमें बहुत ही लोकप्रिय है। इस ग्रन्थके तीन भाग हैं—कारिका, वृत्ति तथा उदाहरण। इसमें जितने उदाहरण हैं वे सब विद्यानाथकी ही रचना हैं जिसमें प्रतापरुद्रदेव (वीररुद्र या रुद्र) नामक काकतीय-वंशीय नरेशकी स्तुति है[1]। इनकी स्तुतिमें विद्यानाथने अपने ग्रन्थके तृतीय अध्यायमें अलंकारके अंगों तथा उपांगोंके उदाहरणमें 'प्रताप-कल्याण' नामक नाटककी रचना कर निविष्ट कर दिया है। प्रतापरुद्र काकतीय नरेश बतलाये जाते हैं जिनकी राजधानी एकशिला नगरी

---

१ प्रतापरुद्रदेवस्य गुणानाश्रित्य निर्मितः।
अलंकारप्रबन्धोऽयं सन्तःकर्णोत्सवोस्तु वः॥
प्रतापरुद्रयशोभूषण १।९.

त्रिलिंग देश या आन्ध्र देशमें थी। प्रतापरुद्र देव बड़े प्रतापी नरेश थे। इन्होंने यादववंशी नरेश सेवण (देवगिरिके राजा रामदेव १२७१–१३०९ ई०)को परास्त किया था। इस वर्णनके आधारपर प्रोफेसर के० पी० त्रिवेदीने विद्यानाथके आश्रयदाता प्रतापरुद्रकी एकशिला (वारंगल)के सप्तम काकतीय नरेशके साथ अभिन्नता सिद्ध की है जिनके शिलालेख १२९८ ई० से १३१७ ई० तक उपलब्ध होते हैं। इससे स्पष्ट है कि प्रतापरुद्रदेवने १३ वीं शताब्दीके अन्त तथा १४ वींके प्रथमार्धमें राज्य किया था। अतः विद्यानाथका भी यही समय है। इनके ग्रन्थकी अन्तरंग परीक्षासे भी यही बात सिद्ध होती है। विद्यानाथने रुय्यकका उल्लेख किया है तथा उनका स्वतः उल्लेख मल्लिनाथने काव्यकी अपनी टीकाओंमें बिना नाम निर्देश किए अनेक बार किया है। इन निर्देशोंसे भी इसी समयकी पुष्टि होती है।

ग्रन्थ

इस ग्रन्थमें नव प्रकरण हैं जिनमें नायक, काव्य, नाटक, रस, दोष, गुण, शब्दालंकार, अर्थालंकार तथा मिश्रालंकारका विवेचन क्रमशः किया गया है। ग्रन्थकारने मम्मटको ही अपना आदर्श माना है परन्तु अलंकारके विषयमें वे रुय्यकके ऋणी हैं। इसी लिये परिणाम, उल्लेख, विचित्र तथा विकल्प नामक अलंकार—जिनका मम्मटने अपने ग्रन्थमें वर्णन नहीं किया है—रुय्यकके आधारपर इन्होंने अपने ग्रन्थमे दिया है। इसके टीकाकार कुमारस्वामी हैं जो अपनेको काव्यग्रन्थोंके सुप्रसिद्ध व्याख्याकर मल्लिनाथका पुत्र बतलाते हैं। अतः कुमारस्वामीका समय १५वीं शताब्दीका आरम्भ है। इस टीकाका नाम 'रत्नापण' है जो बहुत ही विद्वतापूर्ण टीका है। इसमें अनेक महत्त्वपूर्ण प्राचीन ग्रन्थोंके उद्धरण मिलते हैं जिनमें मुख्य ये हैं—भोजका शृंगारप्रकाश, शिंगभूपालका रसार्णवसुधाकर, एकावली तथा मल्लिनाथकी 'तरल' टीका,

साहित्यदर्पण, चक्रवर्ती (रुय्यकके ग्रन्थपर संजीवनी नामक टीकाके कर्ता)। इन्होंने भावप्रकाशका भी उल्लेख किया है जिसके रचयिता शारदातनय हैं। इन्होंने वसन्तराजके द्वारा निर्मित वसन्तराजीय नाट्यशास्त्रका उल्लेख भी अपने ग्रन्थमें किया है।

'रत्नापण' टीकाके साथ मूल ग्रन्थका सुन्दर संस्करण प्रोफेसर के० पी० त्रिवेदीने बाम्बे संस्कृत सीरीजमें प्रकाशित किया है। इसके ऊपर 'रत्नशाण' नामक कोई अन्य टीका थी, जो इसी संस्करणके साथ प्रकाशित की गई है।

३१—विश्वनाथ कविराज

जीवनी

'साहित्य-दर्पण' के रचयिता विश्वनाथ कविराज अलंकारजगत्में सबसे अधिक लोकप्रिय आलंकारिक हैं। ये उत्कलके बड़े प्रतिष्ठित पण्डित कुलमें पैदा हुए थे। विश्वनाथके पिता चन्द्रशेखर थे[1] जो अपने पुत्र के समान ही कवि, विद्वान् तथा सान्धिविग्रहिक थे। विश्वनाथने अपने पिताके ग्रन्थ 'पुष्पमाला' और 'भाषार्णव'का उल्लेख अपने ग्रन्थमें किया है। नारायण, जिन्होंने अलंकार शास्त्रपर ग्रन्थोंकी रचना की थी—या तो विश्वनाथके पितामह थे अथवा वृद्ध प्रपितामह थे, क्योंकि काव्य-प्रकाशकी टीकामें विश्वनाथने नारायणका 'अस्मद् पितामह' कहकर निर्देश किया है[2] परन्तु साहित्य-दर्पणमें उन्हींका वे 'अस्मत्वृद्ध प्रपिता-

---

१. श्रीचन्द्रशेखरमहाकविचन्द्रसूनुः। साहित्यदर्पण अन्तिम श्लोक।

२. यदाहुः श्रीकलिंगभूमण्डलाखण्डलमहाराजाधिराजश्रीनरसिंहदेव-सभायां धर्मदत्तं स्थगयन्तः.....अस्मत्पितामहश्रीमन्नारायण-दास पादाः।

मह' कहकर उल्लेख किया है[1]। काव्यप्रकाशकी दीपिका टीकाके रचयिता चण्डीदास भी विश्वनाथके पितामहके अनुज थे। विश्वनाथने काव्यप्रकाशकी टीकामें बहुतसे संस्कृत शब्दोंके उड़िया भाषाके पर्य्यायवाची शब्दोंको दिया है[2]। इससे पता चलता है कि ये उड़ीसाके निवासी थे। विश्वनाथके पिता तथा विश्वनाथ दोनों ही किसी राजाके सान्धिविग्रहिक (वैदेशिक मन्त्री) थे। सम्भवतः यह राजा कलिंग देशका ही अधिपति था।

ग्रन्थ

विश्वनाथ एक सिद्ध कवि थे। ये संस्कृत तथा प्राकृतके ही पण्डित न थे, प्रत्युत अनेक भाषाओंके विद्वान् थे। इसी लिये इन्होंने अपनेको 'षोड़श-भाषावारविलासिनीभुजंग' लिखा है[3]। इनके द्वारा निर्मित काव्य ग्रन्थ--जिनका निर्देश इन्होंने स्वयं अपने ग्रन्थोंमें किया है--ये हैं--(१) **राघवविलास** नामक संस्कृत महाकाव्य, (२) **कुवलयाश्वचरित**--प्राकृत भाषामें निबद्ध काव्य। (३) **प्रभावती-परिणय** (नाटिका) (४) **चन्द्रकला नाटिका**, (५) **प्रशस्ति-रत्नावली** (यह षोड़श भाषाओंमें निबद्ध 'करम्भक' है)। इन सब काव्योंका निर्देश विश्वनाथने अपने साहित्य-दर्पणमें स्वयं किया है। इन्होंने (६) नरसिंहविजय नामक काव्यग्रन्थकी भी रचना की थी जिसका निर्देश 'काव्यप्रकाशदर्पण'में मिलता है।

---

१. तत्प्राणत्वं चास्मद् वृद्धप्रपितामहसहृदयगोष्ठीगरिष्ठकवि पण्डितमुख्य-श्रीमन्नारायणपादैरुक्तम्। साहित्यदर्पण ३।२-३।

२. वैपरीत्यं रुचिं कुर्विति पाठः, अत्र चिकुपदं काश्मीरादिभाषायां अश्लीलार्थबोधकम्, उत्कलादिभाषायां धृतवांडकद्रव इत्यादि।
काव्यप्रकाश--वामनाचार्यकी भूमिका पृ० २५

३. द्रष्टव्य साहित्यदर्पणके प्रथम अध्यायकी पुष्पिका।

समय

विश्वनाथने मम्मट तथा रुय्यकका यद्यपि नामतः उल्लेख नहीं किया है तथापि यह निर्विवाद है कि ये इन आचार्योंके ग्रन्थोंसे पूर्णतः परिचित थे। मम्मटके काव्यलक्षणका खण्डन इन्होंने अपने ग्रन्थके प्रारम्भमें किया है। दशम अध्यायमें इन्होंने विकल्प तथा विचित्र नामक अलंकारोंका लक्षण दिया है जो जयरथके प्रामाण्यपर रुय्यककी मौलिक कल्पनासे प्रसूत थे। विश्वनाथने गीतगोविन्दके रचयिता जयदेवका एक पद्य निश्चय अलंकारके उदाहरणमें उद्धृत किया है[1]। राजा लक्ष्मणसेनके सभा-पण्डितोंमें अन्यतम कविवर जयदेवका समय १२ वीं शताब्दीका प्रथमार्ध है। इन्होंने प्रसन्नराघवसे भी एक पद्य[2] उद्धृत किया है। ये नैषधचरित काव्यसे भी पूर्ण परिचित हैं[3]। इन उल्लेखोंसे स्पष्ट है कि विश्वनाथका समय १२०० ई० से पूर्व कथमपि नहीं हो सकता।

विश्वनाथके समयकी पूर्व अवधिका निर्देश उनके साहित्यदर्पणकी एक हस्तलिखित प्रतिके लेखनकालसे मिलता है जो १४४० संवत्—(१३८४ ई०)में लिखी गई थी। इस प्रकार विश्वनाथका समय साधारणतया १२०० ई० से लेकर १३५० ई० के बीच माना जा

१. हृदि बिसलताहारो नायं भुजंगमनायकः।

गीतगोविन्द ३।११

२. कदली कदली करभः करभः करिराजकरः, करिराजकरः।
भुवनत्रितयेऽपि बिभर्ति तुलामिदमूरुयुगं न चमूरुदृशः॥

सा० द० ८।३।

३. धन्यासि वैदर्भि गुणैरुदारैर्यया समाकृष्यत नैषधोऽपि।
इतः स्तुतिः का खलु चन्द्रिकायाः, यदब्धिमप्युत्तरलीकरोति॥

नैषध ३।११६ —साहित्यदर्पण १०।५०

सकता है। साहित्य-दर्पणकी अन्तरंग परीक्षासे यह कालनिर्देश और भी निश्चित रूपसे किया जा सकता है। साहित्यदर्पणके एक पद्यमें अल्लावदीन नामक एक मुसलमान राजाका उल्लेख है जो सन्धिके अवसरपर सर्वस्व हरण कर लेता था और संग्राम करनेपर प्राणका हरण करता था।

सन्धौ सर्वस्वहरणं विग्रहे प्राणनिग्रहः।
अल्लावदीन नृपतौ न सन्धिर्न च विग्रहः ॥

—सा० द० ४।१४

इस पद्यमे निर्दिष्ट अल्लावदीन दिल्लीका सुलतान अला-उद्दीन खिलजी ही प्रतीत होता है जिसने दक्षिणपर आक्रमण कर वारंगल जीत लिया था और जिसके निष्ठुर व्यवहारका परिचय प्रत्येक भारतवासी को मिल चुका था। यह अलाउद्दीन दिल्लीके सिंहासनपर १२९६ से १३१६ ई० तक राज्य करता रहा। सम्भव है कि यह पद्य अलाउद्दीनके समयमें ही लिखा गया हो। अतः विश्वनाथका समय १३०० ई० से १३५० ई० के बीचमें मानना उचित प्रतीत होता है।

साहित्यदर्पण

विश्वनाथ कविराजकी सबसे प्रसिद्ध तथा लोकप्रिय रचना साहित्य-दर्पण है। इस ग्रन्थकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें श्रव्य काव्यके विपुल वर्णनके साथ ही साथ दृश्य काव्यका भी सुन्दर विवरण उपस्थित किया गया है। इस प्रकार काव्यके दोनों भेदों—श्रव्य तथा दृश्य—का वर्णन कर विश्वनाथने इसे पूर्ण ग्रन्थ बना दिया है। इस ग्रन्थमें दश परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेदमे काव्यके स्वरूप तथा भेदका वर्णन है। द्वितीयमें वाक्य तथा पदके लक्षण देनेके अनन्तर ग्रन्थकारने शब्दकी तीनों शक्तियोंका वर्णन विस्तारके साथ किया है। तृतीय परिच्छेदमें रस, भाव, तथा नायक-नायिका भेद

एवं तत्–सम्बद्ध अन्य विषयोंका बहुत ही व्यापक तथा विस्तृत विवरण है। चतुर्थ परिच्छेदमें ध्वनि तथा गुणीभूत व्यंग्यके प्रकारोंका वर्णन कर ग्रन्थकारने पंचम परिच्छेदमें व्यंजना वृत्तिकी स्थापनाके लिये अभ्रान्त युक्तियां प्रदर्शित की हैं तथा व्यंजना वृत्तिके न माननेवाले विद्वानोंकी युक्तियोंका पर्याप्त खण्डन किया है। षष्ठ परिच्छेदमें नाटकके लक्षण तथा भेदोंका बड़ा ही पूर्ण निरूपण है। सप्तम परिच्छेदमें दोषोंका तथा अष्टममें गुणोंका विवेचन किया गया है। नवममें विश्वनाथने काव्यकी चार रीतियों—वैदर्भी, गौड़ी, लाटी और पांचाली—का संक्षिप्त वर्णन किया है। दशम परिच्छेदमें शब्द तथा अर्थ, दोनोंके अलंकारोंका विस्तारसे वर्णनकर यह ग्रन्थ समाप्त किया गया है। इस ग्रन्थके लिखनेके अनन्तर विश्वनाथने काव्यप्रकाशकी टीका 'काव्यप्रकाशदर्पण'के नामसे लिखी।

टीका

साहित्यदर्पणके ऊपर चार टीकायें उपलब्ध होती हैं जिनमें मथुरानाथ शुक्ल कृत 'टिप्पण' तथा गोपीनाथकृत 'प्रभा' अभीतक अप्रकाशित है। प्रकाशित टीकाओंमें प्राचीनतर टीकाका नाम 'लोचन' है जिसे विश्वनाथ कविराजके सुयोग्य पुत्र अनन्तदासने लिखा है। यह टीका हाल ही में मोतीलाल बनारसीदास (लाहौर) ने प्रकाशित की है। इससे अधिक प्रसिद्ध टीका रामचरणतर्कवागीश कृत विवृति नाम्नी है जो अत्यन्त लोकप्रिय है। ये टीकाकार पश्चिमी बंगालके निवासी थे। इस टीकाकी रचनाका काल १७०१ ई० है। साहित्य-दर्पणको समझनेके लिये यह टीका अत्यन्त उपादेय है। साहित्यदर्पणका हिन्दी अनुवाद पं० शालिग्राम शास्त्रीने 'विमला' नाम से किया है जो मृत्युञ्जय औषधालय, लखनऊसे प्रकाशित हुआ है।

वैशिष्ट्य

विश्वनाथ कविराज आलंकारिक होनेकी अपेक्षा कवि ही अधिक हैं। इनकी प्रतिभाका विकास काव्यक्षेत्रमें जितना दिखलाई पड़ता है उतना

अलंकारके क्षेत्रमें नहीं। अनेक महाकाव्योंका प्रणयन इसका स्पष्ट प्रमाण है। इनके पद्योंमें कोमल पदावलीका विन्यास सचमुच अत्यन्त सुन्दर हुआ है। आलंकारिककी दृष्टिसे हम विश्वनाथको मौलिक ग्रन्थकार नहीं मान सकते। इनका साहित्यदर्पण मम्मट तथा रुय्यकके ग्रन्थोंकी सामग्रीको लेकर लिखा गया एक संग्रह ग्रन्थ है। वह शास्त्रीय पद्धति जो पण्डितराज जगन्नाथके लेखमें दोख पड़ती है एवं वह आलोचक दृष्टि जो मम्मटके ग्रन्थमें उपलब्ध होती है विश्वनाथके ग्रन्थमें देखनेको भी नहीं मिलती। परन्तु इस ग्रन्थमें अनेक गुण हैं जो इसकी लोकप्रियताके कारण हैं। इस ग्रन्थकी शैलो बड़ी ही रोचक तथा सुबोध है। मम्मटके काव्यप्रकाशकी शैली समासमयी होनेके कारण इतनी दुर्बोध है कि साहित्य-शास्त्रका विद्यार्थी उसमें कठिनतासे प्रवेश पाता है। पण्डितराज जगन्नाथकी शैली इतनी शास्त्रीय तथा जटिल है कि उससे पाठक भयभीत हो उठता है। इन दोनोंकी तुलनामें साहित्य-दर्पण सुबोध तथा रोचक भाषामें लिखा गया है। इसके उदाहरण ललित तथा आकर्षक हैं। इसकी व्याख्यायें संक्षिप्त होनेपर भी विषयको विशद रूपसे समझाती हैं। एक ही स्थानपर नाट्य तथा काव्य दोनोंका विवेचन इस ग्रन्थको छोड़कर अन्यत्र कम उपलब्ध होता है। यही कारण है कि साहित्यदर्पण अलंकार शास्त्रमें प्रवेश करनेवाले छात्रोंका सबसे सरल मार्ग-दर्शक ग्रन्थ माना जाता है।

३२—केशव मिश्र

इनके ग्रन्थका नाम 'अलंकारशेखर' है[१]। इसके आरम्भ तथा अन्तमें इनका कहना है कि धर्मचन्द्रके पुत्र राजा माणिक्यचन्द्रके आग्रह-

---

१. काव्यमाला बम्बई (नं० ५०) सन् १८९५, काशी संस्कृत सीरीज नं० १ में प्रकाशित।

पर इन्होंने इस ग्रन्थकी रचना की। राजा धर्मचन्द्र रामचन्द्रके पुत्र थे जो दिल्लीके पास राज्य करते थे और जिन्होंने काविल (काबुल अर्थात् मुसलमान)के राजाको परास्त किया था। कनिंघमके अनुसार कांगड़ाके राजा माणिक्यचन्द्रने धर्मचन्द्रके अनन्तर १५६३ ई०में राज्य प्राप्त किया और उसने दश वर्षतक राज्य किया। इस राजाकी वंशावली केशवमिश्रके आश्रयदाता राजा माणिक्यचन्द्रसे बिल्कुल मिलती है। अतः दोनों माणिक्यचन्द्र एक ही अभिन्न व्यक्ति थे। इसलिये केशव मिश्रका समय १६वीं शताब्दीका उत्तरार्ध है।

'अलंकारशेखर' में तीन भाग हैं—कारिका, वृत्ति और उदाहरण। ग्रन्थकारका कहना है कि उन्होंने अपनी कारिकाओं (सूत्रों)को किसी भगवान् शौद्धोदनि नामक आलंकारिकके ग्रन्थके आधारपर ही निर्मित किया है। ये शौद्धोदनि सम्भवतः कोई बौद्ध ग्रन्थकार थे, परन्तु इनका नाम अलंकार-साहित्यमें नितान्त अज्ञात है। केशव मिश्रने काव्यादर्श, काव्यमीमांसा, ध्वन्यालोक, तथा काव्य-प्रकाश आदि ग्रन्थोंसे बहुत-सी सामग्री अपने ग्रन्थमें ली है। इन्होंने श्रीपाद नामक किसी आलंकारिकका निर्देश किया है। ये श्रीपाद साहित्यशास्त्रमें अबतक अज्ञातनामा हैं। सम्भव है कि केशव मिश्रके आधारभूत लेखक शौद्धोदनि ही श्रीपाद हों। इन्होंने किसी कविकल्पलताकारका भी निर्देश किया है जो श्रीपादके मतानुसारी बतलाए गए हैं। इस 'कविकल्पलता'के लेखक न तो देवेश्वर हैं और न अमरचन्द्र।

इस ग्रन्थ—अलंकारशेखर—में आठ रत्न या अध्याय और २२ मरीचि हैं जिनके विषय इस प्रकार हैं—काव्य-लक्षण, रीति, शब्द-शक्ति, पदके आठ दोष, वाक्यके १८ दोष, अर्थके ८ दोष, शब्दके ५ गुण, अर्थके ४ गुण, दोषका गुणभाव, शब्दालंकार, अर्थालंकार, रूपकके भेद, आदि विषयोंके वर्णनके अनन्तर रस-निरूपण तथा नायिका-

भेदका निरूपण किया गया है। इस प्रकार यह ग्रन्थ अलंकारशास्त्रके विषयोंका संक्षप रूपसे वर्णन प्रस्तुत करता है।

३३–शारदातनय

समय

शारदातनयके व्यक्तिगत नामका हमें परिचय नहीं मिलता। ग्रन्थकार अपनेको शारदा देवीका पुत्र बतलाता है और इसी लिये वह 'शारदातनय'के नामसे प्रसिद्ध हैं। सम्भवतः ये काश्मीरके निवासी थे। इनका समय १३ वीं शताब्दीका मध्यकाल सिद्ध किया जा सकता है। अपने ग्रन्थमें इन्होंने भोजके मतका विशेष रूपसे उल्लेख किया है तथा शृंगारप्रकाशसे और काव्यप्रकाशसे अनेक श्लोकोंको उद्धृत किया है जिससे स्पष्ट है कि इनका समय १२ वीं शताब्दीके अनन्तर होगा। अर्वाचीन ग्रन्थकारोंमें सिंह भूपालने रसार्णव-सुधाकरमें इनके मतका निर्देश किया है। सिंहभूपालका समय है १३२० ई० के आसपास। अतः भोज तथा सिंहभूपालके मध्यवर्ती कालमें आविर्भूत होनेके कारण इनका समय १२५० ई० अर्थात् १३ वें शतकका मध्य-भाग सिद्ध होता है।

ग्रन्थ

इनके ग्रन्थका नाम है—**भावप्रकाशन**[1]। नाट्यविषयक ग्रन्थोंमें इस ग्रन्थका स्थान नितान्त महत्त्वपूर्ण है। अनेक अज्ञात रसाचार्योंके—जैसे वासुकि, नारद, व्यास आदिके—मतोंका निर्देश ग्रन्थमें किया गया है। प्राचीन नाट्याचार्यके इतिहास तथा मत जाननेके लिए भी

---

१. गा० ओ० सी० संख्या ४५, १९३० में प्रकाशित। सम्पादकने विस्तृत भूमिका लिखकर इसकी उपादेयता और भी बढ़ा दी है।

यह ग्रन्थ उपयोगी सिद्ध होता है। प्रतिपाद्य विषय चार है--(१) भाव, (२) रस, (३) शब्दार्थ सम्बन्ध तथा (४) रूपक। ग्रन्थमें सम्पूर्ण १० अधिकार या अध्याय हैं जिनमें (१) भाव, (२) रसका स्वरूप, (३) रसके भेद, (४) नायक-नायिका, (५) नायिकाभेद, (६) शब्दार्थ-सम्बन्ध, (७) नाट्य-इतिहास तथा शरीर, (८) दशरूपक, (९) नृत्य-भेद तथा (१०) नाट्य-प्रयोगका विवरण क्रमशः प्रस्तुत किया गया है। नामके अनुसार '**भाव-प्रकाशन**' भाव तथा रसके नाना प्रकारकी समस्याओंको हल करनेका एक विराट् महत्त्वशाली ग्रन्थ है। नाट्य सम्बन्धी उपकरणों तथा उपादेय प्रभेदोंका विवरण भी यहां विस्तारसे किया गया है। नाट्यके सिद्धान्तके वर्णनके साथ ही साथ नाट्यके व्यावहारिक रूपका भी सुन्दर विवेचन है। इस प्रकार यह ग्रन्थ नाट्य तथा रसके विशिष्ट ज्ञानके लिए एक प्रामाणिक कोशका काम करता है। इसीसे इसकी भूयसी उपयोगिता सिद्ध होती है।

३४–शिंग भूपाल

ये नाट्य तथा संगीत दोनों विषयोंके आचार्य हैं। इनका समय जाननेसे पहले भारतीय संगीतका सामान्य ज्ञान रखना आवश्यक है। भारतमें संगीत शास्त्रकी उत्पत्ति अत्यन्त प्राचीन कालमें हुई थी। वह काल वैदिक कालसे भी प्राचीन होना चाहिए क्योंकि वेदके समयमें तो संगीत की खासी उन्नति दिखाई पड़ती है। सामवेदसे हम संगीत शास्त्रकी विशिष्ट उन्नतिका यथोचित पता पा सकते हैं। परन्तु शोकसे कहना पड़ता है कि संगीतविषयक अधिकांश ग्रन्थ कराल कालके ग्रास बन गए हैं। यदि समग्र ग्रन्थ इस समय उपलब्ध रहते तो इस शास्त्रके क्रम-बद्ध विकासका इतिहास सहजमें ही लिखा जा सकता था। 'संगीत मक-

रंद'[1]के द्वितीय परिशिष्टपर एक सरसरी निगाह डालनेसे यह शीघ्र पता लग सकता है कि भारतीय संगीत शास्त्रका अध्ययन तथा अध्यापन कितने जोरोंके साथ प्राचीन कालमें हुआ करता था। यह शास्त्र किसी भी शास्त्रके तनिक भी पीछे न था। संगीत धर्मके साथ संबद्ध था; प्राचीन अनेक ऋषि--नारद, हनुमान् तुंबरु, कोहल, मातंग, बेणा,--इसके आचार्य थे जिन्होंने संगीतपर ग्रन्थोंकी रचना की थी। परन्तु संगीतकी अनेक पुस्तकें अबतक तालपत्रोंपर हस्तलिखित प्रतियोंके रूपमें ही पुस्तकालयोंकी शोभा बढ़ा रही हैं। केवल एक दर्जनसे कमही पुस्तकोंको प्रकाशित होनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है।

यद्यपि 'भारतीय नाट्य शास्त्र' में संगीतके अनेक रहस्य बतलाए गए हैं तथापि 'संगीतरत्नाकर' ही संगीत शास्त्रका सबसे बड़ा उपलब्ध ग्रन्थ है। इस अमूल्य ग्रन्थमें संगीतकी जैसी सुगम तथा सर्वांगीण व्याख्या की गई है वैसी दूसरे किसी ग्रन्थमें नहीं पाई जाती। प्राचीनताके लिये भी 'नाट्यशास्त्र' तथा नारदरचित 'संगीतमकरंद'को छोड़कर 'संगीत-रत्नाकर' सबसे पुराना ग्रन्थ है। ऐसे सुन्दर ग्रन्थके लिये इसके रचयिता 'शार्ङ्गदेव'[1] समग्र संगीतप्रेमियोंके आदरके पात्र हैं। इस ग्रन्थके ऊपर अनेक प्राचीन टीकाएं हैं जिनमें 'चतुर कल्लिनाथ' (लगभग १४००-१५००) रचित टीका 'आनंदाश्रम' सीरीजमें प्रकाशित हुई है तथा दूसरी टीका जो प्राचीनता तथा सरल व्याख्याकी कसौटीपर पूर्वोक्तसे कहीं अच्छी है कलकत्तेसे प्रकाशित हुई थी। इस टीकाका नाम है--संगीत सुधाकर। इसकी विशेषता यह है कि इसमें अनेक प्राचीन ग्रन्थों (जिनका अब नाम भी बाकी नहीं है)से उद्धरण लिए मिलते हैं जिनका ऐतिहासिक महत्त्व नितान्त आदरणीय है। इस टीकाके रचयिता 'शिगभपाल' हैं।

'शिगभूपाल' के समयके विषयमें अनेक मत दीखते हैं। डाक्टर राम-

---

१. गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज़ नं० १६।

कृष्ण भांडारकरने लिखा है—'शिंग अपनेको 'आंध्रमंडल'का अधिपति लिखता है; इसके विषयमें ठीक-ठीक कहना तो अत्यन्त कठिन है तथापि अधिक सम्भावना इसी बातकी है कि यह तथा देवगिरिके यादव राजा 'सिंघण' दोनों एक ही व्यक्ति थे। 'सिंघण'के आश्रित शार्ङ्गदेवने 'संगीत-रत्नाकर' बनाया था[1]। संभव है कि शार्ंगदेव अथवा अन्य किसी पण्डितने टीका लिखकर अपने आश्रयदाता नरेशके नामसे उसे विख्यात किया हो। अतएव इनका समय १३ वीं शताब्दीका मध्यभाग मानना समुचित है।

श्रीयुत पी० आर भांडारकरने[2] कल्लिनाथकी टीकाका उल्लेख पानेसे 'शिंगभूपाल' को १६वीं सदीका माना था परन्तु कलकत्ता की एक हस्तलिखित प्रतिमें कल्लिनाथका उद्धरण बिल्कुल ही नहीं है। कलकत्तेकी हस्तलिखित प्रतिसे सिंगभूपालके जीवन तथा समयकी अनेक बातें ज्ञात हुई हैं। कलकत्तेकी प्रतिकी पुष्पिका यों है—

(१) इति श्रीमदन्ध्रमण्डलाधीश्वर-प्रतिगुणभैरव-श्रीयनबान-नरेन्द्रनन्दन-भुजबलभीम-श्रीसिंगभूपाल-विरचितायां संगीतरत्नाकर टीकायां सुधाकराख्यायां रागविवेकाध्यायो द्वितीयः।

(रागविवेकाध्यायका अन्त)

(२) भैरव श्रीअमरेन्द्रनन्दन——(प्रकीर्णाध्यायका अन्त)

---

१ देवगिरि के प्रसिद्ध राजा सिंह या सिंघण (१२१८–४६)की सभामें शार्ंगदेव रहते थे। यह राजा संस्कृत भाषा का बड़ा प्रेमी था। इसके धर्माध्यक्ष 'वादीन्द्र' ने 'महाविद्याविडंब' नामक नैयायिक ग्रंथकी रचना की है।

२ डाक्टर भंडारकर की संस्कृत पुस्तकों की खोज की रिपोर्ट (१८८२–८३)

एक 'सिंगपाल' कृत 'रसार्णव सुधाकर' नामक ग्रन्थकी सूचना प्रो० शेषगिरि शास्त्रीने अपनी संस्कृत पुस्तकोंकी खोजकी रिपोर्ट (१८९६–९७) में दी थी। उसपर उन्होंने बहुत कुछ कहा भी था। सौभाग्यसे वह पुस्तक ट्रिवेंद्रम संस्कृत सीरीज (५० अं०) में प्रकाशित हुई है। उस ग्रन्थकी आलोचना करनेसे स्पष्ट मालूम पड़ता है कि 'रसार्णवसुधाकर' के रचयिता तथा पूर्वोक्त टीकाके लेखक दोनों एक ही व्यक्ति हैं। सुधाकरके पुष्पिकामें भी वे ही बातें दी गई हैं जो पूर्वोक्त उद्धरणोंमें हैं:—इति श्रीमदंध्रमण्डलाधीश्वर-प्रतिगुणभैरवश्री- अन्नप्रोतनरेन्द्रनंदन - भुजबलभीम - श्रीशिगभूपाल-विरचिते रसार्णव-सुधाकरनाम्नि नाट्यालंकारे रंजकोल्लासो नाम प्रथमो विलासः।

ये दोनों पुष्पिकायें एक ही ग्रन्थकारकी हैं। रसार्णव-सुधाकरके आरंभमें 'शिगभूपाल'के पूर्वपुरुषोंका इतिहास संक्षेपमें वर्णित है। उससे जान पड़ता है कि 'रेचल्ल' वंशमें इनका जन्म हुआ था। शिगभूपाल अपने ६ पुत्रोंके साथ 'राजाचल' नामक राजधानीमें रहता था और विंध्याचलसे लेकर 'श्रीशैल' नामक पर्वतके मध्यस्थित देशपर राज्य करता था। शेषगिरि शास्त्रीने 'बायोग्रैफिक स्केचेज आफ दि राजाज आफ वेंकटगिरि' नामक पुस्तकके आधारपर शिगभूपालको सिंगम नायडूसे अभिन्न माना है। शास्त्रीजीका यह कथन सर्वथा उचित है क्योंकि 'रसार्णवसुधाकर' के आरंभमें शिगने स्वयं अपने को शूद्र बतलाया है तथा दक्षिण देशमें आज भी 'नायडू' को गणना उसी वर्णमें होती है। इस जातिगत ऐक्यसे दोनों व्यक्ति अभिन्न ठहरते हैं।

सिंगम नायडूका समय १३३० के आसपास था जिससे हम निश्चित रूपसे कह सकते हैं कि संगीत-सुधाकरकी रचना चौदहवीं सदीके मध्य-कालमें हुई थी।

पूर्वोक्त बातोंपर ध्यान देनेसे यह स्पष्ट है कि शिंगभूपालका संबंध दक्षिण देशसे था, उत्तरीय भारतसे नहीं। अतएव मैथिलोंका यह प्रवाद कि शिंग मिथिलाके राजा थे केवल कल्पनामात्र है—संकीर्ण प्रान्तीयताके सिवाय और कुछ नहीं है। श्रीश्यामनारायण सिंहने अपने 'हिस्ट्री आफ तिरहुत' में इस प्रवादका उल्लेख किया है[१]। रसार्णव-सुधाकरकी हस्तलिखित प्रतियोंके दक्षिणमें मिलने तथा पुस्तकके दक्षिणमें सातिशय प्रचारसे शिंगभूपाल वास्तवमें दक्षिण देशके ही सिद्ध होते हैं।

रसार्णवसुधाकर[२]—शिंगभूपालकी यह कमनीय कृति नाट्यशास्त्रके उपादेय विषयोंकी विवेचनामें निर्मित की गई है। आरम्भमें ग्रन्थकारने अपने वंशका पूरा परिचय दिया है जिससे ज्ञात होता है कि ये रेच्चल वंशमें उत्पन्न दाचयनायकके प्रपौत्र, शिंगप्रभुके पौत्र, अनन्त (अपरनाम अन्नपोत)के पुत्र थे। विन्ध्याचलसे लकर श्रीशैलके मध्यवर्ती प्रदेशके ये अधिपति थे। यह ग्रन्थ तीन विलासोंमे विभक्त है—(१) 'रञ्जकोल्लास' नामक प्रथम विलासमें नायक तथा नायिकाके स्वरूप तथा गुणका वर्णन विस्तारसे किया गया है। अनन्तर चारों वृत्तियोंके रूप तथा प्रभेदोंका भी विस्तृत विवेचन है। (२) द्वितीय विलास (रसिकोल्लास) में रसका बड़ा ही रोचक तथा विशद वर्णन किया गया है जिसमें रतिके वर्णन-प्रसंगमें भोजराजके मतका खण्डन किया गया है (पृ० १४६)। यह विवेचन जितना स्वच्छ तथा सुबोध है उतना ही उदाहरणोंसे परिपुष्ट तथा युक्तियोंसे युक्त है।

---

१ "He (Shinga Bhupal) is identified with some Mithila ruler of 14th. century, but the question is much disputed."

—History of Tirhut, p. 167

२. अनन्तशयन ग्रन्थमाला (सं० ५०)में प्रकाशित, १९१६।

(३) तृतीय विलास (भावोल्लास) में रूपकके वस्तुका विस्तृत विन्यास है। इस प्रकार इस ग्रन्थमें रूपकके तीनों अंगों—नेता, रस तथा वस्तुका क्रमशः तीनों विलासोंमें सांगोपांग विवेचन है। दशरूपककी अपेक्षा यह ग्रन्थ अधिक विस्तृत तथा विशद है। दक्षिण भारतमें दशरूपककी अपेक्षा इसी लिए इसका प्रचुरतर प्रचार है।

३५—भानुदत्त

संस्कृत साहित्यके इतिहासमें भानुदत्त नायिका-नायक-भेदके ऊपर सबसे बड़ी पुस्तक लिखनेके कारण नितान्त प्रसिद्ध हैं। इस पुस्तकका नाम रसमंजरी है। इसीका संक्षेप विवरण भानुदत्तने रस-तरंगिणीमें प्रस्तुत किया है जिसमें रस और भावोंका ही विशेष रूपसे वर्णन है। रसमंजरीके अन्तिम श्लोकमें इन्होंने अपनेको 'विदेहभूः' लिखा है जिससे जान पड़ता है कि ये मैथिल थे। इन्होंने अपने पिताका नाम गणेश्वर लिखा है[१]। सूची-ग्रन्थोंमें भानुदत्त स्पष्ट ही मैथिल बतलाए गए हैं। गणेश्वरके मैथिल होनेसे बहुत सम्भव है कि ये प्रसिद्ध गणेश्वर मन्त्री हों जिनके पुत्र चण्डेश्वरने 'विवाद-रत्नाकर' लिखा था। चण्डेश्वरने १३१५ ई० में सोनेसे अपना तुलादान करवाया था। अतः भानुदत्तका भी यही समय है। इन्होंने शृंगारतिलक तथा 'दशरूपकका' निर्देश अपने ग्रन्थोंमें किया है तथा गोपाल आचार्यने १४२८ ई० में रस-मंजरीके ऊपर 'विकास' नामक टीका लिखी थी। इससे स्पष्ट है कि भानुदत्त १३ वीं शताब्दीके अन्त तथा १४ वीं शताब्दीके आरम्भमें हुए थे।

---

१. तातो यस्य गणेश्वरः कविकुलालंकारचूडामणिः।
देशो यस्य विदेहभूः सुरसरित् कल्लोलकीर्मिरिता॥

रसमंजरी का अन्तिम पद्य।

भानुदत्तने गीत-गौरीश या गीतगौरीपति नामक बड़ा ही सुन्दर गीति-काव्य लिखा था जो दश सर्गोंमें समाप्त है। आलंकारिक भानुदत्त तथा कवि भानुदत्त इन दोनोंके पिताका नाम गणेश्वर या गणपति है। रस-मंजरीके कुछ पद्य 'गीत-गौरीश'में भी दिये गये मिलते हैं जिससे दोनों ग्रन्थकारोंकी एकता स्वतः सिद्ध होती है। यह गीतिकाव्य जयदेवके गीत-गोविन्दके आदर्शपर लिखा गया था। मैथिल काव्यमें बंगदेशीय कविकी मनोरम कवितासे साम्य होना कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है। अतः भानुदत्त गीतगोविन्दकार (१२ शतक)के पश्चाद्वर्ती है और इनका जो समय ऊपर निर्दिष्ट किया गया है उससे इसमें किसी प्रकारका विरोध भी उपस्थित नहीं होता।

रसमंजरी

भानुदत्तके दोनों ग्रन्थोंमें रस-मंजरी सबसे अधिक प्रसिद्ध है। इसमें नायिकाके विभेदोंका वर्णन सांगोपांग किया गया है। ग्रन्थका दो तिहाई भाग इसी विवेचनमें खर्च किया गया है। शेष भागमें नायक-भेद, नायकके मित्र, आठ प्रकारके सात्त्विक भाव और शृंगारके दो भेद तथा विप्रलम्भ की दश अवस्थाओंका विवेचन किया गया है।

रसमंजरीकी लोकप्रियताका परिचय इसके ऊपर लिखी गई अनेक टीकाओंसे मिलता है। इसपर अब तक ११ टीकाएं उपलब्ध हो चुकी हैं। इनमें (१) अनन्त पण्डितकृत व्यंग्यार्थकौमुदी तथा (२) नागेशभट्टकृत प्रकाश ही बनारस संस्कृत सीरीजमें (नं० ८३) प्रकाशित हो चुकी है। नागेश भट्ट तो प्रसिद्ध वैयाकरण नागोजी भट्ट ही हैं। अनन्त पण्डितका मूल स्थान गोदावरीके किनारे पुण्यस्तम्भ-नामक नगर था। इन्होंने यह टीका काशीमें संवत् १६६२ (१६३६ ई०)में

लिखी थी। इन्होंने गोवर्धन सप्तशतीके ऊपर भी टीका लिखी है जो काव्यमालामें मूल ग्रन्थके साथ प्रकाशित है[१]।

भानुदत्तका दूसरा ग्रन्थ रस-तरंगिणी है जिसमें रसका विस्तृत वर्णन प्रस्तुत किया गया है। इसमें आठ तरंग है जिनमें भाव, विभाव, अनुभाव, सात्त्विक भाव, व्यभिचारी भाव, शृंगाररस, इतर रस तथा स्थायी भाव और रससे उत्पन्न दृष्टियोंका क्रमशः वर्णन प्रस्तुत किया गया है। इसके ऊपर भी नव टीकायें लिखी हुई मिलती हैं जिनमेंसे गंगाराम जड़ी कृत 'नौका' नामक टीका ही अबतक प्रकाशित हुई है। इस टीकाकी रचना सन् १७३२ ई०में की गई थी। भानुदत्तने इन दोनों ग्रन्थोंका निर्माण कर रस-सिद्धान्तका व्यापक विवरण प्रस्तुत किया है और इसी लिये ये अलंकार-शास्त्रके इतिहासमें स्मरणीय हैं।

३६—रूप गोस्वामी

बंगालमें चैतन्य महाप्रभुके द्वारा जिस वैष्णव भक्तिकी धारा प्रवाहित हुई उससे प्रभावित होकर अनेक व्यक्तियोंने वैष्णव कल्पनाओंको रस विवचनमें प्रयुक्त किया। गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदायमें धार्मिक दृष्टिसे रसकी साधना की जाती है। रसके विषयमें उनकी अनेक नवीन कल्पनायें है। ऐसे ग्रन्थकारोंमें सबसे श्रेष्ठ थे **रूप गोस्वामी**। ये मुकुन्दके पौत्र और कुमारके पुत्र थे। ये चैतन्य महाप्रभुके साक्षात् शिष्य थे। अतः इनका समय १५ शताब्दीका अन्त तथा १६ वीं शताब्दीका पूर्वार्द्ध है। इनके ग्रन्थोंके लेखन कालसे भी इस समयकी पुष्टि होती है। इनका 'विदग्ध-माधव' १५३३ ई.में लिखा गया था तथा 'उत्कलिकावल्लरी' १५५० ई०में लिखी गई थी।

---

१. अप्रकाशित टीकाओंके वर्णनके लिए देखिए
डा० एस० के० डे—संस्कृत पोइटिटक्स पृ० २५१–२५३।

अलंकार विषयमें इनके तीन ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं— (१) **नाटकचन्द्रिका (२) भक्तिरसामृतसिन्धु, (३) उज्वलनीलमणि।**

नाटकचन्द्रिकामें नाटकके स्वरूपका पर्याप्त विवेचन है। इसके आरम्भमें उन्होंने लिखा है कि इसकी रचनाके लिये इन्होंने भरत शास्त्र और रससुधाकर (शिंगभूपालका रसार्णवसुधाकर)का अध्ययन किया है। और भरतके सिद्धान्तोंसे प्रतिकूल होनेके कारण इन्होंने साहित्य-दर्पणके निरूपणको बिल्कुल छोड़ दिया है। इस ग्रन्थमें निरूपित विषयोंका क्रम इस प्रकार है—नाटकका सामान्य लक्षण, नायक, रूपकके अंग, सन्धि आदिके प्रकार, अर्थोपक्षेपक और विष्कंभक आदि इसके भेद, नाटकके अंकोंका तथा दृश्योंका विभाजन, भाषाविधान, वृत्तिविचार और रसानुसार उनका प्रयोग। यह ग्रन्थ छोटा नहीं है। इसके उदाहरण अधिकतर वैष्णव ग्रन्थोंसे लिये गये है जो संख्यामें अत्यधिक तथा सूक्ष्म है।

भक्तिरसामृतसिन्धु—भक्ति-रसके स्वरूपका विवेचनात्मक यह ग्रन्थ[१] चैतन्य सम्प्रदायमें धार्मिक तथा साहित्यिक उभय दृष्टियोंसे अनुपम है। इस ग्रन्थमें चार विभाग हैं—(१) पूर्व, (२) दक्षिण, (३) पश्चिम, (४) उत्तर और प्रत्येक विभागमें अनेक लहरियां है। पूर्व विभागमें प्रथमतः भक्तिका सामान्य लक्षण निर्दिष्ट है (प्रथम लहरी)। अनन्तर भक्तिके तीनों भेदोंका—साधनभक्ति, भावभक्ति तथा प्रेमाभक्तिका विशिष्ट विवरण दिया गया है (२-४ लहरी)। दक्षिण विभागमें क्रमशः विभाव,

---

१. जीवगोस्वामी की टीका (दुर्गमसंगमनी) से युक्त इसका एक सुन्दर संस्करण पण्डित दामोदरलाल गोस्वामी की सम्पादकता में अच्युतग्रन्थ-माला में प्रकाशित हुआ है। काशी, १९८८ वि० सं०

अनुभाव, सात्त्विक भाव, व्यभिचारिभाव तथा स्थायिभावका भिन्न-भिन्न लहरियोंके वर्णनके अनन्तर भक्तिरसके सामान्य रूपके विवरणके साथ यह विभाग समाप्त होता है। पश्चिम विभागमें भक्ति-रसके विशिष्ट रूपका विन्यास है जिसमें क्रमशः शान्तभक्ति, प्रीतभक्ति, प्रेयोभक्ति, वत्सल भक्ति तथा मधुरभक्ति रसका विभिन्न लहरियोंमें बड़ा ही सांगोपांग विवेचन प्रस्तुत किया गया है। रूपगोस्वामीके अनुसार भक्ति-रस ही प्रकृत रस है तथा अन्य रस उसीकी विभिन्न विकृतियां तथा प्रभेद हैं। इनका वर्णन उत्तर-विभागका विषय है जिसमें हास्य, अद्भुत, वीर, करुण, रौद्र, बीभत्स और भयानक रसोंका वर्णन है। अनन्तर रसोंकी परस्पर मैत्री तथा विरोधकी विवेचना कर रसाभासके विशिष्ट रूपके निर्धारणके साथ यह ग्रन्थ समाप्त होता है। स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ भक्तिरसका महनीय विश्वकोश है। ग्रन्थका रचनाकाल है १४६३ शक संबत = १५४१ ईस्वी।

उज्ज्वल नीलमणि—यह ग्रन्थ पूर्व ग्रन्थका पूरक है। 'उज्ज्वल'का अर्थ है श्रृंगार; अतः मधुरश्रृंगार रसकी विस्तृत विवेचनाके लिये इस ग्रन्थका निर्माण हुआ है। इसमें क्रमशः नायक, नायकके सहायक, हरिप्रिया, राधा, नायिका, यूथेश्वरी भेद, दूतीके प्रकार, सखीके वर्णनके अनन्तर कृष्णके सखाका वर्णन है। पश्चात् मधुर रसके उद्दीपन, अनुभाव, सात्त्विक, व्यभिचारी तथा स्थायीका विस्तृत वर्णन कर श्रृंगार-संयोग तथा विप्रलम्भकी नाना दशाओंका रहस्य समझाया गया है। इस प्रकार यह ग्रन्थराज रसराज भक्ति-रसका विवेचनात्मक विशाल ग्रन्थ है जो भक्ति दृष्टिसे भी उतना ही माननीय है जितना साहित्य दृष्टिसे श्लाघनीय है।

रूप गोस्वामीके अन्तिम दोनों ग्रन्थोंमें भक्तिकी रसरूपताका बड़ा ही प्राञ्जल, प्रामाणिक तथा प्रशस्त विवेचन किया गया है। ग्रन्थकारकी ये दोनों अमर कृतियां हैं, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।

'उज्ज्वल नीलमणि' की दो टीकायें प्रकाशित[1] हुई हैं और दोनों ही बड़ी प्रसिद्ध हैं। (१) पहली टीकाका नाम है **लोचन-रोचनी** जिसकी रचना रूप गोस्वामीके भाई वल्लभके पुत्र जीव गोस्वमीने की थी। जीव गोस्वामी बहुत ही बड़े विद्वान् थे। दर्शन तथा साहित्यका, भक्ति तथा साधनाका जितना सामञ्जस्य जीव गोस्वामीके जीवनमें था उतना अन्यत्र मिलना दुष्कर है। इनका जन्म शक १४४५ (१५२३ ई०) में तथा मृत्यु शक १५४० (१६१८ ई०) में हुई थी। इससे स्पष्ट है कि इनका कार्यकाल १६वीं शताब्दीका उत्तरार्ध था। (२) दूसरी टीकाका नाम **आनन्द-चन्द्रिका** या 'उज्वल नीलमणि किरण' है। इसके रचयिता विश्वनाथ चक्रवर्ती गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदायके अत्यन्त पूजनीय ग्रन्थकार हैं। इनका स्थितिकाल १७ वीं शताब्दीका अन्त तथा १८ वीं का आदिम काल है। इस आनन्दचन्द्रिकाकी रचना १६१८ शक (१६९६ ई०) में हुई थी। इन्होंने भागवतके ऊपर "सारार्थदर्शिनी' नामक टीकाकी रचना १६२६ शक (१७०४ ई०) में की थी। इसप्रकार विश्वनाथ चक्रवर्तीने भक्ति तथा साहित्य दोनों प्रकारके शास्त्रोंपर अपने पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थोंको लिखा है।

३७—कवि कर्णपूर

कवि कर्णपूरका वास्तविक नाम **परमानन्ददास सेन** था। ये शिवनन्द सेनके पुत्र तथा श्रीनाथके शिष्य थे। ये बंगालके सुप्रसिद्ध वष्णव ग्रन्थकार थे। ये जीव गोस्वामीके समकालीन ग्रन्थकर्ता थे। इनके पिता शिवानन्द चैतन्य-देवके साक्षात् शिष्योंमें से थे। कवि कर्णपूरका जन्म बंगालके नदिया जिलेमें १५२४ ई० में हुआ था। चैतन्यके जीवनचरितको नाटक

---

१. काव्यमाला ९५, बम्बई १९१३

रूपसे प्रदर्शित करनेके लिये इन्होंने १५७२ ई० में 'चैतन्यचन्द्रोदय' नामक सुप्रसिद्ध नाटक लिखा।

अलंकार शास्त्रपर इनका सुप्रसिद्ध ग्रन्थ है अलंकार-कौस्तुभ। यह ग्रन्थ दश किरणों या अध्यायोंमें समाप्त हुआ है। इसमें काव्य लक्षण, शब्दार्थ, ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य, रसभावभेद, गुण, शब्दालंकार, अर्थालंकार, रीति तथा दोषका क्रमशः वर्णन किया गया है। इस प्रकार रूप गोस्वामीके ग्रन्थसे इसका विस्तार विषयकी दृष्टिसे अधिक है। यद्यपि इसके अधिकांश उदाहरण कृष्णचन्द्रकी स्तुतिमें ही निबद्ध किये गये हैं तथापि इसमें उतनी वैष्णवताकी पुट नहीं है जितनी रूप गोस्वामीके ग्रन्थमें मिलती है। बंगालमें यह ग्रन्थ अत्यन्त लोकप्रिय है। इसके ऊपर तीन टीकाओंका पता चलता है जिनमें वृन्दावनचन्द्र तर्कालंकार चक्रवर्तीकी 'दीधितिप्रकाशिका' टीका तथा लोकनाथ चक्रवर्तीकी टीका अभीतक प्रकाशित नहीं हुई है। केवल विश्वनाथ चक्रवर्तीकी सारबोधिनी टीका मूल ग्रन्थके साथ प्रकाशित हुई है[1]।

कविचन्द्र कवि कर्णपूर तथा कौशल्याके पुत्र बतलाये जाते हैं। ये कवि कर्णपूर ऊपर निर्दिष्ट आलंकारिक ही हैं यह कहना प्रमाणसिद्ध नहीं है। अलंकारविषयक इनका ग्रन्थ काव्यचन्द्रिका है जो अभीतक प्रकाशित नहीं हुई है। इसमें १६ प्रकाश हैं जिनमें साहित्य शास्त्रके समस्त सिद्धान्तोंका संक्षिप्त विवेचन है। इसमें ग्रन्थकारने सारलहरी तथा धातुचन्द्रिका नामक अपने अन्य ग्रन्थोंका भी निर्देश किया है। इनका समय १६ वीं शताब्दीका अन्त और १७ वीं का प्रारम्भकाल है।

---

१. विश्वनाथ चक्रवर्तीकी टीकाके साथ इसके दो संस्करण मुर्शिदाबाद तथा राजशाही (बंगाल)से प्रकाशित हुए हैं।

३८—अप्पय दीक्षित

अप्पय दीक्षित दक्षिण भारतके मान्य ग्रन्थकारोंमें अग्रणी हैं। इनका अपना विशिष्ट विषय दर्शनशास्त्र है जिसके विभिन्न अंगोंपर इन्होंने अनेक विद्वत्तापूर्ण, प्रामाणिक ग्रन्थोंकी रचना की है। अद्वैत वेदान्तमें इनका कल्पतरुपरिमल (अमलानन्द कृत कल्पतरु-व्याख्याकी टीका) तथा सिद्धान्तलेश-संग्रह प्रख्यात ग्रन्थ हैं। सिद्धान्तलेश अद्वैतवेदान्तके आचार्योंके महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तोंका न केवल सारभूत संग्रह है प्रत्युत ऐतिहासिक दृष्टिसे भी उपादेय है। इन्होंने शैवाचार्य श्रीकण्ठके ब्रह्मसूत्र भाष्यपर 'शिवार्कमणिदीपिका' नामक उच्चकोटिकी टीका लिखी है। कर्म मीमांसामें भी 'विधिरसायन', 'उपक्रम पराक्रम' 'वादनक्षत्रावली' तथा 'चित्रकूट' इनके मान्य ग्रन्थ हैं। इस प्रकार ये दर्शनके एक अलौकिक विद्वान् ही न थे प्रत्युत एक उच्चकोटिके साधक थे।

अलंकार शास्त्रमें इनके तीन ग्रन्थ हैं—(१) कुवलयानन्द, (२) चित्र-मीमांसा और (३) वृत्तिवार्तिक। इनमें वृत्तिवार्तिक सबसे पहला ग्रन्थ है, तदनन्तर चित्रमीमांसा तथा सबके पीछे कुवलयानन्दकी रचना की गई क्योंकि कुवलयानन्दमें चित्र-मीमांसाका उल्लेख पाया जाता है।

(१) **वृत्तिवार्तिक**[1]—यह शब्द-वृत्तियोंकी विवेचनामें लिखा गया एक छोटा ग्रन्थ है। इसमें केवल दो ही परिच्छेद हैं जिसमें अभिधा और लक्षणाका ही वर्णन किया गया है। इस प्रकार यह ग्रन्थ अधूरा ही दीख पड़ता है।

(२) **कुवलयानन्द**—अलंकारोंके निरूपणके लिये बहुत ही सुन्दर और उपादेय ग्रन्थ है। यह पूरा ग्रन्थ जयदेवके 'चन्द्रालोक' पर आश्रित है। अन्तमें चौबीस नये अलंकारोंकी कल्पना तथा उनका निरूपण ग्रन्थकारने स्वयं किया है।

---

१. काव्यमालामें प्रकाशित।

इस प्रकार यद्यपि यह ग्रन्थ मौलिक नहीं है तथापि अलंकारोंकी रूपरेखा जाननेके लिये यह ग्रन्थ अतीव उपादेय हैं। इसकी लोकप्रियताका यही कारण है। इसके ऊपर लगभग नौ टीकायें मिलती हैं, जिनमें आशाधरकी दीपिका तथा वैद्यनाथ तत्सत्की **अलंकारचन्द्रिका** टीका अनेक बार प्रकाशित हुई हैं। काशीके विश्वरूप यतिके शिष्य तथा बाधूलवंशी देव सिंह सुमतिके पुत्र गंगाधर वाजपेयीकी टीका **रसिकरंजिनी**, जो कुम्भकोणम्से प्रकाशित हुई है, इन दोनोंकी अपेक्षा अप्पय दीक्षितके मूल ग्रन्थकी विशुद्धिकी जांचके लिये अधिक उपयोगी है, क्योंकि इन टीकाकारके कथनानुसार अप्पयदीक्षित इनके पितामहके भाईके गुरु थे तथा इन्होंने स्वयं ग्रन्थका पाठ ठीक करनेमें बहुत ही परिश्रम किया था। ये तन्जौरके राजा शाहजी (१६८४ से १७११ ई०)के दरबारके सभा-पण्डित थे। अतः इनका समय १७वीं शताब्दीका अन्त तथा १८-वींका आदि काल है।

(३) **चित्रमीमांसा**—यह एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है और ग्रन्थकारकी यह प्रौढ़ रचना है। यह ग्रन्थ अतिशयोक्ति अलंकार तक वर्णनकर बीच हीमें समाप्त हो जाता है। इस ग्रन्थके अन्तमें एक कारिका मिलती है[१], जिससे पता चलता है कि ग्रन्थकारने जानबूझकर इस ग्रन्थको अधूरा छोड़ दिया है। अप्पयदीक्षितने अपने कुवलयानन्दमें चित्रमीमांसाका जो उल्लेख किया है (पृ० ७८, ८६, १३३) वह श्लेष, प्रस्तुतांकुर और अर्थान्तरन्यास अलंकारोंके विवेचनसे संबंध रखता है परन्तु वर्तमान उपलब्ध ग्रन्थमें यह अंश त्रुटित है। इस ग्रन्थमें अलंकारोंका विशिष्ट विवेचन ही ग्रन्थकारको अभीष्ट है। अप्पयदीक्षित उपमाको सबसे अधिक मौलिक

---

१. अप्यर्ध-चित्रमीमांसा न मुदे कस्य मांसला।
अनूरुरिव घर्मांशोरर्धेन्दुरिव धूर्जटेः॥ कुवलयानन्द

तथा महत्त्वपूर्ण अलंकार मानते हैं और इसके ऊपर अवलम्बित होनेवाले २२ अलंकारोंका निर्देश करते हैं। परन्तु केवल एकादश अलंकारोंका निरूपण मिलता है। इससे स्पष्ट है कि किसी प्रकार ज्ञानपूर्वक या अज्ञानपूर्वक यह ग्रन्थ अधूरा ही रह गया है। इसके ऊपर भी कतिपय टीकायें मिलती हैं जिनमें बालकृष्ण पायगुण्डकी टीका प्रसिद्ध है। पण्डितराज जगन्नाथने इसके ऊपर 'चित्रमीमांसा-खण्डन' नामक एक पूरा ग्रन्थ ही लिखा है जिसमें अप्पय दीक्षितके सिद्धान्तोंका विशिष्ट खण्डन किया गया है।

अप्पय दीक्षितने कुवलयानन्दकी रचना वेंकट नामक राजाके आदेशसे की, इसका उल्लेख इन्होंने स्वयं किया है[1]। ये वेंकट विजयनगरके राजा वेंकट प्रथमसे अभिन्न माने जाते हैं। इनके एक दान-पत्रका समय १५८३ शक (१६०१ ई०) है। इससे स्पष्ट है कि अप्पय दीक्षित १६ वीं शताब्दीके अन्त तथा १७वीं के आरम्भमें थे। इस समयकी पुष्टि इस घटनासे भी होती है कि कमलाकर भट्टने १७वीं शताब्दीके प्रथमार्धमें अप्पय दीक्षितका उल्लेख किया है तथा इसी कालके आस-पास पण्डितराज जगन्नाथने इनका खण्डन किया है।

२९—पण्डितराज जगन्नाथ

पण्डितराज जगन्नाथ अलंकारशास्त्रके इतिहासमें सबसे प्रसिद्ध अन्तिम प्रौढ़ आलंकारिक हैं। ये तैलंग ब्राम्हण थे। इनके पिताका नाम पेरुभट्ट तथा माताका लक्ष्मी देवी था। पण्डितराज अप्पयदीक्षितके समकालीन थे। इनके पिताने वेदान्तकी शिक्षा ज्ञानेन्द्रभिक्षुसे, न्याय वैशेषिककी

---

१. अमुं कुवलयानन्दमकरोदप्पदीक्षितः।
नियोगाद्वेङ्कटपतेर्निरुपाधिकृपानिधेः॥ कुवलयानन्द

समय

शाहजहां तथा दाराशिकोहके समकालीन होनेके कारण पण्डितराजका समय भलीभांति निश्चित किया जा सकता है। इन्होंने शाहजहां-की प्रशंसामें अपना एक पद्य रसगंगाधरमें दिया है[1]। दाराशिकोहकी प्रशंसामें इनका 'जगदाभरण' नामक पूरा काव्य ही है। शाहजहांके दरबारके सरदार नवाब आसफ खांके आश्रयमें भी ये कुछ दिन रहे थे, ऐसा प्रतीत होता है। आसफ खांकी मृत्यु १६४१ ई० में हुई थी। उसीके दुःखमें इन्होंने 'आसफ-विलास' नामक ग्रन्थ लिखा है। इसलिये इनका समय १७वीं शताब्दीका मध्यभाग है।

पण्डितराज जगन्नाथने बहुतसे काव्यग्रन्थोंकी रचना की है जिसमें भामिनीविलास, गंगालहरी, करुणालहरी, अमृतलहरी, लक्ष्मीलहरी, आसफविलास, जगदाभरण, प्राणाभरण, सुधालहरी, यमुना-वर्णन चम्पू प्रसिद्ध हैं। भट्टोजि दीक्षितकी मनोरमाके खण्डनके लिये इन्होंने 'मनोरमाकुचमर्दन' नामक व्याकरण-ग्रन्थ भी लिखा है।

रसगंगाधर

अलंकार जगत्में इनका सबसे श्रेष्ठ ग्रन्थ **रसगंगाधर** है। यह ध्वन्यालोक तथा काव्यप्रकाशके समान महत्त्वपूर्ण प्रामाणिक ग्रन्थ है। इन्होंने

---

१. भूमीनाथ-शहाबुदीन-भवतस्तुल्यो गुणानां गणै-
रेतद्भूतभवप्रपञ्चविषये नास्तीति किं ब्रूमहे।
धाता नूतनकारणैर्यदि पुनः सृष्टिं नवां भावये-
न्न स्यादेव तथापि तावकतुलालेशं दधानो नरः॥
रसगंगाधर पृ० २१०।

अपने ग्रन्थमें जो उदाहरण दिये हैं वे सब इन्हींकी रचना हैं[1]। पण्डितराज केवल आलंकारिक ही नहीं थे प्रत्युत एक उत्कृष्ट कवि भी थे। रसगंगाधरके अधूरा होनेपर भी यह ग्रन्थ नितान्त महत्त्वपूर्ण है। इस ग्रन्थमें केवल दो आनन या अध्याय हैं। प्रथम आननमें काव्यका लक्षण 'रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द' किया गया है। इसकी पुष्टि करते समय इन्होंने प्राचीन आलंकारिकोंके काव्य-लक्षणकी पूरी समीक्षा की है। प्रतिभाको ही काव्यका मुख्य हेतु बतलाकर इन्होंने काव्यके चार विभाग या प्रकार निश्चित किये हैं—(१) उत्तमोत्तम (२) उत्तम (३) मध्यम (४) अधम। तदनन्तर रसका सांगोपांग विवेचन ग्रन्थकारने किया है। द्वितीय आननके आरम्भमें ध्वनिके प्रभेदोंका विवेचनकर अभिधा और लक्षणकी समीक्षा है। तदनन्तर अलंकारोंका निरूपण किया गया है। इन्होंने केवल ७० अलंकारोंका वर्णन किया है। उत्तरालंकारके वर्णनसे यह ग्रन्थ समाप्त होता है।

रसगंगाधरके अधूरे लिखे जानेके कारण यह नहीं समझना चाहिये कि इस ग्रन्थके लिखते समय लेखकका देहावसान हो गया था। क्योंकि 'चित्रमीमांसा-खण्डन' नामक ग्रन्थके उल्लेखसे पता चलता है कि पण्डितराज जगन्नाथने इस ग्रन्थकी रचना रसगंगाधरके निर्माणके अनन्तर की।

---

१. निर्माय नूतनमुदाहरणस्वरूपं,
काव्यं मयात्र निहितं न परस्य किञ्चित्।
किं सेव्यते सुमनसां मनसापि गन्धः,
कस्तूरिका - जनन - शक्तिभृता मृगेण॥

रसगंगाधर पृ० ३।

पण्डितराज जगन्नाथने अप्पयदीक्षितके चित्रमीमांसा नामक अलंकार ग्रन्थके खण्डन करनेके लिये ही 'चित्रमीमांसा खण्डन' का प्रणयन किया था। अप्पयदीक्षितने अलंकारोंके निरूपणके लिये रुय्यकके 'अलंकार सर्वस्व' तथा जयरथकी 'विमर्शिणी' टीकासे विपुल सामग्री ग्रहण की थी। अप्पय दीक्षितके खण्डनके अवसरपर पण्डितराजने इन ग्रन्थकारोंकी भी कटु आलोचना की है। यह आलोचना कटु होते हुए भी यथार्थ है।

रसगंगाधर पाण्डित्यका निकषग्रावा समझा जाता है। जगन्नाथने इस ग्रन्थमें पाण्डित्य तथा वैदग्ध्यका अद्भुत संमिश्रण प्रस्तुत किया है। इनके लिखनेकी शैली बड़ी ही उदात्त तथा ओजस्विनी है। अपने प्रतिपक्षीके मतका खण्डन करनेमें इनकी बुद्धि बड़ी ही तीव्रतासे चलती थी। इनकी आलोचना निष्पक्ष होती थी और खण्डनके अवसरपर विलक्षण तीव्रता दिखलाती थी। इन्होने मम्मट और आनन्दवर्धनकी भी आलोचना करनेमें कोई संकोच नहीं किया है। परन्तु विशेष खण्डन इन्होंने अप्पय दीक्षितके मतका किया है। इस आलोचनामें इतना व्यक्तिगत आक्षेप तथा कटुता है कि अनेक आलोचक इसे जातिगत विद्वेष समझते हैं। अप्पयदीक्षित अत्यन्त सुप्रसिद्ध द्रविड़ पण्डित थे और पण्डितराज तैलंग ब्राह्मण थे। अप्पयदीक्षितकी विशेष कीर्तिको दबानेके लिये ही पण्डितराजने यह अनुचित प्रहार किया है। इन्होंने अपने ग्रन्थमें मम्मट, रुय्यक, जयरथको अधिकतासे उद्धृत किया है। विद्याधर, विद्यानाथ तथा विश्वनाथके निर्देशके अनन्तर इन्होंने किसी अलंकार-भाष्यकारका उल्लेख किया है (पृ० २३६, ३६५), जो अबतक अलंकार-जगत्में अज्ञात है। इन्होंने 'अलंकार-रत्नाकर' ग्रन्थका भी निर्देश किया है (पृ० १६३, १६५) जो शोभाकरमित्र रचित अलंकाररत्नाकर प्रतीत होता है।

टीका

रसगंगाधरकी केवल दो टीकायें उपलब्ध हैं जिनमें नागेश भट्ट कृत 'गुरुमर्म-प्रकाशिका' ही अबतक प्रकाशित हुई है। नागेश भट्टका अपना विषय व्याकरण है जिसमें इन्होंने अनेक सुन्दर ग्रन्थोंकी रचना की है। ये काशीके महाराष्ट्र ब्राह्मण थे और इनका उपनाम काले था। ये शिवभट्ट और सती देवीके पुत्र थे। भट्टोजी दीक्षितके पौत्र तथा वीरेश्वर दीक्षितके पुत्र हरिदीक्षितके ये शिष्य थे। भट्टोजी दीक्षित स्वयं शेष श्रीकृष्णके शिष्य थे, जिनके पुत्र शेष वीरेश्वर पण्डितराज जगन्नाथके गुरुओंमें अन्यतम थे। इस प्रकार नागोजी भट्ट पण्डितराज जगन्नाथसे केवल दो पीढ़ी बादमें हुए थे। भानुदत्तकी रस-मंजरीपर नागेशकी टीकाकी एक हस्तलिखित प्रति १७१२ ई०में लिखी गई थी। इस प्रकार नागेशका समय १८वीं शताब्दीका आरम्भकाल है।

अलंकार-शास्त्रपर लिखे गये इनके ग्रन्थोंका नाम इस प्रकार है—(१) गुरुमर्म-प्रकाशिका—यह जगन्नाथके रस-गंगाधरपर टीका है[1]। (२) बृहत् तथा लघु उद्योत—यह गोविन्द ठक्कुरके काव्यप्रदीपकी टीका है। (३) उदाहरण दीपिका—मम्मटके ग्रन्थका विवरण है: (४) अलंकार सुधा और विषमपदव्याख्यान षट्पदानन्द—यह अप्पयदीक्षितके कुवलयानन्दकी टीका है। (५) प्रकाश—यह भानुदत्तकी रसमंजरीकी टीका। (६) भानुदत्तकी रसतरंगिणीकी व्याख्या।

रसगंगाधरकी एक दूसरी टीकाका भी पता चला है जिसका नाम 'विषमपदी' है परन्तु यह अबतक अप्रकाशित है और इसके ग्रन्थ-कारका भी पता नहीं चलता।

---

१. यह ग्रन्थ मूलके साथ काव्यमाला, बम्बई तथा बनारस संस्कृत सीरीज़से प्रकाशित हुआ है।

४०—आशाधर भट्ट

दो आशाधर—उनकी एकता मानने में भ्रान्ति

हमें अनेक कठिनाइयोंका सामना आशाधर भट्टके जीवनचरित्र लिखते समय अधिक मात्रामें करना पड़ा है। संस्कृत अलंकार साहित्यमें आशाधर नामवाले दो व्यक्तियोंका पता लगता है। इनमेंसे प्रथम आशाधरका पता डाक्टर पीटरसनने १८८३ ईसवीमें लगाया था; और दूसरे आशाधरके ग्रन्थका पता डाक्टर बूलर के अनुग्रहसे १८७१ ईसवीमें लगा। इस नाम-सादृश्यके कारण अनेक लेखकोंको इनके पार्थक्यके विषयमें सन्देह उत्पन्न हो गया है। डाक्टर औफेक्टने दोनों आशाधरोंका साथ ही साथ उल्लेख किया है अवश्य, परन्तु फिर भी उनके एक व्यक्ति माननेमें उन्होंने सन्देह प्रकट किया है। आश्चर्य तो यह है कि औफेक्टके बहुत वर्षोंके अनन्तर जब संस्कृत साहित्यके विषयमें अनेक प्रामाणिक सिद्धान्तोंकी उद्भावना हो गई है तथा अनेक नवीन आविष्कार हो चुके हैं, डाक्टर हरिचन्द शास्त्रीने भी इन दोनों लेखकोंकी एकता स्वीकृत की है। यदि इन दोनों लेखकोंके चरित तथा ग्रन्थोंका कुछ भी अध्ययन किया जाय, तो स्पष्ट प्रतीत होगा कि नाम-सादृश्यके अतिरिक्त इनको एक व्यक्ति माननेका और कोई यथार्थ प्रमाण या कारण नहीं है।

प्राचीन आशाधरका संक्षिप्त परिचय

प्राचीन आशाधर जैन थे। व्याघ्रेरवाल वंशमें इनका जन्म हुआ था। इनके पिताका नाम सल्लक्षण था। अजमेर प्रदेशमें इनका जन्म हुआ। अनन्तर किसी कारणसे ये मालवाकी प्रधान नगरी धारामें आकर रहने लग गए थे। इन्होंने बहुतसे ग्रन्थ बनाए थे। इनके 'त्रिषष्टि-स्मृति-चन्द्रिका' नामक ग्रन्थके बननेका समय ईसवी सन् १२३६ दिया हुआ

हैं, जिससे इनका तेरहवीं सदीमें होना सिद्ध होता है। अनेक जैन ग्रन्थोंके अतिरिक्त इस आशाधरने 'रुद्रट' के 'काव्यालंकार' पर एक टीकाका भी निर्माण किया है। यह तो हुई प्राचीन आशाधरके समयकी चर्चा। परन्तु ये आशाधर भट्ट जैन आशाधरसे बहुत पीछेके हैं— लगभग चार सौ वर्ष पीछेके हैं। इसका यथेष्ट प्रमाण आगे चलकर दिया जायगा।

जीवन-चरित

ऊपर कहा जा चुका है कि आशाधर भट्टके वंश, देश, समय आदि ऐतिहासिक विवरणके उपयुक्त बातोंका पता अभी तक नहीं चला है। इनके ग्रन्थमें सौभाग्यवश इनके पिता तथा गुरुके नाम उल्लिखित हैं[१]। इनके पिताका नाम 'रामजी भट्ट' तथा गुरुका 'धरणीधर' था। इन्होंने अपने पिताको 'पद-वाक्य-प्रमाण-पारावारीण' लिखा है, जिससे प्रतीत होता है कि रामजी भट्ट व्याकरण, न्याय तथा मीमांसाके उत्कृष्ट पण्डित थे। आशाधरने यद्यपि अपनेको 'कवि' कहा है, तथापि व्याकरणादि इतर शास्त्रोंमें इनकी व्युत्पत्ति खूब अच्छी थी। त्रिवेणिकामें वैयाकरणों तथा तार्किकोंके शब्द-शक्ति विषयक मतका उल्लेख बड़ी खूबीसे संक्षेपमें दिया गया है। संभवतः इन विषयोंका अध्ययन इन्होंने अपने पितासे किया था तथा अलंकारादि विषयोंका अपने गुरु धरणीधरसे। अनुमान

---

१ शिवयोरतनयं नत्वा गुरुं च धरणीधरम्।
आशाधरेण कविना रामजी भट्टसूनुना।
—अलंकारदीपिका; पृ० १।

धरणीधरपादाब्जप्रसादासादितस्मृतेः।
आशाधरस्य वागेषा तनोतु विदुषां मुदम्।
—अलंकारदीपिका; पृ० ६४।

है कि ये गुजरात प्रान्तके निवासी थे; क्योंकि इनके ग्रन्थोंकी उपलब्धि अधिकतर उसी प्रान्तमें हुई है। 'भट्ट' उपनामसे इनके ब्राह्मण होनेकी बात स्पष्ट प्रमाणित होती है।

समय

दुर्भाग्यवश आशाधरने अपने किसी ग्रन्थमें रचना-कालका उल्लेख नहीं किया है। अतः इनके समयका निरूपण करनेमें केवल भीतरी साधनों-पर ही सर्वथा अवलम्बित होना पड़ता है। आशाधरने अप्पय दीक्षितके 'कुवलयानन्द' नामक प्रसिद्ध अलंकार ग्रन्थपर 'अलंकार-दीपिका' नामक टीका लिखी है। इससे इनका अप्पय दीक्षितके अनन्तर होना प्रमाण-सिद्ध ह। संस्कृत साहित्यके प्रेमी पाठक जानते होंगे कि दीक्षितजी दर्शनके प्रचण्ड व्याख्याता थे; तथा उनका समय १६ वीं सदीका उत्तरार्द्ध तथा १७ वींका आरम्भ माना जाता है। 'त्रिवेणिका'में भट्टोजी दीक्षितका उल्लेख है। सिद्धान्तकौमुदी, मनोरमा आदि व्याकरण ग्रन्थोंके रचयिता भट्टोजी दीक्षितका भी समय १६ वीं सदीका अन्त तथा १७ वींका प्रारम्भ माना जाता ह। सम्भवतः आशाधर भट्टोजी दीक्षितके भतीजे कोण्ड भट्टसे भी परिचित थे; क्योंकि 'त्रिवेणिका'में वैयाकरणोंके शब्द-शक्ति विषयक जिस मतका उल्लेख पाया जाता है, वह कोण्ड भट्ट रचित 'वैया-करण-भूषण'के तद्विषयक मन्तव्यसे पूरी तौरसे मेल खाता है। कोण्ड भट्टका काल १७वीं सदीका मध्य भाग माना जाता है। इन प्रमाणोंसे सिद्ध हो गया होगा कि आशाधरका समय १७ वीं सदीके पहले कदापि नहीं हो सकता।

यह तो हुई ऊपरी सीमा। अब इनके समयकी निम्नतम सीमाके विषयमें कुछ विचार करना चाहिए। इनके कोविदानन्द नामक ग्रन्थकी हस्तलिखित प्रतिका काल शक सं० १७८३ (१८६१ ई०) दिया हुआ है। इनकी 'अलंकारदीपिका'की प्रतिका समय १७७५ शक (१८५३

ई०) लिखा हुआ है, जिससे १६ वीं सदीमें इनका प्रसिद्ध होना साफ तौरसे जान पड़ता है। किसी लेखकके ग्रन्थोंके लोकप्रिय तथा प्रसिद्ध होनेमें एक शताब्दी या इससे कुछ अधिक समय अनुमानसे माना जा सकता है। यदि यही मानें, तो कह सकते हैं कि आशाधरका समय १७ वीं सदीका अन्तिम काल अथवा १८ वीं सदीका आरम्भिक भाग होगा। इस अनुमानके लिये त्रिवेणिकामें एक पर्याप्त प्रमाण भी है, जिसका यहां उल्लेख करना उचित जान पड़ता है। वैयाकरणोंमें नागेश भट्टने ही स्पष्ट शब्दोंमें व्यंजनाकी सत्ता स्वीकार की है[1]। उनके पहले वाले वैयाकरण तो उसे अभिधाके दीर्घ व्यापारके अन्तर्गत ही मानते थे। परन्तु नागोजीका कहना है कि निपातोंका द्योतकत्व तथा स्फोटका व्यंग्यत्व स्वीकार करनेवाले पतंजलि भर्तृहरि आदि वैयाकरणोंने भी अस्पष्ट रूपसे व्यंजना मानी है। वैयाकरणोंके लिये व्यंजनाका मानना अत्यावश्यक है—उसके बिना उनका काम चलना कठिन हो जायगा। अतएव नागेशने स्पष्टतः व्यंजनाको वृत्यन्तर माना है। परन्तु आशाधरको इस मतका बिल्कुल पता नहीं। यदि ऐसा होता, तो वैयाकरणोंके मतका खण्डन करके व्यंजना सिद्ध करनेके लिये वे उद्योग ही न करते[2]। इस 'सिद्ध-साधन' से लाभ ही क्या होता? अतः कहना पड़ता है कि नागोजीके मतका आशाधरको कुछ भी पता नहीं था। नागेशका समय १७वीं सदीका अन्त तथा १८वींका आरम्भ माना गया है। अतः हम कह सकते हैं कि कोण्डभट्ट और नागोजी भट्टके समयके बीचमें आशाधर उत्पन्न हुए थे; अर्थात् आशाधरका समय अनुमानतः १७वीं सदीका उत्तरार्द्ध सिद्ध होता है।

---

१ अतएव निपातानां द्योतकत्वं स्फोटस्य व्यंग्यता च हर्यादिभिरुक्ता। द्योतकत्वञ्च स्वसमभिव्याहृतपदनिष्ठशक्तिव्यञ्जकत्वमिति।" वैयाकरणानामप्येतत्स्वीकार आवश्यकः।

—परमलघुमञ्जूषा; पृ० २०.

२ त्रिवेणिका; पृ० २७–२८.

आशाधर के ग्रंथ

पूर्वोक्त समय-निरूपणके अनन्तर इनके ग्रन्थोंका संक्षिप्त विवरण दिया जाता है। इनके निम्नलिखित प्रकाशित या अप्रकाशित ग्रन्थोंका उल्लेख पाया जाता है—

(१) कोविदानन्द
(२) त्रिवेणिका
(३) अलंकारबोधिका
(४) अद्वैतविवेक
(५) प्रभापटल

(१) कोविदानन्द

इस ग्रन्थका उल्लेख 'त्रिवेणिका'में अनेक स्थलोंपर आया है, जिससे ज्ञात होता है कि कोविदानन्दमें 'वृत्ति'का विवेचन बड़े विस्तारके साथ किया गया था। त्रिवेणिकाके पहले ही श्लोकके 'पुनः'[१] शब्दसे जान पड़ता है कि कोविदानन्दमें वृत्तियोंका ही विशिष्ट वर्णन था, जिसका एक प्रकारका सारांश 'त्रिवेणिका'में उपस्थित किया गया है। इस अनुमानकी पुष्टि भी यथेष्ट रीतिसे हो सकती है। डाक्टर भांडारकरने 'कोविदानन्द' नामक एक हस्तलिखित ग्रन्थका नामोल्लेख किया है[२]। उसके नीचे लिखे श्लोकसे उपर्युक्त अनुमानकी सर्वथा पुष्टि होती है—

प्राचां वाचां विचारेण शब्द-व्यापारनिर्णयम्।
करोमि कोविदानन्दं लक्ष्यलक्षणसंयुतम्॥

---

१ प्रणम्य पार्वतीपुत्रं कोविदानन्दकारिणा।
आशाधरेण क्रियते पुनर्वृत्तिविवेचना॥

२ List of Sanskrit Mss. Part I. 1853, Bombay p. 68.

भांडारकरने यह भी पता दिया है कि ग्रन्थ [illegible] कुछ 'कादम्बिनी' नामकी एक टीका भी इसपर है। यदि यह सटीक ग्रन्थ प्रकाशित हो जाय, तो सम्भवतः 'शब्दवृत्ति' विषयक ग्रन्थोंमें अत्युत्तम होगा[1]।

(२) त्रिवेणिका

त्रिवेणिका या शब्द त्रिवेणिका आशाधरकी महत्त्वपूर्ण रचना[2] है। डाक्टर औफ्रेक्टने इसे व्याकरण ग्रन्थ लिखा था, जिससे भ्रममें पड़कर अलंकार शास्त्रके इतिहास लिखनेवाले डाक्टर दे तथा श्रीयुत काणेने इस ग्रन्थका उल्लेख तक नहीं किया है। परन्तु है यह अलंकार-ग्रन्थ, जैसा कि इसके विषय-विवरणसे स्पष्ट प्रतीत हो जायगा।

इस ग्रन्थका नामकरण भी बहुत ही उपयुक्त हुआ है। इसमें शब्दकी अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना नामक तीनों वृत्तियोंका समुचित वर्णन दिया हुआ है। इस ग्रन्थ तथा प्रसिद्ध त्रिवेणीके साथ केवल संख्या मात्रकी ही समानता नहीं है, बल्कि यह सादृश्य कई अंशोंमें और भी सूक्ष्म है। अभिधा गंगाके समान है। जिस प्रकार प्रयागमें प्रधान स्थान भागीरथीको ही दिया जा सकता है, उसी प्रकार शब्दकी वृत्तियोंमें अभिधा ही प्रधान है। यमुना जिस तरह गंगाके ही आश्रित रहती है, उसी प्रकार लक्षणा भी अपनी स्थितिके लिये अभिधा ही पर अवलम्बित है। सहृदय-हृदय-संवेद्य व्यंग्य अर्थोंकी प्रतिपादिका व्यंजनाकी समानता गुप्त सरस्वतीके सिवा और किसके साथ उचित रीतिसे की जा सकती है? जिस प्रकार इस पवित्र संगमपर सरस्वती है अवश्य, परन्तु साधारणतया दृष्टिगोचर नहीं होती, उसी प्रकार व्यंजना भी रसिक मनुष्योंके द्वारा

---

१ See Introduction to Trivenika by Batuka Nath Sarma p. 11.

२. 'सरस्वती-भवन-टेक्ट्स' ग्रन्थमालामें काशीसे प्रकाशित।

ही जानी जा सकती है। यह तो इस ग्रन्थके नामकरणके विषयमें हुआ। अब इसके विषयकी ओर ध्यान दीजिए।

अपने नामके अनुसार यह ग्रन्थ तीन परिच्छेदोंमें बांटा गया है। प्रथम परिच्छेदमें अभिधाका वर्णन बड़ी विशद रीतिसे किया गया है। सबसे पहले ग्रन्थकारने अर्थज्ञानको चारु, चारुतर तथा चारुतम भागमें विभक्त किया है। अभिधा-जन्य अर्थ चारु, लक्षणासे उत्पन्न चारुतर तथा व्यंजनागम्य चारुतम बतलाया गया है। शक्तिका लक्षण लिखकर उसे योग, रूढ़ि तथा योगरूढ़ि इन तीनों विभागोंमें उदाहरणके साथ विभक्त किया है। इसके अनंतर उन साधनोंका वर्णन किया है, जिनके द्वारा शक्तिका ग्रहण हुआ करता है। आशाधरने शक्ति-ग्राहक साधनोंके व्याकरण, कोश, निरुक्त, मुनिवचन, व्यवहार, व्याख्यान, वाक्यशेष, प्रसिद्ध अर्थ-वाले पदकी सन्निधि तथा उपमान—ये नव विभाग किए हैं। प्रसंगवश अनेकार्थक शब्दोंका एक अर्थमें नियन्त्रण करनेवाले लिंग, प्रकरण, फल आदि प्रसिद्ध साधनोंका भी उल्लेख उचित रीतिसे किया गया है। उनके छोटे-छोटे उदाहरण भी इतनी कुशलतासे समझाए गए हैं कि साधारण बालक भी भलीभांति समझ जाय।

दूसरे परिच्छेदमें लक्षणाका विस्तृत विवेचन उपस्थित किया गया है। प्रथमतः लक्षणाका लक्षण किया गया है। इसके अनन्तर समस्त भेदोंका उल्लेख एक साथ ही कर दिया गया है। जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा, जहदजहल्लक्षणा–निरूढ़ा, फलवती–गूढ़ा, अगूढ़ा, व्यधिकरणविषया तथा समानाधिकरण-विषया—गौणी, शुद्धा तथा इनके और भी उपभेदोंका सोदाहरण विवेचन बहुत ही सन्तोषजनक है। इस परिच्छेदमें प्रसिद्ध काव्य-ग्रन्थोंसे भी उदाहरण दिए गए हैं तथा वामन आदि आचार्योंके मतका भी उचित स्थानपर उल्लेख किया गया है। लक्षणाके प्रयोजक सम्बन्धोंकी सूक्ष्म विवेचना करके ग्रन्थकारने अपनी सूक्ष्म विषयग्राहिणी

वृद्धिका अच्छा परिचय दिया है। यह परिच्छेद अन्य दोनोंकी अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण तथा आकारमें भी बड़ा है। अन्तमें ग्रन्थकारने इन तीनों वृत्तियोंके ग्राहक मनुष्योंमें भी क्या ही अच्छा भेद प्रदर्शन कराया है--

शक्तिं भजन्ति सरला लक्षणां चतुरा जनाः।
व्यञ्जनां नर्ममर्मज्ञाः कवयः कमना जनाः॥

अन्तिम प्रकरणमें व्यंजनाका विषय है। व्यंजनाके लक्षणके अनन्तर उसके शक्तिमूलक तथा लक्षणामूलक भेदोंका विवेचन उदाहरणके साथ उपयुक्त रीतिसे किया गया है। नैयायिकोंने अनुमानके अन्तर्गत व्यंजना माननेका जो प्रयास किया है, उसकी किंचित् सूचना देकर आशाधरने इस मतका आलंकारिकोंकी शैलीसे खण्डन किया है। इसी प्रकार वैयाकरणोंके शक्तिके अन्तर्गत व्यंजना माननेके सिद्धान्तका भी खण्डन किया गया है। बस इस प्रकरणका यही सार है। व्यंजना-प्रकरण जितने अच्छे ढंगसे होना चाहिए, न तो उतने अच्छे ढंगसे दिया गया है, न व्यंजना-स्थापन या व्यंजनाके भेद-प्रभेदोंका ही विशेष हाल है। सचमुच इस प्रकरणसे निराश होना पड़ता है। सबके अन्तमें आशाधरने 'प्रभापटल' से दो पद्य उद्धृत किए हैं, जो उनकी काव्य-कलाके अच्छे निदर्शन माने जा सकते हैं। वे पद्य नीचे दिए जाते हैं--

यदिह लिखतामव्युत्पत्त्या पतेल्लघु दूषणं
निपुणधिषणैरुज्झित्वा तत् कृतिर्मम सेव्यताम्।
सरसि विमले वातक्षिप्तं निवार्य तु शैवलं
सलिलममृतप्रायं प्रायः पिबन्ति पिपासवः॥ १॥
यदि मम सरस्वत्यां कश्चित्कथञ्चन दूषणं
प्रलपति, तदा प्रौढप्रज्ञैः स किं कविभिः समः?
रघुपतिकुटुम्बिन्यां सत्यामवद्यमुदाहरन्
हतकरजकः साम्यं लेभे स किं सह राजभिः॥ २॥

'त्रिवेणिका'का जो सारांश दिया गया है, उससे पाठकोंको इसके महत्त्वका पता अवश्य लग गया होगा। शब्दवृत्ति-विषयक जितने ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं, उन सबमें यह ग्रन्थ उत्तम है।

(३) अलंकार दीपिका

आशाधर भट्टका यह तीसरा ग्रन्थ एक प्रकारसे त्रिवेणिकाकी पूर्ति करता है। इस ग्रन्थके विषय-विवेचनको ठीक रीतिसे समझनेके लिये इसके आधार-ग्रन्थ कुवलयानन्दकी संक्षिप्त चर्चा करना अप्रासंगिक न होगा। ईसवी तेरहवीं शतीमें जयदेव नामक पण्डितने अलंकार शास्त्र-विषयक 'चन्द्रालोक' नामक अत्युत्तम ग्रन्थकी रचना की। इसमें अल्प परिमाणमें ही अलंकारशास्त्रकी ज्ञातव्य बातें एकत्र कर दी गई हैं। अलंकारोंके लक्षण तथा उदाहरण देते समय जयदेवने एक ही पद्यमें दोनों का समावेश कर पाठकोंके लिये बहुत ही उपकार किया है। १७ वीं शती-अप्पय दीक्षितने इसी ग्रन्थकी सहायतासे 'कुवलयानन्द' नामक एक लोकप्रिय ग्रन्थकी रचना की, जिसमें अर्थालंकारोंके लक्षण तथा उदाहरण एक ही श्लोकमें समाविष्ट करनेके अतिरिक्त प्राचीन काव्य-ग्रन्थोंसे तद्विषयक दृष्टांत भी दिए गए हैं। स्थान स्थानपर प्राचीन सिद्धान्तोंका खण्डन-मण्डन भी उचित रीतिसे किया गया है। अपने कथनानुसार ही[1], अप्पय दीक्षितने अनेक अर्थालंकारोंको चंद्रालोकसे हूबहू अपने ग्रन्थमें उद्धृत कर लिया है। भाविकसंधि, उदारसार आदि चंद्रालोकके कतिपय अलंकारोंको छोड़ दिया है तथा बहुतसे नवीन अलंकारोंकी उद्भावना कारिकाके रूपमें कर दी है। इस प्रकार १०० अलंकारोंका वर्णन तो ठीक ढंगपर कारिकाके रूपमें किया गया है; परन्तु अन्तमें लगभग २४ अलं-

---

१ येषां चंद्रालोके दृश्यन्ते लक्ष्यलक्षणश्लोकाः।
प्रायस्त एव तेषामितरेषां त्वभिनवा विरच्यंते।

कारोंका नाम निर्देश किया गया है। प्राचीन ग्रन्थोंसे उदाहरण भी पेश किए गए हैं; परंतु उनके लक्षण तथा दृष्टांत कारिकाओंमें नहीं दिए गए हैं।

अब आशाधरके ग्रन्थपर दृष्टिपात कीजिए। यह ग्रन्थ तीन प्रकरणोंमें समाप्त हुआ है।] पहले प्रकरणमें कुवलयानन्दमें लिखित कारिकाओंकी सरल रीतिसे व्याख्या की गई है। मूल ग्रन्थके अलंकार-विषयक सूक्ष्म विवेचन बालकोंके लिये अनुपयोगी समझकर इसमें छोड़ दिए गए हैं— केवल मूल कारिकापर सरल व्याख्या ही दी गई है। आशाधरने स्वयं ही इस प्रकरणके अन्तमें इन कारिकाओंको अप्पयदीक्षित विरचित मूल कारिका बतलाया है।

दूसरे प्रकरणका नाम 'उद्दिष्टालंकार प्रकरण' है। कुवलयानन्दके अन्तमें रसवत्, प्रेय आदि जिन अलंकारोंके केवल नाम ही गिनाए गए हैं, उनपर आशाधरने तदनुरूप ही कारिकाएं बनाई हैं। इस प्रकरणके अन्तमें[1] उन्होंने इसे स्पष्ट प्रकारसे अपनी रचना बतलाया है। इन कारिकाओंमें ठीक कुवलयानन्दकी शैलीपर प्रथमार्द्धमें लक्षण तथा उत्तरार्द्धमें दृष्टांत उपस्थित किए गए हैं। पश्चात् इनकी समुचित व्याख्या भी की गई है।

तीसरा 'परिशेष-प्रकरण' कहा गया है। इसमें संसृष्टि तथा संकर अलंकारके पांच प्रकारके भेद सन्निविष्ट किए गए हैं। दूसरे प्रकरणके समान ही इस प्रकरण की भी समग्र कारिकाएं आशाधरकी खास अपनी रचना हैं[2]। व्याख्या भी उसी रीतिसे ऐसी सुगमतासे की गई है कि साधारण विद्यार्थी भी यथेष्ट लाभ उठा सकता है।

---

१ आशाधरभट्टकृतमुद्दिष्टनामकं द्वितीयं प्रकरणं समाप्तम्।

२ इति...आशाधरभट्टविरचितं तृतीयं परिशेषप्रकरणं समाप्तम्।

आशाधरने ग्रन्थका नाम 'कुवलयानन्दकारिका' तथा अपनी टीकाका नाम 'अलंकारदीपिका' रखा है। ऊपरके वर्णनसे पाठकोंने इसका संक्षिप्त परिचय अवश्य पा लिया होगा। इसमें जितने अलंकार माने गए हैं उतने सम्भवतः किसी अन्य अलंकार ग्रन्थमें नहीं हैं। अलंकारोंकी संख्या लगभग १२५ के है। अलंकारशास्त्रमें प्रवेश करनेके लिये—विशेषतः अलंकारोंके लक्षण सुगमतासे याद करनेके लिये—यह ग्रन्थ अतीव उपयोगी सिद्ध हो सकता है। परन्तु इसका जितना प्रचार अपेक्षित है, दुर्दैववश उतना इस समय नहीं है।

(४) अद्वैत-विवेक

त्रिवेणिकाके ११वें पृष्ठमें इसका उल्लेख पाया जाता है। इस ग्रन्थसे एक पद्य भी उद्धृत किया गया है। यह ग्रन्थ अभीतक नहीं मिला है। इसके नामसे अनुमान किया जा सकता है कि सम्भवतः यह कोई वेदान्त ग्रन्थ होगा।

(५) प्रभापटल

'प्रभापटल'का नाम अभीतक किसीको मालूम नहीं था। जहांतक जान पड़ता है, सबसे पहले श्री बटुकनाथजी शर्म्माने ही अपनी बृहत् भूमिकामें इस ग्रन्थका उल्लेख किया है।

इस ग्रन्थसे हरिणी छंदमें दो पद्य त्रिवेणिकाके अन्तमें उद्धृत किए गए हैं। ये दोनों श्लोक इसी लेखमें पहले दिए जा चुके हैं।

स्पष्ट है कि अलंकार-शास्त्रको सर्व साधारणके लिये सुगम कर देनेके ही विचारसे प्रेरित होकर इन्होंने अपने अधिकांश ग्रन्थोंकी रचना की है। ग्रन्थोंकी उपादेयताके विषयमें सन्देह करनेकी तनिक भी जगह नहीं है। जिस उद्देश्यको सामने रखकर इन प्रारम्भिक ग्रन्थोंकी रचना की है, लेखककी विनीत सम्मतिमें उसकी पूर्ति उचितम ात्रामें हुई है। इस गए-

गुजरे समयमें, जब पाठक प्राचीन आलंकारिकोंको यथोचित समझनेका कष्ट उठाना नहीं चाहते, इन पुस्तकोंके पठन-पाठनसे उचित लाभ उठाया जा सकता है।

४१—विश्वेश्वर पण्डित

ये अल्मोड़ा जिलाके अन्तर्गत पाटिया ग्रामके पाण्डेय थे। पर्वतीय ब्राह्मणोंमें 'पाटियाके पाण्डे' लोगोंका कुल आज भी अपनी विद्वत्ता तथा सच्चरित्रताके लिए प्रसिद्ध है। इनका समय १८वीं शताब्दीका आरम्भ प्रतीत होता है। ये अपने समयके बड़े ही मूर्धन्य विद्वान् थे। इनके पिताका नाम 'लक्ष्मीधर' था जिनका उल्लेख इन्होंने अपने ग्रन्थोंके अन्तमें किया है। अप्पयदीक्षित तथा पण्डितराज जगन्नाथका खण्डन इन्होंने यत्रतत्र किया है। इन्होंने दण्डीके कोई टीकाकार मल्लिनाथ (पृ० ७३), चण्डीदास (पृ० १२५, १६६) महेश्वर (पृ० ४९) तथा काव्यडाकिनीका उल्लेख अलंकार कौस्तुभमें किया है। इनके जेठे भाईका नाम उमापति था (पृ० ३८७)। ये साहित्यके अतिरिक्त व्याकरण तथा न्यायके भी प्रकाण्ड पण्डित थे। वैयाकरण सिद्धान्त-सुधानिधि (चौ० सं० सी०) इनका भाष्यानुसारी विशाल ग्रन्थराज है। तर्ककुतूहल तथा दीधितिप्रवेश इनके तर्कशास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थ है।

इनके साहित्यशास्त्रविषयक ग्रन्थ नीचे दिये जाते हैं—

(१) अलंकार कौस्तुभ[1]—विश्वेश्वर पण्डितका सबसे मूर्धन्य ग्रन्थ यही है। अलंकार कौस्तुभ हमारी दृष्टिमें पण्डित

---

१. ग्रन्थकारकी व्याख्याके साथ प्रकाशित 'काव्यमाला' संख्या ६६, सं० १८९८।

राजकी शैलीमें निबद्ध साहित्य शास्त्रका अन्तिम प्रामाणिक ग्रन्थ है। इसकी महती विशेषता है अलंकारोंके स्वरूपका प्रामाणिक विवेचन जिसमें स्थान स्थानपर अप्पय दीक्षित तथा पण्डित-राजके मतका खण्डन बड़ी युक्तिमत्ताके साथ किया गया है। उपमाके रूप तथा प्रभेदोंका विवेचन डेढ़ सौ पृष्ठोंमें किया गया है। विश्वेश्वरका पाण्डित्य बड़ा ही व्यापक था। वे साहित्यके अतिरिक्त न्याय तथा व्याक-रणके अप्रतिम पण्डित प्रतीत होते हैं। पूरा ग्रन्थ नव्यन्यायकी रीतिसे रचा गया है। अतः इसकी उत्कृष्टता तथा प्रामाणि-कतामें किसी प्रकारका वैमत्य नहीं हो सकता। अलंकार मुक्तावलीके आरम्भमें ग्रन्थकार अलंकार कौस्तुभको 'नानापक्ष विभावनकुतुकं' कहते हैं जिससे स्पष्ट है कि उन्होंने अलंकारके विषयमें विभिन्न मतोंकी आलोचनाके लिए ही इस ग्रन्थका निर्माण किया था।

(२) **अलंकार-मुक्तावली**[१]—यह बालकोंको अलंकारोंके सुगम बोधके निमित्त रचा गया था। विवेचन बहुत ही कम है। लक्षण तथा उदाहरणका निर्देश ही मुख्य है।

(३) **रस-चन्द्रिका**[२]—रसका सामान्य विवेचनात्मक ग्रन्थ।

(४) **अलंकार-प्रदीप**[३]—इसमें अर्थालंकारका सुगम विवे-चन है।

(५) **कवीन्द्र-कण्ठाभरण**—इस ग्रन्थमें चार परिच्छेद हैं और चित्रकाव्यका बड़ा ही सुन्दर और प्रामाणिक विवरण यहां उपलब्ध होता है। यह ग्रन्थ 'विदग्धमुखमण्डन' की शैलीपर लिखा गया है, परन्तु

---

५. काशी संस्कृत सीरीज़, सं० ५४; काशी १९८४ सं०

६. काशी संस्कृत सीरीज़, सं० ५३; काशी १९८३ सं०

७. काव्यमाला, अष्टम गच्छकमें प्रकाशित पृ० ५१–१०८; १९११,

विवेचनमें उससे कहीं अधिक रोचक तथा प्रामाणिक है। प्रहेलिका तथा नानाप्रकारकी चित्र-जातियोंके ज्ञानके लिए यह हमारे शास्त्रका सर्वोत्तम ग्रन्थ है।

४२—नरसिंह कवि—नञ्जराज यशोभूषण[1]।

इस कविकी उपाधि थी—अभिनव कालिदास। कविने यह ग्रन्थ अपने आश्रयदाता 'नञ्जराज' की प्रशंसामें लिखा है। पुस्तक तो है अलंकार-शास्त्र की, परन्तु समग्र उदाहरण 'नञ्जराज' के विषयमें ही दिये गये हैं। ये नञ्जराज महीसूरके अधिपतिके मन्त्री थे तथा १८वीं शताब्दीमें उस देशपर शासन कर रहे थे। भारी प्रतापी थे और महाराष्ट्रों तथा मुसलमानोंके आक्रमणसे देशकी रक्षा करनेमें समर्थ थे। महाराजा तो नाममात्रके शासक थे। शासनका समग्र कार्य नञ्जराजके ही हाथों सिद्ध होता था। नरसिंह कवि भी मैसूरके ही निवासी थे तथा नञ्जराजके आश्रित थे। समय १८ शतक।

'नञ्जराज यशोभूषण' ठीक शिवराजभूषणके समान ही ग्रन्थ है। इसमें ७ विलास हैं—जिनमें (१) नायक, (२) काव्य, (३) ध्वनि, (४) रस, (५) दोष, (६) नाटक, (७) अलंकारका क्रमशः निरूपण किया गया है। इस प्रकार यहां काव्य तथा नाट्यका एक साथ ही सरल विवेचन प्रस्तुत किया गया है। षष्ठ विलासमें कविने अपने आश्रयदाता-की स्तुतिमें एक पूरा नाटक ही बना रखा है जिसमें 'नाटक'के समस्त लक्षणोंका समावेश किया गया है। यह ग्रन्थ विद्यानाथ रचित 'प्रताप-रुद्रयशोभूषण' के अनुकरणपर लिखा गया है जिसकी विशेष छाया—ग्रन्थकी योजना तथा उदाहरणों—पर स्पष्ट रूपसे पड़ी है। दक्षिण

---

१. गा० ओ० सी० ग्रन्थसंख्या ४७।

नायकके उदाहरणोंमें दिया गया यह पद्य कविकी काव्यशैलीका पर्याप्त द्योतक है--

धम्मिल्ले नवमल्लिकाः स्तनतटे पाटीरचर्चा गले,
हारं मध्यतले दुकूलममलं दत्त्वा यशः कैतवात्।
यः प्राक् दक्षिण पश्चिमोत्तरदिशाः कान्ताः समं लालयन्,
आस्ते निस्तुलचातुरीकृतपदः श्रीनञ्जराजाग्रणीः॥

(पृ० ७)

उपसंहार

अलंकार-शास्त्रका यही क्रमबद्ध ऐतिहासिक विवरण है। इसके अनुशीलनसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह हमारा साहित्य शास्त्र ६०० ई० से १८०० ई० तक अर्थात् १२०० वर्षोंके सुदीर्घकालमें फैला हुआ था। इसका आरम्भ-काल ६०० ई० से भी प्राचीन है। भरतके नाट्यशास्त्र (२०० ई०) में भी अलंकार-शास्त्रका विवरण उपलब्ध होता है परन्तु उस समय हमारा शास्त्र नाट्यशास्त्रका एक सामान्य अंग-मात्र ही था। इस शास्त्रका उद्गम भारतके किस प्रान्तमें हुआ! इसका यथार्थ विवरण हम नहीं दे सकते। परन्तु इसकी विकास-भूमिसे हम पूर्णतः परिचित हैं। शारदा-देश काश्मीर ही साहित्य-शास्त्रके विकासकी पवित्र-भूमि है। भरतके निवास-स्थानका हमें ज्ञान नहीं है परन्तु भामह, उद्भट, रुद्रट, मुकुल भट्ट, आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, रुय्यक, मम्मट, भट्टनायक, कुन्तक, महिमभट्ट जैसे महनीय आलोचकोंकी जन्मभूमि काश्मीर देश ही थी यह हम निश्चित रूप से कह सकते हैं। बिल्हण शारदा-देश (काश्मीर)को कविता-विलास तथा केशर-प्ररोहकी जननी मानते हैं। इनमें हम अलंकार-शास्त्रके नामको भी जोड़कर यह भलीभांति उद्घोषित कर सकते हैं कि जिस काश्मीरमें कवियोंने अपनी कमनीय काव्यकलाका प्रदर्शन किया उसी देशमें काव्यके मर्मज्ञोंने काव्यकी यथार्थ समीक्षा की। अतः यह भूमि संस्कृतके महाकवियों की ही नहीं प्रत्युत संस्कृतके महनीय आलोचकोंकी भी जन्मदात्री है। हमारे आलोचना-शास्त्रका जो सारभूत मौलिक अंश है उसका विवेचन और विवरण इसी काश्मीर देशमें किया गया। प्राचीन आलंकारिकोंमें दण्डी ही ऐसे हैं जो काश्मीरी न होकर दक्षिण देशके निवासी थे। पिछले युगमें मध्यभारत,

गुजरात, दक्षिण (महाराष्ट्र) तथा बंगालमें भी साहित्य-शास्त्रके ग्रन्थोंका प्रणयन किया गया। परन्तु इन ग्रन्थोंमें किसी मौलिक तत्त्वका विवेचन नहीं किया प्रत्युत काश्मीरी आलोचकोंके द्वारा निर्धारित सिद्धान्तोंका ही सुबोध तथा बालोपयोगी वर्णन प्रस्तुत करनेमें ही इन विद्वानोंने अपनेको कृतकृत्य समझा।

भारतीय अलंकार-शास्त्रके इतिहासको मोटे तौरसे हम चार भागोंमें विभक्त कर सकते हैं[१]—

(१) प्रारम्भिक काल (अज्ञात कालसे भामहतक)।

(२) रचनात्मक काल (भामहसे आनन्दवर्धनतक)।
६५० ई० से ८५० ई० तक

(क) भामह, उद्भट और रुद्रक।
(अलंकार सम्प्रदाय)

(ख) दण्डी और वामन (रीति सम्प्रदाय)

(ग) लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक आदि (रस-सम्प्रदाय)

(घ) आनन्दवर्धन (ध्वनि-सम्प्रदाय)।

(३) निर्णयात्मक काल (आनन्दवर्धनसे मम्मटतक
८५० ई० से १०५० ई०)

(क) अभिनवगुप्त—

(ख) कुन्तक—

(ग) महिमभट्ट—

(घ) रुद्रभट्ट—

---

१. इस काल-विभाजनके लिए देखिये—
डा० एस० के० डे०—हिस्ट्री आफ संस्कृत पोइटिक्स।
भाग १ पृ० ३३६-३७.

(ङ) धनञ्जय—

(च) भोजराज—

४. व्याख्या-काल (मम्मटसे जगन्नाथ तक
१०५० ई० से १७५० ई०)

(क) मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ, हेमचन्द्र, विद्याधर, विद्यानाथ, जयदेव, अप्पयदीक्षित आदि।
(ध्वनि मत)

(ख) शारदातनय, शिंगभूपाल, भानुदत्त, रूपगोस्वामी आदि (रसमत)

(ग) राजशेखर, क्षेमेन्द्र, अरिसिंह और अमरचन्द्र, देवेश्वर आदि (कविशिक्षा)

(घ) जगन्नाथ पण्डितराज, विश्वेश्वर भट्ट

जैसा कि पहले कहा गया है साहित्य-शास्त्रके आरम्भका पता नहीं चलता कि कौन-सा ग्रन्थ सबसे पहिले लिखा गया था और उसका समय क्या था? भरत नाट्य-शास्त्रमें चार अलंकार, दश गुण और दश दोषोंका वर्णन कर ही अलंकार-शास्त्रकी इतिश्री मानी गई है। भामहके काव्यालंकारसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि उसके पहिले अनेक ग्रन्थ साहित्य-शास्त्रपर निर्मित हो चुके थे, परन्तु न तो इनके ग्रन्थोंका ही पता है और न ग्रन्थकारोंका। भरत और भामहके बीचका युग हमारे शास्त्रके इतिहासमें अन्धकार-युग है। इस युगके केवल एक आलोचकका पता चलता है और वे हैं मेधावी। भामहका काव्यालंकार इस प्रथम युगका महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है और इसी पुस्तकके आधारपर भट्टिने अपने भट्टिकाव्यमें अलंकारोंका विधान प्रस्तुत किया है। इन्होंने ३८ स्वतन्त्र अलंकारोंका सन्निवेश अपने ग्रन्थमें किया है। इस युगमें नाट्यरसकी विस्तृत व्याख्या भरतने की

थी। परन्तु काव्यमें रसकी महत्ताकी ओर अभी विशेष ध्यान नहीं गया था।

साहित्य शास्त्रका रचनात्मक युग भामहसे आरम्भ होकर आनन्दवर्धनतक चला जाता है। यह दो सौ वर्षोंका काल (६५० से ८५० ई०) हमारे शास्त्रके इतिहासमें इसीलिये महत्त्वपूर्ण माना जाता है कि इसी समय काव्यके मौलिक तत्त्वोंकी उद्भावना हमारे आलोचकोंने की। एक ओर भामह, उद्भट तथा रुद्रट काव्यके उन बाह्य आभूषणोंकी रूपरेखाका निर्माण कर रहे थे जो अलंकारके नामसे अभिहित होते हैं और जिनकी ओर काव्यके पाठकोंका ध्यान सर्वप्रथम आकृष्ट होता है। इसी सम्प्रदायके नामपर इस शास्त्रका नाम अलंकार-शास्त्र पड़ा। दूसरी ओर दण्डी और वामन कविताकी रीति तथा तत् संबद्ध दश गुणोंकी परीक्षामें संलग्न थे। इनकी दृष्टिमें काव्यका सौन्दर्य गुणोंके द्वारा ही अभिव्यक्त होता है। अलंकार तो केवल उसके अतिशय करनेवाले धर्म हैं। इन आचार्योंके उद्योगके फलस्वरूप रीति सम्प्रदायकी प्रतिष्ठा इसी युगमें हुई। इन ग्रन्थकारोंकी रचनाके साथ ही साथ भरतके नाट्य-शास्त्रकी गहरी छानबीन इसी युगमें आरम्भ हुई। भट्ट लोल्लट तथा शंकुकने अपने दृष्टिकोणसे भरतके ग्रन्थपर टीकाएँ लिखीं तथा उनके रस-सिद्धान्तको समझानेका बड़ा उद्योग किया। परन्तु यह रसवाद अभीतक नाट्यके संबंधमें ही था। काव्यमें रसवादका महत्त्वपूर्ण विवेचन आनन्दवर्धनसे आरम्भ होता है।

भारतीय साहित्य-शास्त्रके सर्वश्रेष्ठ आलोचक आनन्दवर्धन इसी युगकी विभूति हैं। इन्होंने रस-सिद्धान्तकी व्यवस्था काव्यमें की तथा उसकी पूर्ण व्याख्याके लिये ध्वनिके सिद्धान्तकी उद्भावना की। इतनेसे ही वे सन्तुष्ट न हुए प्रत्युत उन्होंने अलंकार और रीतिके सिद्धान्तोंको भी अपनी काव्य-पद्धतिमें समुचित स्थान दिया। इसका फल यह हुआ कि

आनन्दवर्धनने काव्यका सर्वांगीण वर्णन सर्वप्रथम अपने ग्रन्थमें उपस्थित किया। अलंकार-शास्त्रके इतिहासमें यह काल सुवर्णयुग माना जाता है क्योंकि साहित्य-शास्त्रके भिन्न-भिन्न मौलिक सम्प्रदाय इसी युगमें उत्पन्न हुए और फूले-फले।

तीसरा काल **निर्णयात्मक काल** कहा जा सकता है। यह आनन्दवर्धनसे आरम्भ होकर मम्मटतक (अर्थात् ८५० ई० से १०५० ई०) जाता है। आनन्दवर्धनके द्वारा प्रतिपादित ध्वनिके सिद्धान्तको सुप्रतिष्ठित होनेमें दो सौ वर्षका समय लगा। एक तरफ तो अभिनवगुप्त इसकी शास्त्रीय व्याख्या करनेमें लगे थे और दूसरी ओर अनेक आलंकारिक इसके प्रबल विरोध करनेमें संलग्न थे। भट्टनायक, कुन्तक, तथा महिमभट्टकी साहित्यिक कृतियोंका यही युग है। अपने दृष्टिकोणसे इन्होंने ध्वनिके खण्डन करनेका बड़ा ही उग्र प्रयत्न किया परन्तु मम्मटने इन विरोधी मतोंकी व्यर्थता दिखलाकर ध्वनिके मतको ही सर्वतः पुष्ट किया और उसे इतने दृढ़ आधारोंपर सुव्यवस्थित कर दिया कि बादके आलंकारिकोंको उसे खण्डन करनेका साहस ही नहीं हुआ।

इस शास्त्रका अन्तिम काल **व्याख्या-काल** कहलाता है जो मम्मटसे आरम्भ होकर पण्डितराज जगन्नाथ तक (१०५० ई० से १७५० ई०) अर्थात् ७०० वर्षों तक फैला रहा। इस युगमें कुछ आचार्योंने (हेमचन्द्र, विश्वनाथ और जयदेव आदि) पूरी काव्य-पद्धतिकी समीक्षाके लिये महत्त्वपूर्ण स्वतन्त्र ग्रन्थोंकी रचना की। कुछ लोगोंने काव्यके विविध अंगों—विशेषतः अलंकार तथा रसपर—पृथक् ग्रन्थोंका निर्माण किया। रुय्यक और अप्पयदीक्षितने अलंकारोंका विशेष वर्णन किया है। शारदातनय तथा शिंगभूपालने अपने नाट्य-विषयक ग्रन्थोंमें रसका बड़ा ही सुन्दर विवेचन उपस्थित किया है।

भानुदत्तने भी इस कार्यमें विशेष सहयोग दिया है। रूपगोस्वामीने गौडीय वैष्णव मतके अनुसार मधुर रसकी व्याख्या कर रस-साधनाका मार्ग प्रशस्त बनाया। कुछ आलोचकोंने काव्यके व्यावहारिक रूपको बतलानेके लिये कवि-शिक्षा-सम्बन्धी ग्रन्थोंका निर्माण किया। राजशेखरकी काव्य-मीमांसा यद्यपि इसके पूर्व युगसे संबद्ध है तथापि इसमें कवि-शिक्षाका ही विषय विशेष रूपसे वर्णित है। क्षेमेन्द्रने इसी युगमें औचित्यके सिद्धान्तका व्यवस्थापन किया। अरिसिंह और अमरचन्द्र तथा देवेश्वरने 'कवि-कल्पलता' के द्वारा कवि शिक्षाके विषयको व्यवस्थित तथा बहुत लोकप्रिय बनाया। प्राचीन युगमें मान्य अलंकार-ग्रन्थोंपर सैकड़ों टीकाएं तथा व्याख्याएँ इस कालमें लिखी गईं जिनमें मौलिकताकी अपेक्षा विद्वत्ता ही अधिक है।

इस युगके अन्तमें दो बहुत बड़े प्रौढ़ आलंकारिक उत्पन्न हुये जिनका नाम पण्डितराज जगन्नाथ और वीरेश्वर पाण्डेय है। वीरेश्वर पाण्डेयने 'अलंकार-कौस्तुभ' लिखकर अपने प्रकृष्ट पाण्डित्यका परिचय दिया। इनकी तुलनामें पण्डितराज जगन्नाथका कार्य विशेष मौलिक तथा उपादेय है। खण्डित होनेपर इनका ग्रन्थ 'रसगंगाधर' युक्तिमत्ता और विवेचन-शैलीकी दृष्टिसे अलंकार-शास्त्रमें अद्वितीय ग्रन्थ है। अलंकार शास्त्रकी गोधूलि-वेलामें लिखे जानेपर भी यह प्रौढ़ता, गम्भीरता तथा विद्वत्तामें उसके यौवनकालमें लिखे गये ग्रन्थोंसे टक्कर लेता है।

भारतीय साहित्य-शास्त्रमें ध्वनिका सिद्धान्त ही सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। अतः इसको दृष्टिमें रखकरके हम साहित्यशास्त्रके इतिहासको निम्नांकित तीन श्रेणियोंमें विभक्त कर सकते हैं—(१) पूर्व-ध्वनिकाल (२) ध्वनिकाल और (३) पश्चात्-ध्वनिकाल। आनन्दवर्धन ध्वनि सम्प्रदायके उद्भावक हैं। अतः आरम्भसे लेकर आनन्दवर्धन तकका काल पूर्वध्वनिकाल कहलाता है। इस कालमें रस-मत, अलंकार मत तथा रीति

मतका विवेचन प्रस्तुत किया गया था। आनन्दवर्धनसे मम्मट तकका काल ध्वनिकाल कहलाएगा, जिसमें ध्वनि-विरोधी आचार्योंके मतोंका खण्डन कर ध्वनि-सिद्धान्तका व्यवस्थापन प्रबल प्रमाणोंके आधारपर किया गया था। ध्वनिपश्चात् काल मम्मटसे लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक है जिसमें ध्वनिमतको अक्षुण्ण मानकर काव्यके विविध अंगोंपर ग्रन्थोंका प्रणयन किया गया तथा प्राचीन ग्रन्थोंको सुबोध बनानेके लिये लोकप्रिय टीकाएँ तथा व्याख्याएँ लिखी गईं। अलंकार-शास्त्रके विस्तृत इतिहासका यही परिचय है।

भामह—
एक अध्ययन

प्रत्येक देश और प्रत्येक कालमें यह बात सर्वत्र चली आ रही है कि किसी ग्रन्थकर्ताका महत्त्व भविष्यमें उसकी उपयोगितापर निर्भर होता है। जितना ही अधिक किसी ग्रन्थ-कर्ताका ग्रन्थ भविष्यमें उपयोगमें लाया जायगा उतना ही अधिक उसका महत्त्व बढ़ता है। आज भी जब सर्वत्र सभ्यताका झण्डा फहरा रहा है और सभी अपनी संस्कृतिको ऊँचे शिखरपर पहुँचाते चले जा रहे हैं, अरस्तू और अफ़लातूनके नाम कम आदरसे नहीं देखे जाते। इसका क्या कारण है? अवश्य उनके ग्रन्थ उच्चकोटिके साहित्य हैं, पर इतना ही नहीं। उनके ग्रन्थोंका उपयोग जितना भविष्यमें हुआ है उतना शायद ही किसी औरका हुआ हो। इसलिए यह आवश्यक प्रतीत होता है कि किसी ग्रन्थका महत्त्व जाननेके लिए यह देखना होगा कि कहां तक भविष्यमें उसका उपयोग किया गया है और कहां तक उसकी कीर्ति विराजमान रही है।

भामहका महत्त्व

यदि अब हम अपने मान्य लेखककी ओर थोड़ी भी दृष्टि डालें तो यह बात स्पष्ट विदित हो जायगी कि भामह उन थोड़े ही गिनतीके ग्रन्थ-कारोंमेंसे हैं जिनका नाम भविष्यमें संस्कृत लक्षण-ग्रन्थोंके लेखकोंने लिया है। जहां तक हम जानते हैं शायद ही कोई लक्षण-ग्रन्थ किसी महत्त्वका होगा जिसमें भामहका नाम किसी न किसी प्रकारसे न लिया गया हो। प्रायः सभी लक्षण-ग्रन्थोंमें उनके वचन दिखाई पड़ते हैं। कुछने तो उनके विचारोंको अपना बना लिया और कुछने उनके उन्हीं शब्दोंका समावेश कर लिया। शास्त्रार्थमें भी उनके लिए एक महत्त्वका स्थान दिया गया और मतकी समानता न होनेपर भी उनको उचित सम्मान दिया गया।

ऐसा सम्मान उनको एक दो शताब्दी तक ही नहीं आजतक भी मिलता चला आ रहा है और यदि संस्कृत लक्षण-ग्रन्थोंके इतिहासमें किसीका नाम प्राचीन समयसे चला आ रहा है तो वह भरतको छोड़कर भामहका ही है। सचमुच वे प्राचीनतम लक्षण-ग्रन्थके लेखक हैं जिनका महत्त्व हम आज भी देखते हैं।

भारतवर्षके प्राचीन ही लेखक नहीं, आजकलके सर्वत्र कीर्ति-प्राप्त विद्वान् भी उनकी ओर दृष्टि डाल रहे हैं। एक समय था जब भामहके समय और चरित्रपर बड़े वाद उठ खड़े हुए थे। इसमें केवल पूर्वीय शोधक गण ही नहीं, बड़े-बड़े पाश्चात्य विद्वानोंने भी पूर्णतया भाग लिया था। यद्यपि आज भी कोई सिद्धान्त नहीं निकल सका है तथापि इस खोजने संस्कृत साहित्यके इतिहासपर नवीन प्रकाश डाल रक्खा है।

वादोंका संग्रह

यहांपर भामहके सम्बन्धमें अनेक प्रश्नोंका, जो विद्वानोंने उठाये हैं और जिनका विचार किया गया है, संक्षिप्त संग्रह दे देना अनुपयुक्त न होगा। यद्यपि भामहका नाम सर्वत्र सुनाई पड़ता था पर उनका ग्रन्थ, पहले उपलब्ध न था। भामहके ग्रन्थका कोई सूत्र न पाकर ब्यूलर निराश हो गये और उन्होंने अनुमान किया कि उनका ग्रन्थ सदाके लिए लुप्त हो गया[१]। सन् १८८० ई० में सर्वप्रथम यह ग्रन्थ गस्टेव ओपर्टको मिला पर उनके वर्णनसे किसी विशेष बातका पता नहीं लगता[२]। संस्कृत लक्षण-ग्रन्थोंकी सूचीमें जेकबने भामहके काव्यालंकार[३] का भी नाम दिया है

१. Buhler's Kashmir Report, 1877.
२. List of Sanskrit Mss. in Private Libraries of Southern India, Vol 1, No. 3731.
३. J. R. A. S. 1897-98.

पर यह नाम देना भी किसी उपयोगका न हुआ। एक कन्नड ग्रन्थकी एक प्रतिमें[1] के० बी० पाठकने केवल इसका नाम दिया है। भामहके ग्रन्थका कुछ ठीक-ठीक वर्णन सर्वप्रथम बैंगलोरके आर० नरसिंहाचारने दिया। लक्षणोंके कनाड़ी ग्रन्थोंके एक संस्करणकी भूमिकामें[2] उन्होंने लिखा है कि उनके (भरतके) अनन्तर भामहका समय है जो कि अवश्य दण्डीके पूर्वकालीन हैं, क्योंकि दण्डीने अपने काव्या-दर्शमें उनके मतकी समालोचना की है। लक्षण-ग्रन्थोंमें वे एक सम्मानित व्यक्ति हैं। उनके मत उस-उस स्थलपर सभी ग्रन्थकारोंने उनके अनन्तर दिया है। मद्रास प्रेसीडेन्सी कालेजके प्रो० रंगाचार्यको उनकी बहुमूल्य हस्तलिखित प्रति प्राप्त हुई। वह लिखते हैं कि ग्रन्थमें कोई समय नहीं दिया है; पर शायद छठी शताब्दीके पूर्वभागमें वह रखा जा सकता है। कनाड़ी ग्रन्थकी भूमिकामें लिखे जानेके कारण संस्कृत विद्वानोंकी दृष्टिमें यह बात पहले नहीं आई।

एम० टी० नरसिंह आयंगरके भामहपर लेखके अनन्तर संस्कृत विद्वानोंकी दृष्टि इस आलंकारिककी ओर गई[3]। उन्होंने उनके सम्बन्धमें प्रायः सभी प्रश्नोंपर अपना विचार प्रकट किया। उनका विचार था कि भामह बौद्ध थे और दण्डीके अनन्तर उनका समय था। बार्नेटने उसी वर्ष एक टिप्पणी लिखकर उनके मतका अनुमोदन किया और लिखा कि भामह आठवीं शताब्दिके पूर्वभागमें थे[4]। काणेने इस मतका खण्डन करनेका अवश्य प्रयत्न किया कि भामह बौद्ध थे पर उनका भी मत यही

---

१. कविराज Edited by K. B. Pathak, 1898.
२. काव्यावलोकनम् by नागवर्मा Edited by R. Narsimhachar 1903.
३. J. R. A. S. 1905 P. 535 ff.
४. J. R. A. S. 1905 P. 841.

था कि वे दण्डीके अनन्तर हुए[१]। सन् १९०९ में के० पी० त्रिवेदीने विद्यानाथका प्रतापरुद्रयशोभूषण बंबई-संस्कृत-ग्रन्थावलिमें प्रकाशित किया और उसीके परिशिष्टमें भामहका काव्यालंकार पहिले पहिल प्रकाशित हुआ। त्रिवेदीजीने एक विद्वत्तापूर्ण भूमिका लिखी और उसमें भामहके सम्बन्धमें अनेक प्रश्नोंपर विचार किया। उनकी युक्तियां प्रायः सभी नरसिंहाचारके मतको खण्डन करती थीं। इसके अनन्तर डा० याकोबी और प्रो० रंगाचार्यने १९१० में[२] और अनन्ताचार्य[३]ने १९११ में लेख लिखा जिसमें उन्होंने त्रिवेदीके मतका ही समर्थन किया। नरसिंहाचारने कुछ और नई युक्तियां देकर भामहको दण्डीके पूर्वकालीन होना सिद्ध किया[४]। उसी वर्ष के० बी० पाठकने एक विद्वत्तापूर्ण लेख लिखकर अपने विरुद्ध दी हुई युक्तियोंके खण्डन करनेका प्रयत्न किया[५]। परन्तु दूसरे ही वर्ष त्रिवेदीने दिखा दिया कि खण्डन विद्वत्तापूर्ण होते हुए भी हृदयग्राही नहीं थे[६]। त्रिवेदीके लेखसे सब विरोधी चुप हो गये और कुछ वर्षों तक कोई नई युक्तियां नहीं दिखाई दीं। डा० याकोबीने अपनी तीक्ष्ण बुद्धि द्वारा एक नया मार्ग भामहके काल-निर्णयके लिये निकाला। वही मार्ग काणेने भी स्वतन्त्र रीतिसे अवलम्बन किया। डा० याकोबीने यह सिद्ध करना चाहा कि भामहने बहुत कुछ विचार धर्मकीर्तिसे लिए हैं और इसलिए वह धर्म-कीर्तिके अनन्तर ही रखे जा सकते हैं। बहुतोंको

---

१. J. R. A. S. 1908 P. 543.
२. Introduction to काव्यादर्श 1910.
३. Brahmawadin 1911.
४. Ind. Ant., 1912 P. 90 ff.
५. Ind. Ant. 1912 P. 232 ff.
६. Ind. Ant., 1913.

सो यह युक्ति भामहके काल-निर्णयके लिए अन्तिम युक्ति प्रतीत हुई। डा० दे[१], नोबुल[२] आदिने इसी मार्गका अवलम्बन किया।

संस्कृत अलंकार-शास्त्रका विवेचन पिछले कुछ वर्षोंसे बड़े जोरोंके साथ चल रहा है और कुछ नवीन ग्रन्थ भी प्रकाशित हुए हैं। काणेका नाम तो इस ओर अगाध पाण्डित्य और विस्तृत खोजके लिए प्रसिद्ध ही है[३] डा० एस० के० देने संस्कृत अलंकारशास्त्रका इतिहास लिखकर एक मार्केका काम किया है[४]। डा० नोबुलने हाल हीमें एक नई पुस्तक प्रकाशित की है[५] और बटुकनाथ भट्टाचार्यने भी एक लेख कलकत्ता जर्नल आफ लेटर्समें लिखा है[६]।

इतने ग्रन्थ और लेख प्रकाशित होनेपर भी पूर्वलिखित मतोंका एक स्थानपर संग्रह करनेकी कोई चेष्टा नहीं की गई। भामहका काव्यालंकार भी प्रतापरुद्र यशोभूषणके एक कोनेमें अभीतक पड़ा हुआ है। यहांपर इस लिए यह चेष्टा की जाती है कि भामह और उनके ग्रन्थके सम्बन्धमें जितनी अधिक बातें हो सकें एकत्र संग्रह की जायें और साथ ही साथ आधुनिक मतोंकी परीक्षा करके यह देखा जाय कि

---

१. History of Sanskrit Poetics Vol. I. P. 48.

२. Nobel–Foundations of Indian Poetry P. 17.

३. साहित्यदर्पण की अंग्रेजी भूमिका Bombay, 1923.

४. History of Sanskrit Poetics, 2 Vols. 1923.

५. Foundation of Indian Poetry, Calcutta 1935.

६. Calcutta Journal of Letters Vol. IX

कहांतक नवीन मत ग्राह्य हो सकता है। आशा है भामहमें रुचि रखनेवाले विद्वानोंका ध्यान इस ओर आकर्षित होगा।

भामहका व्यक्तित्व

भामहके बारेमें काव्यालंकारको छोड़कर और किसी ग्रन्थसे हम लोग बहुत कम जानते हैं। पूर्व परम्परासे यही पता चलता है कि वे काश्मीरके रहनेवाले थे और व्यूलर[१] आदि[२] भी इसीको मानते हैं। यद्यपि इसके पक्षमें परम्पराको छोड़कर कोई प्रबल युक्ति नहीं है पर इसके विरुद्ध भी माननेके लिए कोई कारण नहीं है। काव्यालंकारके अन्तिम श्लोकसे[३] यह बात विदित होती है कि इसका नाम भामह था और यह रक्रिल गोमिन्के पुत्र थे। रक्रिल शब्द राहुल, पोत्तल, सोमिल और दूसरे इसी प्रकारके बौद्ध नामोंसे मिलता-जुलता है, और इससे मालूम होता है कि इस नामका सम्बन्ध कुछ बौद्ध लोगोंसे है और यह विचार इस बातसे और पुष्ट होता है कि गोमिन् बुद्धके एक शिष्यका नाम था[४]। पाठकने यह भी लिखा है कि गोमिन् पूज्य अर्थमें लिया जाता था[५]। चान्द्र

---

१. Buhler's Kashmir Report, P. 64.

२. Narsimhachar in his Introduction to नागवर्मा–काव्यालोकनम्: Ind. Ant. 1912. Krishnamacharya: History of Classical Sanskrit Lliterature.

३. अवलोक्य मतानि सत्कवीनामवगम्य स्वधिया च काव्यलक्ष्म।
सुजनावगमाय भामहेन ग्रथितं रक्रिल गोमिसुनुनेदम्॥
—काव्या० ६।६४

४. J. R. A. S. 1905

५. Ind. Ant. 1912

व्याकरणके एक सूत्रसे[1] यह सिद्ध है कि गोमिन्का पूज्य अर्थ था। एवं यह भी कहा जाता है कि भामहके ग्रन्थके आरम्भके श्लोकोंमें[2] प्रयुक्त सार्व सर्वज्ञ शब्द स्वयं बुद्ध हीका द्योतक है। प्राकृतिक अर्थमें सार्व शब्द बुद्धके व्यापक प्रेमकी शिक्षासे मिलता-जुलता है। हेमचन्द्रने[3] तो जिनका एक नाम सार्व भी दिया है। जिन देव-मुनीश्वर[4] ने यही नहीं, सर्वीय भी उनका नाम दिया गया है। इस विचारसे कि बहुतसे बौद्ध नाम जैनोंने अपनेमें मिला लिए थे, यह अनुमान किया जा सकता है कि सार्व प्रारम्भमें बुद्धका नाम था। बुद्धका सर्वज्ञ नाम तो प्रसिद्ध ही है[5]।

अब इन सब बातोंका विचार करते हुए यह कहा जाता है कि भामहको बौद्ध सिद्ध करनेकी उपर्युक्त युक्तियां इन्हीं कारणोंसे बिल्कुल ठीक नहीं हैं। काणेने भी कहा है कि नामका सादृश्य होना किसी बातके सिद्ध करनेके लिए कोई महत्त्वका प्रमाण नहीं है[6]। जब हिन्दू और बौद्ध सैकड़ों वर्षोंसे एक साथ एक ही देशमें रहते आ रहे थे, तब यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है कि एकने दूसरेका नाम रख लिया हो। आज भी जब हम यह देखते हैं कि परस्पर भिन्न हिन्दू और मुसलमानोंके नाम एक दूसरेसे मिल जाते हैं तो बहुत संभव है कि ऐसा ही हिन्दू और बौद्धोंके बारेमें भी हो सकता है। यह बात भी हमें याद रखनी चाहिये कि बुद्ध स्वयं विष्णुके अवतार ग्यारहवीं शताब्दीके पूर्वसे ही समझे जाते थे। त्रिवेदीकी युक्तिके

१. गोमिन् पूज्ये. 4. 11 144.

२. प्रणम्य सार्वं सर्वज्ञं मनोवाक्कायकर्मभिः।
काव्यालंकार इत्येष यथाबुद्धि विधास्यते॥ काव्या १।१

३. अभिधान चिन्तामणि 1. 1. 25.

४. अभिधानचिन्ताशिलोञ्छ

५. सर्वज्ञः सुगतो बुद्धः—अमरकोश

६. Intr. साहित्यदर्पण. p. XVIII.

साथ-साथ हम यह कह सकते हैं कि गोमिन् बौद्धोंके लिए ही केवल नहीं प्रयोग किया जाता था। निघण्टुकारोंने यह दिखाया है कि यह शब्द गोस्वामिन्का अपभ्रंश है। यह पदवी उत्तरी भारतमें काश्मीरी ब्राह्मणोंके नामसे जोड़ी जाती है और यह दक्षिणके आचार्यकी द्योतक है।

किसी ग्रन्थकारके धार्मिक विचार उसके ग्रन्थसे समझना चाहिये, उसके नामसे नहीं। काव्यालंकार ग्रन्थमें समाप्ति पर्य्यन्त कोई बौद्ध विषयक बातें नहीं हैं और न बुद्धका जीवन या बुद्ध सम्बन्धी कथाओंका दिग्दर्शन है। पहले श्लोकमें अवश्य सार्व सर्वज्ञको अभिवादन किया गया है। पर सार्वका अर्थ केवल "सर्वस्मै हित" ही है[1]: किसी कोशने भी इसे केवल बुद्ध हीका नाम नहीं लिखा है। सर्वज्ञ शब्द बुद्ध और शिव[2] दोनोंके लिये समान रूपसे कोशोंमें आया है। कुमारिलने तो श्लोकवार्त्तिकमें सर्वज्ञ शब्दका पूर्ण विवेचन किया है। उसमें उन्होंने इसका अर्थ बुद्ध नहीं सर्वज्ञ ईश्वर लिया है। यह देखने योग्य बात है कि अमरसिंहने जो स्वयं बौद्ध थे किसी भी स्थानपर अमरकोशमें सार्व शब्द बुद्धके लिये नहीं रक्खा है। बौद्धोंके अपोहवादका खंडन भामहने ऐसी भाषामें किया है जो एक बौद्ध ग्रन्थकार[3] करनेका साहस नहीं कर सकता।

---

१. हितप्रकरणे णं च सर्वशब्दात् प्रयुज्यते।
ततश्छमिष्टया च यथा सार्व सार्वीय इत्यपि॥ काव्या० ६।५३

२. कृशानुरेताः सर्वज्ञो धूर्जटिर्नीललोहितः—अमरकोश

३. अन्यापोहेन शब्दोऽर्थमाहेत्यन्ये प्रचक्षते।
अन्यापोहश्च नामान्यपदार्थापाकृतिः किल॥
यदि गौरित्ययं शब्दः कृतार्थोऽन्यनिराकृतौ।
जनको गवि गोबुद्धेर्मृग्यतामपरो ध्वनिः॥ काव्या० ६।१६-१७

सीता अन्वेषण[1]–आदि अनेक रामायणकी प्रसिद्ध बातोंका वर्णन भामहके काव्यालंकारमें आया है।

रामायणसे भी बढ़कर महाभारतके पुरुषों और कथाओंका वर्णन[2] आया है। भामहने भिन्न-भिन्न प्रकारकी प्रतिज्ञाओंके उदाहरणमें पुरु[3] और भीष्मकी[4] प्रतिज्ञाओंका वर्णन किया है। उसी प्रकार युधिष्ठिर और शकुनिकी द्यूतक्रीड़ा[5], दुःशासनके रक्तपानकी प्रतिज्ञा[6] आदि भी वहां[7] वर्णित हैं। एक बहुत ही सुन्दर श्लोकमें भामहने घरपर कृष्णके आगमनके साथ विदुरका हर्ष-वर्णन किया[8] है। एक दूसरे श्लोकमें कृष्णके बेटे प्रद्युम्नका नाम ऐल पुरुरवा[9] के साथ आया।

---

१. उपलप्स्ये स्वयं सीतामिति भर्तृनिदेशतः।
हनूमता प्रतिज्ञाय सा ज्ञातेत्यर्थसंश्रया॥ काव्या० ४,३७

२. भामहका काव्यालंकार ३,७।५,३१।५,४१

३. जरामेष बिभर्मीति प्रतिज्ञाय पितुर्यथा।
तथैव पुरुणाभारि सा स्याद्धर्मनिबन्धनी॥ ५,३६

४. अद्यारभ्य निवत्स्यामि मुनिवद् वचनादिति।
पितुः प्रियाय यां भीष्मश्चक्रे सा कामबाधिनी ५. ३७

५. आहूतो न निवर्तेय द्यूतायेति युधिष्ठिरः।
कृत्वा सन्धां शकुनिना दिदेवेत्यर्थबाधिनी॥.५.४२

६. भ्रातुर्भ्रातृव्य मुन्मध्य यास्याम्यस्यासृगाहवे।
प्रतिज्ञाय यथा भीमस्तच्चकारावशो रुषा॥ ५,३९

७. काव्यालंकार २.४१.५.४१.

८. ... ... गृहागतं कृष्णमवादीद्विदुरो यथा।
अद्य या मम गोविन्द जाता त्वयि गृहागते॥
कोलेनैषा भवेत् प्रीतिस्तवैवागमनात् पुनः॥ ३.५.

९. भरतस्त्वं दिलीपस्त्वं त्वमेवैलः पुरूरवाः।
त्वमेव वीर प्रद्युम्नस्त्वमेष नरवाहनः॥ ५.५९.

इन रामायण और महाभारतकी कथाओंके साथ-साथ गुणाढ्य निर्मित बृहत्कथा[1]में वर्णित उदयन और उसके पुत्र नरवाहन दत्तकी कथा भी वर्णन की गई है। चन्द्रगुप्तके प्रसिद्ध मंत्री चाणक्यका नन्दके घरमें रात्रिके समय जाना वर्णित किया गया है।

इन सब उपर्युक्त बातोंको जब हम ध्यानमें रखते हैं तो हमें आश्चर्य होता है कि किस प्रकार एक मनुष्य लिखनेके समय अपने धर्मको एक दम भूल जायगा और दूसरे धर्मके ग्रन्थोंसे उदाहरण लेना प्रारम्भ कर देगा। बौद्ध ग्रन्थोंमें गाथाओंकी कमी नहीं है। यदि भामहकी इच्छा होती तो एक नहीं अनेक गाथा मिल जातीं। यही बात नेमिसाधु आदिके ग्रन्थोंके देखनेसे स्पष्ट हो जाती है कि उन्होंने किस प्रकार अपने ही धर्मग्रन्थोंसे गाथाओंका संग्रह किया है। इतना ही नहीं, कभी-कभी तो अपोहवाद आदिके खण्डनमें भामह बौद्धोंके विचारोंपर एक दम बिगड़ जाते हैं। शंकराचार्यके पूर्व बौद्धोंका समय यदि हम याद करें और विचारें कि किस प्रकार राजा लोग बौद्धोंकी रक्षा करते थे, तो यह बात समझनी और भी कठिन हो जाती है कि किस प्रकार एक बौद्ध हिन्दू-धर्मकी ओर प्रवृत्त हो जाता है। हम यह बात स्वीकार करते हैं कि हमारे पास भामहको हिन्दू सिद्ध करनेके लिए अकाट्य प्रमाण नहीं हैं, पर उनको बौद्ध बनानेकी युक्तियां तो और भी खेल-सी मालूम होती हैं। इस प्रश्नपर तब तक कोई सिद्धान्त निकाला नहीं जा सकता जब तक कोई स्पष्ट युक्ति और भी न मिल जाय। वर्त्तमान समयमें हम इतना ही कह सकते हैं कि वे बौद्धकी अपेक्षा ब्राह्मण ही थे।

कालनिर्णय

भामहके सम्बन्धमें सबसे अधिक महत्त्वका प्रश्न उनके कालका

---

१. काव्यालंकार ४,३९ आदि

निर्णय करना है। इसी प्रश्नको लेकर इतने वर्षों तक घोर उत्तर-प्रत्युत्तर हो रहे थे। परन्तु इतने वर्षोंतक निःस्वार्थ वादके अनन्तर कुछ सिद्धान्त अवश्य निकल आना था। पर दुर्भाग्यवश फल उल्टा ही हुआ। सभी बातें सन्देहग्रस्त रह गईं। इसलिए यहांपर यथाशक्ति स्पष्ट रीतिसे भिन्न-भिन्न युक्तियां थोड़ेमें नीचे दी जाती हैं जिससे उनकी परीक्षा करके कुछ निष्कर्ष निकल आवे।

अनेक संस्कृतके ग्रन्थकारोंकी भांति भामहने भी अपना समय सूचित करनेके लिए कोई मार्ग नहीं दिखाया है। अन्तः या बाह्य कोई भी मार्ग नहीं है, जिससे समयका ठीक-ठीक पता लग जाय। अधिकसे अधिक हम इतना ही इस समय कर सकते हैं कि जहां तक हो सके भामहके कालनिर्णय करनेके लिए पूर्व अवधि और चरम अवधि निकाल लें।

इतनेपर भी हम लोग मजबूत भित्तिपर नहीं स्थित हैं। किसी प्रकार भामहके कालकी चरम अवधि तो दूसरे ग्रन्थकारोंके वचनोंसे और उद्धृत कथादिसे मिल सकती है पर पूर्वके अवधि निर्धारण करनेके समय कठिनाइयां आ उठती हैं। इसी स्थानपर तो विद्वानोंके संघर्ष भी हुए हैं। पहिले तो हम लोग भामहके कालकी चरम अवधि निश्चय कर लें।

भामहकी चरम अवधि

इस लेखके मूल अंग्रेजी लेखके लेखकोंकी प्रकाशित प्रति[1] के परिशिष्टमें या त्रिवेदीकी प्रति[2] में देखनेसे विदित होगा कि सर्वप्रथम आनन्दवर्द्धनाचार्यने ही भामहका नाम अपने ग्रन्थमें लिया है। इसके अनन्तर बादमें आये हुए आलंकारिकोंसे हम जानते हैं कि उद्भटने भामहके काव्या-

१. काशी संस्कृत सिरीज़ बनारसमें प्रकाशित

२. परिशिष्ट ८, प्रतापरुद्रयशोभूषण (बम्बई, सं० ५४)

लंकारपर टीका लिखी थी[1]। उद्भटके मौलिक ग्रंथ काव्यालंकारसंग्रह और भामहका काव्यालंकारकी तुलनात्मक समीक्षा करनेसे मालूम होगा कि उद्भटको केवल टीका ही लिखकर संतोष नहीं हुआ। उन्होंने भामहके पदार्थोंको जहां तक हो सका है अपना लिया है जैसा कि आगे दिखाया जायगा। उद्भटने भामहके वाक्य-लक्षणोंकी नकल ही नहीं की है उनको शब्दशः वैसा ही उतार भी लिया है।

वामनकी अलंकार सूत्र-वृत्तिसे ठीक-ठीक पता चलता है कि वामनको भामहके ग्रंथका पूरा पता था। यह आगे विस्तारके साथ दिखाया जायगा कि कहा तक वामनने अपने ग्रन्थके लिखनेमें भामहकी सहायता ली है। यहां इतना ही कह देना पर्य्याप्त होगा कि वामन ने कितने ही स्थानोंपर[2] भामहके श्लोकों[3] को सूत्रका रूप दे दिया है और कहीं कहींपर[4] उन्होंने भामहके वही विचार[5] दे दिये हैं। एक स्थानपर वामन

---

१. विशेषोक्ति लक्षणं च भामहविवरणे भट्टोद्भटेन—प्रतिहारेन्दुराज की उद्भटके काव्यालंकार-संग्रहपर टीका पृ० १४।

"भामहोक्तं शब्दच्छन्दोभिधानार्थः" इत्यभिधानस्य शब्दाद् भेदं व्याख्यातुं भट्टोद्भटो बभाषे—अभिनवगुप्ताचार्यका ध्वन्यालोक-लोचन पृ० १०।

"तस्माद् गड्डलिकाप्रवाहेन गुणालंकारभेद इति भामहविवरणे यद् भट्टोद्भटोऽभ्यधात् तन्निरस्तम्"—हेमचन्द्र-अलंकार चूड़ामणि पृ० १७,।

"अपिच शब्दानाकुलिता चेति तस्य हेतून् प्रचक्षते इति भामहीये 'वाचामनाकुलत्वेनापि भाविकम्' इति चोद्भट लक्षणे"—अलंकार सर्वस्व पृ० १८३ (निर्णयसागर)।

२. वामन काव्यालंकार सूत्र ४।२।१

३. भामहका काव्यालंकार २।३०

४. वामन ४।२।२०–२१

५. भामह २।५०

ने भामहका एक श्लोक वैसाका वैसा ही लिख दिया है[1] जो कि भामहने शाखबर्द्धन[2] के नाम से उद्धृत किया था। और दूसरे स्थानपर[3] उन्होंने भामहके श्लोक[4] का कुछ भाग अशुद्ध उद्धृत कर दिया है और उसके एक शब्दके प्रयोगपर टिप्पणी लिखी है। इतनी भाषामें समानता, विचारमें सादृश्य अकस्मात् ही नहीं आ सकता, यह अवश्य किसी प्रसिद्ध ग्रंथकी बातोंके समावेश करने हीसे हो सकता है।

ऊपर लिखे हुए वचनोंसे यह तो स्पष्ट है कि भामह, उद्भट और वामनके पूर्वकालीन थे। सौभाग्यसे उद्भटका काल ठीक-ठीक निश्चित हो सकता है। आनन्दवर्द्धनाचार्यने अपने ध्वन्यालोकमें[5] कई स्थानोंपर उद्भटका नाम दिया है और कल्हणका कथन है कि उद्भट जयापीड़की सभाके सभापति थे। जयापीड़का काश्मीरमें राज्यकाल सन् ७७६ से सन् ८१३ ई० तक था। कुप्रबन्धके कारण पण्डितोंने जयापीड़का उसके राज्यकालके अन्तिम भागमें कुछ अपमान किया। इसलिये उद्भट उनके दरबारमें सन् ८०० ई० के लगभग अवश्य रहे होंगे। और इसी कारण सम्भवतः इनकी साहित्य-चर्चा आठवीं शताब्दीके अन्तिम भागमें हुई होगी। उद्भटका काल सम्भवतः लगभग ८०० ई० माना जा सकता है।

---

१. वामन ४।२।१०

२. भामह २।४६

३. वामन ५।२।३८

४. भामह २।२७

५. ध्वन्यलंकारान्तर प्रतिभायामपि श्लेषव्यपदेश्यो भवतीति दर्शितं भट्टोद्भटेन-ध्वन्यालोक (निर्णय सागर) पृ० ३६

अन्यत्र वाच्यत्वेन प्रसिद्धो यो रूपकादिरलंकारः सोऽन्यत्रप्रतीयमानतया बाहुल्येन प्रदर्शितस्तत्रभवद्भिः भट्टोभटादिभिः॥

—ध्वन्यालोक पृ० १०८।

इसी प्रकार वामनका काल भी निश्चित हो सकता है। राजशेखर सन् ९०० ई० के लगभग थे और उन्होंने वामनके मतका[1] उल्लेख किया है। वामन अवश्य इस प्रकार ९०० ई० के पूर्व रहे होंगे।

वामनने अनेक श्लोक भवभूतिके नाटकोंसे लिये हैं।[2] भवभूतिका समय ७०० और ७५० के मध्यमें ही है। वामन इसलिये ७५० के अनन्तर ही रहे होंगे। राजतरंगिणी[3] के अनुसार कोई वामन काश्मीरके जयापीड़ राजाके मंत्री थे और काश्मिरी पण्डितोंमें यह बात प्रचलित है कि काव्यालंकार-सूत्रवृत्तिके रचयिता और यह मंत्री महोदय एक ही थे। इस प्रकार उद्भट और वामन समकालीन प्रतीत होते हैं। यह भी सम्भव है कि उन दोनोंमें प्रतिद्वन्द्विता थी। पर आश्चर्य यह है कि यह दोनों एक दूसरे का नाम भी नहीं लेते। तथापि किसी प्रकार हो उद्भट और वामनका समय सन् ८०० ई० के लगभग अवश्यमेव था।

शान्तरक्षितने भामहके काव्यालंकार[4]में तीन श्लोक[5] लिये हैं और कमलशील टीकाकारने स्पष्टतया उनको भामहका कहा है। शान्त-

१ 'कवयोऽपि भवन्तीति वामनीया'—काव्यमीमांसा पृ० १४।
'आग्रह परिग्रहादपि पदस्थैर्य पर्यवसायस्तस्मात् पदानां परिवृत्ति-वैमुख्य पाकः" इति वामनीयाः—वही, पृ० २०।

२ इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्तिर्नयनयोः उत्तररामचरित=वामन ४।३।६।
पिशाचीपक्ष्मलिम्न' मालतीमाधव = वामन ५।२। १८

३ "मनोरथ शङ्खदत्तश्चटकः सन्धिमास्तथा।
बभूवुः कवयस्तस्य वामनाद्याश्च मन्त्रिण॥"—४।४९७।

४. तत्त्वसंग्रह श्लोक ९१२--१४ (G.O.S.No.XXX)

५. काव्या० ६।१७–१९

६. तत्त्वसंग्रह पृ० २९९

रक्षितका समय ७०५से ७६२ ई० तक था। इन्हीं सब कारणोंसे भामह-का परकाल सन् ७०० ई० माननेमें कोई आपत्ति नहीं मालूम होती।

अब भामहके पूर्वकालका निश्चय करना चाहिये। यहीं पर कठिन आपत्तियां सामने आती हैं। बहुत विचार भी सामने आये हैं और बहुत से मतोंका प्रतिपादन किया गया है। एक-एक करके हम भी उन्हें देखेंगे कि कहां तक वे सत्य हैं।

भामह और न्यासकार

एक स्थानपर भामहने न्यासकारका नाम लिया है। कुछ विद्वानोंका विचार हुआ है कि इससे बहुत कुछ भामहके सम्बन्धमें निश्चित हो जायगा। इसी बातको लेकर वाद प्रारम्भ हुआ और बहुत काल तक चलता रहा। इस प्रश्नके उठानेका सम्पूर्ण श्रेय प्रो० के० बी० पाठकपर है जिन्होंने इस प्रश्नको उठाया और विद्वत्तापूर्ण युक्तियों द्वारा अपना मत मंडन करनेकी चेष्टा अकेले करते गये। उन्होंने समझा कि न्यासकारके नामसे भामहका निर्देश जिनेन्द्रबुद्धिसे है जो काशिका-विवरण-पंजिकाके बौद्ध रचयिता हैं और जिनको हम चीनी यात्री इत्सिंगके आधार पर सातवीं शताब्दीमें रख सकते हैं। इसी अनुमानपर पाठकने भामहको आठवीं शताब्दि[1] में रखनेका प्रयत्न किया। पाठकका सामना करनेवाले के० पी० त्रिवेदी निकले जिन्होंने आखिर दमतक यही कहा कि पाठकका अनुमान बालूकी भित्ति पर स्थित है[2] और कभी भी ठहर नहीं सकता। त्रिवेदीकी

---

१. J. R. A. S. Bombay Vol. XXLII; Ind. Ant. Vol. XLI, 1912

२. Intro. to प्रतापरुद्रयशोभूषण pp. XXXV ff, Ind. Ant. XLII, 1913

युक्तियां प्रबल थीं और उनके मतका लगभग सभीने अनुमोदन किया और आखिरमें शायद पाठकको मानना भी पड़ा[१]।

वे श्लोक जिनमें भामहके काव्यालंकारमें न्यासकारका नाम आया है इस प्रकार है:—

शिष्टप्रयोग—मात्रेण न्यासकारमतेन वा।
तृचा समस्तषष्ठीकं न कथञ्चिदुदाहरेत् ॥
सूत्रज्ञापकमात्रेण वृत्रहन्ता यथोदितः।
अकेन च न कुर्वीत वृत्तिं तद्गमको यथा ॥

उपर्युक्त श्लोकोंका साधारण अर्थ यह है कि शिष्ट विद्वानोंके प्रयोगके अनुसार और न्यासकारके मतसे कवियोंको ऐसा समास न प्रयोग करना चाहिये जिसमें एक पद षष्ठी विभक्तिका हो और दूसरा तृच् प्रत्यय युक्त हो। यह दिखलाकर कि पाणिनिका सूत्र वृत्रहन्ता आदि उदाहरणोंमें ज्ञापक है। वृत्रहन्ता आदि समास ग्राह्य नहीं हैं। इसी प्रकार ऐसा समास भी प्रयोगार्ह नहीं है जिसका एक पद षष्ठी विभक्तियुक्त हो और दूसरेमें अक्प्रत्यय लगा हो। उदाहरणार्थ तद्गमक आदि।

भामहका इससे इतना ही मतलब है कि पाणिनिका सूत्र 'तृजकाभ्यां कर्तरि' सब अवस्थामें माननीय है और षष्ठी तत्पुरुष समास तृच् और अक् प्रत्ययवाले पदोंके साथ न करना चाहिये। इसी कारण अपां स्रष्टा, वज्रस्य भर्ता, ओदनस्य पाचकः आदिमें कोई समास नहीं हो सकता। अब हमें यह देखना चाहिये कि जिनेंद्रबुद्धिके काशिकाविवरणपंजिकामे जिसको साधारण-रीतिसे न्यास कहते हैं इस विषयका कैसा वर्णन है? जिनेन्द्र बुद्धिने वह प्रकरण इस प्रकार लिखा है:—

१. जहांतक मूल लेखकोंको मालूम है प्रो० पाठकने इस विषयपर १९१३ के अनन्तर कुछ नही लिखा।

"अथ किमर्थं तृचः सानुबन्धस्योच्चारणम् ? तृनो निवृत्त्यर्थम् । नैतदस्ति तद्योगे न लोकाव्ययेत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधात् । एवं तर्हि एतदेव ज्ञापकं भवति तद्योगेऽपि क्वचित् षष्ठी भवतीति । तेन भीष्मः कुरूणां भयशोक-हन्तेत्येवमादि सिद्धं भवति"

उपर्युक्त वाक्य पाणिनिके 'तृजकाभ्यां कर्तरि' (२।२।१५) सूत्रके सम्बन्ध में आया है और इसमें न्यासकार तृच् प्रत्ययमें 'च' अनुबन्धकी सार्थकता दिखा रहे हैं। पाणिनिने 'त्रकाभ्याम्' न कह कर 'तृजकाभ्यां' कहा है। इस च् जोड़नेका क्या प्रयोजन है ? जिनेन्द्रबुद्धिने यही उत्तर दिया है कि तृच् प्रत्ययसे षष्ठी समास नहीं बन सकता है, पर तृन्में कोई आपत्ति नहीं है। पर दूसरी और कठिनाई आ जाती है। 'न लोकाव्यय निष्ठा-खलर्थतृनाम्' (पा० २।३।६९) सूत्रसे तृन् प्रत्ययवाले शब्दोंके साथ षष्ठीका प्रयोग नहीं होता। षष्ठी समासका इससे कोई सम्बन्ध नहीं है। आपत्तिका यही उत्तर देकर निराकरण हो जाता है कि यह सूत्र इस बातका ज्ञापक है कि षष्ठी तृजन्त पदोंके साथ आ सकती है। इसलिये यह सिद्धान्त निकला कि जिन जिन स्थानोंपर एक समासमें एक पद षष्ठी-विभक्तिक है और दूसरेमें तृ लगा है तो उसे तृन् समझना चाहिये, तृच् नहीं। अब इन दोनों वाक्योंकी तुलना करनेसे यह बात स्पष्ट है कि भामह तृच् और अक् प्रत्ययान्त पदोंके साथ षष्ठी समासका निषेध करते हैं। भामहके हृदयमें पाणिनिका बड़ा आदर था[1]। इस विशेष स्थलपर भी भामह पाणिनिको अक्षरशः मान रहे हैं। भामहने तो न्यासकारका नाम देकर यह दिखाना चाहा कि न्यासकारने भी पाणिनिके इस सूत्रको ज्ञापक कह कर ऐसे समास प्रयोग करनेकी अनुमति दे दी है। यह भी मालूम होता है कि न्यासकारने "वृत्रहन्ता"

---

१. श्रद्धेयं जगति मतं हि पाणिनीयम्—भामह ६।६३ ।

और 'तद्गमक' दो उदाहरण दिये थे। साधारण दृष्टिमें भामहके शब्द स्पष्ट हैं और उसमें अर्थका अनर्थ करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

प्रोफेसर पाठकने एक स्थानपर[१] इस वाक्यके समझानेकी चेष्टा अपने ही तरीकेसे की है और अन्यत्र[२] अपना विचार संक्षेपमें दिया है। हम पिछले स्थानसे कुछ वाक्य यह दिखानेके लिये उद्धृत करते हैं कि किस प्रकारका विचार प्रोफेसर साहबका था। वह लिखते हैं:—हमारा इस समय इतना ही कहना पर्याप्त है कि भामहने उपर्युक्त श्लोकोंमें वृत्र-हन्ता और तद्गमकके समान षष्ठी समासकी निन्दा की है और यह कहा है कि वे व्याकरणकी दृष्टिसे अशुद्ध हैं। यह भी कहा है कि ऐसे समास नवीन ग्रन्थकारोंको न प्रयोग करना चाहिये। न्यासकारके मतसे शिष्ट प्रयोग मात्रकी तुलना करनेपर भामहका यह कहना नहीं है कि वृत्र-हन्ताको शिष्टोंने या न्यासकारने ठीक कहा है। भामहने वृत्रहन्ताको लिखकर केवल इतना ही कहा है कि इस प्रकारके षष्ठी तत्पुरुष समास न्यासकारकी दृष्टिसे ठीक थे। यह प्रमाण 'भीष्मः कुरूणां भयशोक-हन्ते त्येवमादि' वाक्यमें इत्येवमादि पदसे सिद्ध होता है और तृच् और तृन्की समीक्षा करनेवाले ज्ञापकसे भी सिद्ध होता है जिसका प्रयोग वृत्रहन्ताके ऐसे सब षष्ठी समासोंमें आता है।

इस प्रकार प्रो० पाठक इस बातका हम लोगोंको विश्वास दिलाना चाहते हैं कि भेद रहते हुए भी भामह और जिनेन्द्रबुद्धि एक ही बात कह रहे हैं। जैसा कि ऊपर कहा गया है भामह और न्यासकार पाणिनिके ज्ञापक सूत्रसे तृजन्त समासको निन्दनीय नहीं समझते। शायद तृन्का उस स्थानपर कोई वर्णन नहीं आया है। परन्तु जिनेन्द्रबुद्धिने तृन्के बारेमें

---

१. J. R. A. S. Bombay Vol. XXIII, p. 138.
२. Ind. Ant XLI, 1912, p. 234.

भी कुछ कहा है कि जहांपर ऐसे समास आवें वहां उन्हें तृजन्त नहीं तृन्नन्त समझना चाहिये।

इन सब ऊपर दी हुई बातोंको और स्पष्ट करें तो अच्छा हो। पाणिनि का यह नियम है कि षष्ठी विभक्तिक शब्दोंका समास तृजन्त और अक्प्रत्ययान्त शब्दोंके साथ कभी न हो। पर जब ऐसे समास बड़े-बड़े ग्रंथकारोंके ग्रंथोंमें आने लगे तो कठिनाई बढ़ने लगी। वैयाकरणोंको तो किसी न किसी प्रकारसे उसे सिद्ध करना पड़ा और जब पाणिनिके सूत्रोंमें ही 'जनिकर्त्तुः प्रकृतिः' आदि समास आने लगे तो सिद्ध करनेके लिये वे बाध्य हुये। इस प्रश्नपर निम्नलिखित विचारकी कल्पना की जा सकती है--

(१) कुछ लोगोंका कहना है कि जब पाणिनिने ही अपने सूत्रोंमें 'जनिकर्त्तुः प्रकृति' 'तत्प्रयोजको हेतुश्च' आदिमें ऐसे प्रयोग किये हैं, तो 'तृजकाभ्यां कर्तरि' सूत्र अनित्य और सर्वमान्य नहीं है। कुछ स्थानोंपर ऐसे समास हो सकते हैं।

(२) काशिकान्यासके रचयिता जिनेन्द्रबुद्धि शायद कहना चाहेंगे कि यह तृन् प्रत्ययका विषय है, तृच्का नहीं और 'न लोकाव्यय' इत्यादि सूत्रसे तृन् प्रत्ययके सम्बन्धमें षष्ठी-निषेध अनित्य है।

(३) कैयट आदिका यह कहना है कि ऐसी अवस्थामें षष्ठी 'शेष षष्ठी'से सिद्ध हो सकती है। भट्टोजिदीक्षितने यह प्रश्न सिद्धान्त-कौमुदी[1]

---

१. शेष षष्ठ्या इति। केचित्तु जनिकर्तुः प्रकृतिस्तत्प्रयोजको हेतुश्चेति निर्देशादनित्योऽयं निषेध इत्याहुः। न्यासकारस्त्वाह। तृन्नन्तमेतत्। न लोकेति षष्ठी-निषेधस्त्वनित्यः। अकाभ्यामिति वक्तव्ये तृचः सानुबन्धस्य ग्रहणाज् ज्ञापकमिति।

में उठाया है और प्रौढ़ मनोरमा[1] में अपने विचारोंका सारांश दिया है। वे शब्द कैयट हीका अनुसरण करते हैं।

(४) दूसरे शायद और होंगे जिनको व्याकरणकी शुद्धिका बहुत अधिक विचार हो और ऐसे प्रयोग सर्वथा निषिद्ध मानते हों।

यह कहनेकी आवश्यकता नहीं है कि भामहका अधिकतर अन्तिम ही मत होगा जैसा कि सचमुच उनके काव्यालंकारमें है। अलंकार शास्त्रोंके जाननेवाले शायद सबको विदित है कि व्याकरणकी अशुद्धि और काव्यके दोष समान नहीं हैं। एक पद व्याकरणकी दृष्टिसे शुद्ध होनेपर भी काव्यके नियमानुसार अच्छा पद नहीं होता। काव्यमें वस्तुके साथ साथ कहनेका ढंग भी अधिक महत्त्वका है। कहनेका ढंग यदि कुछ खटकता हो तो वह अच्छी कविता नहीं कहला सकती और न अच्छे कविको वह रुचिकर होगी। भामहका यही विचार था। उन्होंने न्यास-कारके मतका जिस प्रकार उल्लेख किया है उससे यही प्रतीत होता है कि उनके समयमें भी व्याकरणकी ऐसी अशुद्धियां हो जाती थीं जिनपर विद्वानोंकी दृष्टि पड़ जाती थी। शायद इस विषयपर सबसे अधिक महत्त्वका विचार यही है जो काव्यालंकारमें दिया गया है कि पाणिनिके सूत्र ज्ञापक माने जाते थे और तृजकाभ्यांका निषेध सूत्र अनित्य माना गया था।

अब हम ऊपर दिये हुए चारों विचारोंको भामहके विचारसे तुलना करें और देखें कि किस विचारसे भामहका विचार मिलता जुलता है? यह तुरन्त ही पता लग जायगा कि भामहका विचार पहिले विचारके समान है और पहिला विचार दूसरे विचारसे एकदम भिन्न है। यह दूसरा विचार जिनेन्द्रबुद्धिका है।

---

१. कथं तर्हि "घटानां निर्मातुस्त्रिभुवन-विधातुश्च कलहः" इति शेषषष्ठ्या समासः इति कैयटः

उदाहरणोंकी ओर यदि हम लक्ष्य दें तो मालूम होगा कि भामहने अपने काव्यालंकारमें वृत्रहन्ता उदाहरण दिया है पर जिनेन्द्रबुद्धिके न्यासमें 'भीष्मः कुरूणां भयशोकहन्ता' है। प्रो० पाठक कहते हैं कि 'न्यासकारके विचारसे समस्त षष्ठी समासका उदाहरण भामहने वृत्र-हन्ता दिया है।' हमें समझमें नहीं आता कि क्यों भामहने दूसरे उदाहरणका प्रयोग किया और न्यासकार के ही उदाहरणोंको नहीं लिया? विशेष कर उस अवस्थामें जब कि उन्होंने न्यासकारके मतका इतना घोर विरोध किया है। अच्छे लेखकोंमें यह साधारण रीति है कि जब उनको किसी विषयका विचार करना होता है या सामान्यतः किसी बातका उल्लेख ही करना होता है तो वे उन्हीं उदाहरणोंको दिया करते हैं। उदा-हरणके लिये शरणदेव[1] को ही लीजिये उन्होंने जब ऊपर दिये हुए वाक्योंको संक्षेपमें देना चाहा तो उन्हीं जिनेन्द्रबुद्धिके उसी उदाहरणका उल्लेख किया। भट्टोजिदीक्षितने[2] सचमुच अपना शास्त्रार्थ भिन्न रीतिसे प्रारम्भ किया है पर उनका विचार जिनेन्द्रबुद्धि या शरणदेवसे भिन्न था। उन्होंने न्यासकारके मतका न खण्डन ही किया है और न वैसा प्रतिपादन किया है। उन्होंने अपना शास्त्रार्थ एक बहुत साधारण श्लोक[3] के एकपादसे प्रारम्भ किया है जिसके विषयमें कहा जाता है कि भवभूतिने बनाया था जब उनका शास्त्रार्थ किसी विद्वान्से हो रहा था।

---

१. कथं भीष्मः कुरूणां भयशोकहन्तेत्युच्यते। तृन्नन्तमेतत्। न च लोकाव्ययनिष्ठेति (२।३।६९) षष्ठी निषेधः। यतस्तृजकाभ्यामित्यत्र तृचः सानुबन्धकस्योपादानं तृनो निवृत्यर्थं ज्ञापयति तृनो योगे क्वचित् षष्ठीति न्यासः।

२. कथं तर्हि घटानां निर्मातुस्त्रिभुवन विधातुश्च कलहः इति।

३. भोज प्रबन्ध (निर्णयसागर)।

जब एक विद्वान् दूसरे विद्वान्से शास्त्रार्थ करता है तब उसे अपनी भाषाका बहुत अधिक विचार रखना पड़ता है। जिनेन्द्रबुद्धिने भी महाभारतके एक साधारण श्लोकको अपना उदाहरण दिया है। पर भामहकी अवस्था एकदम भिन्न है। जब उन्होंने न्यासकारके साथ शास्त्रार्थ प्रारम्भ किया, तब उन्हें उसी उदाहरणको रखना था और शायद उन्होंने वैसा किया भी है, पर वह उदाहरण प्रसिद्ध न्यासकारका नहीं, किसी दूसरे न्यासकारका होगा। 'सूत्रज्ञापकमात्रेण वृत्रहन्ता यथोदितः' में 'उदित': स्पष्ट सिद्ध करता है कि प्रसिद्ध न्यासकारने 'वृत्रहन्ता' ही को उदाहरण दिया था। भामह अपने लेखमें 'उदितः' कभी न कहते यदि वे अकस्मात् ही अपना उदाहरण चुन लेते।

प्रो० पाठकका यह कहना कि जिनेन्द्रबुद्धि ही यहां न्यासकार है, सत्य नहीं मालूम होता। यद्यपि यह प्रो० पाठकने दिखाना चाहा है कि और दूसरे न्यासकार नहीं थे, पर यह बात सिद्ध है कि जिनेन्द्रबुद्धिके न्यासको छोड़कर अनेक न्यास पूर्वकालमें थे। त्रिवेदी[1] ने ठीक ही उल्लेख किया है कि माधवाचार्यके धातुवृत्तिमें[2] क्षेमेन्द्रन्यास, न्यासो-

१. Ind Ant. Vol. XLII, 1913 p. 261.

२. स्पष्टं चैव गुपधूप इत्यत्र न्यासपदमञ्जर्यादिषु। अज क्षेमेन्द्रन्यासे पणतेः सार्वधातुकेऽप्यायविकल्प उक्तः—धातुवृत्ति (मैसूर सं०) भाग १, पृ० २६६।

अकथितं च इत्यत्र न्यासे, निवहि हरि जिदण्डीन् प्रस्तुत्य......
न्यासोद्योते च अजादीनां ग्रामादीनां चेप्सिततमत्वविशिष्टमित्युक्तम्—भाग २ पृ० ५२६

बोधिन्यासेऽपि सातिः सुखे वर्तते सौत्र इति। जिनेन्द्र-हरदत्तौ सातिर्हेतुमण्णयन्तः इति। शाकटायनन्यास कृतोऽप्ययमेव पक्षोऽभिमतः—भाग १, पृ० ६४।

इन सब वचनोंमें जिनेन्द्रबुद्धि विशेषकर उल्लिखित हैं।

द्योत, बोधिन्यास, शाकटायनन्यास आदि न्यास उल्लिखित किये गये हैं। प्रो० पाठकको यह कहकर बातको उड़ा देना, कि न्याससे प्रायः अर्थ व्याकरणकी टीका[१] लिया जाता है, ठीक नहीं है और न इससे उनके मतमें कोई बल ही आता है। काणे[२] ने सर्वप्रथम इस बातका उल्लेख किया है कि बाणके हर्षचरितमें 'न्यास' पद आया हुआ है। वहां उन्होंने "कृतगुरुपदन्यासाः" लिखा है। शंकर टीकाकार उसकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं—कृतोऽभ्यस्तो गुरुपदे दुर्बोधशब्दे न्यासो वृत्तिविवरणं यैः[३]—पर किसीने यह दिखलानेका प्रयत्न अभीतक नहीं किया है कि जिनेन्द्रबुद्धि हर्ष-वर्द्धनके समयके पूर्व थे। आर० नरसिंहाचारका कहना है कि एक न्यास 'पूज्यपाद'ने लिखा है जो राइसके मतानुसार सन् ५०० ई० के लगभग थे।

यदि यह सम्भव भी हो, जो नहीं है, कि भामहने जिनेन्द्र-बुद्धि ही न्यासकारका उल्लेख किया है, यह सिद्ध करना सरल नहीं है कि भामह जिनेन्द्रबुद्धिके अनन्तर थे। ई० सन् ७०० के लगभग प्रो० पाठकका भामहको रखनेके लिये एक ही आधार चीनी यात्रीके इत्सिगकी समझमें न पड़नेवाले उस समयके वैया-करणोंके बारेमें कथन है। यह सब कहना ठीक नहीं माना जा सकता। डा० याकोबी[४] ने इसलिये ठीक ही, जिनेन्द्रबुद्धिके समयपर जो प्रो० पाठकने लिखी है, शंका उठाई है। पूनामें जिनेन्द्रबुद्धिके ग्रंथोंका कछु भाग देखते हुए किलहार्नने कहा कि मेरा विचार सचमुच यह है कि जिनेन्द्रबुद्धिने हरदत्तकी पदमंजरीसे पूरी नकल की है।

---

१. Ind. Ant. Vol. XLI, 1912, p. 233.

२. J. R. A. S. Bomb. 1909 p. 94.

३. हर्षचरित पृ० १३३।

४. J. R. A. S. 1908 p. 499.

भविष्योत्तर पुराणके आधारपर डा० याकोबी[1] ने लिखा है कि हरदत्त ८७८ ई० में मर गये। जिनेन्द्रबुद्धि इस प्रकार कमसे कम दसवीं शताब्दि में आते हैं। पर हमने पहले ही दिखाया है कि भामहका समय ७०० ई० के अनन्तर नहीं हो सकता। जिनेन्द्रबुद्धिके लिये हरदत्तकी पद-मंजरीसे नकल करना और फिर भी भामहके पूर्व आना असंभव है।

हम अब इस शास्त्रार्थको यहीं समाप्त करते हैं। प्रो० पाठकके कथनानुसार भामहने जिस न्यासकारका उल्लेख किया है वह जिनेन्द्र-बुद्धि नहीं हैं। वह कोई प्राचीन ग्रंथकार होंगे जिनका ग्रंथ अब उपलब्ध नहीं है और जिनको हम बिलकुल नहीं जानते। इसलिए न्यासकारके उल्लेखकी सहायतासे भामहका पूर्वकाल निश्चय करना कठिन है। हम लोगोंको इसके निश्चयके लिये किसी दूसरी ओर दृष्टि डालनी चाहिये।

भामह और माघ

भामहका समय निश्चय करनेके निमित्त प्रो० पाठकके लेखकी जब हम विवेचना कर रहे हैं, तो विद्वान् प्रोफेसर[2] को एक अन्य बातपर जरा हम लोग ध्यान दें। प्रो० पाठकने भामहका समय निकालनेके लिये कुछ माघ-काव्यका विचार किया है और उससे समय निकालनेकी चेष्टा की है जो बिल्कुल समझमें नहीं आती। भामहने एक स्थानपर[3] काव्य का लक्षण 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यं' लिखा है जिस लक्षणपर प्रायः सभी प्रसिद्ध आलंकारिकोंका ध्यान गया है। माघ-काव्यमें एक सुन्दर श्लोक इस प्रकारका है:—

---

१. J. R. A. S. Bomb. Vol. XXIII p. 31.

२. J. R. A. S. Bomb. Vol. XXIII. p. 91. ff

३. काव्यालंकार १।१६.

नालम्ब्रते दैष्टिकतां न निषीदति पौरुषे।
शब्दार्थौ सत्कविरिव द्वयं विद्वानपेक्षते ॥
(शिशुपाल-वध २।२८)

अब यह कहा जाता है कि माघको अवश्य ही भामहका लक्षण मालूम था और तभी इस प्रकार माघने लिखा है। यह बात यहां कोई आवश्यक नहीं है पर केवल जरा रुचिकर है। इसीलिये हम लोग इस प्रश्नपर अधिक यहां विचार न करेंगे। जिनकी इच्छा हो वे काणे[1] का लेख पढ़ें जिसमें इसके खण्डनकी युक्तियां दी हैं।

डा० जे० नोबुल लिखते हैं[2]--ऐसा कहा जाता है कि माघने भामहके काव्यके लक्षणका हवाला दिया है। यदि यह एक युक्ति भामह को माघसे पूर्व रखनेकी हो, तो मैं यह भी कहूँगा कि कालिदासने भी भामह का लक्षण अपने काव्य रघुवंशमें दिया है जब वे कहते हैं--**वागर्थाविव सम्पृक्तौ**। इसलिये भामहको कालिदासके भी पूर्व ले जाया जाय। यहां इतना ही कहना है कि वागर्थकी उपमासे माघ शायद कालिदासको ही लक्ष्य कर रहे हैं या किसी और विचारको। भामहके लक्षणसे इससे कोई सम्बन्ध नहीं है। यह युक्ति किसी मतलबकी नहीं है, क्योंकि इस प्रकारका काव्यका लक्षण कुछ प्राचीन आलंकारिकोंने भी शायद दिया है।

भामह और कालिदास

ऊपरके विचारसे भी अधिक रोचक और आवश्यक वह विचार है जिससे कालिदास भामहके पूर्व रखे जाते हैं। भामहने काव्यालंकार (१।४२-४४) में लिखा है--

---

१. J, R. A. S. Bomb Vol. XXIII. p. 1918.
२. The Foundations of Indian Poetry p. 15-16.

अयुक्तिमद् यथा दूता जलभृन्-मारुतेन्दवः ।
तथा भ्रमर - हारीत - चक्रवाक - शुकादयः ॥
अवाचो व्यक्त-वाचश्च दूरदेशविचारिणः ।
कथं दूत्यं प्रपद्येरन्निति युक्त्या न युज्यते ॥
यदि चोत्कण्ठया यत्तदुन्मत्त इव भाषते ।
तथा भवतु भूम्नेदं सुमेधोभिः प्रयुज्यते ॥

भामहने यहांपर उन कवियोंकी आलोचना की है जो अपने ग्रंथोंमें मेघ, वायु, चन्द्र और उसी प्रकार कुछ पक्षियोंको दूत बनाते हैं। उन्होंने इसको 'अयुक्तिमद्दोष' कहा है। वह लिखते हैं कि यह सब बुद्धिके एकदम विपरीत पड़ता है कि ऐसी वस्तुएँ दूतोंके कर्त्तव्योंको कर सकें। परन्तु उन्होंने यह भी कहा है कि ऐसी युक्तियां बड़े बुद्धिमान् कविगणोंने उन लोगोंके लिये प्रयोग किया है जो उन्मत्त हो गये हैं।

अब कुछ विद्वानों[1] का कहना है कि यहां कालिदासका मेघदूत भामहके हृदयमें अवश्य होगा। यह भी दिखाया गया है कि भामहके एक श्लोक[2] में

---

१. Haricand–L'Art Poetique de L' Indes p. 77.
V. V. Sovani–Pre-dhwani Schools, Bhandarkar Comm. Volume P. 373.
S. K. De–History of Sanskrit Poetics Vol. I. p. 48.

२. अस्मिन् जहीहि सुहृदि प्रणयाभ्यसूया-
माश्लिष्य गाढ़ममुमानतमादरेण ।
विन्ध्यं महानिव घनः समयेऽभिवर्षन्
आनन्दजैर्नयन-वरिभिरुक्षतु त्वाम् ॥

कालिदासके दो श्लोककों[1]के विचार और शब्द आए हुए हैं। इससे सिद्ध होता है कि कालिदास भामहके पूर्व थे।

दूसरी ओर दूसरे लोगोंका विचार एकदम विरुद्ध है। डा० टी० गणपति शास्त्री लिखते हैं[2]—"मैं समझता हूँ कि भामहाचार्य कालिदासके बहुत पूर्व रहे होंगे। भामहने मेधावि, रामशर्मा, अश्मकवंश, रत्नहरण, अच्युतोत्तर आदि संस्कृत कवियों और कविताओंका नाम लिया है जिनको हम बिलकुल ही नहीं जानते, पर जगत्प्रसिद्ध कालिदास या उनके इतने प्रसिद्ध किसी एक काव्यका नाम भी नहीं लिया है। यदि भामह कालिदासकी एक भी कविताको जानते तो प्रतिज्ञा नाटिकाकी तरह उसकी कुछ न कुछ अवश्य आलोचना किये होते"। इसके अनन्तर इस विद्वान् पण्डितने भामहकी वही तीन कविताएँ[3] उद्धृत की जो हम ऊपर लिख आये और लिखा है कि—"इससे हम यह सिद्धान्त नहीं निकाल सकते कि भामह को मेघदूत काव्य मालूम था। यदि ऐसा हो तो यह भी कहना पड़ेगा कि भामह शुकसन्देशको भी जानते थे जो अभी कल लिखी गई है। इसलिये इन श्लोकोंसे मैं समझता हूँ कि हमारे आचार्य इस बातकी साधारणतः शिक्षा देते हैं कि काव्योंमें प्रेमियोंको वायु, मेघ, चन्द्र ऐसे अप्राणियों द्वारा अथवा भ्रमर, चक्रवाक शुक आदि न बोल सकनेवाले प्राणियोंके द्वारा सन्देश भेजनेकी रीति ऐसे अवसरोंपर

---

१. अथाभिषेको रघुवंशकेतोः प्रारब्धमानन्दजलैर्जनन्योः।
निर्वतयामासुरमात्यवृद्धास्तीर्थाहृतैः कांचनकुम्भतोयैः॥
सरित् समुद्रान् सरसीश्च गत्वा रक्षः कपीन्द्रैरुपादितानि।
तस्यापतन् मूर्ध्नि जलानि जिष्णो र्विन्ध्यस्य मेघप्रभया इवापः॥
रघुवंश १४।७–८

२. 'स्वप्न वासवदत्त' की भूमिका (अनन्तशयन ग्रन्थमाला)

३. काव्यालंकार १।४२-४४

निन्दनीय है जब तक सन्देशका भेजनेवाला अपनी साधारण अवस्थामें हो। हमारे आचार्यका उपदेश मनमें रखकर ही कालिदासने कविताका औचित्य समझते हुए, मेघदूत के प्रारम्भमें मेघ द्वारा संदेश भेजनेका पक्ष लेकर यह श्लोक कहा है--

धूमज्योतिः सलिल-मरुतां सन्निपातः क्व मेघः
सन्देशार्था क्व पटुकरणैः प्राणिभिः प्रापणीयाः।
इत्यौत्सुक्यादपरिगणयन् गुह्यकस्तं ययाचे
कामार्त्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु ॥

मेघदूत, श्लोक ५

इस प्रकार यह प्रतीत होता है कि भामह कालिदासके बहुत पूर्व थे।

यह जानना भी हृदयग्राही होगा कि डा० नोबुल[1] भी पहिले भामहको कालिदासके पूर्व माननेवाले थे। अब भी उनके मतमें थोड़ा ही अन्तर पड़ा है क्योंकि इस प्रश्नमें युक्ति कोई ठीक नहीं है, पर उनकी प्रवृत्ति अधिकतर कालिदासको भामहके पूर्व रखनेकी अपेक्षा भामहको ही कालिदासके पूर्व रखने की है।

दोनों पक्षकी युक्तियोंका विचार करनेसे हम यह कह सकते हैं कि दोनों ओरसे बहुत कुछ कहा जा सकता है और अब भी सचमुच कुछ निश्चित नहीं है। नहीं समझमें आता कि भामहके समक्ष बिना किसी संदेश-काव्यके रहे उन्होंने कैसे यह आलोचना कर दी। पर यह भी कहना उपयुक्त है कि भामहको कालिदासकी और उनकी कवि-ताओंकी जानकारी क्यों नहीं हुई ?

जो कुछ भी हो, इस शास्त्रार्थको बहुत दूर तक ले जाना अनावश्यक है, क्योंकि यदि किसी पक्षमें भी हम निश्चय कर लें तो हमें भामहके समय

---

१. Nobel—The Foundations of Indian Poetry pp. 14-15

निकालनेमें कोई सहायता न मिलेगी। कालिदासका ही समय अभी विचारास्पद है और इसलिये उनके सहारे दूसरेका समय हम नहीं निकाल सकते।

भामह और भास

भामहके समयका विवेचन करनेके निमित्त भामह और भासके भी सम्बन्धकी बातें उसी प्रकारकी हैं जैसी ऊपर कही गई हैं यद्यपि इस सम्बन्धमें किसीने यह नहीं कहा है कि भामह उस ग्रंथके रचयिताके अनन्तर हुए हैं जिनकी वे समालोचना कर रहे हैं। इस स्थानपर कठिनाई इस बातकी है कि हम नहीं जानते कि किस ग्रंथकी समालोचना वे कर रहे हैं। भामहके काव्यालंकारके वे श्लोक जो इस समालोचनाको सूचित करते हैं इस प्रकार है—

विजिगीषुमुपन्यस्य वत्सेशं वृद्धदर्शनम्।
तस्यैव कृतिनः पश्चादभ्यधाच्चरशून्यताम्॥
अन्तर्योधशताकीर्णं सालंकायननेतृकम्।
तथाविधं गजच्छद्म नाज्ञासीत् स स्वभूगतम्॥
यदि वोपेक्षितं तस्य सचिवैः स्वार्थसिद्धये।
अहो नु मन्दिमा तेषां भक्तिर्वा नास्ति भर्तरि॥
शरा दृढधनुर्मुक्ता मन्युमद्भिररातिभिः।
मर्माणि परिहृत्यास्य पतिष्यन्तीति काऽनुमा॥
हतोऽनेन मम भ्राता मम पुत्रः पिता मम।
मातुलो भागिनेयश्च रुषासंरब्धचेतसः॥
अस्यन्तो विविधान्याजावायुधान्यपराधिनम्।
एकाकिनमरण्यानां न हन्युर्बहवः कथम्॥
नमोस्तु तेभ्यो विद्वद्भ्यो येऽभिप्रायं कवेरिमम्।
शास्त्रलोकावपास्यैव नयन्ति नयवेदिनः॥

सचेतसो-वनेभस्य चर्मणा निर्मितस्य च ।
विशेषं वेद बालोऽपि कष्टं किन्तु कथं नु तत् ॥४।३६-४६

वत्सदेशके राजा उदयनकी कथाएँ प्राचीन भारतमें सर्वत्र प्रचलित थीं। ऐसी भी कथाएँ हैं जिनका साक्षात् सम्बन्ध उदयनसे नहीं है पर वे उदयनका नाम यत्र तत्र ले लेती हैं। इसलिये जब हम ऐसी समालोचना भामहके ग्रन्थमें पाते हैं तो हम ठीक नहीं कह सकते कि यह समालोचना किसपर की गई है। डा० टी० गणपति शास्त्रीका यह कथन है कि यह समालोचना प्रतिज्ञायौगन्धरायणपर ही की गई है। शास्त्रीजी कहते हैं–"ऊपर दिया हुआ विषय जिसकी समालोचना भामहने की है प्रतिज्ञा नाटिकामें पूरी तरह मिलता है। एवञ्च 'अणेण मम भादा हदो अनेन मम पिदा, अनेण मम सुदो' यह प्राकृत जो प्रतिज्ञा नाटिका के प्रथम अंकमें है भामहने श्लोकके रूपमें "हतोऽनेन मम भ्राता मम पुत्रः पिता मम" न्यायविरोधकी परीक्षामें दिया है।"

विद्वान् शास्त्रीके इस विचारके होते हुए भी हमारा विचार हैं कि इस समीक्षामें अनेक सन्देह हैं। भामहने भासका या प्रतिज्ञायौगन्धरायणका नाम कहीं नहीं लिया है। वे गुणाढ्यकी बृहत्कथाकी ही समालोचना करते होंगे जो सबसे प्राचीन एसी कथाओंका संग्रह है। वह प्राकृत जिसका अनुवाद भामह अपने श्लोकमें देते हैं वहींपर मिलता हो एवं विद्वान् शास्त्रीका यह सिद्धान्त, जैसा कि काणेन कहा है "बहुत जर्जर नींवपर ठहरा हुआ है।" यदि हम भामहके श्लोकोंकी परीक्षा अच्छी तरह करें, तो यह मालूम होगा कि वह कथा जिसकी समालोचना की गई है ठीक-ठीक प्रतिज्ञायौगन्धरायणमें नहीं मिलती । अधिकतर तो वह कथा बृहत्कथामंजरी और कथासरित्सागरमें मिलती है और वे बृहत्कथाके संक्षेपरूप हैं। पर यदि यही सिद्ध हो जाय कि भास ही की समालोचना की गई है तो भी उससे अपना कोई मतलब नहीं निकलता। चौदह वर्षोंतक पूरा विवाद न केवल भासके समय-निर्णय

पर ही चल रहा है, पर उनके नामपर छपे हुए ग्रन्थोंकी सत्यतापर भी। भासके समयका कोई निश्चित सिद्धान्त न होनेके कारण भामहका पूर्व काल निश्चय करनेके लिये उसका प्रमाण देना निरर्थक है।

भामह और भट्टि

भट्टि और भामहके सम्बन्धमें थोड़ा-सा विवेचन करना यहां शायद अनुपयुक्त न होगा। भारतके पण्डितोंमें यह परम्परागत विचार चला आ रहा है कि रावणवध या केवल भट्टि काव्यके रचयिता भट्टिने काव्यालंकारके उदाहरणोंके लिये ही दशमसे त्रयोदश सर्गतक काव्य लिखा है, जैसा कि दूसरा सर्ग पाणिनिके सूत्रोंके लिये। टीकाकारोंकी उक्तियोंसे भी ऐसा ही प्रतीत होता है। भट्टिने दशम सर्ग शब्दालंकार और अर्थालंकारके उदाहरणोंके लिये, एकादश माधुर्यगुण, द्वादश भाविक, त्रयोदश संस्कृत और प्राकृत काव्यके लिये लिखा ऐसा मालूम होता है। प्रसाद गुण चारों सर्गोंमें बराबर है। दशम सर्गमें अलंकारोंके उदाहरणोंके श्लोकोंको यदि देखें, तो श्लोकोंके क्रम और ढंगसे यही मालूम होगा कि भट्टिके लिखनेके समय भामहका काव्यालंकार उनके सामने था। जयमंगल और मल्लिनाथ अपनी टीकाओंमें[1] अलंकारोंके लक्षण देनेके लिये भामह हीके काव्यालंकारको काममें लाये हैं। वे यदि चाहते तो आधुनिक और सर्वांग-सम्पूर्ण अलंकार शास्त्रोंको काममें ला सकते थे, पर तब श्लोक लक्षणोंसे इतने मिलते-जुलते हुए न होते। भामह

---

१. शब्द-लक्षण-प्रधानेऽप्यस्मिन् काव्ये काव्यलक्षणत्वादधिकार—काण्डान्तरमलंकारमाधुर्य—भाविक—भाषासमाख्य —परिच्छेदचतुष्टयात्मकमारभमाणोऽस्मिन् सर्गे तावदलंकारपरिच्छेदं वदन्नादौ शब्दालंकारान् लेशतो दर्शयति।

दशम सर्गके प्रारम्भमें भट्टिकाव्यपर मल्लिनाथकी टीका।

के काव्यालंकारमें एक श्लोक है, जो थोड़ा ही परिवर्तन करनपर भट्टि ने काव्यके श्लोकसे मिलता है। भामहका श्लोक इस प्रकार है:—

काव्यान्यपि यदीमानि व्याख्यागम्यानि शास्त्रवत्।
उत्सवः सुधियामेव हन्त दुर्मेधसो हताः ॥२।२६

भट्टिमें श्लोक इस प्रकार है—

व्याख्यागम्यमिदं काव्यमुत्सवः सुधियामलम्।
हता दुर्मेधसश्चास्मिन् विद्वत्-प्रियतया मया ॥ २२।३४

यहां यह बात तो स्पष्ट है कि इन दिनोंमेंसे एकने अवश्य दूसरेका ढंग चुराया है। श्री वत्सांक मिश्र कहते हैं कि पहला श्लोक भामहका है। इस प्रमाणपर यह सिद्ध है कि भट्टिने श्लोक को लिखनेमें भामहकी नकल की है। यह सब बातें तो ऊपर कही कई हैं यही सिद्ध करती हैं कि भामह भट्टिके पूर्व हुए। भट्टिके समयके लिय हमें एक ही प्रमाण मिलता है और वह भट्टि-काव्यका अन्तिम श्लोक है—

काव्यमिदं विहितं मया वलभ्यां,
श्रीधरसेन—नरेन्द्र—पालितायाम्।
कीर्तिरतो भवतान्नृपस्य तस्य,
प्रेयकरः क्षितिपो यतः प्रजानाम् ॥२२।३५

काठियावाड़के इतिहाससे पता लगता है कि **धरसेन** नामके चार राजा वलभीमे जिसे आजकल वल कहते हैं राज्य करते थे। यह स्पष्ट नहीं है कि किस धारसेनसे यहां भट्टि का मतलब है। प्रो० बी० सी० मजुमदारने सन् ४७३ ई० में—मन्दसोर सूर्यमन्दिर लेखमें कहे हुए वत्स भट्टि और भट्टि काव्यके रचयिताको इस आधारपर कि लखके श्लोक और काव्यमें शरद् ऋतुका वर्णन एक प्रकारका है एक समझा है। पर प्रो० कीथने इसे एक बहुत दौर्भाग्यका विचार कहा है। परन्तु दोनों विद्वान् प्रोफेसरोंका मत है कि भट्टि भारवि और दण्डी

के पूर्व हुये हैं। मि० त्रिवेदीसे सहमत होकर हम इतना ही कह सकते हैं कि भट्टि छठी शताब्दिके अपर भागमें और सप्तम शताब्दिके पूर्व भागमें हुये हैं परन्तु सबसे अच्छा मार्ग काणें का पक्ष लेकर यह कहना है कि भट्टि ५०० और ६०० ई० के मध्यमें किसी समय हुये थे। भट्टिके समय निर्णयमें कितना ही मतभेद क्यों न हो पर १९२२ तक किसीने यह नहीं सुना था कि भट्टि भामहके पूर्व हुए थे। उसी वर्ष डा० याकोबीने एक नये प्रकारसे भामहका समय निकालना चाहा। उन्होंने यह सिद्ध करना चाहा कि भामहने अपना पंचम अध्याय लिखनेके लिये धर्मकीर्तिके न्यायबिन्दुसे सामग्री ली है। इससे आवश्यक हुआ कि भामहको ६५० ई० के अनन्तर रखा जाय। अब भट्टि जैसा कि ऊपर दिखाया गया है ६५० ई० के अनन्तर नहीं रखे जा सकते। इसीलिये विद्वानोंने भट्टि और भामहका सम्बन्ध दूसरे ढंगसे देखना चाहा है। डा० एस० के० दे जो कि जहांतक हम जानते हैं कभी भी याकोबीसे भिन्न विचार नहीं रखते एक स्थानपर लिखते हैं--
"एक समय था जब भट्टिकी जयमंगलाटीकाके आधारपर यह विश्वास किया जाता था कि भट्टि काव्यके अलंकारका अध्याय विशेष कर दशम सर्ग, भामहके अलंकारोंके उदाहरणके लिये लिखा गया था, पर अब जो समय भामहके लिये निर्धारित किया जा रहा है उसमे यह माना गया है कि व धर्मकीर्तिके अनन्तर हुए थे। इसलिये यह आवश्यक होगा कि भट्टि और भामहका सम्बन्ध फिरसे ठीक किया जाय। दोनों विद्वान् डाक्टरोंने बड़े परिश्रमके साथ इस सम्बन्धको ठीक करनेका प्रयत्न किया है। इस स्थानपर ठीक करनेका मतलब पहिली अवस्थाको बिलकुल उलट देना है। विस्तारपूर्वक इसे ठीक करनेकी परीक्षा करनेसे कोई फल सिद्ध न होगा क्योंकि इसमें केवल आवश्यकताके वश होकर ऐसा उलट-फेर किया गया है। यह काम बुद्धिपूर्वक नहीं हुआ है। यह तो ऐसा ही हुआ है जैसा एक बुद्धिमान् वकीलने किया ही था। उस वकीलने एक बार ऐसी बहस प्रारम्भ की जैसी कि प्रतिवादीकी ओरसे होनी चाहिये थी। जब

उसे जैसे ही वह बहस समाप्त करनेको था कि उसके एक साथी ने उसकी भूल सुझा दी। वह वैसे ही चलता रहा और तुरन्त जजोंकी ओर घूमकर कहने लगा कि इस प्रकार प्रतिवादीकी ओरसे कहा जाता। अब मैं उसका खंडन करता हूँ।

दण्डी और भामह

भामहके समयके विवेचनमें महत्त्वका प्रश्न अब उपस्थित होता है। काव्यादर्शके रचयिता दण्डी मध्य भारतके विद्वत् समाजमें बड़े प्रसिद्ध थे। शायद उतनी प्रसिद्धि भामहको नहीं मिली क्योंकि उनके ग्रंथका मिलना इतना सुलभ न था। अलंकारोंके इन दोनों ग्रंथोंकी अच्छी तरह परीक्षा करनेपर यह भाव उत्पन्न हो ही जायगा कि इन दोनोंका आपसमें सम्बन्ध है, चाहे किसी प्रकारसे हो। कुछ तो ऐसे वाक्य हैं, जो दोनोंमें समान हैं। केवल अर्थोंमें नहीं, शब्दोंमें भी[१]। अन्य ऐसे वाक्य हैं जो एक दूसरेकी समालोचना[२] प्रतीत होते हैं। कुछ तो ऐसे विचार हैं चाहे वे परस्पर समान हों या भिन्न हो पर जिससे यह स्पष्ट विदित होता है कि काव्यालंकार और काव्यादर्शके मध्य घनिष्ठ संबंध है[३]।

दोनों ग्रंथोंसे चुने हुए विचारोंसे दोनोंके समयका विवेचन प्रारम्भ हुआ। एकको दूसरेके पूर्व सिद्ध करनेके निमित्त घोर शास्त्रार्थ प्रारम्भ हुआ। सर्व प्रथम एम्० टी० नरसिंहआयंगरने प्रश्नको उठाया और दण्डीको

---

१. काणे—साहित्यदर्पणकी भूमिका पृ० २५
De–History of Sanskrit Poetics Vol. I pp. 64–66.

२. De: The History Sanskrit poetiecs Vol. I pp. 65–66.

३. काणे—साहित्यदर्पणकी भूमिका पृ० २५–३५

भामहके पूर्व रखनेका उनका विचार हुआ[१]। उन्होंने देखा कि उनकी युक्तियां त्रिवेदी[२], डा० जेकोबी,[३] प्रो० रंगाचार्य[४] डा० गणपति शास्त्री[५] प्रो० पाठक[६] आदि बड़े-बड़े विद्वानों द्वारा काट दी गईं। प्रो० पाठकने तो पीछेसे अपना मत बदल दिया[७]। इस कारण कि भामहको ही पूर्व रखनेके पक्षमें अधिकतर विद्वान् हैं। हमें आवश्यक नहीं है कि हम इस छोटेसे अपने लेखको पक्ष और विपक्षकी सब युक्तियां देकर उलझा दें। काणेने दोनों ओरकी युक्तियोंका संग्रह किया है और जो चाहे उनका विद्वत्ता-पूर्ण ग्रंथ देख सकता है[८]। मि० काणेने निष्पक्ष भावसे दोनों पक्षकी युक्तियों-को अच्छी तरह प्रतिपादन और परीक्षा करके यह सिद्धान्त निकाला कि किसी ओर भी इस प्रश्नपर अपना निश्चय देना संभव नहीं है, यद्यपि युक्तियोंके देखनेसे ऐसा मालूम होता है कि प्रवृत्ति दण्डीको ही भामहके पूर्व रखनेकी ओर जाती है। वह अपनी युक्ति थोड़ेमें इस प्रकार कहते हैं "यही सम्भव मालूम होता है कि भामह और दण्डी दोनों स्वतन्त्र विचारों को लेकर चलते हैं। भामह तो अलंकार दलकी ओर अधिक झुके हैं और दण्डी भरत-दलकी ओर। कोई भी पहले हुए हों, दोनों लगभग समकालीन

---

१. J. R. A. S. 1905 pp. 535. ff.
२. Intro. to. प्रतापरुद्रयशोभूषण pp. XXIII ff, Ind. Ant. XLII ff; Bhand. Com. Vol. p 40.
३. Z. S M. G, LXIV. pp. 134. and 139,
४. Intro. to काव्यादर्श.
५. Intro. to स्वप्नवासवदत्ता p. XXV.
६. Int. to कविराजमार्ग p. XXV.
७. J.B.B.R.A.S. XXIII p. 19, Ind. Ant. XLI p.236. ff.
८. Intro. to साहित्यदर्पण pp. XXV—XXXV.

हैं और ५०० ई० और ६३० ई० के मध्यमें आ जाते हैं[१]। डा० दे० ने तो कुछ मार्केकी युक्तियां बलसे देकर यही सिद्ध किया है कि जिस पक्षमें अधिक लोग हैं वही न्यायतः अधिक प्रबल है[२]।

अपने लेखके इस भागको समाप्त करनेकी इच्छासे हम केवल एक दो बातें कह देते हैं जो हमारे विचारसे सिद्ध करती हैं कि भामह दण्डोके अनन्तर नहीं लाये जा सकते। हाल हीमें अवन्ति सुन्दरी कथा नामकी एक पुस्तक दक्षिणमें मद्रास ओरियण्टल हस्तलिखित पुस्तकोंके पुस्तका-ध्यक्षने पता लगाई है[३]। यह उस हस्तलिखित प्रतिसे स्पष्ट है कि वह पुस्तक दण्डीने लिखी है उसके प्रारम्भमें जैसी कि कथाओंकी चाल है अनेक श्लोक हैं। इन श्लोकोंमें बाण, मयूर और अनेक दूसरे लोगोंकी स्तुति है[४]। इन प्रारम्भिक श्लोकोंसे हम यह भी जानते हैं कि दण्डी भारविके प्रपौत्र थे, जो दुर्विनीत और सिंहविष्णुके राजाओंके समकालीन थे। तब यह समझना बिलकुल न्याययुक्त मालूम होता है कि दण्डी भारविसे चौथी पीढ़ीमें आने के कारण सातवीं शताब्दीके अन्तिम भागमें या आठवीं शताब्दीके प्रारम्भ में हुए होंगे। इस कथनके लिये एक और प्रमाण यह है कि दण्डीने न केवल बाणभट्ट होकी स्तुति की है पर अपनी कथामें कादम्बरी और उसकी अन्य

---

१. Ibid p. XXXV.

२. History of Sanskrit Poetics Vol. I pp. 64- 70.

३. Proceedings and Transactions of the second Oriental Conference pp.193-201. Journal of the Mythic Society XIII pp. 671-685.

४. भिन्नस्तीक्ष्णमुखेनापि चित्रं वाणेन निर्व्यथः।
व्याहारेषु जहौ लीलां न मयूरः ....॥

अवान्तर कथाओंका वर्णन दिया है और यह कथन ठीक उसी प्रकारका है जैसा कि बाणने अपनी पूर्वार्द्ध कादम्बरीमें दिया है। यह प्रसिद्ध ही बात है कि बाण हर्षवर्धनके दरबारमें रहे थे जिन्होंने ६०६ से ६४८ ई० तक राज्य किया था। उत्तर देशका एक कवि दस-बीस ही वर्षमें इतनी प्रसिद्धि नहीं प्राप्त कर सकता जिस कालमें समाचार पहुंचाना कठिन था कि दक्षिणका एक समालोचक भी उनके लिये इतनी प्रशंसा लिखे।

बहुत ही विश्वस्त प्रमाणोंसे यहभी दिखाया जा सकता है कि भामह बाणके पूर्व हुए थे। ध्वन्यालोकमें[1] आनन्दवर्धनने यह दिखाते हुए कि एक ही भाव चाहे उसे एक कविने प्रकट कर ही दिया हो नवीन सौन्दर्य ग्रहण कर सकता है यदि दूसरा उसी भावको व्यंग्य रूपसे प्रकट करे, यह सूचित किया है कि बाणभट्टने भामहके काव्यालंकारके एक श्लोकका भाव लेकर उसे अपने हर्षचरितमें गद्यमें वर्णन किया है। इससे यह बिलकुल स्पष्ट है कि आनन्दवर्धनको उस समयके काश्मीरी पण्डितोंके परम्परामत विचार के आधारपर यह पूरा विश्वास था कि भामह बाणसे बहुत पूर्वकालमें हुए थे जिससे वे उनके विचारको बड़ी होशियारीसे ले सकते थे। इसलिये जबतक इस आनन्दवर्धनके कथनका खण्डन आजतक माने गये हुए समय सम्बन्धी निश्चय द्वारा न हो जाय जो कि असम्भव सा मालूम होता है तबतक

---

१. तथा विवक्षितान्यपर–वाच्यस्यैव शब्द-शक्त्युद्भवानुरणन रूप व्यङ्ग्य प्रकार समाश्रयेण नवत्वम्। यथा 'धरणी धारणायाधुना त्वं शेषः' (हर्षचरित VI Para 15 of Kane's Edition) इत्यादौ शेषो हिमगिरिस्त्वं च महान्तो गुरवः स्थिराः। यदलंघितमर्यादाश्चलन्तीं बिभृते भुवम्। काव्यालंकार ३।२७.

इत्यादौ सत्स्वपि तस्यैवार्थ शक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यंङ्ग्य समाश्रयेण नवत्वम्।–ध्वन्यालोक, उद्योत ४, पृ० २३६.

भामहका दण्डीसे पूर्वकालमें रहना कट नहीं सकता। उन विद्वानोंको जो भामह और दण्डीको समयकी दृष्टिसे सन्निकट समझते हैं, आदरके भावसे देखते हुए हम यहां कहना चाहते हैं कि हम लोगोंको यह सत्य नहीं मालूम होता। भामह शायद काश्मीरके रहनेवाले थे और दण्डी निश्चय-पूर्वक दक्षिणके थे। यह समझमें नहीं आता कि इतने परस्पर भिन्न देशमें रहनेवाले विद्वान् उस समयमें एक दूसरेकी प्रतिद्वन्द्विता करनेके लिये कैसे तैयार हो जाते। यह बात हटाई नहीं जा सकती कि दण्डी निश्चय पूर्वक समालोचना करनेकी दृष्टिसे भामहके ग्रंथको एक दम अन्तर्धान कर देना चाहते हैं। भारवि और माघकी भी कुछ कुछ ऐसी ही अवस्था थी। यद्यपि उनका समय एक दूसरेसे बहुत भिन्न था प्रायः वे निकट ही रहते थे।

यह बात भाषाकी दृष्टिसे भी प्रमाणित हो सकती है। भामहके समयमें प्राकृतकी इतनी चाल न थी जितनी दण्डीके समयमें थी। शायद सेतुबन्ध, जिसकी इतनी प्रशंसा दण्डीके मुंहसे सुनते हैं, लिखी ही न गई हो। यदि यह बात प्रमाणित हो जाय कि वररुचिके प्राकृत प्रकाशकी सबसे प्राचीन टीका, प्राकृत-मनोरमा इन्हीं भामहने लिखी है जो काव्या-लंकारके रचयिता हैं, तो वह वररुचिके अनन्तर भामह हीका सबसे प्राचीन प्राकृतका व्याकरण होगा। यह भी यहां कहा जा सकता है, कि महाराष्ट्री—और दूसरे प्राकृत नहीं—भामहके अर्थके अनुसार वररुचिके नियमोंका पालन नहीं करती। पीछे आये हुए टीकाकार वंसतराज आदिने और विस्तृत रीतिसे सूत्रोंको समझाने की चेष्टा की है। कुछ भी हो, यह बात निस्सन्देह स्पष्ट है कि समाजकी अवस्था जैसी भामहने अपने ग्रंथमें दिखाई है वैसी दण्डीके काव्यादर्शमें नहीं है। भामहके समयका काव्य-लावण्य दण्डीके समयतक एकदम अन्तर्धान हो गया। सीधी सुन्दर रीति तबतक शब्द-काठिन्यमें परिवर्तित नहीं हुई थी। बौद्धों और हिन्दुओंके शास्त्रार्थने शब्दकी शक्तिकी विवेचना

उत्पन्न कर दी और अलंकार शास्त्र भी तबतक वह पूरा नहीं समझा जाता था, जबतक उसका विवेचन न करे। पर दण्डीके समय तक बिलकुल परिवर्तन हो गये। अलंकार-शास्त्रोंमें भी दोनों ग्रंथकारोंके ग्रंथोंमें अनेक बातें समान और असमान मिलने लगीं। हम लोग समझते हैं कि दण्डी और भामहके समयमें अन्तर दहाईका नहीं सैकड़ोंका था।

भामह और धर्मकीर्ति

हम लोगोंने ऊपर दिखाया है कि ध्वन्यालोकमें आनन्दवर्धनके प्रमाण पर भामह बाणके अनन्तर, जो सप्तम शताब्दीके पूर्वभागमें थे, नहीं रखे जा सकते, लेकिन यह मत इस विचारसे नहीं ठहर सकता कि भामहने कुछ न्यायकी बातें धर्मकीर्तिसे ली हैं। डा० याकोबीने इस बातका कुछ दूरतक विवेचन किया है और उसी सम्बन्धमें धर्मकीर्तिके समयका भी विचार किया है। ह्यूनत्संग और इत्सिंगके भारतमें आगमनके मध्य कालमें धर्म कीर्ति थे, यह वे कहते हैं। ह्यूनत्संग जिन्होंने भारतकी यात्रा ६३० ई० से ६४३ तक की है इस बौद्ध नैयायिकके बारेमें कुछ नहीं कहते। इत्सिंगने, जिन्होंने यात्रा ६७१ ई० से ६९५ ई० तक की है, अवश्य उनके बारेमें सुना है। तारानाथ[१] धर्मकीर्तिको तिब्बतके नृप सोनत्सन गम्पोका समकालीन समझते हैं जो ६२७ से ६९८ ई० तक राज्य करते थे। इसलिए धर्मकीर्तिका समय सप्तम शताब्दिका मध्य भाग कहा जा सकता है। यदि यह सिद्ध हो जाय—जैसा कि याकोबी सिद्ध करना चाहते हैं—कि भामहने सचमुच धर्मकीर्तिके न्यायशास्त्रकी सहायता ली है, तो आनन्दवर्धनका कथन बहुत कुछ असत्य हो जाय और भामहको अष्टम शताब्दि तक कमसे कम खींच लाया जाय। हम लोग इन युक्तियोंका थोड़ा विवेचन करके देखेंगे।

---

१. विद्याभूषण's History of Indian Logic pp. 305-6

भामहने धर्मकीर्तिके न्यायशास्त्रकी सहायता ली है, इसके लिये जितनी युक्तियां हैं वे सब यही कहती हैं कि दोनों ग्रंथोंमें कुछ समानता है। ये समानताएँ केवल तीन हैं। एक एकका विचार किया जायगा।

अनुमान विचार

(१) भामहने अनुमानके यह दो लक्षण दिये हैः--

त्रिरूपाल्लिङ्गतो ज्ञानमनुमानं च केचन।
तद्विदो नान्तरीयार्थ-दर्शनं चापरे विदुः (काव्या० ५।११)

हम लोग वाचस्पति मिश्रकी न्यायवार्तिककी तात्पर्य्य-टीकासे जानते हैं कि दूसरा लक्षण--जो यहां अनुमानका दिया है--दिङ्नागका है। परन्तु पहिले लक्षणके बारेमें क्या कहा जाय? डा० याकोबी लिखते हैं कि यह लक्षण किसी दूसरे दर्शनकारका है, पर यह दूसरे कौन हैं? डा० याकोबी कहते हैं कि वह धर्मकीर्ति हैं क्योंकि उनके न्याय-बिन्दुमें एक स्थानपर लिखा है--

अनुमानं द्विधा स्वार्थं परार्थं च।
तत्र स्वार्थं त्रिरूपाल्लिङ्गाद् यदनुमेये ज्ञानं तदनुमानम्।

यहांपर और दूसरे प्रश्नमें भी हमें यही जानना है कि कोई विशेष विचार-जैसा लिंगस्य त्रैरूप्यम्--किसी विशेष व्यक्तिका है अथवा यह साधारण विचार कई व्यक्तियोंका है। ऐसी युक्तियोंका मान तभी हो सकता है, जब विचार मौलिक हो। दुर्भाग्यसे यहां ऐसी कोई बात नहीं है। 'लिंगस्य त्रैरूप्यम्' यह एक साधारण लक्षण नैयायिकोंका है, धर्मकीर्तिका निजी मौलिक नहीं। इस समय हमारा काम इसीसे चल जाता है कि यह लक्षण दिङ्नागको भी मालूम था। दिङ्नागने अपने 'प्रमाण समुच्चय'में इस प्रकार स्वार्थानुमानके विषयमें लिखा है[1]--

१. Dr. Vidyabhushana's History of Indian Logic p. 280.

"तीन प्रकारके चिह्नोंसे जिसका ज्ञान मिले उसीको स्वार्थानुमान--अपने लिये अनुमान--कहते हैं। इसीके संस्कृत रूपसे क्या कुछ ठीक ऐसी ही बात धर्मकीर्तिके न्यायबिन्दुसे--जो ऊपर उद्धृत की है नहीं मिलती? इस सम्बन्धमें एक बात और कहनी है। जिस प्रकार भामहने और दिङ्नागने यह लक्षण दिया है, उससे क्या यह नहीं प्रतीत होता कि यह न केवल दूसरे किसी और मूलग्रंथसे लिया गया है, बल्कि यह भी कि यह एक प्राचीन और सर्वमान्य विचार है। प्रमाण समुच्चयके साथ-साथ न्यायप्रवेशमें[1] 'लिङ्गस्य त्रैरूप्यम्‌का पूरा वर्णन है। चाहे कोई भी इसका रचयिता हो, यह किसीने अभीतक सिद्ध करनेकी चेष्टा नहीं की है कि यह ग्रंथ धर्मकीर्तिके अनन्तर लिखा गया है। इसलिये हम लोग कह सकते हैं कि भामहने किसी प्रकार भी लिंगस्य त्रैरूप्यम् यह लक्षण धर्मकीर्तिसे नहीं लिया है। हमारी तो प्रवृत्ति यहां तक लिखनेकी है कि भामह को इस मतमें कमसे कम दिङ्नागका भी ऋणी न समझना चाहिये। बहुधा उन्हें यह ज्ञान किसी प्राचीन नैयायिकसे मिला होगा।

(२) धर्मकीर्तिके कथनके समान भामहका दूसरा कथन 'दूषणं न्यूनताद्युक्तिः' है (काव्या० ५।२८) धर्मकीर्तिने भी 'दूषणानि न्यूनताद्युक्तिः' लिखा है[2]। समानता अवश्य चित्तको आकर्षण करनेवाली है। पर प्रश्न फिर यही है कि क्या यह धर्मकीर्तिका मौलिक विचार है?

---

१. यह ग्रन्थ अभीतक केवल तिव्वती भाषामें था। सौभाग्यसे अब उसे गायकवाड़ ओरिएण्टल सिरीज़में प्रिन्सिपल ए० बी० ध्रुव के सम्पादकत्वमें प्रकाशित हुआ है।

२. न्यायविन्दु (Peterson's edition) III· 133, Benares Edn. में दूषणा न्यूनताद्युक्ति है, पृ० १३२

(३) यही प्रश्न तीसरी समानतापर भी किया जा सकता है। वह यह है—जातयो दूषणाभासाः[१] (काव्या० ५।२९) क्या धर्मकीर्तिने कोई नया विचार "दूषणाभासास्तु जातयः" कहकर किया है? ऊपर लिखे हुए दोनों उदाहरणोंमें धर्मकीर्तिका कुछ भी मौलिक लिखा हुआ नहीं कहा जा सकता। दूषण और जाति पहिलेके ग्रंथकारोंको भी मालूम थे। न्यायप्रवेशमें ऐसेही वर्णन दूषण जातिके अर्थमें हुए हैं[३]।

काणेने[४] स्वतन्त्र रूपसे कुछ समानताएँ भामह और धर्मकीर्तिके ग्रंथोंकी दी हैं, उनमें एक यह भी है कि भामहके काव्यालंकारका एक श्लोक धर्मकीर्तिके न्यायबिन्दुके एक वाक्यसे बहुत कुछ मिलता है। भामहका श्लोक इस प्रकारका है:—

> सत्वादयः प्रमाणाभ्यां प्रत्यक्षमनुमा च ते।
> असाधारण-सामान्य-विषयत्वं तयोः किल ॥ काव्या. ५।५

---

१. न्यायबिन्दु (Peterson's Edn.) III. 140, Benares Edn. pp. 133

२. इस सम्बन्धमें गौतमका न्यायसूत्र और उसपर वात्स्यायनभाष्य इस प्रकार है।
"साधर्म्य-वैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिः" यह सूत्र १।२।१८ है। इसीपर वात्स्यायन लिखते हैं, "प्रयुक्ते हि हेतौ यः प्रसंगो जायते सा जातिः। सच प्रसंग साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थाममुपालम्भः प्रतिषेध इति। ... ... प्रत्यनीकभावाज्जायमानोऽर्थो जातिरिति।

३. Vidyabhushan's History of Indian Logic p. 298

४. Intro. to his edition of साहित्यदर्पण p. XL.

धर्मकीर्तिने इस प्रकार लिखा है:--

द्विविधं सम्यग्ज्ञानं प्रत्यक्षमनुमानं च (पृ० १०) तस्य विषयः स्वलक्षणं (पृ०२१)...अन्यत् सामान्यलक्षणं (पृ० २४) सोऽनुमानस्य विषयः (पृ०२५) यहांपर भी फिर वही बात कही जा सकती है कि प्रमाणोंका यह विभाग और लक्षण धर्मकीर्तिके अपने नहीं हैं। अक्षपादके विरोधी प्रायः सभी नैयायिकोंका अधिकतर यही विचार है। उदाहरणके लिये दिङ्नागने अपने प्रमाणसमुच्चयमें कहा है कि दो ही प्रमाण हैं--प्रत्यक्ष और अनुमान। सब बातें उन्हींसे जानी जाती हैं इसलिए और कोई दूसरे प्रमाण नहीं हैं। डा० विद्याभूषणने मूल संस्कृत इस प्रकार दिया है:--

प्रत्यक्षमनुमानं च प्रमाणं हि द्विलक्षणम्।
प्रमेयं तच्च सिद्धं हि न प्रमाणान्तरं भवेत्॥

उपर्युक्त बातोंसे यह प्रतीत होता है कि धर्मकीर्तिके वह सब वाक्य मौलिक न होनेके कारण भामहके वे ही मूल हैं यह हम कह नहीं सकते। धर्मकीर्तिके वे ही सब विचार हैं जो प्रसिद्ध विचार थे और जो बौद्धन्यायके पूर्व भी विद्यमान् थे। ऐसी अवस्थामें यह कहना कि भामहने धर्मकीर्तिसे ही अपने सब विचार लिये हैं और किसीसे नहीं, यह सर्वथा ठीक नहीं है। डा० याकोबी ऐसे साधारण विद्वान् नहीं हैं कि केवल आकस्मिक विचारोंकी समानतासे हीं कह देते कि भामहने धर्मकीर्तिके विचार ग्रहण किये हैं। हम यह अनुमान करते हैं कि विचारोंके शब्दोंकी समानता से ही याकोबीने ऐसा अपना मत स्वीकार किया है। पर हम लोगोंकी दृष्टिसे शब्दोंकी समानता किसी महत्त्वकी नहीं है। केवल दूषण और जातिके ही सम्बन्धमें जो वाक्य आये हैं वे ही कुछ समान प्रतीत होते हैं। परन्तु वहां पर भी हम यह नहीं कह सकते कि धर्मकीर्तिने सर्वप्रथम वे शब्द प्रयोग किये थे। जिस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि वे धर्मकीर्तिके शब्द हैं उसी प्रकार हम यह भी कह सकते हैं कि उनका भामह हीने सर्वप्रथम

प्रयोग किया। इसमें कोई आपत्ति नहीं मालूम होती। यदि शान्तरक्षित दर्शन शास्त्रकार होकर भी हमारे आलंकारिकके वचन ग्रहण कर सकता है, तो कोई कारण नहीं है कि धर्मकीर्ति भी वही न करे जब उसे कोई तैयार ग्रंथ उसके मतलबके मिल जायं।

हम बलपूर्वक इतना ही कहना चाहते हैं कि शब्दोंकी समानतासे ही निस्सन्देह कोई बात सिद्ध नहीं होती। ऐसी अवस्थामें तीन बराबरके विचार सम्भव हैं और प्रत्येक सत्य माने जा सकते हैं। अब उपस्थित प्रश्नपर जबतक कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिलते यह कहना न्याययुक्त न होगा कि भामहने धर्मकीर्तिके विचार और शब्द ग्रहण किये हैं। यह भी उसी प्रकार कहा जा सकता है कि धर्मकीर्तिने भामहके शब्द ग्रहण किये हैं या दोनोंने किसी एक ही सूत्रसे अपने अपने विचार लिये हैं।

प्रत्यक्षलक्षण

भामहने धर्मकीर्तिके वाक्य ग्रहण किये हैं या नहीं? इसका सबसे अच्छा निश्चय करनेका मार्ग यही होता कि धर्मकीर्तिके विशेष मतोंके साथ भामहके मतोंकी तुलना की जाती। मध्यकालके न्यायका कुछ भी हाल जो लोग जानते हैं उन सबको भली प्रकार विदित है कि धर्मकीर्तिने दिङ्नागके अनुयायी होते हुए भी एकदम उनका अनुकरण नहीं किया। धर्मकीर्तिकी विशेषताएँ डा० विद्याभूषणने[१] अच्छी तरह संग्रह की हैं और इनके ऊपर थोड़ा भी विचार इस बातको सिद्ध कर देगा कि बौद्ध नैयायिकका कोई विशेष मत भामहने ग्रहण नहीं किया है। ठीक इसके विरुद्ध प्रमाण है कि इससे बिलकुल उलटी बातें हुई हैं। यहांपर कुछ दी

---

१. Vidyabhushana' History of Indian Logic pp. 315-318.

जा सकती हैं। दिङ्नागका प्रत्यक्षका लक्षण प्रत्यक्षं कल्पनाऽपोढम्[1] है। एक महत्वका योग धर्मकीर्तिने प्रत्यक्षं कल्पनाऽपोढमभ्रान्तम्[2] यह कर किया है। 'अभ्रान्तं' यह पद ऐसा नहीं है कि कोई भी उनके अनन्तर आनेवाला हटा सकता है। दिङ्नागका लक्षण बहुत व्यापक था और इसलिये सर्वत्र लगाया जा सकता था। इससे सब वस्तु प्रत्यक्ष हो सकती हैं। उद्योतकरने सचमुच इसी प्रकार इसका अर्थ किया[3]। यह आपत्ति हटानेके लिये धर्मकीर्तिने 'अभ्रान्तं' जोड़ दिया जिससे यह स्पष्ट हो गया कि प्रत्यक्ष से केवल प्रत्यक्ष ज्ञान लिया जा सकता है दूसरा कुछ नहीं। कौन ऐसा होगा कि एक बार दोष दिखानेपर भी इतना व्यापक लक्षण ग्रहण करेगा।

भामहने प्रत्यक्षके दो लक्षण एक ही पंक्तिमें दिये हैं। वह इस प्रकार है:—प्रत्यक्षं कल्पनापोढं ततोऽर्थादिति केचन-काव्या० (५।६) इन दो लक्षणोंमेंसे पहिला वाचस्पति मिश्रके कथनानुसार दिङ्नागका है और दूसरा उन्हींके कथनानुसार दिङ्नागके गुरु वसुबन्धुका है[4]। अब क्या

---

१. वाचस्पति मिश्रने तात्पर्य्य टीकामें 'अपरे तु मन्यन्ते प्रत्यक्षं कल्पनापोढमिति, पर इस प्रकार लिखा है—सम्प्रति दिङ्नागस्य लक्षणमुपन्यस्यति अवर इति Vidyabhushana's History of Indian Logic pp. 376–277; Dr. Randle's Fragments from Dinnaga pp. 8–10. देखिये।

२. न्यायविन्दु (काशी) पृ० ११।

३. उन्होंने 'स्वरूपतो न व्यपदेश्यम्' इस प्रकार लिया है।

४. वाचस्पति मिश्र 'अपरे पुनर्वर्ण यन्ति ततोऽर्थाद् विज्ञेयं प्रत्यक्षम् इसपर टीका लिखते हुए कहते हैं—तदेवं प्रत्यक्षलक्षणं समर्थ्य वासुबन्धवं तावत् प्रत्यक्षलक्षणं विकल्पयितुमुपन्यस्यति— Randle's Fragments from Dinnaga p. 12–13 भी देखिए।

संभव है कि भामह ऐसे समयमें थे जब वसुबन्धु भूले नहीं गये थे, प्रत्युत उनका विद्वान् लोग वैसा ही मान किया करते थे जैसा दिङ्नाग का।

भामह और दिङ्नाग

यहांपर इन ग्रंथोंका सविस्तर तुलनात्मक विचार दे देना अवश्य लाभदायक होगा, पर इतने कम स्थानमें यह असम्भव है। थोड़ी सी बातें यहां दी जा सकती है। भामहने छः पक्षाभास दिये हैं[1], धर्मकीर्तिने केवल चार[2]। यदि न्यायप्रवेशको देखें तो नव[3] मिलते हैं। परन्तु बड़ी विचित्र बात यह है कि इनमें भामहके लक्षण और उदाहरण कुछ न्यायप्रवेशसे अधिक मिलते हैं। धर्मकीर्तिने दृष्टान्तको त्रिरूप हेतुमें[4] ले लिया है, परन्तु भामहने उसको पृथक्[5] माना है जैसा कि न्यायप्रवेश और प्रमाणसमुच्चयमें है। न्यायप्रवेश और प्रमाणसमुच्चयमें दृष्टान्तके दो विभाग साधर्म्य और वैधर्म्य[6] द्वारा किये गये है। भामहने भी ऐसा ही किया है पर धर्मकीर्तिमें ऐसा कोई विभाग नहीं है। थोड़ीसी बातें जो यहां दी गई हैं वे यह

---

१. काव्या ५।१३–२०.

२. न्यायविन्दु पृ० ८८–९५.

३. History of Indian Logic pp. 290–291.

४. त्रिरूपो हेतुरुक्तः। तावतैवार्थप्रतीतिरिति न पृथग् दृष्टान्तो नाम साधनावयवः कश्चिन्। तेन नास्य लक्षणं पृथगुच्यते–न्यायविन्दु पृ० ११७.

५. काव्यालंकार २।२१,५।२६,२७

६. History of Indian Logic pp. 286–7, 295–96 शब्दोंकी समानता भी यहां ध्यानमें रखनी चाहिये। धर्मकीर्ति के भी ऐसे ही विभाग दृष्टान्ताभासके हैं।

सिद्ध करनेके लिये पर्याप्त है कि भामहका धर्मकीर्तिसे कुछ भी ग्रहण करना सम्भव नहीं है।

यदि यह सब बातें न भी प्राप्त होतीं तो भी यह दिखाना सम्भव था कि धर्मकीर्तिके अनन्तर भामहका आना हो ही नहीं सकता। जैसा कि ऊपर दिखाया गया है, धर्मकीर्ति सन् ६५० ई० में थे और दक्षिण भारत में रहते थे। शान्तरक्षित बंग देशमें अष्टम शताब्दिके पूर्व भागमें रहते थे। अब हम लोग किसी प्रकारसे अनुमान नहीं कर सकते कि उन दिनोंमें जब समाचार एक दूसरे देशोंसे मिलना कठिन था, पचास ही वर्षमें इतना काम हो गया—धर्मकीर्ति प्रसिद्ध हो जाते हैं, उनका ग्रंथ काश्मीर जाता है, वहां भामह उससे अपना काम निकालते हैं, वह फिर प्रसिद्ध होकर बंगदेश पहुँचता है और वहां शान्तरक्षित उसको पूरी तरह अपने ग्रंथमें समावेश कर लेते हैं और यह सब काम पचास वर्षमें हो जाता है। यह बिल्कुल सम्भव नहीं है। इस लिये आनन्दवर्धनके कथनमें सन्देह करनेके लिये कोई युक्ति नहीं है कि बाणको भामहके ग्रन्थका पता था। इसलिये ६०० ई० भामहके कालकी पर-सीमा मानना अनुपयुक्त नहीं है।

न्यायप्रवेश-कर्ता

परन्तु उनके कालकी पूर्व सीमा क्या होनी चाहिये? पिछले विवेचन से सिद्ध है कि भामह उन मतोंसे अभिज्ञ थे जो वाचस्पति मिश्रके वचनके आधारपर दिङ्नागके कहे जाते हैं। हम ने यह भी दिखलाया है कि उनके मत उन मतोंसे भी मिलते हैं जिनका वर्णन न्यायप्रवेशमें है। नन्‌जीओ[1] और तकाकसु[2] कहते हैं यह ग्रंथ नागार्जुनका है, पर विधुशेखर

१. Nanjio's Catalogue of the Chinese Tripitaka p. 270, No 1123, 1224

२. A Record of the Buddhist Religion by Itsing pp. 177, 186

भट्टाचार्यका विचार है कि ननजोओने संस्कृतमें नामान्तर करनेकी भूल की है। स्वयं चीनी भाषामें नाम उसका 'यू लुण' है जिसका संस्कृत उल्था दिङ्नाग है[१]। परन्तु सुगिउरा[२] और उई[३] के अनुसार चीनी परम्पराके आधारपर न्यायप्रवेश शंकरस्वामीका कहा जाता है। इस मतके अनुसार दिङ्नागका ग्रंथ **न्यायद्वार** है जो न्यायप्रवेशसे बिलकुल भिन्न है। डा० रेण्डेल[४] का विचार है कि चीनी लोगोंके आधारपर न्यायद्वार दिङ्नाग का ग्रंथ है, इसमें सन्देहका कोई कारण नहीं है। इस अवस्थामें यह असम्भव है कि दिङ्नाग न्यायप्रवेशके रचयिता हों। परन्तु तिब्बतियोंके आधारपर न्यायप्रवेशको दिङ्नागका ग्रंथ न माननेमें कोई कारण नहीं है। पं० विधुशेखर भट्टाचार्यने[५] कई अच्छी युक्तियां इस बातके सिद्ध करनेके लिये दी है कि न्यायप्रवेश दिङ्नागका ग्रंथ है। इसके साथ ही साथ एक बात प्रश्नमें बहुत दूरतक उलट-फेर कर देती है। यह एक आश्चर्यजनक बात है कि शंकरस्वामीको न ह्यूनत्संग और न इत्सिंग जानते थे। तिब्बतके मूलग्रंथोंमें उनका नाम तक नहीं है। न्यायप्रवेशके चीनी अनुवादसे जो अनुवाद तिब्बतमें हुआ है स्पष्ट प्रतीत होता है कि उस समय चीनी भी शंकरस्वामीको नहीं जानते थे। यह सचमुच समझमें नहीं आता कि कैसे उनके नामका सम्बन्ध न्यायप्रवेशसे हो गया। कहींपर कुछ गड़बड़ी इसमें

---

१. The Nyaya Pravesha of Dinnaga–Indian Historical Quarterly Vol. III p. 154.
२. The Hindu Logic as Preserved in China and Japan pp. 36–37.
३. Vaisesika Philosophy p. 68.
४. Fragments from Dinnaga p. 61.
५. Indian Historical Quarterly Vol III pp. 154–59

छिपी हुई जरूर है। जबतक इस रहस्यका पता न लगे तबतक हम लोगों को सच्चा कारण न मालूम होगा कि कैसे चीनी लोग इसको शंकरस्वामी का कहते हैं। परन्तु जहांतक उस मूलग्रंथसे मालूम होता है--जो पं० विधुशेखर भट्टाचार्यने छपवाया है[1]--यह सम्भव क्या, सत्य है कि यह दिङ्नागका ग्रंथ है। विद्वान् सम्पादकने उसे चीनी और संस्कृत ग्रंथोंसे मिलान किया है और शायद उनमें उन्हें विशेष भेद नहीं मालूम होता। इसलिये जो कुछ न्यायप्रवेशके तिब्बती पाठ-भेदके रचयिता के सम्बन्धमें कहा गया है वही अन्य पाठ-भेदके बारेमें भी कहा जा सकता है।

हम लोगोंकी दृष्टिमें इसमें कोई विशेष अन्तर नहीं आ जायगा यदि शंकरस्वामी ही न्यायप्रवेशके रचयिता सिद्ध हो जायं। वह दिङ्नागके शिष्य कहे जाते हैं और इसलिये अवस्थामें कम होते हुए भी उनके समकालीन होंगे। इसलिए जब हम दिङ्नागके ग्रन्थ और न्यायप्रवेशसे भामहके मत और वाक्योंकी स्पष्ट समानता देखते हैं तो हम निस्संदेह कह सकते हैं कि दिङ्नागका समय ही भामहके समय निर्धारणके लिए पूर्वसीमा है।

दिङ्नागका समय

दिङ्नागका काल उनके गुरु वसुबन्धुके कालपर निर्भर है। ननजीओ कहते हैं कि कुमारजीवने वसुबन्धुकी[2] एक जीवनी ४०१ई०से ४०९ ई० के मध्यमें लिखी है और परमार्थने जो ४९९ से ५६० ई० के मध्यमें

---

१. Gaekwod Oriental series XXXIX Part II.

२. Nanjio's Catalogue of the Tripitak app. I. 64.

थे दूसरी जीवनी लिखी है[२]। परमार्थसे हमें पता चलता है कि वसुबन्धु विक्रमादित्य के समकालीन थे जिसको कि विन्सेण्ट स्मिथ[३] गुप्त वंशके चन्द्रगुप्त प्रथम निर्धारित करते हैं। वसुबन्धु जिनका ८० वर्षकी अवस्थामें देहान्त हुआ २८० ई० और ३६० ई०के मध्यमें जीवित थे। पर दुर्भाग्यवश सब विद्वान् इसपर सहमत नहीं है। दूसरा महत्वका मत यह कहता है कि वे ४२०-५०० ई०[४] के मध्यमें थे। परन्तु अधिकतर विद्वान् पहिले ही मतके हैं। इसलिए निस्सन्देह पहिला मत अधिक सम्भव प्रतीत होता है। यदि हम दूसरा मत माने तो आगेका सब समय गड़बड़ा जाता है। तब हमें कुमारजीवके वसुबन्धुकी जीवनीको कल्पित कथा माननी होगी और यह परम्परा विश्वास करने योग्य न होगी कि वसुबन्धु एक वृद्ध थे और उनका ग्रन्थ कुमारजीवने चीनी भाषामें अनुवाद किया था।

इसलिये हम ऊपर कही हुई युक्तिसे कह सकते हैं कि वसुबन्धु २८० से ३६० ई० के मध्यमें थे। अब दिङ्नाग जो उनके शिष्य थे, उनसे कम अवस्थाके थे और उन्हींके समकालीन थे। इसलिए वे ४००ई० के पूर्व अवश्य ही किसी समय रहे होंगे। अब यदि दिङ्नागका समय लगभग

---

१. Ibid No. 1463.

२. Takakusu J. R. A. S. 1905 p. 44.

३. Early History of India, 3rd Edn. p. 320.

४. Vidyabhusan's History of Indian Logic pp. 266-67

५. Keith—Indian Logic and Atomism p. 98 Buddhist Philosophy p. 155. B. Bhattachaya's Foreword to तत्वसंग्रह pp. LXVI-LXXX

४०० मान लिया जाय तो उसी कालको भामहके कालकी पूर्वसीमा माननी होगी। हम इसलिये निस्सन्देह कह सकते हैं कि भामहका काल दिङ्नाग और बाणके कालके मध्यमें है। अर्थात् वे ४०० ई० और ६०० ई० के मध्यमें विद्यमान थे।

उपसंहार

यदि भामहके कालके विषयमें हम और ठीक कहना चाहे तो हमें यह देखना होगा कि वे दिङ्नागके सन्निकट थे या धर्मकीर्तिके। हमने पहिले विवेचनमें कहा है कि **भामहका मत धर्मकीर्तिकी अपेक्षा दिङ्नागसे अधिक मिलता है**। हमने यह भी दिखाया है कि भामह ऐसे कालमें थे जब वृद्ध गुरुजनोंकी पूरी स्मृति थी। यह बात उन गुरुओंके बचे हुए ग्रन्थोंकी और भामहके ग्रन्थकी अच्छी तरह तुलना करनेसे मालूम हो जाती है। कुछ स्थानोंपर उन्होंने पाठकोंको विस्तारपूर्वक पढ़नेके लिये दूसरे ग्रन्थोंका नाम भी दिया है जो शायद दिङ्नागके ग्रन्थोंमें नहीं पाये जाते। हमें यह भी विचार करना होगा कि भामहकी कीर्तिको कन्नौज पहुँचनेके लिये अवश्य समय लगा होगा जिससे कन्नौजके बाण ऐसे धुरन्धर कविने भी इतनी दूर काश्मीरके कविकी मुक्तकंठसे प्रशंसा की है। यदि इसके लिये एक शताब्दीका समय रख लिया जाय तो हम समझते हैं **भामहको ५०० ई० के पूर्व रखनेमें बहुत क्षति न होगी**। पर इतनेसे भी हम लोगोंको सन्तोष नहीं होता। उनके लेखकी शैली, विषयका प्रौढ़त्व आदि देखनेसे यही इच्छा होती है कि उनको और पूर्वकालमें ले जाया जाय और दिङ्नागके समीप रखा जाय, यद्यपि कोई साक्षात् प्रमाण इसके लिये नहीं मिलता। काव्यालंकारका पंचम अध्याय दार्शनिक न्यायसे भरा हुआ है। कहीं-कहीं तो शास्त्रार्थकी सी शैली प्रतीत होती है। इससे हमेंविश्वास होता है कि भामह ऐसे समयमें विद्यमान थे जब चारों ओर शास्त्रार्थ और विचारका वातावरण फैला हुआ था। भारतीय इतिहासका ऐसा समय

दिङ्नाग ही ऐसे विद्वानोंके समयमें हो सकता है। इधर-उधर वर्णनोंसे भी हम जानते है कि इस महान् आचार्यने अपना सम्पूर्ण जीवन शास्त्रार्थमें ही व्यतीत किया। वे अपने समयमें 'तर्क-पुंगव'—तर्कमें श्रेष्ठ—कहे जाते थे। परन्तु ऐसा काल बहुत समय तक न था। न्याय-निर्णय, जो भामहके अलंकारशास्त्रमें एक बहुत आवश्यक विषय समझा जाता था, दण्डीके समयमें कर्कश विचार समझा जाने लगा[1]। बाणके समयमें भी हमें दिङ्-नागके समयका घोर शास्त्रार्थ और वादविवाद नहीं मिलता। गुप्तोंके पांचवीं और छठीं शताब्दीके शिलालेखोंमें भी इस बातका कोई चिन्ह नहीं मिलता। इस प्रकार हमें यह विश्वास करनेमें कोई क्षति नहीं है कि शास्त्रार्थका यह काल दिङ्नागसेही अन्त हो गया। इसलिये हम यह सिद्धान्त निकाल सकते है—**भामह दिङ्नागके समकालीन थे या दिङ्नागके कुछ ही अनन्तर हुए थे।** अन्तमें हम इसी निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि भामह ४०० ई० के लगभग अवश्यमेव विद्यमान थे।

---

१. विचारः कर्कशप्रायस्तेनालीढ़ेन किं फलम्
—काव्यादर्श

साहित्यशास्त्र
का
सैद्धान्तिक
विकास

अलंकार शास्त्रके ग्रन्थोंके अनुशीलन करनेसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उसमें अनेक सम्प्रदाय विद्यमान थे। आलंकारिकोंके सामने प्रधान विषय था काव्यकी आत्माका विवेचन। वह कौनसी वस्तु है जिसकी सत्ता रहने पर काव्यमें काव्यत्व विद्यमान रहता है? वह कौनसा पदार्थ है जो काव्यके अंगोंमें सबसे अधिक उपादेय तथा महत्त्वपूर्ण है। इस प्रश्नके उत्तरमें नाना सम्प्रदायोंकी उत्पत्ति हुई। कुछ लोग अलंकारको ही काव्यका प्राणभूत मानते हैं, कुछ गुण या रीतिको, दूसरे लोग ध्वनिको। इस प्रकार काव्यकी आत्माके समीक्षणमें भेद होनके कारण भिन्न-भिन्न शताब्दियोंमें नये-नये सम्प्रदायोंकी उत्पत्ति होती गई। अलंकार सर्वस्वके टीकाकार समुद्रबन्धने इन सम्प्रदायोंके उदयका जो कारण बतलाया है वह बहुत ही युक्तियुक्त है। उनका कहना है कि विशिष्ट शब्द और अर्थ मिलकर ही काव्य होते हैं। शब्द और अर्थकी यह विशिष्टता तीन प्रकारसे सम्भव हो सकती है--

(१) धर्मसे।
(२) व्यापारसे।
(३) व्यंग्यसे।

धर्म दो प्रकारके होते हैं--नित्य और अनित्य। अनित्य धर्मकी सत्ता काव्यमें उतनी अपेक्षित नहीं रहती जितनी नित्य धर्मकी। अनित्य धर्म है अलंकार और नित्य धर्मका नाम है गुण। । इस प्रकार धर्ममूलक वैशिष्ट्य प्रतिपादन करनेवाले दो सम्प्रदाय हुए--(१) अलंकार-सम्प्रदाय; (२) गुण या रीति सम्प्रदाय। व्यापार-मूलक वैशिष्ट्य भी दो प्रकारका है--वक्रोक्ति तथा भोजकत्व। वक्रोक्ति उक्ति वैचित्र्यका ही दूसरा नाम है और इस वक्रोक्तिके द्वारा काव्यमें चमत्कार

माननेवाले आचार्य कुन्तक हैं। अतः उनका मत 'वक्रोक्ति-सम्प्रदायके' नामसे प्रसिद्ध है। भोजकत्व व्यापारकी कल्पना रस-निरूपणके अवसरपर भट्टनायकने की है। परन्तु इसे अलग न मानकर आचार्य भरतके रसमतके भीतर ही अन्तर्भुक्त मानना उचित है। क्योंकि भट्ट नायकने विभाव, अनुभाव, संचारी भावसे रसकी निष्पत्ति समझानेके लिए ही इस नवीन व्यापारकी कल्पना की है। अतः इसे एक पृथक् सम्प्रदाय न मानकर भरतके रससम्प्रदायका अंग मानना युक्तियुक्त है।

व्यंग्यमुखसे शब्दार्थमें वैशिष्ट्य माननेवाले आचार्य आनन्दवर्धन हैं जिन्होंने ध्वनिको उत्तम काव्य स्वीकार किया है। आनन्दवर्धनने ध्वन्यालोकके आरम्भमें ध्वनिविरोधी तीन मतोंका उल्लेख किया है जो उनसे प्राचीन हैं तथा काव्य में ध्वनिकी स्वतन्त्र सत्ता माननेके विरोधी हैं। इन तीनोंके नाम हैं—(१) अभाववादी, (२) भक्तिवादी, (३) अनिर्वचनीयतावादी। अभाववादी आचार्य (भामह, उद्भट आदि) काव्यमें ध्वनिका सर्वथा अभाव मानते हैं। इनमें भी तीन छोटे-छोटे उप सम्प्रदाय हैं। कुछ लोग गुण और अलंकार आदिको काव्यका एकमात्र उपकरण मानकर ध्वनिकी सत्ताको बिल्कुल तिरस्कृत करते हैं परन्तु कुछ लोग अलंकारके भीतर ही ध्वनिका भी समावेश या अन्तर्भाव स्वीकार करते हैं (अन्तर्भाववादी)। भक्तिवादीकी सम्मतिमें ध्वनि भक्ति (लक्षणा) के द्वारा गम्य है, वह लक्षणामें ही अन्तर्भुक्त है। अतः उसके लिये एक नवीन काव्य-प्रकार माननेकी आवश्यकता नहीं। अनिर्वचनीयता-वादीके मतमें ध्वनि काव्यमें अनिवर्चनीय पदार्थ है। वह केवल बुद्धिगम्य है; उसकी शब्दतः आलोचना तथा निरूपण कथमपि शक्य नहीं। अलंकार-सर्वस्वके टीकाकार जयरथने अपनी 'विमर्शिणी'में इन दो पद्योंको उद्धृत किया है जिनमें ध्वनि-विरोधी बारह सिद्धान्तोंकी गणना है :—

"तात्पर्यशक्तिरभिधा लक्षणानुमिती द्विधा।
अर्थापत्तिः क्वचित्तन्त्रं समासोक्त्याद्यलंकृतिः ॥

रसस्य कार्यताभोगो व्यापारान्तरबाधनम् ।
द्वादशेत्थं ध्वनेरस्य स्थिता विप्रतिपत्तयः ।।"

(विमर्शिणी पृष्ठ ६)

जयरथने इन बारह सिद्धांतोंको पूर्वोक्त आनन्दवर्धनके द्वारा निर्दिष्ट तीन सम्प्रदायके भीतर ही अन्तर्भुक्त कर दिया है। आनन्दवर्धनने इन तीनों मतोंका पर्याप्त खण्डन कर ध्वनिकी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित की है। समुद्रबन्धके इस विवेचनको उन्हींके शब्दोंमें पढ़िए--

"इह विशिष्टौ शब्दार्थौ काव्यम् । तयोश्च वैशिष्ट्यं धर्ममुखेन व्यापार-मुखेन, व्यंग्यमुखेन वेति त्रयः पक्षाः। आद्येऽप्यलकारतो गुणतो वेति द्वैविध्यम् । द्वितीयेऽपि भणितिवैचित्र्येण भोगकृत्त्वेन वेति द्वैविध्यम् । इति पञ्चसु पक्षेष्वाद्यः उद्भटादिभिरङ्गीकृतः, द्वितीयो वामनेन, तृतीयो वक्रोक्ति-जीवितकारेण, चतुर्थो भट्टनायकेन, पञ्चम आनन्द वर्धनेन ।।

समुद्रबन्ध—अलंकारसर्वस्व टीका—पृ० ...

समुद्रबन्धने भरतके रस-सिद्धान्तका उल्लेख नहीं किया है और न औचित्यको ही काव्यमें विशिष्टतादायक होनेके कारण उसका पृथक् निर्देश किया है। इन दोनोंको पूर्व वर्णन से सम्मिलित कर हम अलंकार-शास्त्रमें मुख्यतः छः अलंकार सम्प्रदाय मान सकते हैं जिनका वर्णन क्रमशः प्रस्तुत किया जायेगा--

सम्प्रदाय	आचार्य
(१) रस-सम्प्रदाय	भरत मुनि
(२) अलंकार-सम्प्राय	भामह, उद्भट तथा रुद्रट
(३) रीति-सम्प्रदाय	दण्डी तथा वामन
(४) वक्रोक्ति-सम्प्रदाय	कुन्तक
(५) ध्वनि-सम्प्रदाय	आनन्दवर्धन
(६) औचित्य-सम्प्रदाय	क्षेमेन्द्र

१—रस-सम्प्रदाय

रस सम्प्रदायका आद्य प्रवर्तक कौन था? इसका ठीक-ठीक पता नहीं चलता। राजशेखरके कथनानुसार नन्दिकेश्वरने ब्रह्माके उपदेशसे रसका निरूपण सर्वप्रथम किया था, परन्तु आज न तो नन्दिकेश्वरके किसी रस-विषयक ग्रन्थका ही पता चलता है और न उनके एतद्विषयक किसी मतका। उपलब्ध रस-सिद्धान्त भरत मुनिके नाम से संबद्ध है। भरत ही रस सम्प्रदायके सबसे आदि तथा सर्वश्रेष्ठ आचार्य हैं। नाट्य शास्त्रके षष्ठ तथा सप्तम अध्यायोंमें रस और भावका जो वैज्ञानिक निरूपण प्रस्तुत किया गया है वह साहित्य-संसारमें एक अपूर्व वस्तु है। भरतका मुख्य उद्देश्य नाट्यका ही निरूपण था। इसी लिए उन्होंने नाट्य-विषयक रसका ही निरूपण विस्तार के साथ इन अध्यायोंमें किया है। इस प्रकार रसका निरूपण नाट्यके प्रसंगमें सर्वप्रथम उपलब्ध होता है और तदनन्तर काव्यके सम्बन्धमें रसका विवेचन पिछले आलंकारिकोंका प्रयास है। भारतीय आलोचकोंकी सम्मति है कि सर्वश्रेष्ठ कविता नाट्यात्मक ही होती है और रस भी नाट्यसे संबद्ध होनेके कारण 'नाट्यरस'के नामसे प्रसिद्ध होता है। नाट्यकी समग्र सामग्रीका उपयोग यही है कि दर्शकके हृदयमें रसका उन्मीलन किया जाय क्योंकि रसोन्मेष ही नाट्यका चरम अवसान ठहरा। नाट्यमें रसकी मुख्यता प्रतिपादन करनेके कारण ही हम भरतको रस सम्प्रदायका आद्य आचार्य मानते हैं।

रस सम्प्रदायका मूलभूत सूत्र है—"विभावानुभावव्यभिचारिसयोगाद् रसनिष्पत्तिः।" अर्थात् विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावके संयोगसे रसकी निष्पत्ति होती है। देखनेमें यह सूत्र जितना छोटा है विचार करनेमें यह उतना ही सारगर्भित है। भरतने इस सूत्रपर जो भाष्य लिखा है वह बड़ा ही सरल और सुबोध है। परन्तु पीछेके टीकाकारोंने इस सीधे तथा सरल सूत्रकी व्या-

स्था करनेमें अपना सारा बुद्धि-वैभव खर्च कर दिया है। किसी कमनीय काव्यके पढ़नेसे तथा रमणीय नाट्यके देखनेसे चित्तमें जो अलौकिक आनन्द हुआ करता है वही रस है। इसकी व्यवस्था करनेमें भरतके टीकाकारोंने अपनी विशिष्ट दृष्टिसे इसका विभिन्न प्रकारसे अर्थ किया है। इस विषयमें चार मत अतीव सुप्रसिद्ध हैं। इन मतोंके व्यवस्थापक आलंकारिकोंके नाम हैं:--(१) भट्ट लोल्लट, (२) भट्ट शकुंक, (३) भट्ट नायक तथा (४) अभिनवगुप्ताचार्य। इन प्राचीन आचार्योंके मतोंका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है।--

(१) भट्ट लोल्लट--लोल्लट रसके विषयमें उत्पत्तिवादी हैं। मुख्य रूपसे रस नाटकके नायकके साथ संबंध रखता है। रामायणमें राम सीतासे प्रेम करते हैं। सीताको देखकर उनके हृदयमें एक मनोहर भाव अंकुरित होता है जो अनुकूल परिस्थितियोंमें पुष्ट होकर प्रेमका रूप धारण करता है। यही घटना कवि नाटकमें दिखलाता है और इसीका अभिनय रंग-मंच पर किया जाता है। जो रस मुख्य रूपसे उत्पन्न होता है वही रस रामकी अवस्थाओंका अनुकरण करनेवाले नटमें भी उत्पन्न होता है। इस सोत्पत्तिमें विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव सम्मिलित रूपसे मिलकर कारण बनते हैं। स्थायी भावको दर्शकके हृदयमें अंकुरित करनेका श्रेय विभावको प्राप्त होता है। विभाव दो प्रकारका होता है--आलम्बन तथा उद्दीपन। नायक और नायिका शृंगार रसके आलम्बन हैं और ऋतु पुष्पवाटिका, मलयानिल, पावस आदि कारण जो इसको उद्दीप्त करनेमें सहायक होते हैं उद्दीपन विभाव कहलाते हैं। अनुभाव वह है जो अंकुरित रसका अनुभव, दर्शक तथा श्रोताको कराता है--अनुभावयतीति अनुभावः। जैसे शृंगार रसके अनुभाव हैं--कटाक्ष-विक्षेप, अश्रुप्रवाह, वैवर्ण्य, रोमाञ्च आदि आदि। संचारी भाव कतिपय क्षण तक टिकनेवाला वह भाव है जो आता जाता रहता है और अपने सत्तासे स्थायीको पुष्ट किया करता है। इन तीनोंके संयोगसे रसकी निष्पत्ति अर्थात् उत्पति होती है परन्तु इन

तीनोंकी रसके प्रति कारणता एकरूप नहीं है। विभावके द्वारा रस उत्पन्न किया जाता है। इसलिए रस और विभाव में उत्पाद्य और उत्पादक संबन्ध रहता है। अनुभावोंके द्वारा रस प्रतीतिगम्य होता है इसलिए रस और अनुभावके साथ संबंध भिन्न होता है। संचारी भाव अपनी सत्तासे रसकी पुष्टि करता है इसलिये रसके साथ उसका पोष्य-पोषक सम्बन्ध रहता है। इस प्रकार विभाव, अनुभाव और संचारीभाव रसके उत्पादनके प्रति भिन्न-भिन्न रूपसे कारण हुआ करते हैं। इसी लिए उक्त सूत्रमें संयोग एकरूप न होकर त्रिविध है तथा रसकी निष्पत्ति वस्तुतः रसकी उत्पत्ति है। मुख्य वृत्तिसे रस नाटकके अनुकार्य राम-सीतामें ही उत्पन्न होता है, परन्तु उन्हींके रूपका अनुसन्धान करनेवाले नटादिकों भी रसकी प्रतीति होती है।

लोल्लटके पूर्वोक्त मतमें सबसे बड़ी त्रुटि यह है कि वह दर्शक तथा अभिनयके सम्बन्धकी व्याख्या नहीं करता। रस राममें ही वस्तुतः उत्पन्न होता है तो दर्शकोंका उससे क्या सम्बन्ध? दर्शक बिना किसी आनन्ददायक प्रयोजनके अभिनयके दर्शनके लिए इतने व्यग्र क्यों रहते हैं? रामको इस भारतभूमि पर अवतीर्ण हुए न जाने कितनी शताब्दियां बीत गई, उन्हें इस वर्तमान अभिनयसे क्या सम्बन्ध? रामके अनुकरण करनेवाले नटमें रस उत्पन्न होता है तो होता रहे, दर्शकोंका इससे क्या संबंध? इन प्रश्नोंका यथार्थ उत्तर लोल्लटके मतमें नहीं हो सकता। इसलिए शंकुकने अपनी नयी व्यवस्थामें इस त्रुटिको दूर करनेका यथाशक्ति उद्योग किया है।

शंकुक

(२) शंकुक--शंकुक रसके विषयमें अनुमानवादी आलोचक हैं। वे रसको अनुमानका विषय मानते हैं। रंगमंचके ऊपर अभिनयकी कलामें चतुर तथा काव्य नाटकमें व्युत्पत्ति रखनेवाला अभिनेता नाटकके मूल पात्रोंका अभिनय इतनी स्वाभाविकता तथा रोचकतासे करता है कि

दर्शक आनन्दमें विभोर हो जाते हैं और वे उस नटको ही रामसे अभिन्न समझने लगते हैं। यह अभिन्नता 'चित्रतुरगन्याय'के ऊपर आश्रित होती है। जिस प्रकार चित्रमें चित्रित तुरग वास्तविक गुणसे भिन्न होता हुआ भी उसीकी प्रतिकृति होनेसे उससे अभिन्न माना जाता है, उसी प्रकार रामकी भूमिका बांधनेवाला नटभी रामसे भिन्नाभिन्न सम्बन्ध रखता है। अतः राममें जो रस वस्तुतः उत्पन्न होता है उसी रसका अनुमानके द्वारा अभिनयनिपुण नटमें भी आरोप किया जाता है। दर्शकमण्डली इस रसको अनुमानके बलपर ग्रहण करती है तथा आनन्द उठाती है। इस प्रकार भरतके सूत्रमें 'संयोगात्' शब्दका अर्थ है अनुमानात् एवं 'निष्पत्ति' का अर्थ है अनुमिति। यह अनुमिति नैयायिक अनुमानसे भिन्न है। नैयायिक अनुमान तथ्यप्रतिपादक होने पर भी रूखा, सूखा तथा नीरस होता है परन्तु यह रसानुमान उससे नितान्त विलक्षण होता है और आनन्दोत्पादक होता है। इस मतमें अनुकरणके बलपर नटमें रसका अनुमान किया जाता है तथा अनुमानकर्त्ता दर्शकको भी उससे आनन्द मिलता है। इस प्रकार शंकुकका मत है कि रस अनुकरण रूप होता है।

भट्ट तौतने इस मतका खण्डन बड़े विस्तारके साथ किया है।[1] अभिनवभारतीमें अभिनवगुप्तने अपने गुरु भट्टतौतको शंकुकके मतका प्रबल विरोधी बतलाया है। अनुमानकी शास्त्रीय पद्धतिके भीतर रस-निष्पत्तिका कथमपि निर्वाह नहीं हो सकता। अनुमान हेतुकी विशुद्धिपर आश्रित रहता है, परन्तु रसके उन्मीलनके अवसरपर हेतुकी सत्ता

---

१ तेन रतिरनुक्रियमाणा शृंगार इति तदात्मकत्वं तत्प्रभवत्वं च युक्तम्.....तदिदमप्यन्तस्तत्त्वशून्यं न विमर्दक्षममित्युपाध्यायाः (भट्टतौताः)।

अभिनव-भारती, प्रथम खण्ड, पृ० २७५

होनेपर भी उसकी शास्त्रीय विशुद्धिकी कमी ही रहती है। इस मतसे सबसे बड़ी त्रुटि यह है कि अनुमान कथमपि आह्लाददायक नहीं हो सकता। दर्शकके हृदयमें आनन्दोद्बोधकी किंचित् व्याख्या होनेपर भी यह मत असली सिद्धान्तसे बहुत दूर पड़ता है। नटके द्वारा प्रदर्शित विभाव, अनुभाव तथा संचारीभावके प्रदर्शनसे जिस रसका अनुमान दर्शक करता है वह रस तो मूलतया नटमें ही रहता है। दर्शकको इस अनुमानसे यत्किञ्चित् ही लाभ होता है परन्तु अनुमान उस कोटिका आनन्द कभी भी नहीं उत्पन्न कर सकता जिसकी रसावेशके समय संभावना मानी जाती है। भट्ट-तौतके खण्डनकी यही दिशा है।

भट्ट नायक

(३) **भट्टनायक**—इन्होंने रसकी व्याख्यामें दर्शकके महत्त्वको भलीभांति अपनाया है। ये रसको न तो उत्पन्न मानते हैं, न उसकी प्रतीति स्वीकार करते हैं और न उसकी व्यक्ति मानते हैं। प्रत्युत इन तीनोंसे विलक्षण रसकी भुक्तिपर ही इनका आग्रह है। अतः ये भुक्तिवादी आचार्य हैं। काव्यमें व्यापार ही मुख्य होता है। इस व्यापारके तीन रूप होते हैं—(१) अभिधा (२) भावकत्व (३) भोजकत्व। अभिधाके द्वारा शब्द अर्थकी प्रतीति कराता है। भावकत्वका अर्थ है साधारणी-करण। इस व्यापारके बलपर नाट्यमें अभिनीत व्यक्ति अपने ऐतिहासिक तथा व्यक्तिगत निर्देशको छोड़कर सामान्य पुरुषके रूपमें ही ग्रहण किया जाता है। अभिज्ञान-शकुन्तल नाटकका नायक दुष्यन्त हस्तिनापुरका चन्द्रवंशी राजा न होकर सामान्य रूपसे एक शौर्य-मण्डित नेताके रूपमें ही गृहीत किया जाता है। यह भावकत्व व्यापारके बलपर ही संभव होता है। भोजकत्व व्यापारके द्वारा दर्शक रसका भोग करता है तथा इस अवसरपर उसके हृदयमें राजस तथा तामस भावोंको सर्वथा दबाकर सात्त्विक भावका ऐकान्तिक उदय हो जाता है। सात्त्विक भावके उदय

होनेपर ही रसभुक्तिकी दशा उत्पन्न होती है। इस मतके अनुसार सूत्रमें 'संयोग' का अर्थ है भोज्य-भोजक या भाव्यभावक संबंध तथा निष्पत्तिका अर्थ है भुक्ति।

इस मतमें सबसे अच्छी बात यह है कि यह दर्शककी दृष्टिसे रसकी व्याख्या करता है। यह भलीभांति समझाता है कि अभिनयके देखनेसे या किसी काव्यके पढ़नेसे द्रष्टा या श्रोताके हृदयमें रसका उद्बोध क्यों तथा किस प्रकार होता है। भट्टनायकका यह मत रसकी मनोवैज्ञानिक व्याख्याके बहुत कुछ अनुकूल है। परन्तु इसमें आपत्तिकी बात यही है कि इन्होंने शब्दके त्रिविध व्यापारकी मनमानी कल्पना कर रखी है। अभिधा व्यापार तो सर्वसम्मत है। परन्तु भावकत्व तथा भोजकत्वकी कल्पनाके लिए उनके पास क्या आधार है? स्वेच्छया शब्द व्यापारकी कल्पना उन्मत्त-प्रलापके समान ही निन्दनीय तथा अमान्य होती है। अतः अलंकार-शास्त्रमें इन नवीन दो व्यापारोंको मानना एकदम अनावश्यक है। इसीलिये आलोचकगण इस मतमें विशेष श्रद्धा नहीं रखते।

अभिनवगुप्त

(४) अभिनवगुप्ताचार्य—ये रसके विषयमें व्यञ्जनावादी हैं। इनके मतसे भरत सूत्र 'विभावानुभाव' में संयोगका अर्थ है व्यंग्य-व्यञ्जकभाव तथा रसनिष्पत्तिका अर्थ है रसकी अभिव्यक्ति या रसकी व्यंजना। इनके अनुसार प्रत्येक श्रोता या वक्तामें स्थायीभाव—प्रेम, शोक, क्रोधादि—वासना रूपसे विद्यमान रहता है। यह वासना पूर्व जन्मके संस्कारोंसे उत्पन्न होती है या इसी जन्मके काव्यादिके सेवनसे प्रादुर्भूत होती है। परन्तु संस्कार रूपसे यह रहती है अवश्य। विभाव, अनुभाव और संचारीभावके द्वारा इस स्थायी भावकी अभिव्यंजना होती है। ये भाव सामान्य रूपमें ही गृहीत होते हैं। ललित वस्तुओंके गुणग्रहणके अवसरपर प्रत्येक पदार्थ साधारण रूपसे ही तथा संबंध-रहित होकर ही

स्वीकृत किया जाता है। किसी वाटिकामें लगे हुए गुलाबके फूलको देखिए। उसकी शोभा देखते हुए जब आपका चित्त आह्लादित होता है तब आपकी उसके प्रति कौन-सी भावना होती है; उसे यदि आप अपना समझते तो उसे तोड़नेके लिए आगे बढ़ते, शत्रुका समझते तो उससे द्वेष उत्पन्न होता, यदि किसी तटस्थ व्यक्तिका समझते तो उससे विरक्ति उत्पन्न होती। फलतः यह गुलाबका सुन्दर फूल न तो आपका है, न तो आपके शत्रुका है, और न किसी उदासीन व्यक्तिका है[1]। इस विषयमें संबंधके ग्रहण तथा परित्यागकी कोई बात ही नहीं उठती। गुलाब एक सुन्दर फूल है। वह सुन्दर वस्तुका प्रतिनिधि है। ललित कलाके विषयमें साधारणीकरणका यही भाव सर्वत्र जागरूक रहता है। अभिनवगुप्तने इस सामान्य नियमका प्रयोग रसकी मीमांसाके अवसरपर किया है। रसके उद्बोधक जितने भाव हैं वे सामान्यरूपमें ही गृहीत होते हैं और तभी रसकी अभिव्यक्ति संभव है। रसकी अभिव्यक्तिके समय भी अनुभवकर्त्ता अपने आपको भी सामान्य रूपमें ही ग्रहण करता है। अनुभवके समय वह समझता है कि जितने सहृदय हैं उनके हृदयमें उस रसकी अनुभूति समान रूपसे होती है।

रस आनन्द रूप है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। जो वस्तु संसारमें भय या शोक भी उत्पन्न करती है या क्रोधका कारण बनती है वही वस्तु काव्यमें वर्णित होते ही अलौकिक रूप धारण कर लेती है और इसीलिये वह आनन्दका उद्बोधन करती है। व्यक्तिवादी अभिनवगुप्तका संक्षेपमें यही मत है तथा अधिक मनोवैज्ञानिक होनेके कारण आजका सुधी-समाज इसी मतको स्वीकार करता है।

---

१ परस्य न परस्येति ममेति न ममेति च।
तदास्वादे बिभावादेः परिच्छेदो न विद्यते ॥
(साहित्य-दर्पण—३।१२)

रससंख्या

रसोंकी संख्याके विषयमें आलंकारिकोंमें मतभेद दीख पड़ता है। भरतने आठ रस कहे हैं[1]—(१) शृंगार, (२) हास्य, (३) करुण, (४) रौद्र, (५) वीर, (६) भयानक, (७) बीभत्स, (८) अद्भुत। कुछ लोग शान्तको नवम रस मानते हैं। परन्तु भरत तथा धनञ्जयने नाटकमें शान्त-रसकी स्थिति एकदम अस्वीकार की है[2]। इस अस्वीकृतिका कारण यह है कि नाटक अभिनयके द्वारा ही प्रदर्शित किया जाता है, और इस अभि-नयका प्राण है कार्यकी बहुलता। परन्तु शान्तरस है सब कार्योंका उपशम रूप। ऐसी दशामें शान्त रसका प्रयोग नाट्यमें कैसे हो सकता है? काव्यमें उसकी सत्ता अवश्य विद्यमान रहती है। आनन्दवर्धनके अनुसार महा-भारतका मुख्य रस शान्त ही है। रुद्रटने 'प्रेयान्' नामक दशम रस माना है (काव्यालंकार १२।३)। विश्वनाथ कविराज वात्सल्यको नवीन रस माननेके पक्षपाती हैं। गौड़ीय वैष्णवोंकी सम्मतिमें मधुर रस ही सर्वश्रेष्ठ तथा सर्वप्रथम रस है।

साहित्यमें रसमतकी महत्ता है। लौकिक संस्कृतका प्रथम श्लोक, जो क्रौञ्चवधसे मर्माहत हुए महर्षि वाल्मीकिको स्फुरित हुआ था रसमय ही था। इस रसको सब सम्प्रदायोंने अपनाया है। परन्तु अपने मतके अनु-सार इसे अपने ग्रन्थोंमें ऊँचा नीचा स्थान दिया है। ध्वनिवादी आचार्योंने काव्यमें रसको विशेष महत्त्व प्रदान किया है। ध्वनि तीन प्रकारकी होती है—वस्तुध्वनि, अलंकार ध्वनि और रस ध्वनि। इन तीनों प्रकारकी ध्वनियोंमें

---

१ शृंगारहास्यकरुण रौद्रवीरभयानकाः।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः॥
(नाट्यशास्त्र ६।१५।)

२ शममपि केचित् प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य।
दशरूपक ४।३५

रसध्वनि ही मुख्य तथा महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। भोजराजने समस्त वाङ्मयको तीन भागोंमें बांटा है--(१) स्वभावोक्ति, (२) वक्रोक्ति और (३) रसोक्ति। इन तीनोंमें रसोक्तिको ही वे काव्यमें मुख्य मानते हैं। इस प्रसंगमें भोजका रसविषयक मत भी कम महत्त्व नहीं रखता। वे शृंगार-रसको सब रसोंमें आदिम रस मानते हैं[1]। शृंगार अभिमान या अहंकार रूप होता है। इस मतको सिद्ध करनेके लिए उन्होंने अपने विपुलकाय शृंगारप्रकाश नामक ग्रन्थकी रचना की है। विश्वनाथ कविराज भी रसवादी हैं। इन्होंने रसको ही काव्यकी आत्मा माना है। इनका सुप्रसिद्ध काव्यलक्षण है--वाक्यं रसात्मकं काव्यम्। विश्वनाथ-ने 'रस्यते इति रसः' इस व्युत्पत्तिके अनुसार आनन्ददायक होनेके कारण भाव, भावाभास, रसाभास आदि सभीको उन्होंने रसके अन्तर्गत रखा है। इस प्रकार उन्होंने रसका व्यापक अर्थ स्वीकार कर रसको ही समस्त काव्योंका मूलभूत तत्त्व अंगीकार किया है।

रुद्र भट्टने भरतके मतानुसार रसको ही काव्यकी आत्मा माना है। अग्निपुराणने काव्यमें वक्रोक्ति-जन्य चमत्कारके प्रधान होनेपर भी रसको ही काव्यका जीवित माना है--वाक्-वैदग्ध्य प्रधानेऽपि रस-एवात्र जीवितम् (३३६।३३)। राजशेखरने काव्यमीमांसा (पृ० ६) में रसको काव्यकी आत्मा माना है। यह मत शौद्धोदनिको भी मान्य है--अलंकारस्तु शोभायां रस आत्मा परे मनः (अलंकार शेखर पृ० ६)।

---

१ शृंगार वीरकरुणाद्भुत रौद्रहास्य--
बीभत्सवत्सलभयानकशान्तनाम्नः।
आम्नासिषुर्दश रसान् सुधियो वयं तु,
शृंगारमेव रसनाद् रसमामनामः॥

शृंगारप्रकाशः--प्रथमप्रकाश

२—अलंकार-सम्प्रदाय

अलंकार मतके प्रवर्तक आलंकारिक भामह हैं तथा इस मतके पोषक हैं भामहके टीकाकार उद्भट। दण्डी, रुद्रट एवं प्रतिहारेन्दुराजभी इसी मत के अनुयायी हैं। दण्डीके मतमें काव्यके पोषक अंगोंको अलंकार शब्दके द्वारा पुकारा जाता है। रुद्रट तथा प्रतिहारेन्दुराजने भी अपने ग्रन्थोंमें अलंकारको ही प्रधानता दी है। इस सम्प्रदायके अनुसार अलंकार ही काव्य-का जीवातु हैं। अग्निकी उष्णताके सदृश अलंकार काव्यका प्राणा-धायक तत्त्व है। अग्निको उष्णता-रहित मानना जिस प्रकार उपहास्यास्पद है उसी प्रकार अस्वाभाविक है काव्यको अलंकारहीन मानना। मम्मटके काव्य-लक्षणके खण्डनकर्ता जयदेवने इस सम्प्रदायका हृदय रख दिया है जब वे कहते हैं कि जो विद्वान् अलंकारसे हीन शब्द और अर्थको काव्य मानता है वह अग्निको भी अनुष्ण (शीतल) क्यों नहीं मानता ? अलंकारहीन काव्य और अनुष्ण अग्नि एक ही कोटिकी चीजें हैं जिसे केवल पागल ही सच्चा मान सकता है :—

> अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
> असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती॥
>
> चन्द्रालोक १।८

रुय्यककी स्पष्ट सम्मति है कि प्राचीन आलंकारिकोंके मतसे अलंकार ही काव्यमें प्रधान होते हैं :—

> तदेवमलंकारा एव काव्ये प्रधानमिति प्राच्यानां मतम्।
>
> —अलंकार-सर्वस्व पृ० ७

अलंकारोंका विकास धीरे-धीरे होता आया है। भरतके नाट्यशास्त्र-में चार ही अलंकारोंका नाम निर्देश मिलता है—अनुप्रास, उपमा, रूपक और दीपक। अतः साहित्यके मूलभूत अलंकार ये ही चार हैं, जिनमेंसे

एक तो है शब्दालंकार और तीन हैं अर्थालंकार। इन्हीं चार अलंकारोंसे विकसित तथा परिवर्धित होकर अलंकारोंकी संख्या कुवलयानन्दमें १२५ तक पहुँच गई है। कालक्रमसे अलंकारोंकी संख्याके समान उनके स्वरूपमें भी पर्याप्त अन्तर पड़ता गया है। उदाहरणके लिये वक्रोक्ति अलंकार को लीजिए। भामहसे लेकर कुन्तक तक वक्रोक्ति का मनोरम विकास भारतीय आलोचकोंके चिन्तनका फल है। आद्य आलंकारिक भामह वक्रोक्तिको अलंकारोंका जीवनाधायक तत्त्व मानते हैं। वे ऐसे अलंकारकी कल्पना ही नहीं कर सकते जो वक्रोक्तिसे रहित हो। उनका कथन नितान्त स्पष्ट है:—

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना॥

काव्यालंकार २।८५

वामनने इसीको अर्थालंकार माना है और रुद्रटने इसे शब्दालंकार स्वीकार किया है। अलंकारोंका अनुशीलन हमें इस निष्कर्षपर पहुँचाता है कि अलंकार सम्प्रदायके आचार्योंने अलंकारोंके विवेचनमें बड़ी ही मौलिकता दिखलाई है। वे लकीरके फकीर न होकर सर्वत्र मौलिक गवेषकके रूपमें हमारे सामने आते हैं।

आलंकारिकोंने अलंकारोंके विभाजनके अवसरपर उनके मूल तत्त्वों पर भी विचार किया है। अलंकारोंके विभागके लिये उन्होंने कतिपय सिद्धांत भी निश्चित किए हैं। इसका संकेत पहले पहल हमें रुद्रटके काव्यालंकारमें मिलता है। उन्होंने ही सर्वप्रथम औपम्य, वास्तव, अतिशय, और श्लेषको अलंकार-विभाजनका मूल कारण माना है। यह विभाजन उतना वैज्ञानिक न होने पर भी एक मौलिक विचारकी सूचना देता है। इस विषयमें 'एकावलीकार' विद्याधरका निरूपण बड़ा ही युक्तियुक्त और वैज्ञानिक है जिन्होंने औपम्य, विरोध, तर्क आदिको अलंकारोंका मूल विभेदक

मानकर इस विषयकी बड़ी सुन्दर समीक्षा की है। इस सम्प्रदायके प्राचीनत्व तथा महत्त्वका परिचय इसी घटनासे लगता है कि इसीके नामपर ही हमारा समस्त आलोचनाशास्त्र ही 'अलंकार-शास्त्र' के नामसे अभिहित किया जाता है।

महत्त्व

अलंकार मतको माननेवाले आचार्योंको रसका तत्त्व अज्ञात नहीं था परन्तु उन्होंने इसे स्वतन्त्र स्थान न देकर काव्यके प्राणभूत अलंकारका ही एक प्रकार माना है। विशेषकर रसवत्, प्रेयः, उर्जस्वी तथा समाहित अलंकारोंके भीतर रस और भावका समग्र विषय इन आलंकारिकोंने अन्तर्निविष्ट कर दिया है। भामहको महाकाव्यमें रसोंकी आवश्यक स्थिति मान्य है।[1] उन्होंने प्रेय, रसवत्, आदि अलंकारोंके द्वारा रसके समग्र विषयका उल्लेख अपने ग्रन्थमें किया है। वे स्पष्ट लिखते हैं कि जहां शृंगारादि रसोंकी प्रतीति स्पष्ट रूपसे होती है वहां रसवत् अलंकारकी सत्ता नहीं मानी जा सकती[2]।

दण्डी भी रस तत्त्वसे परिचित हैं और रसवत् अलंकारके भीतर इन्होंने आठों रस और आठ स्थायी भावोंका निर्देश किया है[1]। वे माधुर्यगुणके अन्तर्गत भी रसका समावेश मानते हैं।[2] अतः दण्डीको रसतत्त्वसे अपरिचित

---

१ युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक्।

भामह—काव्यालंकार १।२१

२ रसवद्दर्शितस्पष्ट-शृंगारादि रसं यथा।
देवी समागमद् धर्ममस्करण्यतिरोहिता॥

काव्यालंकार ३।६

१ इह त्वष्टरसायत्ता रसवत्ता स्मृता गिराम्। काव्यादर्श २।२९२
प्राक् प्रीतिर्दर्शिता सेयं रतिः शृंगारतां गता। वही २।२८१।

२ मधुरं रसवद्वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः। वही १।५१।

मानना नितान्त अनुचित है। उद्‌भटने भी रसवत् अलंकारके निरूपणके अवसरपर स्थायिभाव, विभाव, संचारिभाव, जैसे परिभाषिक शब्दोंका उल्लेख ही नहीं किया है प्रत्युत रसकी नवप्रकारता मानी है[1]। रुद्रट भी काव्यमें रसका निवेश विशेष यत्नसे करनेका उपदेश देते हैं[2]। इन सब उल्लेखोंका यही आशय है कि भामह, दण्डी, उद्‌भट तथा रुद्रट जैसे अलंकार सम्प्रदायके मान्य आचार्य रसतत्त्वकी महत्तासे पर्याप्त परिचित हैं, परन्तु उसे अलंकारका ही एक रूप मानते हैं। अलंकारवादी आचार्य अपने सिद्धान्तसे कथमपि च्युत नहीं हो सकता।

अलंकार और ध्वनि

इतना ही नहीं, इन अलंकारिकोंको काव्यमें प्रतीयमान अर्थकी भी सत्ता किसी न किसी रूपमें अज्ञात न थी। रुय्यककी स्पष्ट समीक्षा है कि भामह तथा उद्‌भट प्रभृति अलंकारवादी आचार्योंने प्रतीयमान (व्यंग्य) अर्थको वाच्यका सहायक मानकर उसे अलंकारके भीतर ही अन्तर्भुक्त किया है[3]। एकावलीकी टीका 'तरला'में मल्लिनाथ भामह प्रभृति आचार्योंको ध्वनिके अभावका प्रतिपादक आचार्य मानते हैं[4] परन्तु उन्हें ध्वन्यभाववादी मानना उचित नहीं प्रतीत होता। वे ध्वनिके सिद्धान्तसे

---

१ रसवद्दर्शितस्पष्ट शृंगारादिरसादयम्।

उद्‌भट—काव्यालंकार ४

२ तस्मात्तन् कर्तव्यं यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम्।

रुद्रट—कव्यालंकार १२।२

३ इह तावत् भामहोद्‌भटप्रभृतयश्चिरन्तनालंकारकाराः प्रतीयमानमर्थं वाच्योपस्कारकतया अलंकारपक्षनिक्षिप्तं मन्यन्ते।

रुय्यक—अलंकार सर्वस्व पृ ३

४ अभाव एव ध्वनेरिति भामहप्रभृतयो मन्यन्ते।

तरला पृ २४

पूर्णतः परिचित हैं। वे प्रतीयमान अर्थको न तो काव्यकी आत्मा मानते हैं और न ध्वनि तथा गुणीभूत व्यंग्य जैसे पदोंका अपने अलंकार-ग्रन्थोंमें प्रयोग करते हैं परन्तु वे प्रतीयमान अर्थसे कथमपि अपरिचित नहीं हैं। इन्होंने अप्रस्तुत प्रशंसा, समासोक्ति तथा आक्षेपके भीतर प्रतीयमान अर्थके अनेक प्रकारोंको अन्तर्निविष्ट कर लिया है। भामहने समासोक्ति अलंकारके लक्षणमें स्पष्ट लिखा है कि यह अलंकार वहीं होता है जहां किसी वस्तुके वर्णन होनेपर तत्समान विशेषणवाले अन्य अर्थकी प्रतीति होती है[1]। आक्षेप अलंकारकी भी यही दशा है। इसमें भी किसी न किसी प्रतीयमान अर्थकी कल्पना इन्हें अवश्य स्वीकृत है। इसी प्रकार पर्यायोक्त अलंकारके भीतर भी वाच्यवाचकवृत्तिसे व्यतिरिक्त अन्य प्रकारसे अभिहित किए गए समग्र अर्थोंका ग्रहण भामहको अभीष्ट है[2]। इस प्रकार पर्यायोक्त अलंकारके भीतर ध्वनिकी कल्पना इन अलंकारिकोंको किसी न किसी रूपमें मान्य है।

अलंकार-सम्प्रदायमें प्रतीयमान अर्थके विवेचनका अभाव रुद्रटको इतना खटका कि उन्होंने 'भाव' नामक एक नवीन अलंकारकी ही कल्पना कर डाली। इसका उदाहरण वही कमनीय पद्य है[3] जिसे मम्मटने अपने

---

१ यत्रोक्ते गम्यतेऽन्योर्थस्तत्समानविशेषणः।
सा समासोक्तिरुद्दिष्टा संक्षिप्तार्थतया यथा॥
भामह—काव्यालंकार—२।७९।

२ पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते।
वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां शून्येनावगमात्मना॥
वही—३।८

३ ग्रामतरुणं तरुण्या नववञ्जुलमंजरीसनाथकरम्।
पश्यन्त्या भवति मुहुर्नितरां मलिना मुखच्छाया॥
रुद्रट—काव्यालंकार। ७ ३८

काव्य-प्रकाशमें गुणीभूत व्यंग्यका दृष्टान्त मानकर उद्धृत किया है[१]। रुद्रटने भाव-अलंकारका एक दूसरा भी प्रकार माना है। इसके उदाहरणको (७।४०) अभिनवगुप्तने लोचनमें उद्धृत किया है[२] और दिखलाया है कि इसमें प्रतीयमान अर्थकी सत्ता अवश्य विद्यमान है परन्तु यह अर्थ स्वतंत्र न होकर उपकारक होनेके कारण वाच्यकी अपेक्षा गौण है। ऐसी दशामें हम इसी निष्कर्षपर पहुंचते हैं कि अलंकारवादी रुद्रटको व्यंग्यका सिद्धान्त सर्वथा मान्य था। इन अलंकारिकोंको हम आनन्दवर्धनके द्वारा वर्णित 'अन्तर्भाववादी' आचार्योंमें अन्तर्भुक्त कर सकते हैं जिनकी सम्मतिमें प्रतीयमान अर्थ स्वतंत्र न होकर अलंकार विशेषमें अन्तर्भुक्त किया जाता था।

दण्डी और भामहने अलंकारका जो महत्त्व काव्यमें स्वीकार किया वह किसी न किसी मात्रामें पिछले युग तक चला ही गया। ध्वनिवादी आचार्योंने ध्वनिको महत्त्व देकर भी अलंकारके वर्णनमें अपनी उदासीनता नहीं दिखलाई। मम्मट ध्वनिवादी आचार्य हैं। परन्तु इन्होंने अपने ग्रन्थमें अलंकारोंका जो प्रशस्त तथा विस्तृत निरूपण किया है वह किसी भी अलंकारवादी आचार्यके वर्णनसे किसी प्रकार कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। इतना ही नहीं, अपने काव्य-लक्षणमें भी उन्होंने अलंकारको स्थान दिया है चाहे वह स्थान गौण ही क्यों न हो।

---

१ मम्मट—काव्यप्रकाश उल्लास ?

२ एकाकिनी यदबला तरुणी तथाहं
अस्मिन् गृहे गृहपतिश्च गतो विदेशम्।
किं याचसे यदिह वासमियं वराकी,
श्वश्रूर्ममान्धबधिरा ननु मूढ! पान्थ!॥

लोचन पृ० ४५

३—रीति-सम्प्रदाय

रीति-मतके प्रधान प्रतिपादक हैं आचार्य वामन। दण्डीने भी रीतियोंके वर्णनमें बहुतसा स्थान तथा समय लगाया है, परन्तु वामनके ग्रन्थमें रीतिका जो महत्त्व दिखलाई पड़ता है वह किसी भी आलंकारिकके ग्रन्थमें नहीं दीख पड़ता। उनके सिद्धान्तकी महनीयताका पता इसीसे लग सकता है कि उन्होंने बलपूर्वक रीतिको ही काव्यकी आत्मा स्वीकार किया है:—रीतिरात्मा काव्यस्य। यह रीति है क्या वस्तु? वामन कहते हैं कि पदोंकी विशिष्ट रचना ही रीति है। पदोंमें वैशिष्ट्य गुणोंके कारण ही उत्पन्न होता है, गुणोंके अभावमें पद एक सामान्य रूपमें ही स्थित रहते हैं। अतः रीति गुणोंके ऊपर अवलम्बित रहती है—विशिष्टा पदरचना रीतिः, विशेषो गुणात्मा। इसीलिये रीति सम्प्रदाय गुण-सम्प्रदायके नामसे भी पुकारा जाता है।

गुणोंके सर्वप्रथम वर्णनकर्ता हैं भरतमुनि। उन्होंने दश प्रकारके काव्यार्थ गुणोंका वर्णन नाट्यशास्त्रमें किया है[१]। रुद्रदामन्‌के गिरनार शिलालेख में (१५० ई०) भी माधुर्य, कान्ति तथा उदारता जैसे काव्य-गुणोंका उल्लेख स्पष्टतः किया गया है। भरतके द्वारा निर्दिष्ट गुणोंको दण्डीने स्वीकार किया है। परन्तु भरतसे उनकी व्याख्यामें अनेक स्थलों-पर अन्तर है। दण्डीने गुणोंमें शब्दगत अथवा अर्थगत किसी प्रकारका विभेद स्वीकार नहीं किया है। वे इन दश गुणोंको केवल वैदर्भ मार्ग (वैदर्भी-रीति)—का प्राणभूत मानते हैं और गौड़ी रीतिमें इन गुणोंमेंसे कतिपय

---

१ श्लेषः प्रसादः समता समाधिः,
माधुर्यमोजः पदसौकुमार्यम्।
अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च,
कान्तिश्च काव्यार्थगुणा दशैते ॥

—नाट्यशास्त्र १६—९२

गुणोंका विपर्यय स्वीकार करते हैं[1]। अर्थव्यक्ति, उदारता तथा समाधि गुणोंकी आवश्यकता वैदर्भ मार्ग तथा गौड़ मार्ग दोनोंको स्वीकार है। अतः दोनों रीतियोंमें इनका रहना आवश्यक है। परन्तु वैदर्भी रीतिमें अन्य सातो गुणोंकी सत्ता रहती है और गौड़ी रीतिमें उनके विपर्ययकी।

वामनने भी इन पूर्वोक्त दश गुणों--श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, सौकुमार्य, अर्थव्यक्ति, उदारता और कान्ति--को स्वीकार किया है परन्तु उनकी व्याख्या एकदम नवीन और मौलिक है। वे गुणोंका द्वैविध्य स्वीकार करते हैं। गुण दो प्रकारके होते हैं--शब्दगत तथा अर्थगत। इस विभाजनमें गुणोंके नाममें तो अन्तर नहीं है परन्तु उनकी कल्पनामें पर्याप्त पार्थक्य है। शब्दगत गुणोंके अर्थगत होते ही महान् अन्तर पड़ जाता है। उदाहरणके लिये माधुर्यकी द्विविध कल्पनापर ध्यान दीजिये। शब्दगुण माधुर्यका अर्थ है--पृथक् पदत्वम्--अर्थात् वाक्यमें पदोंका पृथक् पृथक् होना। यह तभी संभव है जब लम्बे लम्बे समास न रखकर अलग अलग पदोंका प्रयोग किया जाय। परन्तु अर्थगुण माधुर्य वह है जिसमें उक्तिकी विचित्रता विद्यमान हो--उक्तिवैचित्र्यं माधुर्यम्। जहां अर्थका उत्कर्ष दिखलानेके लिये उसका सामान्य रूपसे निर्देश न करके विचित्र भंगीसे वर्णन किया जाय वहां अर्थगत माधुर्य होगा। उदाहरणके लिये यह श्लोक देखिये:--

रसवदमृतं, कः सन्देहो मधून्यपि नान्यथा
मधुरमधिकं चूतस्यापि प्रसन्नरसं फलम्।
सकृदपि पुनर्मध्यस्थः सन् रसान्तरविज्जनो,
वदतु यदिहान्यत् स्वादु स्यात् प्रियादशनच्छदात्॥

वामन—काव्यालंकार ३।२।११

१ इति वैदर्भमार्गस्य प्राणाः दशगुणाः स्मृताः।
एषां विपर्ययः प्रायो दृश्यते गौडवर्त्मनि॥
काव्यादर्श १।४२

यहां कविका अभिप्राय इतना ही है कि कामिनीका अधर संसारकी समस्त मधुर वस्तुओंमें अनुपम है। परन्तु इस अर्थको भंगीसे वर्णन करता हुआ वह पूछ रहा है कि अमृत रसवत् होता है इसमें तनिक भी सन्देह नहीं, मधु भी इससे भिन्न नहीं होता। आमका भी सरस फल अवश्य ही अधिक मधुर होता है। परन्तु रसान्तरको जाननेवाला कोई भी मध्यस्थ पुरुष बतलावे कि इस जगत्‌में प्रियाके अधरसे बढ़कर कोई वस्तु स्वादु है?

गुणके विषयमें वामनका मत अन्य आलंकारिकोंको मान्य नहीं हो सका। इनके पहले ही भामहने दश गुणोंके स्थानपर इन्हीं तीन गुणों--माधुर्य, ओज, प्रसादकी कल्पना स्वीकार की थी[1]। इसी पक्ष या मतका अवलम्बन पिछले आलंकारिकोंने किया। मम्मट, हेमचन्द्र, विश्वनाथ कविराज आदिने गुणोंकी संख्या तीन ही मानी है और यह दिखलाया है कि या तो अन्य गुणोंका इसीमें अन्तर्भाव होता है या वे दोषाभाव रूप है अथवा कहीं कहीं वे गुण न होकर दोष ही हो जाते हैं। वामनके मार्गका अवलम्बन केवल भोजराजने किया है। इन्होंने गुणोंके विभाजन तथा स्वरूप दोनोंमें विशेष अन्तर किया है। भोजराजने गुणोंके तीन भेद माने हैं--बाह्यगुण, आन्तरगुण तथा वैशेषिक गुण। गुणोंकी संख्या भी दससे बढ़ाकर चौबीस कर दी गई है (सरस्वती कण्ठाभरण १।५८-९५)

रीतिका प्राचीन नाम मार्ग या पन्था है। इसकी कल्पना अलंकार शास्त्रके आदिम युगमें भामहसे पूर्वकालमें कभी न कभी अवश्य हुई होगी। वैदर्भ मार्ग काव्यका एक रमणीय मार्ग माना जाता था तथा गौड़ीय मार्ग निन्दनीय था। परन्तु स्वतन्त्रमार्गी भामहने इस विचारधाराकी निन्दा

१ भामह--काव्यालंकार २।१-३

की है। उनका स्पष्ट कथन है कि हमें न तो वैदर्भ मार्गकी प्रशंसा करनी चाहिए और न गौड़ीयकी निन्दा, प्रत्युत काव्यके शोभन गुणोंकी ही ओर ध्यान देना चाहिये। ये गुण हैं वक्रोक्तिसे युक्तता, पुष्टार्थता, अग्राम्यता, अर्थसम्पन्नता आदि। मार्गका विचार बिना किए हुए इन गुणोंकी जहां विद्यमानता रहेगी वहीं कमनीय काव्य होगा, चाहे वह मार्ग वैदर्भ हो या गौड़ीय हो। भामहके इस प्रतिवादसे हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि उनके समयके आलंकारिक वैदर्भ मार्गको स्पृहणीय मानते थे और गौड़ीय मार्गको गर्हणीय। भामहने इसी ग्रन्थ परम्पराका प्रतिवाद किया है[1]। दण्डीमें इन दोनों गुणोंका बड़ा ही विस्तृत विवेचन किया गया है। वे वैदर्भ मार्गको ही पूर्वोक्त दशों गुणोंसे युक्त मानते हैं और गौड़ीय मार्गमें कतिपय गुणोंको छोड़कर अन्य गुणोंका विपर्यय स्वीकार करते हैं। फलतः दण्डीकी दृष्टिमें वैदर्भ मार्ग ही कवियोंके लिये आदर्श रूपसे अनुकरणीय मार्ग है और गौड़ीय मार्ग नितान्त हेय तथा अस्पृहणीय है। उन्होंने रीतिका निर्देश गुणके आधारपर नहीं किया है। वामनके पूर्व रीतिके विषयमें यही कल्पना अलंकार जगत्में प्रचलित थी।

वामनने दण्डीकी अपेक्षा काव्यकी कल्पनाको बड़े ही दृढ़ आधारपर निर्मित किया है। काव्यकी आत्माकी खोज निकालनेवाले वे सर्वप्रथम आलंकारिक हैं। काव्यकी आत्मा उनकी दृष्टिमें रीति है[2], अन्य गुण नहीं--रीतिरात्मा काव्यस्य। दो रीतियोंके स्थानपर वे तीन रीतियां मानते हैं--वैदर्भी, गौड़ी और पाञ्चाली।

---

१ अलंकारवदग्राम्यमर्थ्यं न्याय्यमनाकुलम्।
गौडीयमपि साधीयो, वैदर्भमिति नान्यथा ॥

भामह--काव्यालंकार १।३५

२ वामन --काव्यालंकार--१।२।६

वैदर्भी रीतिमें समग्र दश गुणोंकी सत्ता विद्यमान रहती है। गौड़ीय रीतिमें केवल ओज और कान्ति गुण रहते हैं तथा पाञ्चालीमें माधुर्य और सौकुमार्य। पिछले आलंकारिकोंने इस संख्याको बहुत ही बढ़ा दिया है। राजशेखरने कर्पूरमञ्जरीके मंगल श्लोकमें इन तीन रीतियोंका उल्लेख किया है—वच्छोमी (वैदर्भी), मागधी तथा पाञ्चालिका (पाञ्चाली)। रुद्रटने लाटीयाको भी नई रीति मानकर रीतियोंकी संख्या चार कर दी है। भोजने आवन्ती, मागधी और लाटीकी नई वृत्तियोंको मानकर रीतियोंकी संख्या वामनकी अपेक्षा दुगुनी (छः) कर दी है। इतना होनेपर भी वामनके द्वारा उद्भावित तीन ही रीतियोंका काव्य जगत्में आज भी प्रचलन है[1]। वामनने अलंकारोंको गुणोंसे पृथक् मानकर उनकी सुन्दर विवेचना की है। प्राचीन आलंकारिकोंमें वामन ही सबसे कम अलंकारोंका निर्देश करते हैं। उपमाका महत्त्व तो भामहने भी स्वीकार किया है और पिछले आलंकारिकोंने सादृश्यमूलक या औपम्यगर्भ अलंकारोंका उसे ही मूल माना है। अतः उपमाको अलंकार जगत्में सर्वप्रथम अलंकार माननेमें कोई आपत्ति नहीं है। परन्तु वामनने तो सब अलंकारोंको ही उपमापर अवलम्बित माना है। अतः वामन उन्हें 'उपमा-प्रपञ्च' के नामसे अभिहित करते हैं। इसी कारण से कतिपय अलंकारोंके जो लक्षण उन्होंने दिए हैं वे अन्य अलंकारोंसे बिल्कुल भिन्न पड़ते हैं और इसीलिये उन्होंने पर्यायोक्त, प्रेयः, रसवत्, उर्जस्वी, उदात्त, भाविक तथा सूक्ष्म नामक अलंकारोंको अलंकार-श्रेणीसे ही हटा दिया है। वामनका 'वक्रोक्ति' अलंकार सादृश्यमूलक लक्षणा है। उनका विशेषोक्ति अलंकार जगन्नाथका रूपक है और उनका आक्षेप अलंकार मम्मटके प्रतीप या समासोक्तिसे समानता रखता है।

१ इस विषयका विशेष वर्णन देखिये—
बलदेव उपाध्याय—भारतीय साहित्य-शास्त्र भाग २
पृ०—१३५-१४०

रीतिका महत्त्व

अलंकार सम्प्रदायकी अपेक्षा रीति-सम्प्रदायमें काव्य-सिद्धान्तोंका विशेष विकास लक्षित होता है। काव्यका मूल रूप क्या है? इस प्रश्नका उत्तर अलंकार-सम्प्रदायकी अपेक्षा रीति-सम्प्रदायने बड़ी मार्मिकताके साथ दिया है। इसीलिये आनन्दवर्धनने कहा है कि रीति सम्प्रदायके आचार्योंने काव्य-तत्त्वके यथार्थ वर्णनमें असमर्थ होते हुए रीतियोंकी प्रवर्तना की है—

> अस्फुटस्फुरितं काव्यतत्त्वमेतत् यथोदितम्।
> अशक्नुवद्भिर्व्याकर्तुं रीतयः सम्प्रवर्तिताः॥
>
> —ध्वन्यालोक ३।५२

आनन्दवर्धनने इस कारिकामें वामनकी ओर निर्देश किया है। यह देखनेमें तो निन्दा प्रतीत होती है परन्तु यह वास्तवमें वामनकी प्रशंसा है। आनन्दका कथन है कि रीति-सम्प्रदायके निरूपणमे काव्य-तत्त्व स्फुरित तो हुआ है, परन्तु इतने स्फुट रूपमें नहीं जितना ध्वनि सम्प्रदायमें हुआ है।

रीति-सम्प्रदायको गुण और अलंकारके परस्पर पार्थक्य दिखानेका गौरव प्राप्त है। भामहने गुण और अलंकारका परस्पर भेद नहीं दिखलाया और दण्डीने काव्यकी शोभा करनेवाले समस्त धर्मों (अर्थात् गुणों)को भी अलंकार शब्दसे व्यवहृत किया है[1]। परन्तु वामनने काव्यमें गुणोंको अलंकारकी अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण माना है। उनकी दृष्टिमें काव्यकी शोभा करनेवाले धर्म 'गुण' कहलाते हैं तथा उसके अतिशय

---

१ काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते।
काव्यादर्श २।१

करनेवाले धर्म 'अलंकार' के नामसे पुकारे जाते हैं[1]। अलंकारकी अपेक्षा काव्यमें गुण अधिक महत्त्वशाली हैं क्योंकि वे काव्यमें नित्य रहते हैं। बिना उसके काव्यकी शोभा उत्पन्न नहीं होती[2]। काव्य शोभाका एकमात्र आधायक धर्म है गुण ही। गुणयुक्त काव्य काव्यकी महनीय पदवीसे मण्डित होता है, गुणहीन काव्य नहीं। यदि कोई काव्य अंगनाके यौवनहीन शरीरके समान गुणोंसे रहित हो तो वह कितने ही लोक-प्रिय अलंकारोंसे भले ही सजाया जाय, उसमे शोभा नहीं होती। अलंकार उन्हें सुभग बनानेकी अपेक्षा दुर्भग ही बनाते हैं[3]। कामिनीके शरीरमे यौवन जो सुषमा उत्पन्न करता है वही सुषमा कवितामें गुण उत्पन्न करता है। यौवनहीन शरीर भूषणोंसे सज्जित होनेपर भी कमनीय नहीं दीखता, उसी प्रकार गुणहीन काव्य कदापि रुचिकर और मनोज्ञ नहीं बनता।

काव्यमें **रसविधानका** अध्ययन अलंकार-सम्प्रदाय तथा रीति सम्प्रदायके पारस्परिक उत्कर्षका पर्याप्त द्योतक है। अलंकार-सम्प्रदायकी अपेक्षा इस सम्प्रदायके आलोचकोंकी दृष्टि गहरी तथा पैनी है। भामह आदि अलंकारवादी आचार्य रसको काव्यमें बहिरंग साधन मानते हैं। परन्तु वामन उसे काव्यके अन्तरंग धर्मोंमें परिगणित कर रसकी महत्ता

---

१ काव्यशोभायाः कर्तारो धर्माः गुणाः। तदतिशयहेतवस्त्वलं-
कारा:—वामनकाव्यालंकार ३।१।१–२

२ पूर्वे नित्याः। पूर्वे गुणाः नित्याः। तैर्विना काव्यशोभा—
नुपपत्तेः।—वही—३।१।३ (वृत्ति)

३ यदि भवति वचश्च्युतं गुणेभ्यो
वपुरिव यौवनवन्ध्यमंगनायाः।
अपि जनदयितानि दुर्भगत्वं
नियतमलंकरणानि संश्रयन्ते ॥

वही–३।१।२ की वृत्तिमें उद्धृत

स्पष्टतः स्वीकार करते हैं। रस अर्थगुण 'कान्ति'—के रूपमें काव्यमें आता है। कान्तिका लक्षण है दीप्तरसत्व। शृंगारादि रस उद्दीप्त होकर जहां प्रकट होते हैं वहीं कान्तिगुण होता है[1]। गुणके भीतर रसके अन्तर्भावके कारण ही वामनने रसवत् आदि अलंकारोंका विधान अपने ग्रन्थमें नहीं किया है। इस प्रकार कान्ति गुणके भीतर रसका अन्तर्निवेश कर काव्यमें रसकी महत्ता स्वीकृत की गई है। वामनकी वक्रोक्तिके भीतर 'अविवक्षित-वाच्य ध्वनि'—का अन्तर्भाव उपलब्ध होता है। इस प्रकार काव्यके तत्त्वोंका विवेचन इस मार्गमें पूर्व सम्प्रदायकी अपेक्षा कहीं अधिक हृदयंगम तथा व्यापक है।

यद्यपि अलंकार-शास्त्रके पिछले आचार्योंने वामनके 'रीतिरात्मा काव्यस्य'—इस मतको स्वीकार नहीं किया है तथापि उन्होंने रीतिके तत्त्वको काव्यके लिए उपादेय मानकर स्वीकृत किया है। ध्वनिवादी आचार्योंको भी रीतिका सिद्धान्त मान्य है और वे ध्वनिके साथ उसका सामञ्जस्य दिखलानेमें कृतकार्य हुए हैं। रीतिको एक नई दिशामें ले जानेका श्रेय है आचार्य कुन्तकको। इन्होंने रीतिको कविके स्वभावके साथ संबद्ध मानकर काव्यमें रीतिके महत्त्वको अंगीकार किया है। वर्तमान रीतियोंका नामकरण भौगोलिक आधारपर हुआ है। परन्तु कुन्तकको न तो यह आधार ही पसन्द है और न यह नाम ही। इसीलिये उन्होंने इन नये नामोंकी उद्भावना की है :—

(१) **सुकुमारमार्ग** (वैदर्भी रीति), २. **विचित्र मार्ग** (= गौड़ी-रीति), ३. **मध्यम मार्ग** (= पाञ्चाली रीति)। इन रीतियोंके लिये

१　दीप्तरसत्वं कान्तिः।
　दीप्ताः रसाः शृंगारादयो यत्र स दीप्तरसः। तस्य भावो दीप्तरसत्वम्

　　　　　　　　वामन—काव्यालंकार ३।२।१५

इन्होंने चार नये गुणोंकी भी कल्पना की है। इस प्रकार हम देखते हैं कि अलंकार शास्त्रके इतिहासमें भामह-पूर्वयुगसे लेकर इसके अन्ततक रीति काव्यका एक महनीय तत्त्व माना जाता था।

रीतिकी गरिमा पाश्चात्य आलोचकोंनें भी अंगीकृत की है। फ्लाउबर्ट (Flaubert) वाल्टर रेले (Walter Raleigh) तथा वाल्टर पेटर (Walter Pater) ने काव्यमें रीतिका पर्याप्त महत्त्व माना है। फ्लाउबर्टका कथन है कि जिस प्रकार जीवित प्राणियोंमें रक्त शरीरका पोषण करता है तथा इसके बाह्यस्वरूपका निर्णय करता है, उसी प्रकार काव्यमें जीवनाधायक तत्त्व रीति ही है। **रीति किसी वस्तुकी समग्र अन्तरंगता तथा रंगीनताके साथ अभिव्यक्तिका एक विशिष्ट तथा परिपूर्ण प्रकार है—**

Style—a certain absolute and unique manner of expressing a thing in all its intensity and colour, as in living creatures the blood, nourishing the body, determines its very contour and external aspect, just so, to his mind the *matter*, the basis, in a work of art, imposed necessarily the unique, the expression, the measure, the rhythm -the form in all its characteristics.

Pater—Appreciations, Style (उद्धृत, पृ० ३७)

वाल्टर रेलेने अपने रीतिविषयक निबन्धमें अंग्रेजी शब्द Style की उत्पत्ति तथा महत्त्वका बड़ा ही सुन्दर विवेचन किया है। Style शब्द लैटिन भाषाके Stilus, Stylus से निकला है जिसका अर्थ है 'लौह लेखनी'–लोहेकी कलम। वे कहते हैं कि लेखनी चाहे मोम-

पर या कागजपर कुरेदती है, मानव प्रकृतिमें जो कुछ भावाभिव्यञ्जक होता है अथवा जो कुछ अत्यन्त तलस्पर्शी होता है वह उन सबकी प्रतीक होती है। लेखकके व्यक्तित्वका परिचय हमें उसकी लेखनीसे ही होता है। उसके आवाजमें जोर हो सकता है, उसकी हस्त चेष्टाओंमें भावोंकी अभिव्यंजनाकी शक्ति हो सकती है, परन्तु ये दोनों साधन--शब्द तथा चेष्टा-परिवर्तनशील होते हैं। व्यक्तित्वका स्थायी रूपसे अन्तिम उन्मीलन है उसकी लेखनी। इसीलिए स्टाइलका काव्यमें विशेष महत्त्व होता है--

The pen, scratching on wax or paper, has become the symbol of all that is expressive, all that is intimate, in human nature; not only arms and arts, but man himself has yielded to it......other gesture shift and change and flit: this is the ultimate and enduring revelation of personality.

—Walter Reigh—Style पृ० २

४—वक्रोक्ति-सम्प्रदाय

संस्कृत वाङ्मयमें वक्रोक्ति शब्दका प्रयोग अत्यन्त प्राचीन कालसे चला आ रहा है और यह अनेक अर्थोंमें व्यवहृत होता है। बाणभट्टने कादम्बरीमें इस शब्दका प्रयोग अनेक बार किया है। उन्होंने चन्द्रापीड़की राजधानीका वर्णन करते हुए वहांके विलासी जनोंको वक्रोक्तिमें निपुण बतलाया है--'वक्रोक्तिनिपुणेन विलासिजनेन।' अन्यत्र शुक और सारिकामें एक विवाद चल रहा था। वह शुक चन्द्रपीड़ासे कह रहा है "एषापि बुध्यते एव एतावती: वक्रोक्तीः। इयमपि जानात्येव परिहास जल्पितानि। अभूमिरेषा भुजंगमंगिभाषितानाम्"। (कादम्बरी)। यहां वक्रोक्ति

शब्दका प्रयोग क्रीड़ालाप या परिहास-कथाके अर्थमें किया गया है। अमरुशतकमें भी इस शब्दका प्रयोग इसी अर्थमें दीख पड़ता है[1]। यह तो हुई काव्य-ग्रन्थोंमें वक्रोक्तिकी चर्चा। अब अलंकार ग्रन्थोंमें इसके निरूपणपर ध्यान दीजिए।

'वक्रोक्ति'का अर्थ ही है वक्र उक्ति अर्थात् टेढ़ा कथन। प्राचीन कालसे आलंकारिकोंने काव्यमें किसी अतिशय कथनकी सत्ता मानी है। साधारण बोलचालमें शब्दोंका जिन अर्थोंमें व्यवहार होता है क्या उन्हीं अर्थोंको लेकर कमनीय काव्यकी रचना हो सकती है? कदापि नहीं। उसके लिए तो किसी न किसी प्रकारकी विचित्र उक्तिकी आवश्यकता होती है। काव्यमें व्यापारकी ही तो प्रधानता रहती है। साधारण लोगोंके कथन-प्रकारसे भिन्न तथा अधिक चमत्कृत कथन-प्रकार वक्रोक्तिके नामसे अभिहित होता है। ऐतिहासिक दृष्टिसे अलंकार जगत्में वक्रोक्तिकी कल्पना भामहसे आरम्भ होती है। भामह वक्रोक्तिको अतिशयोक्तिका ही नामान्तर मानते हैं और इसे काव्यका मूल तत्त्व स्वीकार करते हैं। इस संबन्धमें उनका यह श्लोक प्रसिद्ध ही है :—

> सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
> यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना॥
>
> भामह—काव्यालंकार २।८५

काव्यमें वक्रोक्तिकी इतनी उपादेयता भामहको मान्य है कि वे हेतु, सूक्ष्म तथा लेश नामक अलंकारोंको अलंकार माननेके पक्षपाती

---

१ या पत्युः प्रथमापराधसमये सख्योपदेशं विना,
नो जानाति सविभ्रमांगवलना—वक्रोक्तिसंसूचनम्।
—अमरुशतक, श्लोक २

नहीं है[१]। वे अलंकारके लिये वक्रोक्तिकी स्थिति अत्यन्त आवश्यक मानते हैः—"**वाचां वक्रार्थशब्दोक्तिरलंकाराय कल्पते**[२],—अर्थात् वक्र अर्थका कथन शब्दोंके लिए अलंकारका काम करता है। अभिनवगुप्तने भामहका एक पद्य[३] उद्धृत कर वक्रोक्तिका लक्षण यह दिया है :—**शब्दस्य हि वक्रता, अभिधेयस्य च वक्रता, लोकोत्तीर्णेन रूपेन अवस्थानम्** (लोचन, पृष्ठ २०८)। शब्दकी वक्रता तथा अर्थकी वक्रता क्या है? इनकी लोकोत्तर रूपसे अवस्थान, अलौकिक रूपसे स्थिति। भावार्थ यह है कि लोकमें जिस शब्द तथा अर्थका व्यवहार जिस रूपसे होता है उस रूपमें न होकर उससे विलक्षणरूपमें होना वक्रोक्ति कहलाता है। जैसे 'वह मर गया' ऐसा न कहकर वह 'कीर्तिशेष' हो गया कहना वक्रोक्तिके भीतर आता है।

आचार्य दण्डीने समस्त वाङ्मयको दो भागोंमें बांटा है—(१) **स्वाभावोक्ति** तथा (२) **वक्रोक्ति**। स्वाभावोक्तिके भीतर उन स्थानोंका अन्तर्भाव किया जाता है जिनमें वस्तुओंका यथार्थ कथन विद्यमान हो। स्वभावोक्ति ही 'काव्यादर्श'में जाति नामसे आद्य अलंकारके नामसे गृहीत हुई है। स्वभाव-कथनसे भिन्न होनेके कारण वक्रोक्तिमें 'अतिशय-कथन'-का समावेश किया गया है। इस प्रकार उपमा आदि अर्थालंकार तथा रसवद्, प्रेयादि रससंबद्ध अलंकार वक्रोक्तिके अन्तर्गत आते हैं। दण्डीका कथन है कि श्लेषकी सत्तासे वक्रोक्ति और भी चमक उठती है;—

---

१ हेतुश्च सूक्ष्मो लेशोऽथ नालंकारतया मतः।
समुदायाभिधानस्य वक्रोक्त्यनभिधानतः॥
भामह—काव्या० २।८६

२ भामह—काव्या० ५।६६

३ वक्राभिधेय शब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृतिः। वही १।३६।

'श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्।
भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्॥'
—काव्यादर्श २।३६३

इस प्रकार दण्डीने भामहकी वक्रोक्ति-कल्पनाको स्वीकार किया है। भामहमें वक्रोक्ति सब अलंकारोंकी मूल थी। वह सामान्य वार्तालाप-वार्ता—से भिन्न होती है परन्तु दण्डीने स्वभावोक्तिको वक्रोक्तिके क्षेत्रसे पृथक् कर दिया है क्योंकि इस अलंकारके लिये वे अतिशय कथनको आवश्यक नहीं मानते।

वामनमें भी वक्रोक्तिका वर्णन है परन्तु उसका रूप भामह प्रदर्शित वक्रोक्तिसे नितान्त भिन्न है। जहां भामहने वक्रोक्तिको अलंकारोंका सामान्य मूलभूत आधार माना था, वहां वामन उसे अर्थालंकारोंमें परिगणित करते हैं। वक्रोक्ति उनकी दृष्टिसे सादृश्यके ऊपर आश्रित होनेवाली लक्षणा ही है। लक्षणाके अनेक आधार हो सकते हैं। परन्तु सादृश्य आधारके ऊपर आश्रित होनेवाली लक्षणा-वक्रोक्ति कही जाती है[1]। यथा—प्रातःकालके समय तालाबोंमें कमल खिला और क्षणभरमें कुमुद बन्द हो गया। यहां कमलके लिए उन्मीलन तथा कैरवके लिए निमीलनके प्रयोगमें वक्रोक्ति है। उन्मीलन और निमीलन वस्तुतः नेत्रके धर्म हैं। परन्तु सादृश्यके कारण वे क्रमशः विकास और संकोचको लक्षित करते हैं। रुद्रटके समयमें आकर वक्रोक्ति एक शब्दालंकार बन जाता है। किसीके वाक्यको सुनकर श्रोता उसके किसी शब्दको भिन्न अर्थमें ग्रहण कर

---

१ सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः। बहूनि हि निबन्धनानि लक्षणायाम्। तत्र सादृश्यात् लक्षणा वक्रोक्तिरसाविति। असादृश्यनिबन्धना तु लक्षणा न वक्रोक्तिः :

वामन—काव्यालंकार ४।३।८ सूत्रकी वृत्ति।

जब अवांछित तथा अकल्पित उत्तर देता है तब रुद्रटके अनुसार वक्रोक्ति होती है। यथा—

अहो केनेदृशी बुद्धिः दारुणा तव निर्मिता।
त्रिविधा श्रूयते बुद्धिर्न तु दारुमयी क्वचित्॥

—काव्यप्रकाश, उल्लास ९।

(कोई वक्ता कह रहा है कि अहो किसने तुम्हारी बुद्धिको दारुण (क्रूर) बनाया है। श्रोता 'दारुणा' पदको दारु (काष्ठ) शब्दकी तृतीया विभक्तिमें मानकर उत्तर देता है कि बुद्धि त्रिगुणमयी तो सुनी गई है परन्तु दारुमयी (काष्ठमयी) बुद्धि तो कभी नहीं सुनी गई! रुद्रटके अनुसार इस उक्ति-प्रत्युक्तिमें वक्रोक्ति नामक शब्दालंकार है। परन्तु कुन्तककी वक्रोक्ति इन सबसे विलक्षण है। वे इसे अलंकार न मानकर काव्यका मूल तत्त्व मानते हैं। उनकी वक्रोक्तिका लक्षण है—'वैदग्धी भंगी भणितिः'—अर्थात् किसी वस्तुका साधारण लौकिक प्रकारसे भिन्न, अलौकिक ढंग से कथन। इस प्रकार जो वक्रोक्ति भामहमें अलंकारके मूलतत्त्वके रूपमें गृहीत थी, वामनमें सादृश्यमूला लक्षणाके रूपमें अर्थालंकार थी और रुद्रटमें शब्दालंकार मानी जाती थी, वही कुन्तकके मतानुसार काव्यका मूलतत्व स्वीकार की गई है।

वक्रोक्तिको काव्यका जीवन—आत्मा—माननेके करण ही कुन्तकका ग्रन्थ 'वक्रोक्ति-जीवित' कहलाता है और वे वक्रोक्ति-जीवितकारके नामसे आलंकारिकोंके द्वारा निर्दिष्ट किए गए हैं। वक्रोक्ति सम्प्रदायके वे ही संस्थापक हैं। वे बड़े ही प्रौढ़ तथा मार्मिक आलोचक थे। उनकी मौलिकताके कारण हम उन्हें आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्तके समकक्ष मानते हैं। वे रस तथा ध्वनि, दोनों सिद्धान्तोंसे परिचित थे परन्तु इन्हें आलोचनामें स्वतंत्र स्थान न देकर वक्रोक्तिका ही विशिष्ट प्रकार मानते हैं। वक्रोक्ति छः प्रकारकी होती है—

(१) वर्णवक्रता, (२) पदपूर्वार्ध-वक्रता, (३) पदोत्तरार्ध-वक्रता (४) वाक्यवक्रता, (५) प्रकरण-वक्रता (६) प्रबन्ध-वक्रता। उपचार-वक्रताके भीतर उन्होंने ध्वनिके प्रचुर भेदोंका समावेश किया है। इनकी वक्रोक्तिकी कल्पना इतनी उदात्त, व्यापक तथा बहुमुखी है कि उसके भीतर ध्वनिका समस्त प्रपञ्च सिमिट कर विराजने लगता है। कुन्तककी विश्लेषण तथा विवेचन शक्ति बड़ी मार्मिक है। उनका ग्रन्थ अलंकार शास्त्रके मौलिक विचारोंका भण्डार है। दुःख है कि उनके पीछे किसी आलोचकने न तो इस सिद्धान्तको अग्रसर किया और न इस सम्प्रदायका अनुगमन किया। वे लोग तो रुद्रटके द्वारा प्रदर्शित प्रकारको ही अपनाकर वक्रोक्तिको एक सामान्य शब्दालंकार ही मानने लगे थे। इस प्रकार वक्रोक्तिके महनीय काव्यतत्त्वको बीजरूपमें सूचित करनेका श्रेय आचार्य भामहको है और इस बीजको उदात्तरूपसे अंकुरित तथा पल्लवति करनेका यश आचार्य कुन्तकको है। ध्वनिवादी आलंकारिकोंने इनके वक्रोक्तिके सिद्धान्त-को काव्यकी आत्मा (जीवातु) रूपमें तो नहीं स्वीकार किया, परन्तु वक्रोक्तिके अनेक प्रकारोंको ध्वनिके भीतर अन्तर्भुक्त कर उन्होंने इनके निरूपणकी महत्ताको स्पष्टतः अंगीकार किया है। पाश्चात्य आलोचकोंने भी वक्रोक्तिके तत्त्वको काव्यमें माना है परन्तु इसका जितना सांगोपांग विवेचन कुन्तकने किया है उतना कहीं नहीं मिलता। कुन्तकके सम्प्रदायको कोई मान्यता दे अथवा न दे, परन्तु उनका 'वक्रोक्ति'-सिद्धान्त अलंकार-शास्त्रमें काव्यके एक मौलिक तत्त्वके रूपमें सदा अमर रहेगा।

वक्रोक्ति तथा पाश्चात्य आलोचना

पश्चिमी जगत्के आलोचकों—प्राचीन तथा नवीन विवेचकों ने वक्र-उक्तिकी महत्ताका अंगीकरण किया है। यूनानी जगत्में अरस्तू तथा लांगिनस इसके विशेष पक्षपाती थे तथा वर्तमान कालमें क्रोचेका अभिव्यंजना-वाद (Expressionism) वक्रोक्तिका ही नवीन, परन्तु अधूरा,

संस्करण है। अरस्तूने काव्यशैलीको महनीय होनेके लिए वक्रोक्तिके विधानको नितान्त आवश्यक माना है। अरस्तूकी उक्ति है—अपरिचित शब्दों (जैसे विचित्र शब्द, रूपक, वृद्धिगत रूप तथा कथनके सामान्य प्रकारसे पृथक् होनेवाली प्रत्येक वस्तु)-के प्रयोग करनेसे काव्यरीति विशिष्ट और कवित्वपूर्ण होती है—

The Diction becomes distinguished and non-prosaic by the use of un-familiar terms ie. strange words, metaphors, lengthened forms, and every thing that deviates from the ordinary modes of speech.

—Poetics ख० २२, पृ० ६२

इस वाक्यमें 'कथनके सामान्य प्रकारसे पृथक् होनेवाली प्रत्येक वस्तु' —everything that deviates from the ordinary modes of speech'—वक्रोक्तिका प्रकारान्तरसे सूचक है। अरस्तूने इस नियमके लिए कारण भी बतलाया है। साधारण जनोंकी जो भाषा होती है, वह केवल लोक-व्यवहारके ही लिये प्रयुक्त होती है। उसका कार्य केवल सामान्य जनोंके साधारण भावोंका ही प्रकाशन होता है। काव्यगत चमत्कार तथा सरसताकी अभिव्यक्ति करनेकी क्षमता उसमें नहीं होती। इसीलिये अरस्तूने वक्रोक्तिको काव्यका उपयोगी तत्त्व स्वीकार किया है।

प्रसिद्ध आलोचक लांजिनस 'भव्यता' (Sublimity))को ही काव्यका सर्वस्व मानते हैं। सहृदयके हृदयको प्रभावित करनेवाली कविता सर्वदा भव्यतासे भूषित रहतीहै। 'भव्यता' काव्यका परम सौन्दर्य साधन है। यह भव्यता वहीं होती है जहां लोकका अतिक्रमण रहता है, अलौकिक वस्तुमें अलौकिकत्वका निवास रहता है। काव्यमें सर्वत्र अलौ-

किकता विराजती है—अर्थमें, अर्थप्रकटनकी रीतिमें, शब्दमें तथा अलंकारमें अलौकिक अर्थकी अभिव्यक्ति अलौकिक शब्दके द्वारा ही होती है। उन सबके लिये लोक-व्यवहृत शब्द अत्यन्त तुच्छ तथा असमर्थ प्रतीत होते हैं। यहां शाब्दिक अलौकिकताका जो निर्देश लांजिनसने किया है वह वक्रोक्तिका ही दूसरा नाम है :—

Sublimity is a certain consummateners and preeminence of phrase, and that the greatest poets and prose writers gained the first rank and grasped on eternity of fame, by no other means than this. For what is out of the common leads audience not to persuasion, but to Ecstasy (or transport)

—Longinus.

क्रोचेका अभिव्यंजनावाद वक्रोक्तिका ही प्रकरान्तर है[1]।

५—ध्वनि-सम्प्रदाय

साहित्यशास्त्रके इतिहासमें सबसे अधिक महत्त्वशाली सम्प्रदाय यही ध्वनि सम्प्रदाय है। इस सम्प्रदायके आलोचकोंने ध्वनिकी उद्भावना कर काव्यके भीतर निहित अन्तस्तत्त्वकी व्याख्या की है। अब तक जिन काव्य-तत्त्वोंका उद्गम तथा विकास साहित्य-शास्त्रमें होता आया था उन सबका ध्वनिके साथ सामंजस्य दिखाना इन आलोचकोंका गौरवपूर्ण कार्य है। ध्वनिके सिद्धान्तको व्यवस्थित करनेका श्रेय नवम शताब्दीमें उत्पन्न होनेवाले आचार्य आनन्दवर्धनको प्राप्त है। तबसे लेकर आजतक एक

---

१ 'भारतीय साहित्य शास्त्र (द्वितीय खण्ड) पृ० ४३६–४४१

हजार वर्षोंके दीर्घकालमें ध्वनि-सिद्धान्तका ही बोलबाला है। इसके विरोध करनेवाले आचार्योंकी भी कमी न थी। प्रतिहारेन्दुराज, कुन्तक, भट्टनायक तथा महिमभट्टके हाथों ध्वनि-सिद्धान्तको प्रबल विरोधोंका सामना करना पड़ा था। ये विरोध साधारण आलंकारिकोंके सामान्य विरोध न होकर साहित्यशास्त्रके मर्मज्ञ विद्वानोंके उग्र प्रहार थे। परन्तु भीतरी जीवटके कारण यह सिद्धान्त उनकी परीक्षाग्निमें खरा उतरा और आजकल तो यह साहित्य-संसारका सर्वस्व है।

ध्वनि क्या है? जहां वाच्य अर्थके भीतरसे एक दूसरा ही रमणीय अर्थ निकले, जो वाच्य अर्थकी अपेक्षा कहीं अधिक चमत्कारपूर्ण हो, वही **ध्वनि काव्य** कहलाता है[1]। अर्थ मुख्यतः दो प्रकारके होते हैं— **वाच्य और प्रतीयमान**। वाच्यके अन्तर्गत अलंकार आदिका समावेश होता है और प्रतीयमान अर्थके भीतर ध्वनिका। प्रतीयमान अर्थकी सिद्धि काव्यमें वस्तुस्थितिके अवलोकन करनेवाले प्रत्येक व्यक्तिको हो सकती है। किसी सुन्दरीके शरीरमें जिस प्रकार प्रत्येक अंग तथा अवयवसे भिन्न लावण्यकी पृथक् सत्ता विद्यमान रहती है उसी प्रकार काव्यमें भी उसके अंगोंसे पृथक् चमत्कारजनक प्रतीयमान अर्थकी सत्ता नियतमेव वर्त्तमान रहती है :—

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ॥
—ध्वन्यालोक १।४

अलंकारके इतिहासमें ध्वनिकी कल्पना आलोचकोंकी बड़ी सूक्ष्म बुद्धिकी परिचायिका है। लक्ष्य-ग्रन्थोंमें (काव्य) तो ध्वनि विद्यमान ही थी। लेकिन आनन्दवर्धनसे पहले किसीने उसे काव्यका महनीय तथा स्वतन्त्र

---

१ इदमुत्तममतिशयिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः।
—काव्यप्रकाश १।४

वाली कविताको ही उत्तम काव्य माना है। आनन्दवर्धनका स्पष्ट कहना है कि महाकविका यह मुख्य व्यापार है कि वह रस, भावको ही काव्यका मुख्य अर्थ मानकर उन्हीं शब्दों तथा अर्थोंकी रचना करे जो उसकी अभिव्यक्तिके अनुकूल हों। रस-तात्पर्यसे काव्य निबन्धनकी यह प्रथा भरत आदिमें भी पायी जाई है। रस काव्य और नाट्य दोनोंका जीवनभूत है[1]। अतः आनन्दवर्धनने भरतके रस मतको ही विकसित कर अपने ध्वनिमतका विस्तार किया है। यह केवल कल्पना नहीं है बल्कि एक तथ्य वस्तु है।

कलामें ध्वनि

ध्वनि सिद्धान्तका महत्त्व इसीमें नहीं है कि वह काव्य-के अन्तस्तत्त्वकी अभिव्यक्ति करता है प्रत्युत वह कलाके मूल तत्त्वको भी स्पर्श करता है। कोई भी कला क्यों न हो जब तक वह किसी भीतरी तत्त्वकी ओर संकेत नहीं करती तबतक उसे हम कमनीय कला नहीं कह सकते। संगीतज्ञ लोग कहते हैं कि वीणाके स्वर दो प्रकारके होते हैं; एक तो वह जो साधारणतया कानको सुनाई पड़ते हैं और सुखद प्रतीत होते हैं; दूसरा स्वर पहिले स्वरके भीतर बड़े सूक्ष्म रूपमें रहता है। इसकी भी अभिव्यक्ति प्रथम स्वरके साथ ही होती है परन्तु यह गुणीजनोंके अभ्यस्त कानोंको ही सुनाई पड़ती है। तथ्य बात यह है कि प्रत्येक कलामें दो स्तर होते हैं—बाहरी और भीतरी। चित्रकला इसका स्पष्ट निदर्शन है। किसी चित्रको बनानेमें 'तूलिका', रंग और फलककी अवश्यकता पड़ती

१ अयमेव हि महाकवेर्मुख्यो व्यापारो यत् रसादीनेव मुख्यतया काव्यार्थीकृत्य तद्व्यक्त्यनुगुणत्वेन शब्दानामर्थानाञ्चोपनिबन्धनम्। एतच्च रसादितात्पर्येण काव्यनिबन्धनं भरतादावपि सुप्रसिद्धमेवेति।...रसादयो हि द्वयोरपि तयो (काव्यनाट्ययोः) जीवितभूताः। ध्वन्यालोक पृ० १८१–८२।

है। इनकी सहायतासे जो चित्र चित्रित किया जाता है वह हमारे नेत्रोंको सुख देनेवाला बाहरी पदार्थ है। परन्तु उस चित्रसे करुणा, दीनता, दया तथा दरिद्रताकी जो अभिव्यक्ति होती है वह हृदयगम्य वस्तु है[1]। वही चित्रकलाका मूल तत्त्व है। वही वस्तु उस चित्रका जीवन है, प्राण है, ध्वनि है। चित्र और काव्यमें अन्तर केवल इतना ही है कि चित्रकार रेखाओं तथा वर्णोंसे अपने उस भावकी अभिव्यक्ति करता है। कवि शब्दोंके द्वारा उसे प्रकाशित करता है। आनन्दवर्धनने कलाके इसी मूल तत्त्वकी व्याख्या अपने ग्रन्थमें की है और इसीलिये उनका इतना महत्त्व है—

"सारभूतो हि अर्थः स्वशब्दानभिधेयत्वेन प्रकाशितः सुतरामेव शोभामावहति। प्रसिद्धिश्चेयमस्त्येव विदग्धविद्वत्परिषत्सु यदभिमततरवस्तु व्यङ्ग्यत्वेन प्रकाश्यते न साक्षात् शब्दवाच्यत्वेनैव।"

ध्वन्यालोक पृ० २१

सारभूत अर्थ स्वशब्दोंसे वाच्य न होकर यदि प्रकाशित किया जाय, तो विशेष शोभा धारण करता है। अंग्रेजी भाषामें भी इसी अर्थका द्योतक यह कथन है—Art lies in concealing Art कलाको छिपा रखनेमें ही कलाका महत्त्व है। यह प्रकारान्तरेण 'ध्वनि' की स्वीकृति है।

ध्वनिकार ध्वनिको तीन भागोंमें विभक्त करते हैं—(१) रसध्वनि, (२) अलंकार-ध्वनि, (३) वस्तुध्वनि। रसध्वनिके भीतर केवल नवरसोंकी ही गणना नहीं होती प्रत्युत भाव, उनके आभास, भावोदय, भावशबलता, भावसन्धि आदिकी भी गणना है। वस्तुध्वनि वहां होती है जहां किसी तथ्य-कथन मात्रकी अभिव्यंजना की जाय। अलंकार-

---

१ देखिये अजन्ताका वह चित्र जिसमें अपनी पुत्रीके साथ कोई स्त्री बुद्धसे भिक्षा मांग रही है। इस चित्रमें दीनताकी पूर्ण अभिव्यक्ति हुई है।

ध्वनि वहां होती है जहां अभिव्यक्त किया गया पदार्थ इतिवृत्तात्मक न होकर कल्पना-प्रसूत हो, जो अन्य शब्दोंमें प्रकट किए जानेपर 'अलंकार'का रूप धारण करता। इन तीनोंमें रस-ध्वनि ही श्रेष्ठ है। अंग्रेजी भाषाके महाकवि वर्ड्सवर्थने कविताका जो लक्षण दिया है— कविता मानव हृदयको प्रबल भावनाओंका स्वतः उद्गार है[१]—वह रस ध्वनिका ही प्रकारान्तरसे वर्णन है। महाकवि वाल्मीकिके हृदयमें क्रौञ्च-वधके कारण क्रौञ्चीके करुण क्रन्दनको सुनकर शोकका जो प्रबल भाव जगा वही श्लोक रूपमें स्वतः प्रकट हो गया। यही रसध्वनि है। महत्त्वपूर्ण होनेसे वस्तुतः रस ही काव्यकी आत्मा है। वस्तु-ध्वनि और अलंकार-ध्वनिका तो सर्वथा इसमें ही पर्यवसान होता है। इसलिये वे वाच्यसे उत्कृष्ट अवश्य होते हैं। ध्वनिको काव्यकी आत्मा कहना तो सामान्य कथन है। 'वस्तुतः रस ही काव्यकी आत्मा है—' आलोचकोंका यही परिनिष्ठित मत है[२]। काव्यका अभ्यासी कवि चित्रकाव्यसे अभ्यास भले करे, परिपक्व मतिवाले कवियोंका एकमात्र पर्यवसान 'ध्वनि काव्य'में ही होता है[३]।

ध्वनि सम्प्रदायके अनुसार काव्य तीन प्रकारके होते है—(१) ध्वनिकाव्य, (२) गुणीभूत-व्यंग्य, (३) चित्रकाव्य। ध्वनिकाव्यमें

---

१ Poetry is the spontaneous overflow of powerful feelings.

२ तेन रस एव वस्तुतः आत्मा। वस्त्वलंकारध्वनी तु सर्वथा रसं प्रति पर्यवस्येते इति वाच्यात् उत्कृष्टौ तौ, इत्यभिप्रायेण ध्वनिः काव्यस्यात्मा इति सामान्येन उक्तम्। लोचन पृ० २७

३ प्राथमिकानां अभ्यासार्थिनां यदि परं चित्रेण व्यवहारः, प्राप्तपरिणतीनां तु ध्वनिरेव प्राधान्येन काव्यमिति स्थितमेतत्। लोचन पृ० २७।

वाच्यसे प्रतीयमान अर्थका चमत्कार अधिक होता है। यही सबसे उत्तम काव्य है। जिस काव्यमें व्यंग्य तो रहता है परन्तु वह वाच्यकी अपेक्षा कम चमत्कृत होता है उसे 'गुणीभूत व्यंग्य' कहते हैं। चित्रकाव्यमें शब्द तथा अर्थके अलंकारोंसे ही काव्यमें चमत्कार आता है। यह अधम कोटिका काव्य है। सच्चे कविका कार्य यह नहीं है कि वह रससे संबंध न रखनेवाली कविताके लिखनेमें अपनी शक्तिका दुरुपयोग करे। जो रसके तात्पर्यको बिना समझे कविता करनेमें प्रवृत्त होते हैं उन्हीं अव्यवस्थित कवियोंकी वाणी चित्रकाव्यकी ओर झुकती है। काव्यपाक वाले (काव्यमें परिपक्व) कवियोंकी कविताका लक्ष्य सदा रसमय काव्य की ही रचना होती है[1]।

ध्वनिवादी आचार्योंने ध्वनिके मूल सिद्धान्तके अनुसार गुण और अलंकारको उनके वास्तविक स्थानपर प्रतिष्ठित कर दिया है। गुण वे ही धर्म होते हैं जो रसलक्षण मुख्य अर्थके ऊपर अवलम्बित रहते हैं। जिस प्रकार मनुष्यमें शौर्य तथा वीर्य आदि धर्म उसकी आत्माके साथ संबद्ध रहते हैं उसी प्रकार माधुर्यादि गुण काव्यके मूलभूत रसके ऊपर आश्रित रहते हैं। अलंकार काव्यके अंगभूत शब्द तथा अर्थपर ही आश्रित रहनेवाले अनित्य धर्म हैं। जिस प्रकार मनुष्यके हाथकी अंगूठी पहले उसके हाथ की ही शोभा बढ़ाती है और तदनन्तर उस मनुष्यकी आत्माको भी सुशोभित करती है उसी प्रकार अनुप्रासादि शब्दालंकार शब्दको, उपमा

---

१ 'एतत् च चित्रं कवीनां विशृंखलगिरां रसादितात्पर्यमनपेक्ष्यैव काव्यप्रवृत्तिदर्शनादस्माभिः परिकल्पितम्। इदानींतनानां तु न्याय्ये काव्यनयव्यवस्थापने क्रियमाणे नास्त्येव ध्वनिव्यतिरिक्तः काव्यप्रकारः। यतः परिपाकवतां कवीनां रसादितात्पर्यविरहे व्यापार एव न शोभते। ध्वन्यालोक, पृ० २२१।

आदि अर्थालंकार अर्थके ऊपर आश्रित होकर इन्हीं अंगोंको सुशोभित करते हैं। तदनन्तर परोक्ष रूपसे रसका भी—यदि वह विद्यमान हो—उपकार करते हैं। इस प्रकार ध्वनि-सम्प्रदायके अनुसार गुण काव्यके नित्य धर्म हैं और अलंकार अनित्य धर्म। अलंकारोंकी स्थिति काव्यमें हो या न हो, परन्तु गुणकी स्थिति तो अवश्यंभावी है। दोनोंके भेदको ध्वनिकार ने इस कारिकामें बड़ी ही सुन्दर रीतिसे सामझाया है—

तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः ।
अङ्गाश्रितास्त्वलंकाराः मन्तव्याः कटकादिवत्[1] ॥

ध्वन्यालोक २।७.

ध्वनिकार संघटनाको तीन प्रकारका मानते हैं (१) असमासा, (२) मध्यमसमासा और (३) दीर्घसमासा। इनमेंसे प्रत्येक प्रकार एक विशिष्ट रसके अनुकूल होता है। संघटनाके औचित्यका विचार रसके कारण, वक्ताके कारण तथा वर्ण्य विषयके कारण निश्चित किया जाता है।

काव्यमें दो प्रकारकी वृत्तियां मानी गई हैं—शब्द वृत्ति-और अर्थ-वृत्ति। उपनागरिका, परुषा तथा ग्राम्या (कोमला) तो वाचक अर्थात् शब्दके ऊपर आश्रित होनेवाली वृत्तियां हैं। कैशिकी और आरभटी, सात्वती तथा भारती वाच्य या अर्थके ऊपर आश्रित होनेवाली वृत्तियाँ हैं। इनको रीतिके समान ही समझना चाहिये। रसके तात्पर्यसे निवेशित होनेपर अर्थात् रसानुकूल होनेपर ही वृत्तियां काव्य तथा नाट्यकी शोभा

---

१ ये तमर्थं रसादिलक्षणमंगिनं सन्तमवलम्बन्ते ते गुणाः शौर्या-दिवत्। वाच्यवाचकलक्षणान्यङ्गानि ये पुनराश्रितास्ते अलंकारा मन्तव्याः कटकादिवदिति ।

ध्वन्यालोक २।७ की वृत्ति ।

बढ़ाती हैं। यदि वे रसके प्रतिकूल हों तो उनका विधान कथमपि काव्यमें श्लाघनीय नहीं माना जाता[1]। ध्वनिवादियोंके अनुसार दोष वही है जो मुख्य अर्थका ह्रास या नाश करे—मुख्यार्थापहतिर्दोषः—मुख्य अर्थ होता है रस। अतः काव्यमें रसको दूषित करनेवाले दोष ही पक्के काव्य दोष हैं। वाक्यार्थ दोष आदि अन्य दोषोंकी कल्पना इसी रस दोषकी कल्पनापर अवलम्बित रहती है।

इस प्रकार ध्वनिवादी आचार्योंने ध्वनिको काव्यमें मुख्य तत्त्व मानकर काव्य-तत्त्वोंका पूर्ण सामञ्जस्य दिखलाया है।

पश्चिमी आलोचनामें व्यंग्य अर्थ

काव्यमें व्यंग्य अर्थ ही मुख्य होता है, पश्चिमी आलोचकोंकी भी यही सम्मति है। प्रसिद्ध अंग्रेजी आलोचक एबरक्राम्बीने ठीक ही कहा है कि साहित्यकला कुछ मात्रा तक सर्वदा व्यंजनात्मक होती है। और साहित्य-कलाका सबसे उत्कर्ष यह है कि वह व्यंजनाकी शक्तिको ऐसी व्यापक, ऐसी विशद तथा सूक्ष्म भाषामें प्रकट करे जितना संभव हो सकता है। अभिधा शक्तिके द्वारा जो अर्थ वाच्य होता है उसकी पूर्ति भाषाकी व्यंजना शक्ति कर देती है। उनके शब्द ये हैं:—

Literary art, therefore, will always be in some degree suggestion; and the height of

---

१ तत्र रसानुगुण औचित्यवान् वाच्याश्रयो यो व्यवहारः, ता एता कैशिकाद्याः वृत्तयः। वाचकाश्रयाश्च उपनागरिकाद्याः वृत्तयो हि रसादितात्पर्येण निवेशिताः कामपि नाट्यस्य काव्यस्य च छायामावहन्ति। रसादयो हि द्वयोरपि तयोर्जीवितभूताः इतिवृत्तादि तु शरीरभूतमेव।

ध्वन्यालोक—पृ० १८२।

literary art is to make the power of suggestion in language as commanding; as far-reaching; as vivid, as subtle as possible. This power of suggestion supplements whatever language gives merely by being plainly understood and what it gives in this way is by no means confined to its syntax.

—Abercrombie : Principles of Library Criticism.

अंग्रेजीके मान्य आलोचक रिचर्ड्सने काव्यगत अर्थके चार प्रकार निश्चित किए हैं:—

(1) Sense. (2) Feeling (3) Tone (4) Intention.

'सेन्स'का अभिप्राय है वक्ताके द्वारा कही गई वस्तु।' फीलिंग्' का अर्थ है हृदयगत भाव। 'टोन'का अर्थ है सुर या आकृति अथवा वक्ता और बोद्धव्यके सम्पर्कका ज्ञान। इसकी व्याख्या करते हुए उन्होंने लिखा है—

The speaker has ordinarily an attitude to his listener. He chooses or arranges his words differently as his audience varies, in automatic or deliberate recognition of his relation to them. The tone of his utterance reflects his awareness of this relation, his sense of how he stands towards those he is addressing.

—Practical Criticism p. 182.

इसका तात्पर्य यह है कि वक्ता अपने श्रोताओंकी ओर दृष्टि रखकर अपने वाक्योंका विन्यास करता है। श्रोताओंके परिवर्तनके साथ-साथ वक्ताके वाक्योंके सुरमें भी परिवर्तन होता है। वक्ता और बोद्धव्यके इसी सम्पर्कको

रिचर्ड्स टोनके नामसे पुकारते हैं। ये तीनों अर्थ वाच्यार्थके अन्तर्गत आते हैं। बाकी बचा Intention या अभिप्राय। हमारी दृष्टिमें यही व्यंग्यार्थ या ध्वनि ही है। इस शब्दकी विशिष्ट व्याख्या करते समय उनके कथन से यह स्पष्ट है। वे कहते हैं कि लेखक बहुतसी बातें कहना चाहता है, परन्तु शब्दोंके द्वारा वह प्रकट नहीं करता। किसी भी ग्रन्थकी आकृति या रचना या विकासमें एक विशेष तात्पर्य होता है जो पूर्वोक्त तीनों प्रकारोंमें अथवा उनके सम्मिलनमें कथमपि परिगणित नहीं किया जा सकता। **यही तात्पर्य या व्यंङ्ग्यार्थ होता है लेखकका अभिप्राय—**

Where conjecture or the weight of what is left unsaid is the writer's weapon.........It is no long step to admitting that the form or construction or development of a work may frequently have a significance that is not reducible to any combination of our other three functions. This significance is then the author's intention.

Richards—Practical Criticism p. 356.

अध्यापक मिलरकी सम्मतिमें काव्यका अर्थ वही होता है जो व्यंजित होता है। अतः व्यंग्य अर्थको ही काव्यका मुख्य अर्थ मानना उचित है—

That which is suggested is Meaning.

—I. Miller. The Psychology of Thinking. p. 154,

इस प्रकार आनन्दवर्धनने काव्यमें जिस गम्भीरतम सूक्ष्म व्यंग्य अर्थकी गम्भीर मीमांसा की है उसकी सत्ता पाश्चात्य आलोचकोंने भी बहुशः स्वीकृत की है।

ध्वनि सम्प्रदायका इतिहास

ध्वनि सम्प्रदायके स्थापनाका श्रेय आनन्दवर्धनको प्राप्त है। कुछ लोग वृत्तिकार और कारिकाकारको भिन्न मानकर 'सहृदय' नामक किसी आचार्यको ध्वनिके सिद्धान्तकी उद्भावनाका श्रेय प्रदान करते हैं। परन्तु हमारी सम्मतिमें आनन्दवर्धनने ही कारिका तथा वृत्ति दोनोंकी रचना की थी। प्राचीन आलंकारिकोंने ध्वनिकी कल्पना करनेका श्रेय सर्वसम्मतिसे आनन्दवर्धनको ही प्रदान किया है। आचार्य अभिनवगुप्त ध्वनि सम्प्रदाय-इतिहासमें विशेष महत्त्व इसीलिये रखते हैं कि उन्होंने ध्वन्यालोकके ऊपर 'लोचन' नामक टीका लिखकर ध्वनिके सिद्धान्तको युक्तियोंसे पुष्ट तथा प्रामाणिक बनाया। भट्टनायकने ध्वनिके सिद्धान्तका जो खण्डन किया था उसका मुँहतोड़ उत्तर देकर अभिनवगुप्तने ध्वनिके तत्त्वकी पूर्ण प्रतिष्ठा की। इनका 'लोचन' इतना पाण्डित्यपूर्ण और प्रमेयबहुल ग्रन्थ है कि उसकी सहायता बिना 'ध्वन्यालोक' का पूर्ण दर्शन ही नहीं हो सकता। अभिनवगुप्त एक महनीय दार्शनिक भी थे। उन्होंने दार्शनिक दृष्टिसे ध्वनिके विवेचन करनेमें बड़ी मार्मिकता दिखलाई है। उनके अनन्तर मम्मटाचार्यने विरोधियोंके आक्षेपोंका उत्तर देकर ध्वनि सिद्धान्तको दृढ़तर आधारोंपर संस्थापित किया। काव्य-प्रकाशके पंचम उल्लासमें इन्होंने भिन्न-भिन्न दर्शनोंके मतानुयायी विद्वानोंकी युक्तियोंका दृढ़तया तिरस्कार कर व्यंजनाकी स्वतन्त्र वृत्तिके रूपमें स्थापना की। इनका ग्रन्थ कारिका-बद्ध होनेपर भी समासशैलीमें ही लिखा गया है और बहुत ही सारगर्भित है। इसके ऊपर जितनी टीकाएं बनी उतनी टीकाएं किसी भी साहित्य ग्रन्थपर नहीं हैं। इसीलिए ये 'ध्वनिप्रस्थापन-परमाचार्य' के नामसे साहित्य जगत्में विख्यात हैं। मम्मटके पूर्ववर्ती भोजराजने प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रदर्शित सिद्धान्तोंका अपूर्व समन्वय अपने ग्रन्थोंमें उपस्थित किया है। ये ध्वनिकी अपेक्षा रस मतके विशेष पक्षपाती हैं। मम्मटके पश्चाद्वर्ती विश्वनाथ कविराजने साहित्य-दर्पण में ध्वनिकी

पर्याप्त मीमांसा की है। परन्तु उपयोगी होनेपर भी यह मीमांसा मौलिक नहीं है। इसके ऊपर काव्य-प्रकाशकी गहरी छाप है। अन्तिम समयके सबसे बड़े आलंकारिक पण्डितराज जगन्नाथ हैं जिनकी कृति 'रस-गंगाधर' ध्वनि सम्प्रदायका नितान्त परिपोषक अन्तिम प्रौढ़ ग्रन्थ है। वे आनन्दवर्धनके सिद्धान्तसे इतने प्रभावित हुए थे कि उन्होंने ध्वनिकारको आलंकारिकोंकी सरणिका व्यवस्थापक होनेका गौरव प्रदान किया है—ध्वनिकृतामालंकारिकसरणिव्यवस्थापकत्वात् (रसगंगाधर पृ० ४२५)।

ध्वनि-विरोधी आचार्य

(१) प्रतिहारेन्दुराज—यद्यपि ध्वनि-सिद्धान्त प्रबल प्रमाणोंके आधारपर प्रतिष्ठापित किया था, तथापि काश्मीरके मान्य आलंकारिकोंको यह सिद्धान्त प्रथमतः मान्य नहीं हुआ। ध्वनिवादी और ध्वनिविरोधी आचार्योंमें बहुत दिनों तक गहरा संघर्ष चलता रहा। सर्वप्रथम ध्वनिका विरोध किस आचार्यने किया? इसका निर्णय करना कठिन है। बहुत संभव है मुकुलभट्टका ध्वनि-विरोध सबसे प्राचीन है। 'अभिधावृत्ति मातृका' में इनके कथनसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि ध्वनिकी उद्भावना अभी एक दम नयी थी और वे उसे लक्षणाके अन्तर्गत मानते थे[1]। इनके शिष्य प्रतिहारेन्दुराजने ध्वनिको अलंकारके ही अन्तर्गत माना है और ध्वनिके तीनों भेदों—अलंकार, वस्तु और रस—के ध्वन्यालोकमें जो उदाहरण दिए गए हैं उनको इन्होंने अलंकारोंके उदाहरण प्रमाणित किए हैं[2]। उदाहरणके लिये 'रामोऽस्मि सर्वं सहे' पद्यको लीजिए। इसे

---

१. लक्षणामार्गावगाहित्वं तु ध्वनेः सहृदयैर्नूतनतयोपवर्णितस्य विद्यत इति दिशमुन्मीलयितुमिदमत्रोक्तम् ॥

अभिधावृत्तिमातृका पृ० २१

२. प्रतिहरेन्दुराज—उद्भटके काव्यालंकार की टीका पृ० ७९–८५

ध्वनिकारने अविवक्षित-वाच्य-ध्वनिका उदाहरण माना है। (ध्वन्यालोक पृ० ६१) परन्तु प्रतिहारेन्दुराजके अनुसार यह अप्रस्तुत-प्रशंसाका ही एक भेद है । इसी प्रकारसे ध्वनिके अन्य उदाहरणोंको भी इन्होंने अलंकारके ही दृष्टान्तोंके भीतर सिद्ध किया है। अलंकारवादी आचार्य होनेके कारण इनका ध्वनिको अलंकारके अन्तर्भुक्त मानना उचित ही है।

मुकुलभट्ट तथा प्रतिहारेन्दुराजने प्रसंगवश ध्वनिके सिद्धान्तोंका चलता खण्डन कर दिया है परन्तु तीन ऐसे प्रचण्ड आलंकारिक हुए जिन्होंने ध्वनि-सिद्धान्तके केवल खण्डनके लिए ही अपने गंभीर ग्रन्थोंकी रचना की। इनके नाम हैं भट्टनायक, कुन्तल और महिमभट्ट। भट्टनायक अभिनवगुप्तसे कालक्रममें कुछ प्राचीन थे। कुन्तल उनके समकालीन थे तथा महिमभट्ट अभिनवगुप्तसे कुछ ही पीछे आविर्भूत हुए थे। ये तीनों ही साहित्यके मौलिक आलोचक थे और तीनों ही काश्मीरी थे ।

(२) **भट्टनायक**—इनके ग्रन्थका नाम 'हृदय-दर्पण' था। महिमभट्टने लिखा है कि उन्होंने 'दर्पण' के बिना दर्शन ही किए अपने नवीन ग्रन्थ 'व्यक्ति-विवेक'-की रचना की। उनके टीकाकारने यहां दर्पणसे अभिप्राय 'हृदयदर्पण' से माना है जिसे वे 'ध्वनिध्वंस' ग्रन्थके नामसे अभिहित करते हैं। इस उल्लेखसे प्रतीत होता है कि इस ग्रन्थका निर्माण ही ध्वनिके खंडनके लिये किया गया था। अभिनवगुप्तके लोचनसे इसकी पर्याप्त पुष्टि भी होती है। उन्होंने भट्टनायकके ग्रन्थसे ऐसे उद्धरण दिये हैं जिनमें 'ध्वन्यालोक' की कारिकाओंका मार्मिक खण्डन है। यह तो सर्वप्रसिद्ध ही है कि ये काव्यमें रसके पक्षपाती थे परंतु रसकी व्याख्याके लिये व्यंजनाका सिद्धान्त इन्हें मान्य न था। ये भुक्तिवादी थे और व्यापारत्रयकी कल्पना कर रस सिद्धान्तके व्याख्याता थे।

---

१ वही पृ० ८४.

३ **कुन्तक**—ध्वनि सिद्धान्तका साक्षात् खण्डन करना कुन्तकका ध्येय नहीं था। इनका वक्रोक्ति-जीवित ग्रन्थ इनके मौलिक सिद्धान्तका मण्डन करता है। उसका लक्ष्य ध्वनिका खण्डन करना उतना नहीं है जितना वक्रोक्तिका मण्डन करना। ये आनन्दवर्धनको बड़े सम्मानकी दृष्टिसे देखते हैं और उनके ध्वनि सिद्धान्तसे पूर्णतः परिचित हैं। परन्तु ध्वनिको ये वक्रोक्तिका ही प्रकारान्तर मानते हैं। रसकी उपयोगिता काव्यमें इन्होंने स्वीकार अवश्य की है परन्तु रस स्वतन्त्र काव्यतत्त्व न होकर वक्रोक्तिका ही एक भेदमात्र है।

४ **महिमभट्ट**—इनके ग्रन्थका नाम ही है 'व्यक्ति-विवेक' अर्थात् व्यक्ति या व्यंजनाका विवेचन। आरम्भके ही श्लोकमें इन्होंने ग्रन्थ लिखनेका उद्देश्य यह बतलाया है कि ध्वनिको अनुमानके अन्तर्गत बतलानेके लिये ही यह ग्रन्थ प्रस्तुत किया गया है[1]। इन्होंने 'ध्वंन्यालोक' की लक्षणवाली कारिका (१।१३)-को लेकर बड़ी ही सूक्ष्म रीतिसे उसका खण्डन किया है। आनन्दवर्धनके पहले ऐसा एक सम्प्रदाय था जो ध्वनिको लक्षणाके द्वारा सिद्ध मानता था। इसी मतका प्रकृष्ट मण्डन हम इस विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थमें पाते हैं। ध्वन्यालोकमें जो श्लोक ध्वनिके उदाहरण रूपसे दिए गए हैं उन्हें ये अनुमानके द्वारा ही सिद्ध करनेका उद्योग करते हैं। महिमभट्टके पाण्डित्यमें किसी प्रकारकी विमति नहीं है। इनके ध्वनि-खंडनपर कोई आस्था भले न करे परन्तु इन्होंने काव्यदोषोंका इतना मार्मिक तथा विदग्धता-पूर्ण विवेचन किया है कि ध्वनिवादी मम्मट भी उनको ग्रहण करनेसे पराङ्मुख नहीं हुए। मम्मटके दोष-प्रकरण पर महिमभट्टकी गहरी छाप स्पष्ट दीखती है।

१अनुमानान्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम्।
व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा परां वाचम्॥

व्यक्तिविवेक १।१।

६—औचित्य-सम्प्रदाय

संस्कृत आलोचनाकी आलोचक जगत्की महती देन है—औचित्य तत्त्व। यह साहित्य-शास्त्रका व्यापकतम सिद्धान्त है। इसे काव्यका जीवित या प्राण माननेका गौरव यद्यपि क्षेमेन्द्रको प्राप्त है, तथापि औचित्यकी कल्पना साहित्य जगत्में बहुत ही प्राचीन कालसे चली आ.ी थी। भरतके नाट्यशास्त्रमें ही सिद्धान्त रूपमें तो नहीं, परन्तु व्यवहार रूपमें औचित्यका विधान पाया जाता है। भरतका कहना है कि लोक ही नाट्यका प्रमाण है। लोकमें जो वस्तु जिस रूपमें, जिस वेशमें, जिस मुद्रामें उपलब्ध होती है उसका उसी रूपमें, उसी वेशमें, उसी मुद्रामें अनुकरण करना नाट्यका चरम लक्ष्य है। इसीलिये नाट्य शास्त्र प्रकृति-(पात्र) के भाषा-वेश आदिके विधानपर इतना जोर देता है। साधारणतया प्रकृति तीन प्रकारकी होती है—(१) दिव्य, (२) अदिव्य और (३) दिव्यादिव्य। इन तीनोंके स्वभावमें मूलतः वैलक्षण्य है। रंगमंचके ऊपर इनका यथार्थ विधान ही नाट्यकारकी कलाका चरम विकास है। दिव्य, देवता प्रकृतिके कार्य अदिव्य प्रकृतिमें कभी नहीं दिखलाए जा सकते और न उनके भाषण प्रकार मनुष्य मात्रमें ही सुसंगत हो सकते हैं। अनेक अध्यायमें भरतने इस विषयका सांगोपांग वर्णन किया है। इनसे स्पष्ट है कि भरत नाट्यमें औचित्यके विधानको परमावश्यक मानते थे। काव्यमें औचित्य तत्त्वकी कल्पनाका मूल स्रोत यही है।

इस प्रसंगमें भरतका यह श्लोक बड़ा ही सारगर्भित है—

> अदेशजो हि वेशस्तु न शोभां जनयिष्यति।
> मेखलोरसि बन्धे च हास्यायैव प्रजायते॥
>
> —नाट्यशास्त्र २३।६८

जिस देशका जो वेश है, जो आभूषण जिस अंगमें पहना जाता है उससे भिन्न देशमें उसका विधान करनेपर वह शोभा नहीं पाता। यदि

कोई पात्र करधनीको अपने गलेमें और हाथमें पहने तो वह उपहासका ही पात्र होगा। करधनीका स्थान है कमर। वहीं पहननेपर होती है उसकी उचित शोभा। करधनीको कमरमें न कसकर अगर मणिबन्धमें बांधनेका उद्योग किया जायगा, तो वह सहृदयोंके अट्टहासका ही भाजन बनेगा। यह पद्य स्पष्ट घोषित करता है कि हमारे आद्य आलोचक भरतको ललित-कलामें औचित्यका सिद्धान्त मान्य था।

औचित्यके सर्वमान्य आचार्य आनन्दवर्धन ही हैं जिन्होंने औचित्यकी काव्यमें पूर्ण गरिमाका अवगाहन किया था और रसभंगकी व्याख्याके अवसरपर यह मान्य तथ्य प्रतिपादित किया था—

अनौचित्याद् ऋते नान्यद् रसभंगस्य कारणम् ।
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषद् परा ॥

ध्वन्यालोक ।

अनौचित्य ही रसभंगका प्रधान कारण है। अनुचित वस्तुके सन्निवेशसे रसका परिपाक काव्यमें उत्पन्न नहीं होता। रसके उन्मेषका मुख्य रहस्य है औचित्यके द्वारा किसी वस्तुका उपनिबन्धन, काव्यमें कल्पना और विधान।

आनन्दवर्धनके टीकाकार अभिनवगुप्तने उन काश्मीरी आलोचकोंकी बड़ी खबर ली है जो ध्वनिके सिद्धान्तसे बिना सम्पर्क रखे औचित्यको ही काव्यकी आत्मा मानते थे। उन्होंने दिखलाया है कि ध्वनिकी सत्ताके बिना औचित्यका सिद्धान्त अप्रतिष्ठित रहता है। ध्वनिको छोड़कर औचित्य तत्त्वका उन्मीलन कथमपि युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता। अतः औचित्य तथा ध्वनि परस्परोपकारक तथ्योंके रूपमें काव्य जगत्में अवतीर्ण होते हैं।

अभिनव-गुप्तके साहित्य-शास्त्रमें प्रधान शिष्य क्षेमेन्द्र थे। ये स्वतः ध्वनिवादी थे, तथापि औचित्य-विचार-चर्चा नामक अपने ग्रन्थमें इन्होंने औचित्यको व्यापक काव्य-तत्त्वके रूपमें प्रतिष्ठित किया है। औचित्यको

यह महनीय स्थान देनेका श्रेय क्षेमेन्द्रको ही प्राप्त है। ग्रौचित्य किसे कहते हैं? उचितका जो भाव है वह ग्रौचित्य कहलाता है। जो वस्तु जिसके साथ सदृश हो, जिससे उसका मेल मिले उसे कहते हैं 'उचित' ग्रौर उचितका ही भाव होता है—ग्रौचित्य:—

उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्।
उचितस्य च यो भावः, तदौचित्यं प्रचक्षते॥

ग्रौचित्यविचारचर्चा—कारिका ७

यह ग्रौचित्य ही रसका जीवितभूत है, प्राण है तथा काव्यमें चमत्कार-कारी है।

ग्रौचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारुचर्वणे।
रसजीवितभूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना॥

वही—कारिका ३

क्षेमेन्द्रने इस ग्रौचित्यके ग्रनेक भेद किए हैं। पद, वाक्य, ग्रर्थ, रस, कारक, लिंग, वचन, ग्रादि ग्रनेक स्थलोंपर ग्रौचित्यका विधान दिखाकर तथा इसके ग्रभावको ग्रन्यत्र बतला कर क्षेमेन्द्रने साहित्य-रसिकोंका महान् उपकार किया है। उदा-हरणके लिए देखिए—

ग्रपसारय घनसारं कुरु हारं दूर एव किं कमलैः।
ग्रलमलमालि मृणालैरिति वदति दिवानिशं बाला॥

इस पद्यमें प्रस्तुत रस विप्रलम्भ शृंगार है। इसके प्रथमार्धमें रेफका ग्रनुप्रास तथा उत्तरार्धमें लकारका ग्रनुप्रास प्रकृत रसके नितान्त पोषक हैं। लकार-बहुल प्रयोग तथा गलितप्राय पदोंका विन्यास विप्रलम्भ शृंगारके सर्वथा उत्कर्षक होते हैं। यह हुग्रा ग्रलंकार-ग्रौचित्यका उदाहरण। इसके विपरीत टवर्गका ग्रनुप्रास शृंगार रसके सर्वथा प्रतिकूल होता है। इस बातपर बिना ध्यान

दिए हुए कवि राजशेखरने कर्पूरमंजरीकी विरह-व्यथाके वर्णन में जो यह टकार का व्यूह खड़ा किया है वह सर्वथा अनुचित है :—

चित्ते विहट्टदि ण टुट्टदि सा गुणेसु,
सज्जासु लोट्टदि विसट्टदि दिम्मुहेसु।
बोलम्मि वट्टदि पवट्टदि कव्वबन्धे,
झाठे ण टुट्टदि चिरं तरुणी तरट्टी ॥

इस प्रकार क्षेमेन्द्रने औचित्यको साहित्यशास्त्रमें व्यवस्थित रूप दिया है। परन्तु उन्हें ही इसका उद्भावक मानना भयंकर ऐतिहासिक भूल है। क्षेमेन्द्रने अपने विवेचनके लिये आनन्दवर्धन तथा भरतसे सामग्री एकत्रित की है; इसे विशेष प्रमाणोंसे पुष्ट करनेकी आवश्यकता नहीं। उनके द्वारा बताए गए औचित्यके सभी भेद 'ध्वन्यालोक'-में पूर्णतया विद्यमान हैं। क्षेमेन्द्रका यह महत्वपूर्ण पद्य भी भरतके पूर्वोक्त पद्यकी व्याख्या सी प्रतीत होता है। क्षेमेन्द्र कहते हैं कण्ठमें मेखला, नितम्बपर सुन्दर हार, हाथमें नूपुर, चरणमें केयूरपाश पहननेसे कौन व्यक्ति उपहासका पात्र नहीं बनता? इसी प्रकार शरणमें आए हुए व्यक्तिके ऊपर शूरता दिखलाना और शत्रुके ऊपर करुणा करना क्या किसी प्रकार औचित्यपूर्ण है? सच्ची बात तो यह है कि औचित्यके बिना न तो अलंकार ही कोई शोभा धारण करता है और न गुण ही रुचिकर प्रतीत होता है। अलंकार और गुणके शोभन होनेका रहस्य औचित्यके भीतर ही निहित है।

कण्ठे मेखलया, नितम्बफलके तारेण हारेण वा,
पाणौ नूपुरबन्धनेन, चरणे केयूरपाशेन वा।
शौर्येण प्रणते, रिपौ करुणया नायान्ति के हास्यतां,
औचित्येन विना रुचिं प्रतनुते नालंकृतिर्नो गुणाः ॥

आलोचना यंत्र

इस प्रकार भारतीय अलंकार-शास्त्रने आलोचना जगत्को तीन महनीय काव्य तत्त्वोंकी महत्त्वपूर्ण देन दी है? ये तत्त्व हैं—**औचित्य, रस और ध्वनि**। इनमें औचित्य सबसे अधिक व्यापक तत्त्व है। इसके बिना न तो रसमें सरसता है और न ध्वनिमें महत्ता औचित्यके तत्त्वपर साहित्य-शास्त्रका समग्र सिद्धान्त आश्रित है। इसे महोमहोपाध्याय डा० कुप्पुस्वामी शास्त्रीने अपने निम्नांकित यन्त्रमें बड़ी सुन्दर रीतिसे दिखलाया है[1]।

यह यन्त्र साहित्यशास्त्रके सम्प्रदायोंका एकत्र प्रकाशक है। भारतमें साहित्य-सिद्धान्तोंका इतिहास औचित्यसे आरम्भ कर अलंकार तकका विकास है। इसके भीतर एक बड़ा तथा दूसरा छोटा वृत्त है। बड़ा वृत्त औचित्यका प्रतिनिधि है। औचित्य ही भारतीय साहित्य शास्त्रका सबसे बड़ा काव्य-तत्त्व है। इस बड़े वृत्तके भीतर एक बड़ा त्रिकोण है जिसका शीर्ष स्थान है रस और ध्वनि एवं अनुमिति, आधार-रेखाके दोनों छोर हैं। इसका अर्थ यह है कि भारतीय साहित्यमें रस ही सबसे अधिक उपादेय तत्त्व है। इसे ध्वनिवादी आनन्दवर्धन भी काव्यकी आत्मा मानते हैं तथा ध्वनिविरोधी आलोचक कुन्तक और महिम-भट्ट भी काव्यमें इसके महत्त्वको स्वीकार करते हैं। आधार रेखाके एक छोरपर है ध्वनि और दूसरे छोरपर है अनुमिति। ये दोनों रसकी व्याख्या करनेवाले भिन्न-भिन्न सिद्धान्त हैं। ध्वनिमतके उद्‌भावक हैं आनन्दवर्धन जिनके अनुसार रसकी अभिव्यक्ति व्यंजना शक्तिके द्वारा होती है। अनुमिति ध्वनिविरोधी सकल सम्प्रदायोंका

---

१. Kuppu Swami Shastri—Highways and Byways of Literary Criticism in Sanskrit pp. 27—31 (Madras 1945)

प्रतिनिधि हैं। अनेक आचार्योंने व्यंजना-शक्तिका खण्डन करते हुए रसकी प्रतीति भिन्न ही प्रकारसे स्वीकृत की है। भट्टनायकने भोजकत्व व्यापारके द्वारा रसकी व्याख्या की, तो महिमभट्टने अनुमितिके द्वारा रसका विवरण प्रस्तुत किया है। ये दोनों आचार्य ध्वनिके उदयके समकालीन हैं। इस बड़े त्रिकोणके द्वारा काव्यके अन्तरंग तत्त्व अर्थात् प्राणभूत सिद्धान्तोंकी समीक्षा है।

भीतरी छोटा वृत्त काव्यके बाह्य रूपका विवेचन करता है। इस वृत्तकी परिधि है वक्रोक्ति। इसका अर्थ यह है कि इस वृत्तके भीतर त्रिकोण द्वारा जिन काव्य-तत्त्वोंका निदर्शन किया गया है उन सबको व्याप्त कर वक्रोक्ति स्थित रहती है। इस वृत्तके भीतर छोटा त्रिकोण है जिसका शीर्ष-बिन्दु रीति है, आधार बिन्दु गुण और अलंकार हैं। रीतिको काव्यकी आत्मा माननेवाले आचार्य हैं वामन और गुणोंको काव्यमें महत्त्व देनेवाले आचार्य दण्डी हैं। काव्यमें अलंकारकी प्रधानताको स्वीकार करनेवाले आचार्य भामह हैं। गुण और अलंकार-दोनोंका सम्प्रदाय प्रायः एक ही समयमें उत्पन्न हुए। कालक्रमके अनुसार भामहका अलंकार-सम्प्रदाय दण्डीके गुण-सम्प्रदायसे प्राचीन है। रीति, गुण और अलंकार—ये तीनों काव्यके बहिरंग साधन हैं। इन तीनों गुणोंका वक्रोक्तिपर आश्रित होना नितान्त आवश्यक है। वक्रोक्तिकी कल्पनाको अग्रसर करनेवाले आचार्य कुन्तक हैं। यह कहना न होगा कि वे वक्रोक्तिके भीतर ही अन्य काव्य-तत्त्वोंका समावेश मानते हैं। इस प्रकार इस यन्त्रमें अलंकार-शास्त्रके पूर्वोक्त छओं सम्प्रदायोंका पारस्परिक संबंध व्यवस्थित रूपसे दिखाया गया है। इस यन्त्रके ठीक अनुशीलनसे भारतीय-साहित्य-शास्त्रके समस्त सिद्धान्तोंका तुलनात्मक महत्त्व सरलतासे समझमें आ जाता है।
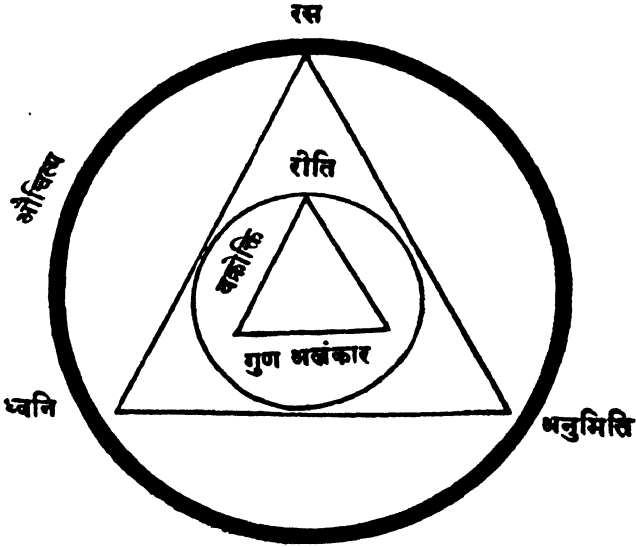
औचितीमनुधावन्ति सर्वे ध्वनिरसोन्नयाः ।
गुणालंकृतिरीतीनां नयाश्चानृजुवाङ्मयाः ॥

कवि-रहस्य

सत् कविरसनाशूर्पी—

निस्तुषतर-शब्दशालिपाकेन ।

तृप्तो दयिताधरमपि

नाद्रियते का सुधा दासी ॥

*

अवयः केवलकवयः

केवल-कीरास्तु केवलं धीराः ।

कवयः पण्डितकवयः

तानवमन्ता तु केवलं गवयः ॥

कवि

काव्यके कविकर्म होनेके कारण उसकी रचना करनेवालेको 'काव्य'के स्वरूप-ज्ञानके निमित्त 'कवि'की रूपोपलब्धि नितान्त आवश्यक है। 'कवि' शब्द 'कु वर्णे' अथवा 'कुङ शब्दे' धातुसे औणादिक इ प्रत्यय जोड़कर निष्पन्न होता है (अच इः—उणादि सूत्र ४।१३८)। राजशेखरकी सम्मतिमें कवि शब्दकी निष्पत्ति 'कव् वर्णे' धातुसे हुई है और इसीलिए वे 'कवि'का अर्थ वर्णनकर्ता मानते हैं। 'कौति शब्दायते विमृशति रसभावानिति कविः' इति भट्टगोपालः। कवि रस तथा भावका विमर्शक होता है। वह चिड़ियोंकी तरह चहकता है। पक्षियोंके कलकूजनके समान कविका भी कूजन हमारे श्रवणोंमें सुधाधारा प्रवाहित करता है। उसके कूजन (काव्य)के मधुर अर्थसे हम परिचित भले ही न हों, पर सत्कविकी भणिति श्रोताओंके कानोंमें उसी प्रकार सुधा उड़ेलने लगती है जिस प्रकार मालतीकी माला जिसके सुभग सौरभकी मादकता दर्शकों तक पहुँचे भी बिना लोगोंके नेत्रोंको हठात् अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है—

> अविदितगुणापि सत्कवि-
> भणितिः कर्णेषु वमति मधुधाराम्।
> अनधिगतपरिमलापि हि
> हरति दृशं मालतीमाला॥

(सुबन्धु-वासवदत्ता, श्लोक ११)

परन्तु अधिकांश भारतीय आलोचकोंकी दृष्टिमें 'कवि'का प्रधान कार्य होता है वर्णन। मम्मटके मतमें 'काव्य' लोकोत्तरवर्णनामें निपुण कविका कर्म होता है (लोकोत्तरवर्णना-निपुणं कविकर्म) अर्थात् वस्तुके यथावस्थित रूपके वर्णनमें कविके कवित्वका पर्यवसान नहीं होता, प्रत्युत उसके वर्णनमें लोकोत्तरताका, अतिशयका पुट सर्वदा वर्तमान रहता है। भट्ट तौत भी कविको 'वर्णनानिपुण' बतलाते हैं। तथ्य यह है कि कविका प्रधान कार्य होता है किसी वस्तुका, किसी घटनाका लोकोत्तर रूपसे वर्णन। बिना वर्णनके कविका यथार्थ रूप विकसित नहीं होता। कवि क्रान्तदर्शी होता है—**कवयः क्रान्तदर्शिनः**। अतीत और अनागत, व्यवहित तथा प्रतिबद्ध वस्तुओंका दर्शन नैसर्गिक कविके लिये स्वतः सिद्ध है। कविके साथ तत्त्वज्ञताका अविनाभाव सम्बन्ध रहता है। वस्तुके अन्तर्निहित तत्त्वका ज्ञान हुए बिना कवि कवि नहीं हो सकता। वस्तुके बाहरी आवरणोंको हटाकर वस्तुके अन्तस्तल तक पहुंचना कविके लिए परमावश्यक होता है। वह कवि नहीं है प्रत्युत 'हठादाकृष्टानां कतिपयपदानां रचयिता' है, इधर-उधरसे नोंच-खसोटकर कविताकी काया तुन्दिल करनेवाला तुक्कड़ है जो वस्तुके ऊपरी सतहपर ही तैरता रहता है और उसके भीतरी स्तर तक न तो पहुंच सकता है और न पहुंचता है। अतः **दर्शन** सत्कविके लिये सबसे प्रथम आवश्यक गुण है। परन्तु द्रष्टा होनेपर भी व्यक्ति कवि नहीं हो सकता, जबतक अपने प्रातिभ चक्षुसे अनुभूत दर्शनको शब्दोंका कमनीय कलेवर देकर उसे प्रकट नहीं करता। भावोंकी शाब्दिक अभिव्यक्ति कविके लिये उतनी ही प्रयोजनीय है जितना उन भावोंका दर्शन। **कवित्वके दो आधार-स्तम्भ है—दर्शन और वर्णन**। इन दोनोंके पूर्ण होनेपर ही सत्कवित्वका उन्मेष होता है। वाल्मीकि महर्षि थे, तत्त्वोंके द्रष्टा थे परन्तु जबतक उन्होंने अपने अनुभूत ज्ञानको शब्दके माध्यमके द्वारा प्रकट नहीं किया तबतक उन्हें कविकी महनीय संज्ञा प्राप्त नहीं हुई। न जाने कितनी बार

विभिन्न भावोंने उनके हृदयको अपना निकेतन बनाया होगा परन्तु कविकी संज्ञा उन्हें तभी प्राप्त हुई जब क्रौञ्चीके करुण स्वरसे उनका कारुणिक हृदय पिघल उठा और उनका आन्तरिक शोकभाव श्लोकके माध्यमसे बाहर फूट पड़ा।

आचार्य अभिनवगुप्तके विद्यागुरु भट्टतौतने कविके स्वरूपके विवेचनमें बड़े पतेकी बात कही है कि कवि 'अनृषि' नहीं होता—कवि ऋषि ही होता है। मन्त्रका द्रष्टा पुरुष ही 'ऋषि' की महनीय उपाधि धारण करता है—ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः। कवि दर्शनयुक्त होनेके कारण ही 'ऋषि' कहलाता है। वस्तुके विचित्र भावको, अन्तर्निहित धर्मको तत्त्वरूपसे जानना ही दर्शन कहलाता है। शास्त्रमें इसी तत्त्व-दर्शनके कारण कवि कविके नामसे अभिहित होता है। परन्तु लोकमें कविकी संज्ञा दर्शन तथा वर्णनके कारणसे एक विशिष्ट अर्थमें रूढ़ है। कवि वही है जिसमें दर्शनके साथ वर्णनका मञ्जुल संयोग रहता है। संस्कृतके आदिकवि महर्षि वाल्मीकिका उदाहरण ही इस सिद्धान्तकी पुष्टिमें भलीभांति दिया जा सकता है। उनका दर्शन स्वच्छ था, नित्यरूपसे उन्हें प्राप्त था परन्तु लोकमें उनकी कविता तबतक उदित नहीं हुई जबतक उन्होंने अपने दर्शन को वर्णनका रूप नहीं दिया। दर्शन है आन्तरिक गुण और वर्णन है बाह्य गुण। इन दोनोंके मञ्जुल सामञ्जस्य होनेपर ही कविताकी स्फूर्ति होती है। दर्शन तथा वर्णनका संमिश्रण ही काव्य-कलाके चरम विकासका आधारपीठ है। भट्टतौतका यह सिद्धान्त बड़ा ही मौलिक तथा तथ्यपूर्ण है:—

नानृषिः कविरित्युक्तं ऋषिश्च किल दर्शनात्।
विचित्रभावधर्मांशतत्त्वप्रख्या च दर्शनम्॥
स तत्त्वदर्शनादेव शास्त्रेषु पठितः कविः।
दर्शनात् वर्णनाच्चाथ रूढा लोके कविश्रुतिः॥

तथाहि दर्शने स्वच्छे नित्येऽप्यादिकवेर्मुनेः ।
नोदिता कविता लोके यावज्जाता न वर्णना[1] ॥

प्रतिभाके सहारे कवि काव्यजगत्का स्रष्टा होता है । इस सृष्टि-कार्यमें उसकी श्लाघनीय शक्तिका नाम है प्रतिभा । ब्राह्मी सृष्टिकी अपेक्षा कविसृष्टिमें निजी वैशिष्ट्य है, सातिशय वैलक्षण्य है । ब्रह्मा अपने सृष्टिकार्यमें एकान्त स्वातन्त्र्यका अनुभव नहीं करता, प्रत्युत वह प्राणियोंके कर्मके अनुसार ही सृष्टि-रचनामें प्रवृत्त होता है, परन्तु कवि अपनी सृष्टिमें नितान्त स्वतन्त्र होता है । उसकी रुचि जिधर झुकती है, मन जिधर तरंगित हो उठता है, वैसी ही सृष्टि वह झट प्रस्तुत कर देता है--

अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः ।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ॥

--ध्वन्यालोक

कवि वह जादूगर है जिसके जादूके सामने जगत्का प्रत्येक पदार्थ रसभावसे सम्पन्न दीखने लगता है । वस्तु कितनी भी नीरस क्यों न हो, रस-तात्पर्यवाले कविके हाथ लगते ही उसमें विलक्षण परिवर्तन हो जाता है---वह विचित्र रूपसे आकर्षक बन जाती है, रस-सम्पत्तिसे मण्डित

---

१. ये श्लोक भट्टतौत रचित 'काव्यकौतुक' नामक ग्रन्थके प्रतीत होते हैं । यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ आजतक उपलब्ध नहीं हुआ है । इस ग्रन्थके महत्त्वका परिचय इसी घटनासे लग सकता है कि 'ध्वन्यालोक-लोचन'के रचयिता अभिनवगुप्तने इस ग्रन्थपर टीका लिखी थी । दुर्भाग्यवश मूलग्रन्थके समान यह टीका भी अनुपलब्ध है । इन श्लोकोंको हेमचन्द्रने अपने 'काव्यानुशासन' पृ० ३१६ में उद्धृत किया है ।

होकर वह निरतिशय सरस तथा आह्लादक हो जाती है।[1] इसलिये कविके उपकरणकी अवधि नहीं होती। कवि अपने काव्यकी सामग्री समस्त विश्वसे ग्रहण करता है और अपनी शक्तिके प्रभावसे उसमें नाना प्रकारका वैचित्र्य उत्पन्न कर देता है। इसीलिये कवियोंकी महनीय परम्पराको देखकर भी नीलकण्ठ कवि हताश नहीं होते। उनका कथन है कि कवियोंकी इस लम्बी लकीरको देखकर मुझे सरस्वतीका वैभव खाली जान पड़ता है। परन्तु सरस्वती-मन्दिरमें प्रवेश कर देखनेसे तो यही प्रतीत होता है कि कविकोटि इसके एक कोनेमें ही पड़ी हुई है—मन्दिरका पूरा आंगन नवीन कवियोंके उपयोगके लिये अभी पूरा खाली पड़ा हुआ है। सचमुच प्रतिभाशाली कविके लिय न तो विषयकी कमी है और न कल्पनाका ह्रास। शारदाका यह विशाल मन्दिर उसके लिये सावकाश बना हुआ है—

पश्येयमेकस्य कवेः कृतिं चेत्
सारस्वतं कोषमवैमि रिक्तम्।
अन्तः प्रविश्यायमवेक्षितश्चेत्
कोणे प्रविष्टा कविकोटिरेषा॥

—शिवलीलावर्ण १।१८

कविके लिये इससे बढ़कर महत्त्वकी बात ही क्या हो सकती है कि भगवती श्रुति भी उस अखण्ड ब्रह्माण्डनायकको 'कवि'के ही नामसे पुकारती है, न उसे 'शाब्दिक' कहती है न 'तार्किक'। इस जगत्‌का निर्माता तथा नियन्ता न 'वैयाकरण' कहा गया है न 'नैयायिक', परन्तु कहा

---

१. तस्मान्नास्त्येव तद् वस्तु यत् सर्वात्मना रसतात्पर्यवतः कवेः तदिच्छया तदभिमत–रसाङ्गतां न धत्ते। तथोपनिबध्यमानं वा न चारुत्वातिशयं पुष्णाति।

—ध्वन्यालोक पृ० ४९८ (काशी सं०)

गया है 'कवि'। 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः' आदि उपनिषद् वाक्य इसके यथार्थ पोषक हैं। इसीलिये भारतीय संस्कृतिमें कविका आदर सर्वतोभावेन विराजमान है। यह 'कवि' के लिए भूषणकी बात है—

स्तोतुं प्रवृत्ता स्तुतिरीश्वरं हि
न शाब्दिकं प्राह न तार्किकं वा।
ब्रूते तु तावत् कविरित्यभीक्ष्णं
काष्ठा परा सा कविता ततो नः ॥

—शिवलीलार्णव १।१६

१—काव्यहेतु

कविके लिये काव्यका प्रधान साधन है **प्रतिभा**। संस्कृतके आद्य आलंकारिक भामहकी सम्मतिमें शास्त्र और काव्यके अध्येताओंमें यही अन्तर रहता है कि जड़बुद्धिवाला भी पुरुष गुरुके उपदेशसे शास्त्र अच्छी तरह पढ़ सकता है। परन्तु काव्यकी स्फूर्ति उसी व्यक्तिको होती है जो प्रतिभासे सम्पन्न होता है। गुरुके लाख उपदेश देनेपर भी शिष्यके हृदयमें काव्यका अंकुर उत्पन्न नहीं हो सकता यदि उसमें प्रतिभाका अभाव रहता है:—

गुरूपदेशादध्येतुं शास्त्रं जडधियोप्यलम् ।
काव्यं तु जायते जातु कस्यचित् प्रतिभावतः ॥

प्रतिभा-सम्पन्न कवि ही ऐसी कविता कर सकता है जिसमें एकपद भी निन्दनीय न हो। क्योंकि दोषयुक्त काव्यकी रचना करनेवाला कवि उसी प्रकार निन्दनीय होता है जिस प्रकार दुष्ट पुत्रके द्वारा पिता[१]। यदि कोई व्यक्ति कवि नहीं है, तो इससे उसे न तो किसी रोगका शिकार बनना पड़ता है न अधर्म के कीचड़में ही फँसना पड़ता है और न कोई सजा भुगतनेकी नौबत आती है। परन्तु कुकवित्व तो साक्षात् मरण है।[२] इस साहित्यिक मृत्युसे वही व्यक्ति अपनी रक्षा कर सकता है जो प्रतिभाकी सम्पत्तिसे सम्पन्न रहता है। अकवित्व बुरी चीज नहीं, बुरा सौदा

---

१. सर्वथा पदमप्येकं न निगाद्यमवद्यवत् ।
विलक्ष्मणा हि काव्येन दुस्सुतेनेव निन्द्यते ॥
—काव्यालंकार १। ११

२. अकवित्वमधर्माय व्याधये दण्डनाय वा ।
कुकवित्वं पुनः साक्षात् मृतिमाहुर्मनीषिणः ॥
वही १। १२

नहीं, परन्तु कुकवित्व तो साक्षात् मृत्यु है। इस प्रकार भामहने काव्य-हेतुओंमें सबसे श्रेष्ठ स्थान प्रतिभाको ही प्रदान किया है।

प्रतिभा

प्रतिभाका सबसे सुन्दर लक्षण भट्टतौतने दिया है। **प्रज्ञा नवन-वोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता**—नये नये अर्थोंका उन्मीलन करनेवाली प्रज्ञा ही प्रतिभा कहलाती है। कुन्तकके अनुसार पूर्व जन्म तथा इस जन्मके संस्कारके परिपाकसे पुष्ट होनेवाली कोई कवित्व शक्ति ही प्रतिभा है।—"**प्राक्तनाद्यतनसंस्कार-परिपाकप्रौढ़ा प्रतिभा काचिदेव कविशक्तिः।**"[1] वामनके अनुसार प्रतिभान या प्रतिभा कवित्वका बीज है। जिस प्रकार बीजसे अभिनव पदार्थकी स्फूर्ति होती है वही कार्य प्रतिभाके द्वारा भी होता है। प्रतिभा है क्या? यह पूर्व जन्मसे आने-वाला विशिष्ट संस्कार है। यह वासना रूपसे कवि हृदयमें निवास करता है। प्रतिभाके बिना काव्य निष्पन्न ही नहीं होता और यदि निष्पन्न हुआ भी तो वह काव्य उपहासका पात्र बनता है[2]। वामनका यह तथ्य कथन प्रतिभाकी काव्यमें गहरी उपादेयताका पुष्ट परिचायक है।

भट्टगोपालके अनुसार प्रतिभा कवित्वका बीज अर्थात् उपादानरूप संस्कार विशेष है। जिस प्रकार वृक्षको देखनेसे बीजकी कल्पना की जाती है उसी प्रकार काव्यरूपी कार्यके द्वारा इस वासना शक्तिकी सत्ताका

---

१. व० जी० पृ० ४६

२. कवित्व बीजं प्रतिभानम्। १।३।१६

कवित्वस्य वीजं कवित्वबीजम्, जन्मान्तरागत-संस्कारविशेषः कश्चित्। यस्माद्विना काव्यं न निष्पद्यते। निष्पन्नं वा हास्याऽऽयतनं स्यात्॥

वामन—काव्यालंकार सूत्र १।३।१६ सूत्रपर वृत्ति

अनुमान किया जाता है[1]। राजशेखरके अनुसार प्रतिभा वह शक्ति है जो कविके हृदयमें शब्दके समूहको, अर्थके समुदायको, उक्तिके मार्गको तथा इसी प्रकार अन्य काव्यकी सामग्रीको प्रतिभासित करती है। प्रतिभा-हीन व्यक्तिके लिये पदार्थ परोक्ष ही रहता है। परन्तु प्रतिभायुक्त व्यक्ति नेत्र-शक्तिसे विहीन होनेपर भी पदार्थोंको प्रत्यक्षके समान देखता है और वर्णन करता है। राजशेखरने एक बड़े ऐतिहासिक तथ्यका परिचय इस प्रसंगमें दिया है। वे कहते हैं कि मेधाविरुद्र और कुमारदास आदि कवि जन्मसे ही अन्धे थे परन्तु उनके काव्योंमें सांसारिक पदार्थोंका वर्णन जो इतना सचित्र और सटीक है वह प्रतिभाके ही विलासका फल है[2]।

इन विभिन्न आचार्योंके मतानुसार **प्रतिभा एक जन्मान्तरीय संस्कार-विशेष है**—ऐसा मानस धर्म है जो दूसरे जन्ममें होनेवाले कवित्वके संस्कारके परिपाक होनेपर उत्पन्न होता है। इसीके बलपर कवि उन वस्तुओंके वर्णनमें भी समर्थ होता है, उन तत्त्वोंके उन्मीलनमें भी कृतकृत्य होता है जो साधारण मानव-बुद्धिसे कथमपि साध्य नहीं होते। संस्कृतके समग्र आलंकारिकोंने प्रतिभाको कवित्वका बीज माना है। प्रतिभाके सहारे ही महाकवि कालिदासने [3]शाकुन्तलमें हेमकूट पर्वतपर होनेवाले उन अद्भुत

१. कवित्वस्य लोकोत्तरवर्णनानैपुण्यलक्षणस्य बीजमुपादानस्थानीयः संस्कारविशेषः। कार्यकल्पनीया काचिद्वासनाशक्तिः।

वही—१।३।१६ की टीका.

२. या शब्दग्राममर्थसार्थमलंकारतन्त्रमुक्तिमार्गमन्यदपि तथा-विधमधिहृदयं प्रतिभासयति सा प्रतिभा। अप्रतिभस्य पदार्थ-सार्थः परोक्ष इव। प्रतिभावतः पुनरपश्यतोऽपि प्रत्यक्ष इव। यतो मेधाविरुद्र-कुमारदासादयो जात्यन्धाः कवयः श्रूयन्ते॥

काव्यमीमांसा, अध्याय ४, पृ० ११-१२

३. शाकुन्तल अंक ७।१२

व्यापारोंका तथा [1]मेघदूतमें अलका पुरीके उन विलक्षण दृश्योंका वर्णन किया है जो भारतवर्षमें रहनेवाले कविके द्वारा कथमपि दृष्ट नहीं हो सकते।

भामहके अनन्तर दण्डीने काव्य-साधक हेतुओंमें प्रतिभाके साथ शास्त्र-ज्ञान तथा अभ्यासको भी आवश्यक माना है। उनकी सम्मतिमें केवल प्रतिभा काव्यकी स्फूर्तिके लिये समर्थ नहीं होती। उसके साथ निर्मल शास्त्र तथा अमन्द अभियोगका सहयोग भी उतना ही आवश्यक है[2]। प्रतिभा तो पूर्व जन्मकी वासनाके गुणोंपर आश्रित रहती है। यदि किसी कविको प्रतिभाकी देन नहीं मिली है तो दण्डी उसे निरुत्साहित होकर काव्य-कलासे पराङ्मुख होनेकी सलाह नहीं देते। वे यह भी आग्रह करते हैं कि यदि शास्त्रसे तथा यत्नसे कविताकी उपासना की जाय, तो सरस्वती उस कविके ऊपर अपनी अनुकम्पा अवश्यमेव दिखलाती है[3]। इस प्रकार दण्डीकी सम्मतिमें कविके लिये प्रतिभा, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास इन तीनों का योग होना नितान्त आवश्यक होता है।

वामन

वामन भी इस विषयमें दण्डीके ही अनुयायी प्रतीत होते हैं। वे प्रतिभा को **प्रतिभान** शब्दके द्वारा अभिहित कर उसे कवित्वका बीज मानते

---

१. मेघदूत-उत्तरभाग।

२. नैसर्गिकी च प्रतिभा, श्रुतञ्च बहु निर्मलम्।
अमन्दश्चाभियोगश्च, कारणं काव्यसम्पदः॥
दण्डी—काव्यादर्श १।१०३

३. न विद्यते यद्यपि पूर्व वासना,
गुणानुबन्धि प्रतिभानमद्भुतम्।
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता,
ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम्॥
दण्डी—काव्यादर्श १।१०४

है। इसके अतिरिक्त काव्योंसे परिचय, काव्य-रचनामें उद्यम, काव्योपदेश करनेवाले गुरुकी सेवा तथा विविध शास्त्रोंका ज्ञान भी काव्यकी अभिव्यक्तिमें कारण मानते हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने अवधान—चित्त की एकाग्रता—को भी काव्य-रचनाका सहायक स्वीकार किया है। एकाग्र चित्तवाला व्यक्ति ही अर्थोंका साक्षात्कार करता है तथा अपने काव्यमें उसे निबद्ध करता है। इस विषयमें वामन बहुत ही व्यावहारिक प्रतीत होते हैं। वे कहते हैं कि अवधान देश और कालसे उत्पन्न होता है। एकान्त तथा निर्जन स्थानमें एवं ब्राह्म मुहूर्तमें चित्त आपसे आप प्रसन्न होता है। ऐसे स्थान तथा ऐसे समयमें कविताकी उपासना करनेवाला साधक अपने मनोरथमें निःसन्देह सिद्ध होता है[1]। वामनका यह उपदेश आज भी हमारे लिए उसी प्रकार माननीय तथा उपादेय है जिस प्रकार से यह प्राचीनकालमें था। अवधान कवित्वका महनीय साधन है।

रुद्रट

रुद्रटने भी काव्य-कारणोंमें प्रतिभा, व्युत्पत्ति तथा अभ्यासको एक कारण माना है। प्रतिभाके स्थानपर वे 'शक्ति' को काव्यका प्रधान हेतु मानते हैं। एकाग्रचित्त होनेपर अर्थोंका अनेक प्रकारसे विस्फुरण होता है तथा कमनीय पद स्वयं कविके सामने प्रतिभासित होते हैं। जिस पदार्थ के द्वारा यह अपूर्व घटना घटित होती है उसीका नाम शक्ति है :—

मनसि सदा सुसमाधिनि, विस्फुरणमनेकधाभिधेयस्य।
अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः॥

रुद्रट—काव्यालंकार १।१५

---

१. तत्र काव्यपरिचयो लक्ष्यज्ञत्वम्। काव्यबन्धोद्यमोऽभियोगः। काव्योपदेशगुरुशुश्रूषणं वृद्धसेवा। पदाधानोद्धरणमवेक्षणम्। कवित्वबीजं प्रतिभानम्। चित्तैकाग्र्यमवधानम्। तद्देशकालाभ्याम्।

वामन—काव्यालंकार १।३।१२—१८

आनन्दवर्धन

आनन्दवर्धनकी सम्मतिमें व्युत्पत्ति तथा प्रतिभा दोनों काव्य-साधनोंमें प्रतिभा ही श्रेयस्कर है। शास्त्रकी व्युत्पत्ति न रखनेवाला कवि अपने काव्यमें अनेक दोषोंका सम्पादन कर बैठता है। इन समस्त प्रतिभा-दोषोंको दूर कर देती है। दोष दोनों तरहसे उत्पन्न होते हैं, अशक्तिसे भी तथा अव्युत्पत्तिसे भी। जिस प्रकार प्रतिभासे रहित कवि अनेक दोषोंका उत्तरदायी होता है उसी प्रकार व्युत्पत्तिहीन कविकी भी दशा है। परन्तु इन दोनोंमें पहिले प्रकारका दोष बड़ा ही जघन्य होता है। उसकी तुलनामें दूसरे प्रकारका दोष अकिञ्चित्कर है। प्रतिभाके प्रबल समर्थक आनन्दकी उक्ति नितान्त सुव्यक्त है:—

> अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः।
> यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य झगित्येवावभासते ॥

—ध्वन्यालोक।

आचार्य मंगल

आनन्दसे ठीक विपरीत मत है आचार्य मंगलका, जो प्रतिभा और व्युत्पत्तिमें व्युत्पत्तिको ही श्रेष्ठ मानते हैं। व्युत्पत्ति शब्दका अर्थ है बहुज्ञता। व्युत्पत्तिके बलपर ही कवि-वचनकी एकदिशा नहीं होती। वे सब दिशाओंमें अव्याहत गतिसे फैलते हैं। अभ्यस्त विषयमें तथा प्रत्यक्षीकृत विषयमें किस कविकी वाणी प्रवृत्त नहीं होती? कविने जिस विषयको स्वयं देखा है तथा जिसका अभ्यास स्वयं किया है उसका वर्णन वह किसी न किसी प्रकार कर ही सकता है तथा करता भी है। परन्तु यह क्या कविता है? कवि-वाणीके लिये कोई प्रतिबन्ध नहीं रहता, कोई आवरण नहीं होता। वह इस जगत्के प्रत्येक स्थानको, प्रत्येक दिशाको स्पर्श करती हुई प्रवाहित होती है और यह तभी सम्भव है जब कवि

शास्त्रोंमें व्युत्पत्ति प्राप्त करता है[1]। इसीलिये आचार्य मंगल व्युत्पत्तिको प्रतिभासे श्रेष्ठ मानते हैं। व्युत्पत्ति ही कविके अशक्तिजन्य सभी दोषोंको आच्छादित कर देती है[2]।

राजशेखर

महाकवि राजशेखरने इस विषयमें अपने मतको प्रकट करते हुए कतिपय प्राचीन आलंकारिकोंके मतोंका भी उल्लेख किया है। वे कहते हैं कि श्यामदेव नामक आलंकारिकके मतमें काव्यकर्ममें सबसे अधिक सहायक वस्तु है समाधि–चित्तकी एकाग्रता[3]। समाहित होनेवाला चित्त ही अर्थोंका उन्मीलन करता है। सारस्वत–रहस्य–काव्यनिर्माण-का उन्मेष तभी होता है जब कवि उसकी आराधना मनोयोगसे करता है। इसकी सिद्धिका सबसे बड़ा उपाय यही है कि पदार्थोंको भलीभांति जानने-वाले चित्तको काव्यकलाकी ओर एकाग्र किया जाय[4]। आचार्य मंगलकी

---

१. प्रसरति किमपि कथञ्चन,
नाभ्यस्ते गोचरे वचः कस्य।
इदमेव तत्कवित्वं,
यद्वाचः सर्वतोदिक्काः ॥
काव्यमीमांसा अ. ५, पृ० १६

२. कवेः सम्व्रियतेऽशक्तिर्व्युत्पत्त्या काव्यवर्त्मनि।
वैदग्धी–चित्रचित्तानां हेया शब्दार्थगुम्फना ॥
वही।

३. काव्यकर्मणि कवेः समाधिः परं व्याप्रियते। इति श्यामदेवः।
वही–अ० ४ पृ० ११

४. सारस्वतं किमपि तत्सुमहारहस्यं
यद्गोचरे च विदुषां निपुणैकसेव्यम्।
तत्सिद्धये परमयं परमोऽभ्युपायो,
यच्चेतसो विदितवेद्यविधेः समाधिः ॥
वही–अं० ४ पृ० ११

सम्मति इस विषयमें भिन्न[१] है। वे अभ्यासको ही काव्य-कर्ममें सबसे अधिक उपयोगी साधन मानते हैं। राजशेखरका मत इन दोनोंसे भिन्न है। वे शक्तिको ही काव्य-कलाके उन्मीलनमें प्रधान हेतु मानते हैं[२]। वे समाधि तथा अभ्यास दोनोंको शक्तिका उद्भासक मानते हैं। केवल शक्ति ही काव्यमें हेतु होती है। शक्तिका विस्तार प्रतिभा और व्युत्पत्ति-के द्वारा होता है और शक्तिके द्वारा प्रतिभा और व्युत्पत्तिका विकास होता है। शक्तिसम्पन्न पुरुषको ही वस्तुओंका प्रतिभास होता है तथा वही पुरुष शास्त्रमें व्युत्पत्तिलाभ करता है। इसलिये प्रतिभा और व्युत्पत्तिकी जननी होनेके कारण राजशेखर शक्तिको ही काव्यके लिये सबसे अधिक उपादेय कारण मानते हैं। इस विषयमें उनका मत बहुत कुछ रुद्रटसे मिलता है। इनके मतका स्पष्ट विवरण इस प्रकार है:—
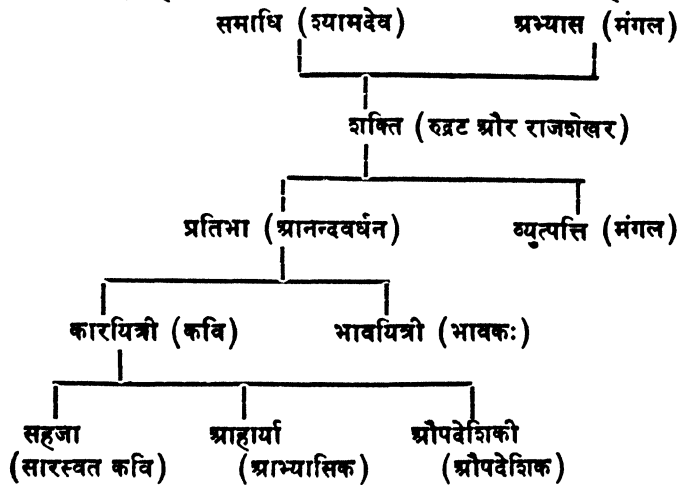
१. "अभ्यासः" इति मंगलः। वही

२. सा (शक्तिः) केवलं काव्ये हेतुः इति यायावरीयः। विप्रसृतिश्च सा प्रतिभाव्युत्पत्तिभ्याम्। शक्ति—कर्तृके हि प्रतिभा-व्युत्पत्तिकर्मणी। शक्तस्य प्रतिभाति शक्तश्च व्युत्पद्यते ॥ वही

राजशेखरने प्रतिभाको दो भागोंमें विभक्त किया है—कारयित्री और भावयित्री। कविको काव्य-कर्ममें उपकार करनेवाली प्रतिभा कारयित्री कही जाती है। इसीके बलपर कवि नवीन अर्थकी कल्पना करता है तथा उन्हें शब्दोंका मञ्जुल वस्त्र पहनाकर सहृदयोंके मनोरंजनके लिये उपस्थित करता है। भावयित्री प्रतिभा वह है जिसकी सहायतासे भावक या आलोचक कविके श्रम और अभिप्राय समझनेमें कृतकार्य होता है। इस प्रकार राजशेखरकी सम्मतिमें आलोचना-कर्म उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना कवि-कर्म। आलोचक वही हो सकता है जो भावयित्री प्रतिभासे सम्पन्न हो। उचित भी यही प्रतीत हो रहा है। जिस शक्तिके बलपर कवि काव्य-रचनामें समर्थ होता है उसी शक्तिके बलपर उस काव्य-रचनाका मूल्यांकन करना भी उचित ही है।

कारयित्री प्रतिभाको राजशेखरने तीन भागोंमें विभक्त किया है—(१) सहजा, (२) आहार्या और (३) औपदेशिकी। सहजा शब्दका अर्थ है जन्मके साथ उत्पन्न होनेवाली वस्तु। जो प्रतिभा पूर्व जन्मके संस्कारकी अपेक्षा रखती है और इस जन्मके थोड़े ही संस्कारसे उद्बुद्ध हो जाती है वही सहजा कहलाती है। आहार्या शब्दका अर्थ है——आहरणके योग्य। आहार्या प्रतिभा जन्म और संस्कारसे उत्पन्न होती है परन्तु उसको उद्बुद्ध करनेके लिये अत्यन्त अधिक अभ्यासकी अपेक्षा होती है। औपदेशिकी प्रतिभा मन्त्र, तन्त्र आदिके उपदेशसे उत्पन्न होती है। उसके विकसित होनेमें इसीलिये विलम्ब होता है कि उसका उपदेश-काल भी यहीं है और उसका संस्कार-काल भी इसी जन्ममें है। फलतः उसे विलम्बसे सफल होना स्वाभाविक है।

मम्मट

आचार्य मम्मटका सिद्धान्त है कि शक्ति, निपुणता तथा अभ्यास काव्यकी निष्पत्तिमें सम्मिलित रूपसे कारण होते हैं। शक्ति प्रतिभाका

ही दूसरा नाम है जिसके बिना काव्य निष्पन्न नहीं होता और निष्पन्न होनेपर वह काव्य लोक-प्रिय नहीं होता, प्रत्युत उपहासका कारण बनता है। काव्य, शास्त्र तथा अन्य विद्याओंके अनुशीलनसे जो चातुरी उत्पन्न होती है उसीका नाम निपुणता है। प्राचीन आचार्योंके द्वारा व्यवहृत व्युत्पत्तिको ही मम्मटने निपुणताका नाम दिया है। काव्यके मर्मज्ञ विद्वान्के पास रहकर उसकी शिक्षाके द्वारा काव्य-कलाके निरन्तर चिन्तनका ही नाम अभ्यास हैं। सद्गुरुकी उपासना कविकी बुद्धिके विकासमें काम-धेनुके समान फलवती मानी जाती है। विद्यावृद्ध पुरुषोंके साथ समागम कविके लिये क्या नहीं करता? वह अर्थके ग्रहणमें कविकी बुद्धिको विकसित करता है, मनको ऊहापोहके काममें विशद बनाता है। किस शब्दका प्रयोग कहां उचित है और कहां अनुचित, किसी पदके हटाने में कवितामें कौन-सा दुर्गुण उत्पन्न हो जाता है, और उसके रखनेपर कितनी रोचकता आ जाती है—इन विषयोंका ज्ञान विद्या-वृद्धके साथ परिचय होनेसे ही होता है[1]। सच तो यह है कि काव्यमर्मज्ञकी शिक्षा कविताके जिज्ञासुओंके लिये अमृतका काम करती है। 'काव्यज्ञ'से अभिप्राय केवल उन व्यक्तियोंसे नहीं है जो केवल काव्यकी सृष्टिमें ही प्रवीण हैं, प्रत्युत उन लोगोंसे भी है जो काव्यकी आलोचनामें दक्ष हैं। अतः काव्यके अभ्यास करनेवाले व्यक्तिको व्यावहारिक कवि तथा आलोचक दोनोंसे शिक्षा लेनी चाहिये। प्रतिभा तथा व्युत्पत्तिसे सम्पन्न होने-पर भी कवि अपने मनोरथमें तबतक कृतकार्य नहीं होता जबतक वह

---

१. प्रथयति पुरः प्रज्ञाज्योतिर्यथार्थपरिग्रहे
तदनु जनयत्यूहापोहक्रियाविशदं मनः।
अभिनिविशते तस्मात्तत्त्वं तदेकमुखोदयं
सह परिचयो विद्यावृद्धैः क्रमादमृतायते॥

—काव्यमीमांसा, अ० ४ पृ० ११

सद्गुरुकी शिक्षासे काव्यका अभ्यास नहीं करता। मम्मटने शक्ति, निपुणता तथा अभ्यास, इन तीनोंको काव्यका स्वतन्त्र रूपसे अलग-अलग कारण न मानकर सम्मिलित रूपसे ही कारण माना है और इसीलिये उन्होंने इस सुप्रसिद्ध कारिकामें 'हेतु' शब्दका एकवचनमें प्रयोग किया है, बहुवचनमें नहीं (हेतुर्नतु हेतवः) :—

शक्तिर्निपुणता लोक-शास्त्र-काव्याद्यवेक्षणात् ।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥

—काव्यप्रकाश १।३

२—काव्यमातरः

'काव्यका मूलस्रोत क्या है' इस विषयमें प्राचीन आचार्योंमें बड़ा मतभेद है। 'काव्यका वर्ण्य-विषय क्या है' यह प्रश्न बड़ा ही रोचक है परन्तु साथ ही साथ कठिन भी है। कविको अपने काव्यके लिये कहांसे प्रेरणा मिलती है तथा वह अपनी कवितामें किन वस्तुओंका वर्णन करता है? इसे निश्चित रूपसे बतलाना निश्चय ही कठिन है। कविका उत्तरदायित्व बड़ा ही महान् होता है। जगत्‌की ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जिससे कवि अपनी कविताके लिये सामग्री ग्रहण नहीं करता और उसका अपने काव्यमें समावेश नहीं करता। कवि स्वयं स्रष्टा है। वह अपनी कल्पनाके बलपर एक नये जगत्‌की सृष्टि करता है। इस सृष्टिकी सामग्री वह अपने सामने विद्यमान रहनेवाली ब्राह्मी सृष्टिसे ही ग्रहण करता है। इस सृष्टिसे यथार्थतः परिचय पाना ही 'व्युत्पत्ति' है। प्रतिभा और व्युत्पत्ति—ये कविके दक्षिण और वाम भुजाओंकी भांति उसकी सदा सहायता करती हैं। प्रतिभाकी पर्याप्त सहायिका होती है व्युत्पत्ति। भरतमुनिका यह कथन नितान्त तथ्यपूर्ण तथा असंदिग्ध है—

न तत् ज्ञानं, न तत् शिल्पं; न सा विद्या न सा कला।
न स योगो न तत् कर्म, नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते॥
—नाट्यशास्त्र १।११७

जगत्‌में ऐसा कोई ज्ञान नहीं है, ऐसा कोई शिल्प नहीं है, ऐसी कोई विद्या नहीं है, कला नहीं है, ऐसी कोई युक्ति नहीं है, और ऐसा कोई कर्म नहीं है जो नाट्यमें दिखलाई न पड़े। अर्थात् संसारकी समग्र विद्याएँ नाट्यके अंग हैं। भामहने भी कविकर्मकी महनीयता दिखानेके लिये भरतके शब्दोंको ही प्रकारान्तरसे दुहराया है—

न स शब्दो न तद्वाच्यं न स न्यायो न सा कला।
जायते यन्न काव्याङ्गमहो! भारो महान् कवेः॥
—भामह-काव्या० ५।४

रुद्रटने भी भामहका पदानुसरण कर कविको सब प्रकारके विषयोंसे परिचित होनेकी बात लिखी है। लोकमें ऐसा न कोई वाच्य है और न वाचक है, न कोई शब्द और न अर्थ है जो काव्यका अंग न हो सके। इसीलिये कविको सर्वज्ञ होनेकी आवश्यकता है :—

विस्तरतस्तु किमन्यत् तत इह वाच्यं न वाचकं लोके।
न भवति यत्काव्याङ्गं सर्वज्ञत्वं ततोऽन्यैषा ॥

रुद्रट—काव्यालंकार १।१

संक्षेपमें कविताका विषय है लोक और शास्त्र।[१] 'लोक' से अभिप्राय है स्थावर और जंगम पदार्थोंके वृत्तसे[२]। पाश्चात्य कवियोंके अनुसार काव्यका विषय है मनुष्य और प्रकृति (Man and Nature)। इन दोनोंका समावेश हमारे यहां लोकके अन्तर्गत किया गया है। 'शास्त्र' तथा विद्यासे अभिप्राय है व्याकरण, कोश, छन्दःशास्त्र, कला, कामशास्त्र, तथा दण्डनीति आदिसे। काव्यकी अर्थ-योजनामें इनका कितना उपयोग है इसे विशेष रूपसे बतलानेकी आवश्यकता नहीं है। कवितामें शुद्ध शब्दोंका प्रयोग पहिली आवश्यक बात है और यह शब्द-शुद्धि 'व्याकरण'के अध्ययनसे ही प्राप्त की जा सकती है। पदोंके अर्थका निश्चय 'कोश'की सहायतासे किया जाता है। शब्दार्थकी सन्देहदोलामें झूलनेवाले कविकी स्थिति बड़ी ही डँवाडोल हुआ करती है। वह न तो ऐसे शब्दोंको ग्रहण ही कर सकता है और न उनका त्याग ही। ऐसी दशामें कोश ही उसकी सहायता करता है। कोश, राजा तथा कवि दोनोंकी सार्थकताका प्रधान हेतु होता है। लोक-प्रयोगकी परीक्षासे सामान्य रूपसे अर्थका ज्ञान संभव है परन्तु उनकी विशेष रूपसे अर्थकी जानकारी कोशके द्वारा गम्य

---

१. लोको विद्या प्रकीर्णञ्च काव्याङ्गानि।

२. लोकवृत्तं लोकः। लोकः स्थावर जंगमात्मा च। तस्य वर्तनं वृत्तमिति वामन, काव्या०, लं० १३१, १३२

होती है। छन्दःशास्त्रके अध्ययनसे वृत्तोंमें उत्पन्न होनेवाले सन्देहका निराकरण होता है। काव्यके अनुशीलनसे छन्दःशास्त्रका सामान्य ज्ञान हो जाता है परन्तु वृत्तोंके विशेष रूपको जाननेके लिये छन्दःशास्त्रका गाढ़ अध्ययन नितान्त आवश्यक है। कला-शास्त्रकी सहायतासे कलाके सिद्धान्तोंका ज्ञान कवि प्राप्त करता है। कलाओंकी संख्या चौसठ मानी गई है जिसके भीतर अनेक व्यावहारिक तथा ललित कलाओंका सन्निवेश किया गया है। इन कलाओंका समावेश कविको अपने काव्यमें प्रसंगानुसार करना ही पड़ता है। अतः इनके स्वरूपको ठीकसे जाननेके लिये कला-शास्त्रका अध्ययन करना कविके लिये नितान्त आवश्यक है। कामशास्त्रके विषयोंका परिचय वात्स्यायन-सूत्र आदि ग्रन्थोंसे करना चाहिए। राजनीति, दण्डनीति तथा अर्थशास्त्र आदिके परिचयके लिये तद्विषयक ग्रन्थोंका अनुशीलन तथा अभ्यास कवियोंके लिये अत्यन्त प्रयोजनीय होता है।

विनयचन्द्रने अपनी 'काव्य-शिक्षा' में निम्नांकित विषयोंसे कविको परिचित होना आवश्यक बतलाया है:—

तर्कपरिचय, व्याकरण—परिचय, चाणक्य—परिचय, धनुर्वेदीय, उत्पाद्य-संयोग, भारत-परिचय, रामायण-परिचय, मोक्षोपाय—परिचय, आत्म-ज्ञान-परिचय, धातुवाद-परिचय, पुरुष-लक्षण-परिचय, द्यूतपरिचय, चित्र-परिचय, वृक्षपरिचय, वनेचरपरिचय, भक्तिपरिचय, विवेकपरिचय, प्रशम परिचय, हस्तिपरिचय, वैद्यक—परिचय, शास्त्र-परिचय, गजलक्षण-परिचय एवं तुरगलक्षण—परिचय।

क्षेमेन्द्रने भी अपने 'कविकण्ठाभरण'में कवियोंकी जानकारीके लिये ऐसे ही आवश्यक विषयोंकी एक लम्बी फिहरिश्त दे रखी है।

राजशेखरने काव्यार्थके मूलका वर्णन करते हुए इनके सोलह भेदोंका विस्तारके साथ वर्णन किया है।[1] वे मूल ये हैं--

१. देखिये —काव्यमीमांसा अ० ८ पृ० ३५।

श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण, प्रमाणविद्या (दर्शनशास्त्र), समय-विद्या (तन्त्रशास्त्र), राजसिद्धान्तत्रयी (अर्थशास्त्र, नाट्यशास्त्र, कामशास्त्र), लोक (प्राकृत तथा व्युत्पन्न मनुष्य), विरचना (कविकी प्रतिभासे निर्मित कथाविशेष), प्रकीर्णक (विविध वस्तु यथा—हस्तिशिक्षा, रत्नपरीक्षा, धनुर्वेद, आदि) उचितसंयोग, योक्तृसंयोग, उत्पाद्य-संयोग और संयोगविकार। तथ्य यह है कि काव्यका क्षेत्र संकुचित नहीं है। उसके लिये मनुष्य, प्रकृति तथा शास्त्र समग्र विषयोंका ज्ञान अपेक्षित रहता है। इसीलिये प्राचीन आचार्योंकी सम्मति है—

> श्रुतीनां साङ्गशाखानामितिहासपुराणयोः ।
> अर्थग्रन्थः कथाभ्यासः कवित्वस्यैकमौषधम्[1] ॥

---

१. वही पृ० ३६

३—अर्थ-व्याप्ति

काव्यमें निर्दिष्ट अर्थका क्षेत्र कहांतक विस्तृत है ? इस प्रश्नका विचार-पूर्ण उत्तर भी संस्कृतके आलोचकोंने दिया है। द्रौहिणि नामक आचार्यकी सम्मतिमें अर्थ-व्याप्ति तीन प्रकारकी होती है——(१) दिव्य, (२) **दिव्यमानुष** और (३) **मानुष**। 'दिव्य' का अर्थ है स्वर्गमें रहनेवाले देवताओंके चरित्रका चित्रण। '**दिव्यमानुष**'——स्वर्ग तथा मर्त्यलोकके व्यक्तियोंके मिश्रित चरित्रका वर्णन। यह अनेक प्रकारसे काव्यमें संभव होता है। एक तो वह प्रकार है जिसमें दिव्य पुरुषका मर्त्यलोकमें और मर्त्य पुरुषका स्वर्ग लोकमें जानेका वर्णन किया जाय। इसका दूसरा प्रकार तब होता है जब दिव्य पुरुष मर्त्यरूप धारण कर ले और मर्त्य व्यक्ति दिव्यरूपको ग्रहण करे। तीसरे प्रकारमें दिव्य इतिवृत्त (इतिहास) की कल्पना की जाती है। चौथे प्रकारमें मर्त्य व्यक्तिके प्रभावके कारण दिव्य भावकी प्राप्तिका वर्णन किया जाता है। '**मानुष**' प्रकारमें केवल मर्त्यलोकके निवासियोंका चरित्र वर्णित रहता है।

राजशेखरके अनुसार यह अर्थ-व्याप्ति सात प्रकारकी होती है। ऊपरवाले तीन भेदमें ये निम्नलिखित चार भेदोंको जोड़कर इनकी संख्या सात मानते हैं:——(४) **पातालीय** (५) **मर्त्यपातालीय**, (६) **दिव्य-पातालीय**, (७) **दिव्यमर्त्य पातालीय**। **पातालीय** भेद तब होता है जब पातालके निवासियोंके चरित्रका काव्यमें वर्णन किया जाय। **मर्त्य-पातालीय** तब होगा जब मर्त्य और पाताल, इन दोनों लोकोंका चरित्र एकत्र मिश्रितकर वर्णित हो। **दिव्यपातालीय** भेदमें स्वर्ग तथा पातालके निवासियोंसे संबद्ध चरित्रका वर्णन किया जाता है। जब तीनों लोको——दिव्य, मर्त्य, पाताल——का वर्णन एकत्रित अपेक्षित होता है उसे **दिव्यमर्त्य-पातालीय** कहते हैं।

उद्भटका मत

तात्पर्य यह है कि काव्यका अर्थ निःसीम है, अवधिरहित है, सीमा-विहीन है, अपरिमित है। आचार्य उद्भटके अनुयायियोंने इस विपुल अर्थराशिको दो भागोंमें विभक्त किया है--(१) विचारितसुस्थ (२) अविचारित-रमणीय। 'विचारितसुस्थ' अर्थ उसे कहते हैं जो तर्क तथा युक्तिसे विचार करनेपर शोभन तथा रुचिकर प्रतीत होता है। 'अविचारित रमणीय' अर्थ वह होता है जिसमें तर्क तथा युक्तिका उपयोग न करके केवल कल्पनाके बलपर रमणीय अर्थकी सृष्टि की जाय। पहले प्रकारका उदाहरण है शास्त्र तथा दूसरे प्रकारका उदाहरण है काव्य।

कालिदासका यह पद्य काव्यार्थकी विशेषताको समझनेके लिये उदाहरण-रूपसे दिया जा सकता है--

> त आकाशमसिश्याममुत्पत्य परमर्षयः।
> आसेदुरोषधिप्रस्थं मनसा समरंहसः॥
>
> कुमारसंभव ६।३६

श्लोकका भावार्थ है कि मनके समान वेगवाले महर्षि लोग तलवारके समान श्याम रंगवाले आकाशमें उड़कर हिमालयके ओषधिप्रस्थ नामक स्थानमें पहुँचे। इस पद्यमें आकाशको कालिदासने 'असिश्याम' (तलवारके समान श्याम रंगवाला) लिखा है, परन्तु क्या यह बात सही है? युक्तियोंके बलपर विज्ञान हमें बतलाता है कि आकाशका कोई भी निजी रंग नहीं है। फिर भी कल्पनाके बलसे कवि अपने अनुभवका उपयोग करता है।

भामहने भी एक सुंदर उदाहरण देकर इस विषयको समझानेका प्रयत्न किया है:--

> असिसंकाशमाकाशं शब्दो दूरादुपैत्ययम्।
> तदेव वारिसिन्धूनामहो स्थेमा महार्चिषः॥
>
> भामह-काव्यालंकार ५।३४

इस पद्यमें भामहने आकाशको तलवारके समान, शब्दको दूरसे आनेवाला, नदीके जलको एकाकार तथा अपरिवर्तनशील एवं आकाशके सूर्यचन्द्रादिक ग्रहोंका स्थिर होना वर्णित किया है। यह विचारणीय प्रश्न है कि क्या यह दृश्य कभी संभव है? नदीका प्रवाह इतना वेगवान् होता है कि उसका जल क्षणक्षण में बहता चला जाता है और परिवर्तित होता रहता है। ऐसी दशामें नदीके जलको 'तदेव'—वही (अपरिवर्तनशील) कहना कहांतक न्यायसंगत है? इसी प्रकार विज्ञान हमें सिखलाता है कि आकाशके तेजस्वी ग्रह (चन्द्र, शुक्र आदि) गतिशील हैं, एक स्थानपर नहीं रुकते। ऐसी दशामें इन ग्रहोंका स्थिर होना वर्णित करना उचित नहीं है। उद्भटके अनुसार ये दोनों श्लोक 'अविचारित रमणीय'के मनोरम उदाहरण हैं।

परन्तु राजशेखरको इस मतमें नितान्त अरुचि है। यदि काव्य केवल तथ्यरहित काल्पनिक वस्तुओंका ही रूप प्रस्तुत करता है तो हमारे लिये उसका कोई उपयोग है ही नहीं। कौन ऐसा भलामानुष होगा जो पदार्थोंके असत्य रूपके परिचय पानेके लिये ही काव्योंके अनुशीलनका अश्रान्त परिश्रम स्वीकार करेगा? इसलिए राजशेखरकी यह परिनिष्ठित सम्मति है—शास्त्र तथा काव्यके कर्ताओंको वस्तुका स्वरूप जैसा प्रतिभात होता है उसका वर्णन वे उसी रूपमें करते हैं[1], अपनी ओरसे नमक मिर्च नहीं मिलाते।

पदार्थ का द्वैविध्य

समस्या गम्भीर तथा विचारणीय है। पदार्थका रूप काव्यमें किस-प्रकार निबद्ध होना चाहिए? पदार्थका रूप दो प्रकारका होता है—

---

१. न स्वरूपनिबन्धनमिव रूपमाकाशस्य। सरित् सलिलादेर्वा। किन्तु प्रतिभासनिबन्धनम्।... ... ...

यथाप्रतिभासं च वस्तुनः स्वरूपं शास्त्रकाव्ययोर्निबन्धनोपयोगि॥

(का० मी०, अ० ६, पृ० ४४)

(१) स्वरूप-निबन्धन तथा (२) प्रतिभास निबन्धन। प्रथम प्रकारमें पदार्थके यथावस्थित तात्त्विक यथार्थ रूपका उपबृंहण होता है तथा दूसरे प्रकारमें कविके द्वारा अनुभूत अनुभवगम्य रूपकी सृष्टि होती है। प्रथम प्रकारकी प्राप्ति होती है दार्शनिक जगत्में। दूसरे प्रकारकी उपलब्धि होती है काव्यजगत्में। स्वरूप निबन्धन होता है विज्ञानका विषय तथा प्रतिभास-निबन्धन होता है काव्यका विषय। काव्यतथ्य तथा वैज्ञानिक तथ्यके परस्पर विभेदका भी यही रहस्य है।। वैज्ञानिक अपने यन्त्रोंकी सहायतासे किसी पदार्थके यथार्थ रूपके समझनेमें कृतकार्य होता है। कविकी वह दृष्टि नहीं। उसके पास अपना विशिष्ट साधन है प्रतिभा। प्रतिभाके बलपर पदार्थका जो रूप कविकी दृष्टिमें प्रतिभासित होता है उसीके वर्णनमें वह संलग्न रहता है। अतः काव्यमें वैज्ञानिक तथ्योंको खोजनेका कोई भी आलोचक श्रम नहीं करता। तथापि काव्यसत्यका अपना विशिष्ट महत्त्व है। वनस्पतिशास्त्रीसे जाकर गुलाबके विषयमें पूछिये। वह गुलाबकी पुष्प-जातिका नाम बताएगा, उसके उगनेके कारणोंका विवरण देगा; उसके रूप, रंग, अंग-प्रत्यंग, पत्ते-पंखुड़ियोंका विश्लेषण कर देगा। गुलाबके यावत् ज्ञातव्य वस्तुओंका विश्लेषणपूर्वक विवरण उपस्थित कर देगा। बस यही होता है वस्तुका 'स्वरूप-निबन्धन' रूप। कविजीके पास जाकर गुलाबका हाल पूछिए। वे भीनी-भीनी गन्ध फैलानेवाले, मधुकरोंकी भीड़ अपनी ओर आकृष्ट करनेवाले, चटकीले रंगसे रंजित, जनमन-रंजनके प्रधान हेतु पुष्पराजका एक चमकीला चित्र शब्दोंके माध्यम द्वारा झट प्रस्तुत कर देंगे। यही हुआ वस्तुका 'प्रतिभास-निबन्धन' रूप। पहिला है वैज्ञानिकका क्षेत्र, तो दूसरा है कविका क्षेत्र। दोनोंका वस्तु-रूपके विवरणमें निजी महत्त्व तथा वैशिष्ट्य है। दोनों एक दूसरेके परिपूरक हैं। वैज्ञानिकका चित्रण होता है विश्लेषणात्मक, तो कविका होता है संकलनात्मक। वैज्ञानिकके लिये आवश्यक होती है प्रज्ञा, तो कविके लिये उपादेय होती है प्रतिभा। राजशेखरका यही

महनीय मन्तव्य है जो आधुनिक पाश्चात्य विद्वानोंको भी सर्वथा मान्य है। आधुनिक जगत्के मान्य मनोवैज्ञानिक युंगका प्रतिभाजन्य सृष्टिका वर्णन राजशेखरके मतको पुष्ट कर रहा है[१]।

लोल्लटका मत

आचार्य आपराजिति (लोल्लट)ने भी काव्यार्थके विचारके अवसरपर एक बड़े ही पतेकी बात कही है। उनका मत है—"**रसवत एव निबन्धो युक्तः न नीरसस्य**"। रस-सम्पन्न अर्थका ही निबन्धन काव्यमें उचित होता है, नीरसका नहीं। संस्कृत महाकाव्यमें स्नान, पुष्पावचय, सन्ध्या, चन्द्रोदय, प्रभात आदिका वर्णन विषयकी पुष्टिके लिये तथा काव्यको महनीय बनानेके हेतु एक प्रकारसे आवश्यक होता है। परन्तु यह वर्णन प्रकृत रसके अनुकूल होना चाहिए। काव्यमें जिस रसका उन्मेष कविको अभीष्ट हो उस रसके साथ इन विविध विषयोंके वर्णनका सामञ्जस्य होना ही चाहिए। परन्तु इतना स्मरण रखना होगा कि सरस होनेपर भी यह वर्णन मात्रामें अत्यधिक न होना चाहिये। 'अति सर्वत्र वर्जयेत्'की नीति व्यवहार-जगत्के समान काव्य- संसारके लिये भी

---

१. Active phantasies are called forth by intuition by an attitude directed to the perception of unconscious contents in which libido immediately invests all the elements emerging from the unconscious, and, by means of association with parallel material, brings them to difnition and plastic form.

Yung—Psychological Types P. 574.

जरूरी ही है। औचित्यकी दृष्टिसे वर्ण्य-वस्तुकी मात्राका विचार भी नितान्त आवश्यक है:—

मज्जनपुष्पावचयनसन्ध्या-चन्द्रोदयादि-वाक्यमिह।
सरसमपि नाति बहुलं प्रकृतरसानन्वितं रचयेत्॥
—का० मी०, अ० ६, पृ० ४५.

रसवादी आचार्य होनेके नाते लोल्लटका रसमय वस्तुपर यह आग्रह सर्वथा शोभन तथा युक्तियुक्त है। वे उन कवियोंकी खिल्ली उड़ानेसे तनिक भी नहीं चूकते जो समुद्र, नदी आदिके वर्णनके अवसरपर नीरस वस्तुओंके विस्तृत वर्णनमें ही अपनी काव्यकलाका चरम अवसान समझते हैं। उनका यह उद्योग अपने कवित्वके प्रकाशनके लिये ही होता है, काव्यकी प्रकृत-सेवाके लिये नहीं[1]।

राजशेखर लोल्लटके इस मतसे पूर्णतया सहमत हैं। इस विषयमें उनके द्वारा उपदिष्ट मार्ग महाकवियोंको भी सर्वथा ग्राह्य है। भारतीय आलोचकों तथा कवियोंने नग्न प्रकृतिके चित्रणपर अपने काव्योंमें कभी आग्रह नहीं दिखलाया है। यही कारण है, पश्चिमी साहित्यमें प्रकृतिका जैसा नग्न वर्णन उपलब्ध होता है वैसा संस्कृत-साहित्यमें अधिक नहीं मिलता।

माघकविने सूर्योदयका कितना चित्रमय वर्णन उपस्थित किया है। इस वर्णनको पढ़नेसे सूर्योदयका सजीव दृश्य आखोंके सामने चित्रित दिखाई पड़ता है। इसकी यथार्थताका अनुभव पर्वतीय प्रदेशमें सूर्योदयको निरखनेवालोंको निःसन्देह होता है।

विततपृथुवरत्रा—तुलारूपैर्मयूखैः,
कलश इव गरीयान् दिग्भिराकृष्यमाणः।

---

१. यस्तु सरिदद्रिसागर पुरतुरगरथादिवर्णने यत्नः।
कविशक्तिख्यातिफलो विततधियां नो मतः स इह॥
का० मी०, अ० ६, पृ० ४५

कृतचपलविहङ्गालापकोलाहलाभिः
जलनिधिजलमध्यादेष उत्तार्यतेऽर्कः ॥

—शिशुपालवध ११।४४

कवि कहता है कि जिस प्रकार घड़ा (कलश) रस्सीकी सहायतासे कुएँसे बाहर निकाला जाता है उसी प्रकार पूर्वसमुद्रमें डूबे हुए सूर्यको दिशा किरणरूपी रस्सियोंसे खींचकर बाहर निकाल रही हैं। जिस प्रकार घड़ेको जलसे निकालनेके समय बड़ा कोलाहल होता है, उसी प्रकार प्रातःकालमें चहचहाती चिड़ियाएं शोर मचा रही हैं। चारों ओर फैली हुई, मोटी रस्सियोंके समान किरणोंके द्वारा, दिशारूपी नारियोंसे बाहर खींचे जाते हुए सूर्यका यह वर्णन कितना सरस, कितना रमणीय और सचित्र है।

नदीका यह निम्नांकित वर्णन कितना रोचक और मर्मस्पर्शी है—

अपशङ्कमङ्कपरिवर्तनोचिताश्चलिताः पुरः पतिमुपेतुमात्मजाः ।
अनुरोदितीव करुणेन पत्रिणां विरुतेन वत्सलतयैष निम्नगाः ॥

—वही ४।४७.

पहाड़ी नदियां कलकल शब्द करती हुई बह रही हैं। ये निडर होकर पर्वतकी गोदमें लोटपोट किया करती हैं। अतः वे रैवतककी बेटियां हैं। आज वे अपने पति समुद्रसे मिलनेके लिये जा रही हैं। इस कारण रैवतक, चिड़ियोंके करुण स्वरके द्वारा, जान पड़ता है प्रेमके कारण, रो रहा है। नदियोंको पर्वतकी पुत्रीकी कल्पना तथा उनके कलकल ध्वनि की करुण क्रन्दनसे उपमा कितनी सजीव और मर्मस्पर्शी है।

महाकवि माघका यह वर्णन प्रकृत रससे पूर्ण समञ्जस है तथा औचित्य की परिमितिके अन्तर्गत है। इसीलिये यह ग्राह्य तथा श्लाघ्य है।

४—कवि-शिक्षा

राजशेखरने कवियोंके लिये कुछ बहुत ही व्यावहारिक नियम लिखा है जिनके अनुसरण करनेसे आज भी हमारे कविगण विशेष लाभ उठा सकते हैं। कविता लिखते समय कविको अपनी शक्तिका स्वयं विचार करना चाहिए कि काव्य-कलाके सम्बन्धमें मेरा कितना संस्कार है? किस भाषाकी कविता लिखनेमें मेरी शक्ति है? जिन लोगोंके लिये कविता लिखी जा रही है उनका झुकाव किधर है? किस प्रकारके लोगोंकी गोष्ठीमें उस कविताका पाठ होनेवाला है? किस विषयमें कविका चित्त स्वतः लगता है। इन बातोंका विचार करके ही कविको किसी भाषा-विशेषमें कविता करनी चाहिए। यह सम्मति पूर्व आचार्योंकी है परन्तु राजशेखरकी सम्मतिमें यह नियम-निर्धारण एकदेश कविके लिये है। परन्तु स्वतन्त्र कविके लिये तो एक भाषाके समान सभी भाषायें होती हैं। जिस भाषाकी ओर उसकी रुचि हुई उसीमें वह सरस कविताकी वर्षा करने लगता है।

कविके लिये किसी विशिष्ट भाषामें कविता करनेके लिये देश-विशेष भी कारण होता है। जैसे बंगालमें रहनेवाला कवि यदि तेलेगु भाषामें कविता करे तो यह उचित नहीं होगा और मद्रासका निवासी कवि गुज-रातीमें काव्य-रचना करे तो यह भी उपयुक्त नहीं है। राजशेखरने इस विषयका बड़ा ही सुन्दर वर्णन उपस्थित किया है। सप्तम शताब्दीके आरम्भमें किस देशके निवासी किस भाषाविशेषमें अनुराग करता था इसका उल्लेख आज भी कुछ कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। राजशेखरका कथन है कि गौड़ (बंगाल) आदि पूर्वी देशोंके कवि संस्कृत भाषाका विशेष आदर करते थे। लाटदेश (गुजरात) के निवासी प्राकृत भाषामें रुचि रखते थे। मरुभूमि (राजपूताना), टक्क (विपाशा तथा सिन्धु नदीके बीचका पंजाबका प्रान्त) तथा भादानक (उत्तरी भारतका कोई स्थान

विशेष) के कवि अपभ्रंशसे मिलीजुली हुई भाषाका प्रयोग करते थे। अवन्ति (उज्जैन) तथा दशपुर (मालवाका मन्दसोर नामक स्थान) के कविगण पैशाचीसे प्रेम रखते थे। परन्तु मध्यदेशके मध्यमें (पाञ्चाल देश तथा कान्यकुब्ज प्रदेश) निवास करनेवाला कवि सब भाषामें काव्य-रचना करनेमें चतुर होता है:—

गौडाद्याः संस्कृतस्थाः परिचितरुचयः प्राकृते लाटदेश्याः
सापभ्रंश—प्रयोगाः सकलमरुभुवष्टक्क भादानकाश्च।
आवन्त्याः पारियात्राः सह दशपुरजैर्भूतभाषां भजन्ते,
यो मध्ये मध्यदेशं निवसति स कविः सर्वभाषानिषण्णः॥

—काव्यमीमांसा, अध्याय १०, पृ० ५१

कविको अपनी काव्यशक्तिपर पूर्ण विश्वास होना चाहिए। केवल लोकोंके अपवादके कारणसे अपनी अवहेलना न करे। आजकलके कुछ कविगण कवि-सम्मेलनमें अपनी कविता बड़े उत्साहके साथ सुनाने जाते हैं। परन्तु अशिक्षित जनताके हँस पड़नेपर, अथवा उनकी कविताकी खिल्ली उड़ानेपर उनका उत्साह भंग हो जाता है, उनका हौसला पस्त हो जाता है और वे सदाके लिये कविता लिखनेसे विरत हो जाते हैं। ऐसे कवियोंको याद रखना चाहिए कि जनता निरंकुश हुआ करती है। अतः उसके अपवादमात्रसे अपनी जुगुप्सा कदापि न करें। उसे अपनी आत्म-शक्तिपर पूरा विश्वास रखना चाहिए। तभी उसे काव्यकलामें सफ-लता मिल सकती है। इस विषयमें राजशेखरका यह कथन कितना सटीक है:—

जनापवादमात्रेण, न जुगुप्सेत चात्मनि।
जानीयात् स्वयमात्मानं, यतो लोको निरंकुशः॥

—काव्यमीमांसा, अ० १०, पृ० ५१

लोगोंकी रुचि भी काव्यके विषयमें कितनी विलक्षण हुआ करती है। वे वर्तमान जीवित कवि—चाहे वह कितना भी बड़ा (महान्)

क्यों न हो—के काव्यमें सदा छिद्रान्वेषण ही किया करते हैं। दिवंगत कविकी कविताको तो वे बड़े आदरकी दृष्टिसे देखते हैं। दूसरे देशमें रहनेवाले कविकी कविताकी स्तुति करते हैं, परन्तु वर्तमान कविके काव्यसे उन्हें ऐसी चिढ़ होती है कि सदा उसकी अवहेलना ही किया करते हैं। इसीलिये संस्कृतमें यह कहावत है कि प्रत्यक्ष कविका काव्य, कुलकामिनीका रूप तथा घरेलू वैद्यकी विद्या शायद ही किसीको अच्छी लगती है:—

प्रत्यक्षं कविकाव्यञ्च, रूपं च कुलयोषितः।
गृहवैद्यस्य विद्या च, कस्मैचिद् यदि रोचते॥

—काव्यमीमांसा

जनताकी काव्यप्रवृत्तिका वर्णन राजशेखरने इन शब्दोंमें कितना सुन्दर किया है:—

गीतसूक्तिरतिक्रान्ते, स्तोता देशान्तरस्थिते।
प्रत्यक्षे तु कवौ लोकः, स्तवशः सुमहत्यपि॥

का० मी०—वही

संस्कृतके महाकवि भवभूति इस विषयमें भुक्तभोगी थे। उनकी सुन्दर कविता लोगोंके निरादरकी पात्री बनी हुई थी। लोगोंकी इस प्रवृत्तिसे चिढ़कर ही उन्होंने अन्य कवियोंको उपदेश दिया है कि पूर्ण विचार के साथ कविता करनी चाहिए। लोगोंकी निन्दाके डरसे काव्य-कलाका परित्याग करना कथमपि उचित नहीं है। एसी कौन-सी कविता है जिसकी जनता निन्दा नहीं करती? उनका तो यह स्वभाव ही है। स्त्रियोंकी सदाचारिता तथा कविताकी विशुद्धिमें साधारण मनुष्य भी सन्देह करता है।

सर्वथा व्यवहर्तव्यं, कुतो ह्यवचनीयता।
यथा स्त्रीणं तथा वाचां साधुत्वे दुर्जनो जनः॥

उत्तररामचरित, अंक १।२

इसीलिये महाकवि कालिदासने जनताको काव्यकलाका प्रतिनिधि

आलोचक न मानकर मर्मज्ञ विद्वान्को ही आलोचनाका अधिकारी माना है। उनके मतानुसार किसी भी कलाका प्रयोग तबतक साधु तथा शोभन नहीं है जबतक विद्वानोंका (जनताका नहीं) उससे सन्तोष नहीं होता। विद्वानों—काव्यकलाके मर्मज्ञों—का परितोष ही सुन्दर कविताकी सच्ची कसौटी है:—

आपरितोषाद् विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम् ।

शाकुन्तल १।२

जनता किस प्रकार अच्छे कवियोंकी कवितामें भी व्यर्थ छिन्द्रान्वेषण किया करती है इसका एक सुन्दर उदाहरण यहां देना अनुपयुक्त न होगा।

कहा जाता है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र किसी कवि-सम्मेलनमें अपनी कविता एक बार सुना रहे थे। उन्होंने अपनी कवितामें किसी ऐसी वस्तुका वर्णन किया था जो कवि-समयके अनुकूल नहीं थी। सम्भवतः उन्होंने वसन्तमें कौएका वर्णन किया था जब कि कवि-प्रथाके अनुसार कोकिलका वर्णन होना चाहिए था। उस सम्मेलमनमें दम्पति किशोर नामक कविमन्य एक संज्जन भी बैठे हुए थे। उन्होंने हरिश्चन्द्रको भरी सभामें नीचा दिखलानेके लिये तथा उनकी कविताकी खिल्ली उड़ानेके लिये, बड़े तपाकसे उठकर कहा कि कविजी ! आपकी कवितामें वसन्त ऋतुमें भी कौए उड़ा करते हैं ; यह अन्वेषण आपने कबसे किया है ? भला, हाजिर-जवाब हरिश्चन्द्र कब चूकनेवाले थे। उन्होंने दम्पतिकिशोरको मुंहतोड़ जवाब देते हुए कहा कि महाराज (गुरु) ! जबतक आप जीवित हैं तभीतक कौए हैं, नहीं तो फिर हम कोकिलके कोकिल ही रहेंगे। भारतेन्दुका यह करारा जवाब सुनकर किशोरजीकी बोलती बन्द हो गई और वह अपना मुंह लटकाए छिपकर घर चले गए।

कविताकी कसौटी

लोक-प्रियताको काव्यकी कसौटी मानना कथमपि उचित नहीं प्रतीत होता। निरंकुश लोककी प्रशंसाका मूल्य ही क्या है ? जनतामें

काव्यके गुण-दोषोंको समझनेकी क्षमता ही कहां? लोग अधिकतर कौतुक-प्रेमी हुआ करते हैं। कवितामें थोड़ीसी भी सुन्दरता होनेपर यदि वह लोगोंके कौतुककी वृद्धि करती है तो बालक, स्त्रीजन तथा हीन जातिके लोगोंके मुंहसे यह तुरन्त ही चारों ओर फैल जाती है। अतः विवेकहीन जनताकी आलोचनाको ही कविको अपने काव्यकी कसौटी नहीं मानना चाहिए। उसे काव्य-मर्मज्ञोंकी ही सम्मतिका ही सदा समादर करना चाहिए:—

वचः स्वादु सतां लेह्यं लेशस्वादपि कौतुकात्।
बालस्त्रीहीनजातीनां काव्यं याति मुखान्मुखम्॥

का० मी० अ० १०, पृ० ५१

राजशेखरने सरस्वतीके उपासक कवियोंके लिये बड़े ही उपयोगी व्यावहारिक नियमोंका वर्णन किया है। उनका कथन है कि कविको अपने आधे रचे हुए काव्यको किसीके सामने नहीं पढ़ना चाहिए क्योंकि ऐसा करनेसे उस ग्रन्थके समाप्त होनेमें बाधा उपस्थित होती है और वह कभी समाप्त नहीं होता। नवीन काव्यको किसी एक व्यक्तिके सामने कभी नहीं पढ़ना चाहिए क्योंकि यदि वह व्यक्ति उस काव्यको अपना बतलाने लगे तो किसकी गवाही देकर वह जीता जायेगा। अपनी कविताके ऊपर कविको सुन्दर होनेका पक्षपात नहीं करना चाहिये। क्योंकि पक्षपात करनेसे वह कविताके गुण-दोषोंको ठीक-ठीक समझनेमें वंचित रह जाता है। उसे कभी घमण्ड भी नहीं करना चाहिये क्योंकि अभिमान-का लेश भी सब संस्कारोंको नष्ट कर देता है। कविको चाहिए कि कविता लिखनेके अनन्तर किसी दूसरे व्यक्तिसे उसकी परीक्षा कराए। परीक्षा बहुत ही आवश्यक होती है क्योंकि उदासीन व्यक्ति काव्यके गुण, दोषोंके विवेचनमें जितना समर्थ होता है उतना उसका रचयिता नहीं होता। दुःख है कि हिन्दीके वर्तमान कविगण इस परम्पराको छोड़ते

चले जा रहे हैं। उर्दूके कवियोंमें 'इसलाह' लेनेकी जो परम्परा अबतक विद्यमान है वह इसी नियमका अनुसरण करती है।

अपनेको कवि माननेवाले व्यक्तियोंके सामने भी कविताका पाठ नहीं करना चाहिए। क्योंकि ऐसे व्यक्तिके सामने पढ़ी गई कविता अरण्य-रोदनके समान ही निष्फल होती है या विनाशको प्राप्त होती है। इसीलिये प्राचीन आचार्योंकी यह मान्य सम्मति है कि कविमानी व्यक्तिके सामने सूक्तिका कभी पाठ न करे। वह व्यक्ति उस कविताका तिरस्कार ही नहीं करता प्रत्युत अपने काव्यमें दूसरे कविके भावोंको बांधकर नष्ट भी कर देता है:—

> इदं हि वैदग्ध्यरहस्यमुत्तमं
> पठेन्न सूक्तिं कविमानिनः पुरः।
> न केवलं तां न विभावयत्यसौ।
> स्वकाव्यबन्धेन विनाशयत्यपि ॥

काव्यमीमांसा अ० १० पृ० ५८

यह तो प्रसिद्ध ही है कि राजा भोजके दरबारमें ऐसे कवि थे जिन्होंने एक या दो बार कोई भी कविता सुन ली तो उन्हें याद हो जाती थी। राजा भोजने एक बार यह आज्ञा दी कि यदि कोई कवि कोई नयी कविता सुनाएगा तो उसे प्रतिश्लोक एक लक्ष रुपया पुरस्कार दिया जायगा। अनेक कवि बड़े परिश्रमसे अपनी अपनी कविता बनाकर लाये और उन्होंने उसे भोजके दरबारमें सुनाया। परन्तु राजाके दरबारके पण्डितोंने कहा कि यह कविता नयी नहीं है बल्कि मेरी लिखी हुई है क्योंकि यह मुझे याद है तथा उसे भरी सभामें पढ़कर सुना दिया। इसपर वह बिचारा कवि लज्जित हो गया। कहनेका आशय यह है कि इस प्रकारकी साहित्यिक चोरी होती थी। अतः राजशेखरने नवीन कवियोंको इससे बचनेके लिये पहलेसे ही सावधान कर दिया है।

५—कवि-चर्या

भारतीय आलंकारिकोंके ऊपर यह लांछन लगाया जाता है कि काव्य-शास्त्रके सिद्धान्तोंकी छानबीनमें व्यस्त रहनेके कारण उन्होंने इस शास्त्रकी व्यावहारिक शिक्षापर कभी दृष्टिपात नहीं किया। परन्तु यह दोषारोपण नितरां असत् तथा निराधार है। हमारे आलोचक सिद्धान्त तथा व्यवहार दोनों विषयोंके पारखी थे। काव्यसमीक्षा तथा काव्य-सृष्टि—दोनों ही उनके समभावेन लक्ष्य थे। उनका ध्येय केवल उपलब्ध काव्योंके गुण और दोषका विवेचन ही नहीं था, प्रत्युत नवीन काव्योंकी रचना भी।

काव्यकी रचनाके ऊपर देश तथा कालका बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। इस तथ्यसे यहांके आलंकारिक पूर्ण रूपसे परिचित थे। हम उन वश्यवाक् कवियोंकी चर्चा इस प्रसंगमें नहीं करते, सरस्वती जिनकी चेरी बनकर सदा अनुगमन किया करती। उनके लिये काव्यसृष्टिके हेतु न तो कोई समय है और न कोई देश। वे सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र होते हैं। उनके ऊपर न देशका प्रतिबन्ध रहता है और न कालका नियमन। जिस जगह उनका चित्त रम जाता है या जिस समय उनके हृदयमें स्फूर्ति जग उठती है वे अव्याहतगतिसे काव्यकी विपुल राशिकी सृष्टि कर देते हैं। सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र सारस्वत कविके लिये ये नियम आवश्यक नहीं है। सर्वदेश और सर्वकालमें वह कविता कर सकता है। वह सब नियमोंसे मुक्त होता है। स्थान और समयकी पाबन्दी उसके लिये होती ही नहीं।

कविके लिये बाह्य तथा आभ्यन्तर शौच या पवित्रता दोनों आवश्यक हैं। शौच तीन प्रकारका होता है—वाक्-शौच, मनःशौच तथा काय-शौच। 'वाक्शौच'का अर्थ वाक्शुद्धि है अर्थात् मुखसे किसी अश्लील, अमंगल या अपवित्र शब्दको न निकालना। 'मनःशौच'से अभिप्राय मनकी पवित्रतासे है। अर्थात् मनको क्षुब्ध करनेवाले किसी भाव—

क्रोधादिक—को न लाना। 'कायशौच' का अर्थ शरीरकी पवित्रतासे है अर्थात् शरीरको स्वच्छ तथा पवित्र रखना है। इनमेंसे प्रथम दो—वाक्शौच और मनःशौच—शास्त्रके अभ्याससे उत्पन्न होता है और तीसरा शुद्धताके साथ रहनेसे। पहिले दो आन्तरिक शुद्धिसे सम्बन्ध रखते हैं और तीसरा बाह्य शुद्धिसे।

कविको सर्वदा पवित्रताके साथ रहना चाहिए। उसके हाथ और पैरके नाखून कटे रहने चाहिए, मुखमें पानका बीड़ा एवं गलेमें फूलोंकी माला हो। वह बहुमूल्य तथा सुसज्जित वस्त्रसे अलंकृत हो तथा शरीर उबटन एवं अन्य सुगन्धित द्रव्योंके प्रयोगसे सुसंस्कृत होना चाहिए। कविके लिये पवित्रताके साथ रहना ही सरस्वतीका आवाहन करना है। कवि जिस स्वभावका होता है उसका काव्य भी उसीके अनुरूप ही होता है। प्रायः यह कहा जाता है कि जिस प्रकारका चित्रकार होता है उसका चित्र भी उसी प्रकारका होता है। कविको चाहिए कि वह मुसकराते हुए, प्रसन्न वदन होकर बातचीत करे। भला मुहर्रमी सूरतवाला कवि क्या कविता कर सकता है? कवि जो कुछ बोले उसके कथनका प्रकार अनूठा होना चाहिए। काव्यका सर्वस्व तो उक्तिकी विचित्रता ही ठहरी। इसीलिये काव्य-साधनामें प्रयुक्त होनेवाले कविके वाक्योंमें वक्रोक्तिका पुट होना आवश्यक है। कविको जहां कहीं काव्यकी सामग्री मिल जाय उसे ग्रहण करना चाहिए। उसे रहस्यका अन्वेषक होना चाहिए। वस्तुके भीतर पैठकर उसके तत्त्वको ग्रहणका उद्योग करना चाहिए। किसी वस्तुके सतहके ऊपर तैरना कविको शोभा नहीं देता। वह बिना पूछे किसीके काव्यमें दोषकी उद्भावना न करे और यदि उसकी सम्मति जानने के लिये कोई काव्य उसके सामने रखा जाय तो उसके दोष-गुणोंका यथार्थ विवेचन कर दे।

कविको अन्य कविके काव्योंमें द्वेष-बुद्धिके द्वारा दोषकी उद्भावना नहीं करनी चाहिए। सुकवि वही होता है जो दूसरेकी कविता सुनकर

सन्तुष्ट होता है, नहीं तो अपनी कविता, चाहे वह आलोचनाकी दृष्टिसे कितनी भी निकृष्ट क्यों न हो किसे नहीं अच्छी लगती ? इस विषयमें महाकवि पीयूषवर्ष जयदेवकी यह सूक्ति प्रत्येक कविको स्मरण रखनी चाहिए ।

अपि मुदमुपयान्तो वाग्विलासैः स्वकीयैः ।
परभणितिषु तृप्तिं यान्ति सन्तः कियन्तः ॥
निजघनमकरन्दस्यन्द-पूर्णालवालः
कलशसलिलसेकं नेहते किं रसालः ?

—प्रसन्नराघव (प्रस्तावना)

गोस्वामी तुलसीदासने भी दूसरेकी कविताका आदर करना प्रत्येक सज्जनका कर्तव्य बतलाया है । नहीं तो अपनी कविता, वह सदोष हो या गुणवती, भला किसे अच्छी नहीं लगती ?

निज कवित्त केहि लाग न नीका ।
सरस होय अथवा अति फीका ॥

कविका निवास-स्थान

कविका निवास-स्थान खूब साफ-सुथरा होना चाहिए । उसमें छःओं ऋतुओंके अनुकूल विविध स्थान होने चाहिए । कविका वह घर कैसा ? जिसमें शीतकालमें ठंढके कारण हाथ पैर ठिठुर जायें और ग्रीष्म ऋतुमें सांय-सांय कर चलनेवाली लूके मारे देह झुलस जाय । उसके घरके सामने सुन्दर लताओंसे मण्डित, स्निग्ध छायासे सम्पन्न वृक्षवाटिका होनी चाहिए । उसके पास क्रीडा-पर्वत होना चाहिए जिसपर बावली और तलैया हो । छोटी-छोटी नहरें उस मकानके पास सदा जलसे किलोल करती हुई रहें जिससे प्रकृतिकी स्निग्धता कवि-हृदयको सरस तथा शीतल बनानेमें सदा समर्थ बनी रहे । कविके बगीचेमें नाना प्रकारके पक्षियोंका समुदाय होना चाहिए । कहींपर कोयल आमके पेड़पर बैठी हुई अपनी कूक

टेर रही हो; तो कहीं पपीहा 'पी कहां' 'पी कहां'की रट लगा रहा हो। कहीं हंसोंके जोड़े क्रीड़ा कर रहे हों तो कहीं कुररी अपनी विषाद भरी वाणीसे वियोगकी कथा सुना रही हो। कहीं पर चकवा और चकवी दिनमें एक संग किलोल करते हुए संयोगके प्रतीक बने हों और रातके होते ही बिछुड़ कर अपने करुण क्रन्दनसे कविके हृदयमें भी करुणा उत्पन्न कर रहे हों। इनके अतिरिक्त तोता और मैना एक साथ बैठकर सरस प्रेमकी कहानी कहते हुए दिन बिता रहे हों। कविके सुन्दर उपवनमें होना चाहिए लताओं का सुन्दर कुञ्ज, जिसमें धूपकी गर्मी किसीको न सतावे। इसके अतिरिक्त उस उपवनमें सुन्दर झूला होना चाहिए जिसमें अवकाशके समय बैठकर मनो-विनोद ही न किया जाय प्रत्युत शारीरिक क्लान्ति भी दूर हो सके। यदि कविका मन कभी खिन्न या उदास हो तो उसको प्रसन्न करनेके लिये आज्ञाकारी नौकर होने चाहिए अथवा कविको एकान्त स्थानका सेवन करना चाहिए।

कविके परिजनोंको (नौकरों) चतुर होना चाहिये। उनकी वाणीमें वक्रता और वर्णनमें चमत्कार होना चाहिये। इस प्रसंगमें हम उस फारसी शायरकी बांदीकी वचन-चातुरीकी प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकते, जिसने किसी अबदुल्ला नामक शायरका परिचय गबदुल्ला नामसे देकर अपने मालिकको चमत्कृत किया था। सुनते हैं कि दिल्लीके किसी शायरके पास अपनी शायरीमें मस्त तथा अपने इल्मके घमण्डमें चूर कोई शायर फारससे मिलनेके लिये आए। कविके घरका दरवाजा बन्द था। अतः उन्होंने बाहरसे ही जोरसे खटखटाया। शायरने अपनी नौकरानीसे कहा कि बाहर जाकर देख, कौन इस बुरे वक्त इतने जोरसे दरवाजा खटखटा रहा है। मालिकका हुक्म पाकर नौकरानीने दरवाजा खोला तो बाहर किसी भले आदमीको खड़ा पाया। बांदीके पूछनेपर उन्होंने अपना नाम अबदुल्ला बतलाया तथा अपने आनेका मतलब कह सुनाया। बांदी लौटकर अपने मालिकके पास आई और अर्ज किया कि

फारसके कोई मियां गबबुल्ला नामके शायर आपसे मुलाकात करनेके लिये दरवाजेपर खड़े हैं। गबबुल्ला नाम सुनते ही दिल्लीके शायर आग बबूला होकर अपनी बांदीपर बरस पड़े और बोले हरामजादी! अब-बुल्ला कह अबबुल्ला। भला गबबुल्ला किसीका नाम होता है। बांदीने कहा कि आपका कहना बिल्कुल बजा है लेकिन मैं क्या करूं? खुदाने उनकी दाहिनी आंखमें पहिलेसे ही नुक्ता लगा रखा है। एनके ऊपर नुक्ता देनेसे गैन ही होता है। फारसके शायर बांदीकी यह बात सुनकर बड़े अचम्भित हुए। बात यह थी कि उनकी दाहिनी आंखमें फूली पड़ी थी। इसीको लक्ष्यकर बांदीने यह उक्ति कही थी। शायरने सोचा कि जिसके घरकी बांदी इतनी चतुर है भला उसका मालिक कितना बड़ा शायर होगा। उससे विवाद करनेके हौसलाको अपने दिलमें दबा कर वे उल्टे पांव फारस लौट गए।

कविका अध्ययन-गृह

कविके अध्ययन-गृहमें लेखनकी सामग्री सदा प्रस्तुत रहनी चाहिए। क्योंकि कविको कविताकी जब स्फूर्ति हो तो उसकी कविताको शीघ्र लिपि-बद्ध किया जा सके। इसीलिये कविके कमरेमें खड़िया और श्यामपट्ट होना चाहिए। लेखनी और दावात, ताड़पत्र और भूर्जपत्र आदि लेखनकी सामग्री सदा प्रस्तुत रहनी चाहिए। बहुतसे आचार्य इन्हीं बाह्य साधनोंको काव्यविद्याका परिकर (साधन) मानते हैं। उनका कहना है कि इन वस्तुओंको देखकर कविहृदयमें लिखनेकी स्फूर्ति स्वयं जागरित होती है परन्तु कविवर राजशेखर इन बाह्य साधनोंको महत्त्व नहीं देते हैं। वे तो प्रतिभाको ही काव्यका परिकर मानते हैं। बात भी सच्ची यही है। प्रतिभाविहीन कविके लिये बाहरी साधन सुन्दर होनेपर भी क्या सहायता कर सकते हैं। यह तो प्रसिद्ध ही है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जब कभी घरसे बाहर निकलते थे तो उनके पीछे-पीछे उनका नौकर कलम-

दावात और कागज लेकर साथ चला करता था। रास्तेमें ही खड़े होकर जब उन्हें भावावेश आता था तब वे अपनी कविताको लिपिबद्ध कर देते थे। कहा जाता है कि "फिसाने आजाद'के सुप्रसिद्ध रचयिता पण्डित रतननाथ सरशार स्वभावसे ही आलसी थे और बहुत आग्रह करनेपर ही कुछ लिखा करते थे। उस समय जो कुछ भी लेखन-सामग्री उन्हें मिल जाती थी उसीसे ही वे अपना काम चला लेते थे। यदि लिखनेके लिये कलम न मिली तो सींक ही सही। अच्छा कोरा कागज न मिला तो अखबार का टुकड़ा ही सही। परन्तु ऐसा जीवन कविके लिये आदर्श नहीं है। राजशेखरने कविके गृह तथा अध्ययनस्थान एवं उसके रूपका जो आदर्श चित्र खींचा है वह हमें भारतेन्दु हरिश्चन्द्रमें पूर्णतया मिलता है।

कविता करनेका समय

कविको नियत समयपर ही कविता करनी चाहिए, क्योंकि अनियत कालमें होनेवाली काव्यकी प्रवृत्ति कभी सफल नहीं हो सकती। इसलिये कविको चाहिए कि दिन और रातको प्रहरके अनुसार चार भागोंमें बाट लें। प्रातःकाल उठकर सन्ध्या-पूजनसे निवृत्त होनेके पश्चात् उसे सारस्वत सूक्तका पाठ करना चाहिये। सरस्वतीके सेवकको सरस्वतीकी उपासना करना उचित ही है। तदनन्तर अपने अध्ययन-गृहमें बैठकर उसे काव्यकी विद्या तथा उपविद्याका एक प्रहर तक मनन करना चाहिए। व्याकरण, कोष, छन्दःशास्त्र, तथा साहित्यशास्त्र ही काव्यकी विद्याएँ हैं और चौसठ कलायें उपविद्याके अन्तर्गत आती हैं। काव्यकलाके लिये उपयोगी होनेके कारण इनका प्रातःकालमें अभ्यास करना नितान्त उपयोगी होता है। इन विद्याओंका नूतन संस्कार प्रतिभाके विकास करनेमें जितना समर्थ होता है उतना अन्य संस्कार नहीं। दिनके दूसरे प्रहरमें कवि काव्य की रचना करे। लगभग दोपहरके समय वह पुनः स्नान करे और स्वास्थ्यप्रद भोजन करे। भोजनके अनन्तर तीसरे पहरमें काव्य-गोष्ठीका आयोजन करे।

६–काव्यगोष्ठी

प्राचीन भारतमें बड़ी-बड़ी काव्यगोष्ठियों तथा सरस समाजोंका आयोजन होता था जिसमें नाना प्रकारके साहित्यिक मनोविनोदोंकी धूम मची रहती थी। कतिपय मनोविनोदोंकी यहां सामान्य चर्चा की जा रही हैं।

(१) **प्रतिमाला या अन्त्याक्षरी**—इसमें एक आदमी एक श्लोक पढ़ता था और उसका प्रतिपक्षी पंडित श्लोकके अन्तिम अक्षरसे आरम्भ कर एक दूसरा श्लोक पढ़ता था। यह परम्परा लगातार चलती रहती थी।

(२) **दुर्वाचन योग**—इसमें ऐसे कठोर उच्चारणवाले शब्दोंका श्लोक सामने रखा जाता था जिसे पढ़ना बड़ा ही कठिन कार्य था। कामसूत्रकी जयमंगला टीकाकी रचयिताने उदाहरणके लिये यह श्लोक दिया है:—

दंष्ट्राग्रद्ध्यो प्रग्यो द्राक क्ष्मामम्वन्तः–स्थामुच्चिचक्षेप।
देव भ्रुटत्विड्यृत्विकूस्तुत्यो युष्मान्सोऽव्यात् सर्पात्केतुः॥

(३) **मानसी कला**—यह प्राचीन भारतका सरस साहित्यिक विनोद था। कमल या किसी अन्य वृक्षके पुष्प अक्षरोंकी जगहपर रख दिए जाते थे। उसे पढ़ना पड़ता था। पढ़नेवालेकी चातुरी यह थी कि वह ईकार, ऊकार आदि मात्राओंकी सहायतासे ऐसा छन्द बना ले जो सार्थक भी हो और छन्दोंके नियमके विरुद्ध भी न हो। इस प्रकार यह कला बिन्दुमती नामक क्रीड़ासे बहुत कुछ मिलती-जुलती है। इस कलाका और भी कठिन रूप तब होता था जब पढ़नेवालेके सामने फूल आदि कुछ भी न रखकर उसे केवल एक बार सुना दिया जाता था कि कहां कौनसी मात्रा है और कहां अनुस्वार, विसर्ग है।

(४) **अक्षरमुष्टि**—नामका भी ऐसा ही एक साहित्यिक विनोद प्राचीन भारतमें होता था। यह विनोद दो प्रकारका होता था (क)

साभासा और (ख) निरवभासा। (क) साभासा अक्षरमुष्टि संक्षिप्त बोलनेकी कला है जैसे फाल्गुन, चैत्र और वैशाख इन तीनों महीनोंके लिये इनके आदि अक्षरोंको ग्रहणकर "फाचैवै" कहना। इस प्रकारसे रचित श्लोकोंका अर्थ करना बड़ा ही कठिन होता था। इस विषयमें एक प्राचीन कथा इस प्रकारकी सुनी जाती है।

कहते हैं कि एक गांवमें दो पण्डित रहते थे। उन्होंने अपनी विद्याको पूर्ण करनेके लिये काशी आना निश्चित किया। इन पण्डितोंमें एक वैयाकरण था और दूसरा वैदिक। वैयाकरण तो पराया माल खाता हुआ मजेमें काशीमें दिन बिता रहा था परन्तु वैदिक बड़ा ही नैष्ठिक था। उसने विद्या (वेद)का अच्छा अभ्यास किया और कुछ ही दिनमें प्रकाण्ड पण्डित बन बैठा। जब इन पण्डितोंका अध्ययन समाप्त हो गया तब इन्होंने घर जानेका निश्चय किया। ये दोनों रास्तेमें एक घनघोर जंगलमें पहुँचे और वहीं रात्रि हो गई। भोजनभट्ट वैयाकरणने अब भोजन बनानेकी तैयारी की। चावल, दाल, लकड़ी आदि सारा सामान तो मिल गया परन्तु कहीं खोजनेपर भी उस जंगलमें आग नहीं मिली। वैयाकरणने परेशान होकर अपने मित्रसे कहा कि आग कहांसे लाई जाय? इसके बिना रसोई बनना तो कठिन ही है। वैदिकने कहा कि अग्नि तो नैष्ठिक ब्राह्मण के मुंहमें निवास करती है। अतः फूंक मारो, आग आपसे आप जल उठेगी। वैयाकरणने अनेक बार फू, फू किया परन्तु आग न जली। उन्हें इस कार्यमें असफल देखकर वैदिकने एक बार फूंक मारी और आग आप ही आप जल उठी। वैयाकरणको वैदिककी यह करामात देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ और उसने अपने मनमें सोचा कि यदि यह मेरे साथ गांव लौटकर चलेगा तो इसके अलौकिक पाण्डित्य और चमत्कारी करामातके कारण गांववाले इसीका आदर करेंगे और मुझे कोई नहीं पूछेगा। अतः इसे जानसे मार डालना चाहिए। यह निश्चय कर उसने वैदिकको मारने की तैयारी की। जब वैदिकजीको यह बात मालूम हुई तो उन्होंने वैया-

करणसे कहा कि यह पत्र मेरे पिताजीको देना। वैयाकरणने वैदिककी हत्या कर दी और गांवमें आकर उस पत्रको उनके पिताको दे दिया।

पत्रको पाकर वैदिकके पिता बड़े अचंभित हुए क्योंकि उस पत्रमें केवल चार अक्षर,—अ, प्र, शि, ख—लिखा था। उनकी समझमें इस पत्रका कुछ भी आशय नहीं आया और वह राजाभोजके पास जाकर उस पत्रको अपने पण्डितोंके द्वारा पढ़वानेकी प्रार्थना की। भोजने अपने पण्डितोंको एक मास अवसर देते हुए कहा कि यदि इस अवधिके भीतर इस पत्रको कोई न पढ़ सका तो सबको फांसी दे दी जायेगी। अवधिके बीतनेमें एक दिन शेष था परन्तु अर्थ किसीसे नहीं लगा। भोजकी सभाके एक विशिष्ट पण्डित वररुचि उदास होकर जंगलको भाग निकले। वहां वे एक पेड़के नीचे बैठे जहां सियारिन सियार (शृंगाल)से मांस खानेको रही थी। शृंगालने कहा कि घबराओ नहीं, कल भोजकी सभामें अनेक पण्डित मारे जायेंगे तब उनका पवित्र मांस खूब छककर खाना। शृंगालिनने इसका कारण पूछा तो शृंगालने सारा किस्सा कह सुनाया। शृंगालिनने फिर पूछा—क्या तुम उस पत्रका आशय जानते हो? शृंगालने कहा—हां? जब शृंगालिनने इसके आशयको स्पष्ट करनेके लिये बहुत हठ किया तब शृंगालने बतलाया कि पत्रका अर्थ यह है—

अनेन तव पुत्रस्य, प्रसुप्तस्य वनान्तरे।
शिखामारुह्य पादेन, खड्गेन निहतं शिरः॥

वररुचि पेड़के नीचे बैठा हुआ सारा वृतान्त सुन रहा था। दूसरे दिन उसने पत्रका आशय बतलाते हुए इस श्लोकको भोजकी सभामें पढ़ सुनाया और इस प्रकार उसने सभी पण्डितोंके प्राणोंकी रक्षा की।

ऊपरकी यह कथा साभासा अक्षरमुष्टिका बड़ा ही सुन्दर उदाहरण है।

(ख)—**निरवभासा अक्षरमुष्टि**—गुप्तरूपसे बातचीत करने की कला है। इसके लिये प्राचीनकालमें नानाप्रकारके संकेत प्रचलित

२२

थे। हथेली और मुष्टिको भिन्न-भिन्न आकारमें दिखलानेसे अक्षरोंके भिन्न भिन्न वर्ग सूचित होते थे जैसे कवर्गकी सूचनाके लिये मुष्टिको बांधना पड़ता था तथा चवर्गके लिये हथेलीको पत्तेके समान बनाना पड़ता था। इसी प्रकार अन्य वर्गोंकी सूचनाका क्रम निश्चित था। वर्ग बतलानेके अनन्तर उसके अक्षर बतलाये जाते थे। इसके लिये अंगुलियोंका प्रयोग किया जाता था। जैसे ग कहना हो तो पहले मुष्ठि बांधी जाती थी और फिर तीसरी अंगुली उठाई जाती थी। इस प्रकार अक्षरोंकी सूचनाके अनन्तर मात्रायें बतलाई जाती थीं। यह कार्य अंगुलियोंके पोरोंसे अथवा चुटकी बजाकर किया जाता था। इन पुराने संकेतोंका द्योतक एक पुराना श्लोक इस प्रकार है:—

मुष्टिः किशलयं चैव, च्छटा चारीपताकिका।
पताका—कुशमुद्राश्च, मुद्रा वर्गेषु सप्तसु॥

इसी प्रकारके 'बिन्दुच्युतक' नामक मनोविनोदमें सारे पद्यमेंसे अनुस्वार हटा दिये जाते थे और तभी श्लोकमें सार्थकता आती थी। इस प्रसंगमें नैषधकारका यह प्रख्यात पद्य स्मरण आये बिना नहीं रहता जिसमें उन्होंने दमयन्तीके 'बिन्दुच्युतक'की चातुरीका रुचिर उल्लेख किया है—

चकास्ति बिन्दुच्युतकातिचातुरी
घनाश्रुबिन्दुस्रुति—कैतवात् तव।
मसारताराक्षि ससारमात्मना
तनोषि संसारमसंशयं यतः॥
—नैषध ६।१०४

आशय है कि हे इन्द्रनीलके समान स्निग्ध श्यामल पुतलीसे युक्त नेत्रवाली दमयन्ती, तुम नेत्रोंसे घने आंसूकी बूंदोंके बहानेके 'बिन्दुच्युतक' में अपनी चतुरता प्रकट कर रही हो। इस 'संसार'को तुम निःसंदेह स्वयं 'ससार' बना रही हो। संसारमें बिन्दुके च्युत करनेपर ही 'ससार'

बन सकता है। संसार अपने आप तो एक निःसार पदार्थ ठहरा। तुम्हारे ही कारणसे वह सार वस्तुसे सम्पन्न (ससार) प्रतीत हो रहा है।

इसके ठीक विपरीत 'बिन्दुमती'में श्लोकमेंसे समस्त अक्षर हटा दिए जाते थे और केवल बिन्दु ही अवशिष्ट रह जाते थे। कविको इन बिन्दुओंके स्थानसे उन अक्षरोंकी पूर्ति करनी पड़ती थी जो वहांसे हटा दिये गये थे। एक दूसरे मनोविनोदमें सभी मात्राएँ श्लोकमेंसे हटा ली जाती थीं और कविको मात्राओंकी पूर्ति करनी पड़ती थी। इसे 'मात्राच्युतक' कहते थे। इसी भांतिके मनोविनोदको साहित्यजगत्‌में चित्रयोगके नाम से पुकारते हैं[१]। इन्हीं विनोदोंके द्वारा कविको दिनका तीसरा पहर बिताना चाहिए।

दिनचर्या

दिनके चौथे पहरमें कविको चाहिए कि वह अकेले या अपने परिमित मित्रोंके साथ बैठकर दिनके पूर्वार्द्धमें रचे हुए काव्यकी परीक्षा करे। काव्यकी अनुपरीक्षा या समीक्षा इसीलिये आवश्यक होती है कि रसके आवेशमें काव्य रचते समय कविकी विवेकिनी दृष्टि नहीं रहती है। भावावेशमें आकर कवि जो कुछ मनमें आता है उसे लिखता चला जाता है। उस समय उसे विचार करनेका अवसर ही नहीं मिलता। इसलिये सायंकाल में आवेशसे रहित होकर अपनी कविताकी समीक्षा करे। कवितामें जो अनावश्यक वस्तु हो उसका त्याग करे, जिस भाव या शब्दकी कमी हो उसकी पूर्ति कर दे और भूली हुई बातका अनुसन्धान कर शब्दार्थका उचित स्थान सन्निवेश करे।

---

१. राजशेखर-काव्यमीमांसा अध्याय १० पृ० ५२

२. इन चित्रयोगोंके विशेष वर्णनके लिये देखिए— (क) दण्डी—काव्यादर्श (ख) रुद्रट—काव्यालंकार अध्याय ५ (ग) कामसूत्रकी जयमंगला टीका १।३।१६

सन्ध्याकाल होते ही सन्ध्या-वन्दन कर सरस्वतीका पूजन करे। उसके अनन्तर दिनमें रचित तथा परीक्षित काव्यको किसी लेखक-द्वारा लिपिबद्ध कराए। यह लेखक सब भाषामें कुशल, शीघ्र लिखनेवाला, सुन्दर अक्षरवाला तथा अनेक लिपियोंको जाननेवाला होना चाहिए। उसे वक्ताके संकेतको झटसे समझ लेना चाहिए। इसके अनन्तर स्त्रियोंके साथ मनोविनोदके लिये बातचीत करनी चाहिये। संस्कृतके आलंकारिकोंने कविके जीवनको बड़ा नैष्ठिक और सदाचारी होनेके लिये आग्रह किया है। इसीलिये वे कविके जीवनमें नैतिक अव्यवस्थाको सह नहीं सकते हैं। रात्रिका दूसरा और तीसरा प्रहर सोनेमें बिताना चाहिए। चौथे प्रहर या ब्राह्ममुहूर्तमें कविको जगकर काव्यार्थका चिन्तन करना चाहिए। वामनने चित्तकी एकाग्रताको काव्यकी निष्पत्तिके लिये अत्यन्त आवश्यक माना है। इसे वह 'अवधान'-शब्दके नामसे पुकारते हैं[1]। अवधान होता है देश और कालसे[2]। निर्जन स्थान और ब्राह्ममुहूर्तमें चित्त बाह्य विषयोंसे उपरत होकर प्रसन्न तथा एकाग्र हो जाता है[3]। इसीलिये महाकवि कालिदास तथा माघने भी ब्राह्म-मुहूर्तको कवि-कर्मके लिये नितान्त उपयुक्त बतलाया है। कालिदासका अनुभव है कि रात्रिके अन्तिम प्रहरसे चेतना प्रसादको ग्रहण करती है—

पश्चिमाद् यामिनी-यामात् प्रसादमिव चेतना।

—रघुवंश १७।१

---

१. चित्तैकाग्र्यम् अवधानम्। वामन १।३।१७

२. तद्देशकालाभ्याम्। वही १।३।१८

३. विविक्तो देशः। रात्रियामस्तुरीयः कालः। वही १।३।१९-२०

माघ रात्रिके अन्तिम प्रहरको राजाओं तथा कवियोंके अर्थचिन्तनके लिये सबसे उपयुक्त समय बतलाते हैं क्योंकि इसी समय बुद्धि प्रसन्न होकर गहनसे गहन विषयोंको समझनेमें समर्थ होती है।

क्षणशयितविबुद्धाः कल्पयन्तः प्रयोगान् ।
उदधिमहति राज्ये काव्यवद् दुर्विगाहे ॥
गहनमपररात्रप्राप्तबुद्धिप्रसादाः
कवय इव महीपाश्चिन्तयन्त्यर्थजातम् ॥

—शिशुपालवध ११।६

७-कवि सम्मेलन

आदर्श राजा सरस कवियोंका केवल आश्रयदाता ही नहीं होता था प्रत्युत वह स्वयं कमनीय काव्यकलाका उपासक होता था। यह निश्चित है कि राजाके कवि होनेपर उसकी प्रजामें कविताके लिये विशेष आदर होता है और काव्यरचनाकी ओर सबका ध्यान आकृष्ट होता है। राजाको चाहिए कि कवियोंके सम्मानके लिये कवि-समाजका आयोजन किया करे। इसके लिये आवश्यक है कि वह कवियों और गुणीजनोंके लिए एक विशिष्ट सभा-भवन तैयार कराए जिसमें सोलह खम्भे, चार दरवाजे, आठ मत्तवारणी (बरामदा) हों। सभा-भवनके बीचमें एक मणिवेदिका बनाई जानी चाहिए जो कि एक हाथ ऊँची हो और जो चार खम्भोंसे युक्त हो। इस मणिवेदिकाके ऊपर राजाका सिंहासन होना चाहिए। राजाके चारों भिन्न भिन्न भाषाओंके गुणी तथा कविजन बैठें। राजाके उत्तर ओर संस्कृतभाषाके कवियोंके लिये स्थान होना चाहिए। उनके बाद उसी ओर वेदविद्यामें निपुण, दार्शनिक, पौराणिक, स्मृतिवेत्ता, वैद्य, ज्योतिषी तथा इसी प्रकारके अन्य विद्वानोंके लिये स्थान होना चाहिए। राजाके आसनके पूर्व ओर प्राकृतभाषाके कवि बैठें। इसके अनन्तर नट, नर्तक, गायक, वादक, कुशीलव तथा इसी प्रकारके अन्य गुणीजनोंको स्थान देना चाहिए। राजाके पश्चिम ओर अपभ्रंश भाषाके कवियोंको बैठाना चाहिये। उनके अनन्तर चित्रकार, मणिकार, स्वर्णकार तथा लौहकार एवं इसी प्रकारके अन्य शिल्पोंके वेत्ता व्यक्तियोंका स्थान हो। राजाके दक्षिणकी ओर पैशाची भाषाके कविका स्थान हो। इसके अनन्तर गणिका, इन्द्रजालके पण्डित तथा शस्त्रोपजीवी, मल्लविद्यामें निपुण, पुरुष अपना आसन ग्रहण करें। ऐसी सजी हुई सभामें बैठकर राजाको काव्यगोष्ठी प्रवृत्त करनी चाहिए।

ऐसी गुणिगणमण्डित पण्डित—मण्डलीमें कविता-पाठ करना कोई

हँसी-खेलकी बात नहीं थी। प्रतिस्पर्द्धी कवि अपने विपक्षीकी कवितामें सदा जागरूक रहते थे। नये कविको राजसभाके इस चाकचिक्यसे ऐसा चकाचौंध हो जाता था कि उसके मुंहसे बोली ही नहीं निकलती थी। राजसभामें प्रथम बार आए हुए कविकी वाणीकी उपमा एक कविने नव-विवाहिता बधूसे दी है जो बुलाए जानेपर भी आगे पैर नहीं रखती। गलेसे उलझकर रह जाती है। पूछनेपर भी नहीं बोलती है, कांपने लगती है, स्तंभित हो जाती है। वह अचानक फीकी पड़ जाती है, गला रुंध जाता है, नेत्रोंका प्रकाश फीका पड़ जाता है, मुखकी शोभा मन्द हो जाती है। बड़े कष्टकी यह बात है कि प्रतिभा-सम्पन्न कविकी भी वाणी ऐसी राजसभामें नवोढ़ा बधूके समान आचरण करती है। कविकी वाणी और नवोढ़ा बधूमें कितनी आश्चर्यजनक समानता है:—

> नाहूतापि पुरः पदं रचयति प्राप्तोपकण्ठं हठात्,
> पृष्टा न प्रतिवक्ति कम्पमयते स्तम्भं समालम्भते।
> वैवर्ण्यं स्वरभंगमञ्चति बलान्मंदात्तमन्दानना,
> कष्टं भो! प्रतिभावतोऽप्यभिसभं वाणी नवोढायते॥

राजसभामें कवियोंको परस्परकी प्रतिस्पर्द्धाके कारण कभी-कभी अपनी असाधारण मेधा शक्ति और असामान्य उदारता दिखलानेका अवसर मिलता था। मध्ययुगकी यह कहानी प्रसिद्ध है कि नैषधकार श्रीहर्षके वंशज हरिहर नामक कवि गुजरातके राजा वीरधवलकी सभामें आए। उस समय राजाके प्रधानमन्त्री थे विद्वानोंके आश्रयदाता वस्तुपाल और राजकवि थे सोमेश्वर। कवि हरिहरने इन तीनोंकी स्तुतिमें एक पद्य बनाकर अपने एक शिष्यके हाथ राजसभामें भेजा। राजा और मन्त्री ने तो उसे सहर्ष ग्रहण कर लिया परन्तु राजकवि सोमेश्वर इस तिरस्कार-पूर्ण बर्तावसे चिढ़ गए। दरबारमें धीरे-धीरे हरिहरकी ख्याति बढ़ने लगी।

उधर सोमेश्वरका विरोध-भाव भी बढ़ता ही गया। किसी अवसर-पर जब राजाने 'वीरनारायण' नामक महल बनवाया तब उसपर प्रशस्ति खुदवानेके लिए सोमेश्वर कविने १०८ श्लोकोंकी रचना की। राजाकी आज्ञासे जब वे सभामें अपने श्लोकोंको सुना चुके तब राजाने हरिहर पण्डितकी सम्मति मांगी। हरिहर पण्डितने इन श्लोकोंकी बड़ी प्रशंसा की। उन्होंने कहा कि ये श्लोक बड़े ही सुन्दर हैं ? ये ही श्लोक महाराज भोजराजके 'सरस्वती कण्ठाभरण' नामक प्रासादके गर्भगृहमें खुदे हुए हैं। मुझे भी ये याद हैं, सुन लीजिए। राजाके आदेशपर हरिहर पंडितने सभी श्लोकोंको अक्षरशः कह सुनाया जिसे सुनकर सारी सभा आश्चर्यित हो उठी। राजकवि सोमेश्वरका सारा रंग फीका पड़ गया। दूसरे दिन वस्तुपालकी सम्मतिसे सोमेश्वर हरिहर पण्डितकी शरणमें गए और अपनी प्रतिष्ठा अक्षुण्ण बनाए रखनेकी प्रार्थना की। हरिहर दयार्द्र होकर पिघल उठे और अगले दिन भरी सभामें राजासे निवेदन किया कि राजन् ! यह प्रशस्ति-श्लोक वस्तुतः सोमेश्वरकी ही रचना है। सरस्वतीकी कृपासे मुझे यह वरदान प्राप्त है कि एक बार ही सुनकर मैं १०८ श्लोकोंको अक्षरशः सुना सकता हूँ। राजाको इस अलौकिक स्मरण-शक्तिपर बड़ा ही आश्चर्य हुआ और उन्होंने दोनों कवियोंमें मेल कराकर दोनोंको पुरस्कृत किया।

इसी विषयमें एक दूसरी कथा इस प्रकार है। गुजरातके राजा वरधवलके प्रधान मन्त्री वस्तुपालकी सभामें इन्हीं हरिहर पण्डितका बड़ा ही सम्मान था। उसी दरबारके एक दूसरे कविका नाम मदन पण्डित था। दोनों कवियोंमें इतनी प्रतिस्पर्धा थी कि वस्तुपाल दोनोंको राजसभामें झगड़ेके डरसे एक साथ उपस्थित होनेका अवसर ही न देते थे। परन्तु द्वारपालकी असावधानीसे एक बार ऐसा दुर्योग जुट ही गया। हरिहर कवि दरबारमें अपना काव्य सुना रहे थे कि मदन पण्डित आ धमके। वे आते ही हरिहर पण्डितको डांटने लगे और

कहने लगे कि ए हरिहर ! घमण्ड छोड़ो। कविराज रूपी मतवाले हाथियोंका अंकुश मैं मदन कवि स्वयं आ गया हूँ:—

"हरिहर ! परिहर सर्वं कविराज—गजाङ्कुशो मदनः ।"

इसपर हरिहर पण्डितने तपाकसे उत्तर दिया कि मदन ! मुंह बन्द करो, हरिहरके अतीत चरितका स्मरण तो करो। जानते नहीं हो कि हरने मदनको भस्म कर डाला था:—

"मदन ! विमुद्रय वदनं हरिहरचरितं स्मरातीतम् ।"

इतनेपर भी बात रुकी नहीं, बल्कि बढ़ती ही गई। तब वस्तुपालने झगड़ेको दूर करनेके लिये उन दोनों कवियोंसे निवेदन किया कि नारिकेलको लक्ष्य करके आप लोग सौ सौ श्लोक बनाइये। इसमें जो पहले श्लोक बनाएगा उसकी ही जीत होगी। दोनों श्लोक-रचनामें जुट गये। मदनने तो सौ श्लोकोंको पूरा कर लिया परन्तु तबतक हरिहर पण्डित साठ ही श्लोक बना पाए थे। इसपर मन्त्रीने कहा कि हरिहर पण्डित तुम हार गए। हरिहरने झटसे कविता बनाकर सुनाई— अरे गँवईका जुलाहा ! ग्रामीण स्त्रियोंके पहननेके लिये सैकड़ों घटिया किस्मके कपड़ोंको बुनकर अपनेको परेशान क्यों कर रहा है ? भले आदमी, कोई सुन्दर तथा नयी एक ही ऐसी साड़ी क्यों नहीं बनाता जिसे राजाओं की प्यारी पटरानियां भी अपने वक्षःस्थलसे एक क्षणके लिये भी न उतारें:—

"रे रे ग्राम—कुविन्द ! कन्दलयता वस्त्राण्यमूनि त्वया,
गोणीविभ्रमभाजनानि बहुशः स्वात्मा •किमायास्यते ।
अप्येकं रुचिरं चिरादभिनवं वासस्त्वया सूत्र्यतां,
यन्नोज्झन्ति कुचस्थलात् क्षणमपि क्षोणीभृतां वल्लभाः ॥"

इस सुन्दर श्लोकसे प्रसन्न होकर मन्त्रीने दोनों कवियोंका सम्मान

किया। इन दोनों उदाहरणोंसे यह ज्ञात होता है कि राजाकी सभामें रहनेवाले पण्डित वाक्चातुरीमें कितने निपुण होते थे।

राजाके द्वारा काव्य-परीक्षा

राजा देशका स्वामी होता है। अतः वह जिस काव्यका आदर करता है वही काव्य लोगोंमें भी मान्य और आवृत होता है। अतः उसे चाहिये कि लोकोत्तर काव्यके लेखक कविको यथोचित पुरस्कारसे पुरस्कृत करे। यह पुरस्कार केवल मुद्राके ही रूपमें नहीं होना चाहिए बल्कि वह सहृदयता और गुणग्राहकताके रूपमें भी होना चाहिए। कविके लिये गुण-ग्राहकताका प्रदर्शन ही काव्यका सर्वोत्कृष्ट पुरस्कार है। इस प्रसंगमें कल्हण पण्डितने काश्मीर-नरेश मातृगुप्ताचार्यकी सहृदयताका जो वर्णन किया है वह यथार्थ होनेपर भी कितना विलक्षण है।

कहते हैं कि महाकवि भर्तृमेण्ठ 'हयग्रीववध' नामक महाकाव्यकी रचनाकर किसी गुणग्राही राजाकी खोजमें इधर उधर घूमते-घूमते कश्मीर पहुँचे। उस समय कश्मीरके राजा थे मातृगुप्ताचार्य जो स्वयं एक उच्चकोटिके कवि थे। भर्तृमेण्ठ उनके दरबारमें पहुँचे और राजा की आज्ञासे अपनी कमनीय कविता सुनाने लगे। इधर काव्यकी समाप्ति हो चली उधर काव्यके भले या बुरे होनेके बारेमें राजाके मुंहसे एक शब्द भी नहीं निकला। राजाके इस मौनावलम्बनसे कवि मन ही मन बड़े दुःखित हुए और इसे अपनी कविताका निरादर समझा। ग्रन्थके समाप्त हो जानेपर कवि जब उसे वेष्टनमें बांधने लगे तब राजा मातृगुप्तने उस पुस्तकके नीचे सोनेकी थाली मँगाकर इस विचारसे रखवा दी कि कहीं उस ग्रन्थका लावण्य पृथ्वीपर टपक कर नष्ट न हो जाय—काव्य-रस चूकर पृथ्वीपर गिर न पड़े। राजाकी इस सहृदयता तथा काव्य-मर्मज्ञतासे भर्तृमेण्ठ इतने आह्लादित हुए कि इसे ही उन्होंने अपना पूरा सत्कार समझा और राजाके द्वारा पुरस्कारमें दी हुई अतुल सम्पत्तिको

पुनरुक्त ही माना।[१] सच है महाकवि गुणग्राहकताका अभिलाषी रहता है, वह वैभवका दास नहीं होता। भर्तृमेण्ठने राजा मातृगुप्ताचार्यके सामने 'हयग्रीववध' नामक जो अपना महाकाव्य सुनाया था और जिसकी सरसता और मधुरतापर मुग्ध होकर उन्होंने पुस्तकके नीचे सुवर्ण-थाल रखकर अपनी सहृदयताका परिचय दिया था, उस महाकाव्यके सरस दो पद्य नमूनेके रूपमें यहां दिये जाते हैं:—

घासग्रासं गृहाण त्यज गजकलभ ! प्रेमबन्धं तरुण्याः,
पाशग्रन्थिव्रणानामभिमतमधुना देहि पंकानुलेपम् ।
दूरीभूतास्तवैते शबरवरवधूविभ्रमोद्भ्रान्तरम्या
रेवाकूलोपकण्ठद्रुमकुसुमरजोधूसरा विन्ध्यपादाः ॥

ऐ हाथीके बच्चे ! अब हथिनीका प्रेम छोड़ दे। वह तो बन्धनमें डालकर स्वयं भाग गई है। घास खाओ और अपने शरीरपर रस्सी बांधनेसे होनेवाले घावोंपर कीचड़का सुखद लेप लगावो। शबरसुन्दरियोंके विलाससे रमणीय और नर्मदा तटपर उगनेवाले वृक्षोंके पुष्पपरागसे धूसरित विन्ध्यकी पहाड़ियां अब तुमसे बहुत दूर हो गई हैं। कामिनीके प्रेमके कारण संसार-जालमें फँसे हुए पुरुषोंको लक्ष्य कर यह कितनी सुन्दर अन्योक्ति कही गई है।

---

१. हयग्रीववधं मेण्ठस्तदग्रे दर्शयन् नवम् ।
आसमाप्ति ततो नापत् साध्वसाध्विति वा वचः ॥
अथ ग्रन्थयितुं तस्मिन् पुस्तके प्रस्तुते न्यधात् ।
लावण्यनिर्माणभिया राजाऽधः स्वर्णभाजनम् ॥
अन्तरज्ञतया तस्य तादृश्या कृतसत्कृतिः ।
भर्तृमेण्ठः कविर्मेने पुनरुक्तं श्रियोऽर्पणम् ॥
—राजतरंगिणी, तृतीय तरंग (२६४-६६)

विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिरात्,
भवत्युपश्रुत्य यदृच्छयापि यम् ।
ससंभ्रमेन्द्रद्रुतपातितार्गला,
निमीलिताक्षीव भियाऽमरावती ॥

कवि हयग्रीवके वर्णनमें कह रहा है कि जब वह अपनी इच्छासे ही टहलने घूमनेके लिये भी इधर-उधर निकल जाया करता था तब इस समाचारको सुनकर अमरावतीके दरवाजोंको इन्द्र अत्यन्त डरसे शीघ्र बन्द कर देता था। जान पड़ता था कि अमरावती भयसे आंखोंको बन्द करके बैठी हो। इस पद्यमें उत्प्रेक्षाका चमत्कार बड़ा ही मनोहर है।

कविका समादर

राजाको चाहिए कि अपने राज्यके प्रधान नगरमें काव्य तथा शास्त्रकी परीक्षाके लिये 'ब्रह्म-सभाकी' स्थापना करे। इनमें जो कवि या शास्त्रज्ञ परीक्षामें उत्तीर्ण हों उसे ब्रह्मरथयान तथा पटबन्धका सम्मान राजा अवश्य प्रदान करे। जब पण्डित राज-सभामें विजयी होता था तब उसके रथ राजा स्वयं खींचते थे। इसे ब्रह्मरथयान कहते थे। और जब राजा स्वयं पण्डितके मस्तकपर सुवर्णपट्ट बांध देते थे तब उसे पट्टबन्ध कहते थे। विजेता कविका यहां तक सम्मान होता था कि कभी-कभी राजा स्वयं कविकी पालकीमें अपना कन्धा लगा देते थे। ऐसे ही सम्मानका वर्णन महाकवि भूषणके प्रसंगमें आता है। कहा जाता है कि शिवाजीके दरबारको छोड़कर जब भूषण पन्नाके नरेश छत्रसालके दरबारमें आए तब राजाने कविका बड़ा ही समादर किया। महाकवि भूषण पालकीपर चढ़कर चले आ रहे थे। जब राजाने यह समाचार सुना तब कविकी अगवानी (स्वागत)के लिये दौड़ पड़े और उनकी पालकीमें स्वयं अपना कन्धा लगाकर भूषणको अपने महलमें ले आए। भूषण राजाके इस अलौकिक समादरसे इतने प्रसन्न हुए कि निम्नांकित पद्यकी रचना कर उन्होंने यह

आशय प्रकट किया कि मुझे यह ज्ञात नहीं होता कि इस असाधारण सम्मान के कारण अब मैं छत्रपति साहूकी प्रशंसा करूँ अथवा महाराज छत्रसालकी स्तुति करूँ।

"राजत अखण्ड तेज छाजत सुजस बड़ो,
गाजत गयन्द दिग्गजन हिय सालको।
जाहि के प्रताप सो मलीन आफताप होत,
ताप तजि दुज्जन करत बहु ख्याल को।
साज सजि गज तुरी पैदरि कतार दीन्हें,
'भूषन' भनत ऐसे दीन प्रतिपाल को।
और रावराजा एक मनमें न ल्याऊँ अब,
साहू को सराहौं कि सराहौं छत्रसाल को॥"
(छत्रशाल शतक, पद्य १०)

राजशेखरके उल्लेखसे ज्ञात होता है कि प्राचीन भारतमें उज्जैनी कवियोंकी परीक्षाका केन्द्र था और पाटलिपुत्र शास्त्रकारोंकी परीक्षाका मुख्य स्थान था। राजशेखरके अनुसार महाकवि कालिदास, भर्तृमेण्ठ, आर्यशूर, भारवि, हरिश्चन्द्र और चन्द्रगुप्तकी परीक्षा विशाला नगरी (उज्जैनी)में हुई थी।[1] पाटलिपुत्रमें आचार्य उपवर्ष, पाणिनि, पिंगल, व्याडि, वररुचि और पतञ्जलि आदि आचार्योंकी परीक्षा की गई थी।[2]

---

१. इह कालिदासमेण्ठावत्रामररूपसूरभारवयः।
हरिश्चन्द्रचन्द्रगुप्तौ परीक्षिताविह विशालायाम्॥
काव्यमीमांसा, अध्याय १० पृ० ५५।

२. श्रूयते च पाटलिपुत्रे शास्त्रकारपरीक्षा—
अत्रोपवर्षवर्षाविह पाणिनिपिंगलाविह व्याडिः।
वररुचिपतञ्जली इह परीक्षिताः ख्यातिमुपजग्मुः॥
वही।

जिस प्रकार राजसभामें विजय प्राप्त करना कविके लिये गौरवका विषय था उसी प्रकार सभामें पराजित होना भी अत्यन्त अनादरका सूचक था। कहा जाता है कि नैषधचरितके रचयिता महाकवि श्रीहर्षके पिता हीर शास्त्रार्थमें उदयनाचार्यसे हार गये थे। इस पराजयसे उनके हृदयको इतना धक्का लगा कि वे परलोक सिधार गए। उन्होंने अपने पुत्रसे इस अपमानका बदला चुकानेको कहा था। अपने पिताके सुयोग्य पुत्र श्रीहर्षने शास्त्रार्थके लिये उदयनाचार्यको चुनौती दी थी। परन्तु जब वे सामने न आए तो उनके ग्रन्थोंका खण्डन अपने 'खण्डनखण्डखाद्य' नामक ग्रन्थमें भलीभांति किया और इस प्रकार अपने पिताके अपमानका बदला चुकाया।

८—काव्य-पाठ

काव्य-रचनाके समान ही काव्य-पाठ भी एक मनोरम कला है। अनेक लेखक कविताके लिखनेमें सफल हो सकते हैं परन्तु कविताके पढ़नेमें उसे ही सफलता मिलती है जिसको सरस्वती सिद्ध होती है। जिस प्रकार काव्यकी रचनामें जन्मान्तरीय संस्कार कारण माना जाता है उसी प्रकार कण्ठका माधुर्य भी जन्मान्तरके अभ्यासका ही फल होता है। हमारे आलोचकोंका तो यहां तक कहना है कि काव्य-पाठका सौन्दर्य एक जन्मका फल न होकर अनेक जन्मोंके संस्कारका परिपक्व परिणाम है। इस विषयमें आलोचकोंने जिन नियमोंका अपने ग्रन्थोंमें उल्लेख किया है, वे आज भी उपादेय हैं तथा उनके अनुसरण करनेसे विदग्ध सभामें भी कवि अपनी कविता-पाठ कर कीर्ति कमा सकता है।

कवि लोग उसी काव्य-पाठकी प्रशंसा करते हैं जो ललित हो, काकुसे युक्त हो, स्पष्ट हो, अर्थके विचारसे जिसमें शब्दोंका परिच्छेद (पृथक्-करण) किया गया हो और जिसमें कानको सुख देनेवाले अलग अलग वर्णोंका विन्यास हो।

ललितं काकुसमन्वितमुज्ज्वलमर्थवशकृतपरिच्छेदम्।
श्रुति-सुख-विविक्त-वर्णं कवयः पाठं प्रशंसन्ति॥

—काव्यमीमांसा, अध्याय ७, पृ० ३३

महर्षि पाणिनिने वर्णोंके उच्चारणकी विधि बतलाते हुए लिखा है कि जिस प्रकार व्याघ्री अपने पुत्रोंको एक स्थानसे दूसरे स्थानपर अपने दांतोंसे दबाकर ले जाती है और दांतोंसे उन्हें किसी प्रकारकी पीड़ा नहीं पहुँचाती क्योंकि वह डरती रहती है कि बच्चे कहीं गिर न जायें और दांत उनमें चुभ न जायें, उसी प्रकार वर्णोंके उच्चारण करनेवालेको भी सावधान होना चाहिए कि कहीं वर्ण उसके मुंहसे गिर न जायें और कहीं कोई वर्ण मुंहके भीतर ही रहकर अनुच्चारित न रह जाय:—

यथा व्याघ्री हरेत् पुत्रान् दंष्ट्राभ्यां न च पीडयेत् ।
भीता पतनभेदाभ्यां तद्वत् वर्णान् प्रयोजयेत् ॥
—पाणिनीयशिक्षा,

इसीका अनुसरण कर राजशेखरने भी काव्य-पाठके चार भेद बतलाए हैं जिनमें पहला गुण है (क) **गंभीरता** । काव्यके पढ़ते समय स्वरोंमें सान्द्रता होनी चाहिये । इस गुणके अभावमें शब्दका स्वर 'भांय' 'भांय'के समान कानोंको कष्ट देता है । (ख) **अनिष्ठुरता**—अर्थात् स्वरोंकी कोमलता जिसके कारण काव्य कानोंको कर्कश न प्रतीत होकर कोमलतथा सुखद जान पड़े । (ग) **तार और मद्र स्वर का निर्वाह**—अर्थात् प्रसन्न अर्थ होनेपर वाणीका धीमे स्वरसे उच्चारण करना चाहिए और इसके विरोधी काव्य-पाठके अवसरपर उसे ऊँचे स्वरसे पढ़ना चाहिये ।[1] यह सामान्य नियम है । इस नियमके अनुसार किसी कविताके पढ़नेमें पहले जिस स्वरको आरम्भ करे उसका निर्वाह अन्ततक करना चाहिए । दोनों स्वरोंका मिश्रण कर अपने पाठको कलुषित न बनाए । (घ) चौथा गुण **संयुक्त-वर्ण-लावण्य है**—अर्थात् संयुक्त वर्णोंका सौन्दर्य । अनेक वर्णोंके संयोगसे जो संयुक्त वर्ण तैयार होते हैं; उनका पाठ साधारण रीतिसे कठिन होता है । अतः उनका ऐसा उच्चारण करे कि जिससे उनमें सुन्दरताका उन्मीलन हो:—

गम्भीरत्वमनैष्ठुर्यं निर्व्यूढिस्तारमन्द्रयोः ।
संयुक्तवर्णलावण्यमिति पाठगुणाः स्मृताः ॥
—का० मी० वही

---

१. प्रसन्ने मन्द्रयेत् वाचं तारयेत् तद्विरोधिनि ।
मन्द्रतारौ च रचयेन्निर्वाहिणि यथोत्तरम् ॥
का०मी० अ० ७ पृ० ३३

काव्य-पाठकी तभी प्रतिष्ठा होती है जब विभक्तियां स्फुट हों, समासों-को अर्थाभिव्यक्तिकी दृष्टिसे स्पष्ट उच्चारण किया गया हो, पदोंकी सन्धि अलग-अलग जान पड़े। यह तभी सम्भव है जब अलग-अलग पदोंका एक साथ उच्चारण न किया जाय और न समस्त (समाससे युक्त) पदोंको पृथक् किया जाय, न क्रिया-पदोंका ऐसा उच्चारण करे जिससे वे मलिन प्रतीत हों। इन नियमोंके आश्रय लेनेपर ही काव्यकी प्रतिष्ठा होती है तथा कवि यशस्वी बनता है:—

विभक्तयः स्फुटा यत्र, समासाश्चाकदर्थिताः।
अम्लानः पदसन्धिश्च तत्र पाठः प्रतिष्ठितः॥
न व्यस्तपदयोरैक्यं न भिदा तु समस्तयोः।
न चाख्यातपदम्लानिं विदधीत सुधीः पठन्॥

—काव्य-मीमांसा अ० ७

समस्त पदोंको अलग-अलग करके पढ़नेसे जो अनर्थ होता है उसका पूर्ण आभास इस प्राचीन कथामें मिलता है।

सुनते हैं कि कोई व्यासजी थे जो जन्मसे तो अन्धे थे परन्तु रामायणकी कथा बड़ी सुन्दर कहा करते थे। अन्धे होनेके कारण उन्होंने रामायणके श्लोकोंके पढ़नेका भार किसी नवयुवक शिष्यपर छोड़ रखा था। शिष्य रामायण पढ़ता जाता था और व्यासजी उसकी सुन्दर व्याख्या कर जनता को रिझाते थे। कथा-समाप्तिपर उन्हें प्रचुर दक्षिणा मिलती थी परन्तु वे इतने अर्थ-लोलुप थे कि अपने सहायक शिष्यको उस द्रव्यमेंसे बहुत थोड़ा धन दिया करते थे। चेला अपने गुरुके इस व्यवहारसे बड़ा दुःखी था और अपने गुरुको छकानेका अवसर ढूढ़ रहा था। आखिर वह अवसर आ ही गया। श्रोताओंका जमघट जुटा हुआ था। वृद्ध व्यासजी बड़े अनुराग और लगनके साथ कथा कह रहे थे। कथा खूब जमी थी। इसी अवसरपर वह चतुर शिष्य जोरोंसे बोल उठा—'दशरा-मशराः। व्यास

जीने इस पदका अर्थ न लगते देखकर शिष्यसे इसे फिरसे पढ़नेका आग्रह किया। परन्तु सधे हुए शिष्यने फिर दुहराया—"दशरा—मशराः"। व्यासजीने समझ लिया दालमें काला है। रामायणी कथा कहते हुए उम्र बीत चली, बाल सफेद हो गए, परन्तु कभी भी दशरा-मशराः उनके कानोंमें न पड़ा था। श्रोताओंको किसी प्रकार सन्तोष देकर उन्होंने उस दिन बिदा किया और कथा-समाप्तिके अनन्तर अपने शिष्यको एकान्तमें कहा कि आजसे कथाकी दक्षिणामें तुम्हारा भी हिस्सा रहेगा; आधा तुम्हारा और आधा मेरा। चेला राम चेत गए और दूसरे दिन उसने कथा के अवसरपर इन पदोंका शुद्ध उच्चारण करते हुए पढ़ा—दश-राम-शराः। शुद्ध पाठ सुनते ही व्यासजीको श्लोकका ठीक अर्थ लग गया और उन्होंने श्लोकके यथार्थ अर्थको समझाकर श्रोताओंका पर्याप्त मनोरंजन किया।

कविताका पाठ रसानुकूल होना चाहिए। विप्रलम्भ शृंगारकी कविता सदा मन्द्र स्वरमें पढ़ी जानी चाहिए। इसके विपरीत उत्साहमयी वीर कविताके पाठके लिये ऊँचे स्वरका प्रयोग करना उचित होता है। औचित्यके भेदोंमें एक प्रकार पाठौचित्य भी होता है जिसमें सन्दर्भ तथा रसके अनुकूल कविताका पाठ उचित ढंगसे किया जाता है। विरह वेदनासे पीड़ित कोई सुन्दरी अपनी सखियोंसे निवेदन करती है:—

"अपसारय घनसारं कुरु हारं दूर एव किं कमलैः।
अलमलमालि मृणालैरिति वदति दिशानिशं बाला।"

विप्रलम्भ शृंगारसे लबालब भरे हुए इस श्लोकका आनन्द मन्द्र स्वरसे पढ़नेमें ही आ सकता है। इसके ठीक विपरीत वीररसोत्पादक भट्ट नारायणका यह श्लोक देखिए:—

मन्थायस्तार्णवाम्भः प्लुतिकुहरचलन्मन्दरध्वानधीरः,
कोणाघातेषु गर्जत्प्रलयघनघटाऽन्योन्यसङ्घट्टचण्डः।
कृष्णाक्रोधाग्रदूतः कुरुकुलनिधनोत्पातनिर्घातवातः,
केनास्मत्सिंहनादप्रतिरसितसखो दुन्दुभिस्ताडितोऽयम्॥

इस पद्यको जबतक ऊँचे स्वरमें नहीं पढ़ा जायगा तबतक श्लोकका चमत्कार स्फुट रूपसे अभिव्यक्त नहीं होगा।

कहा जाता है हिन्दीके महाकवि भूषणके काव्य-पाठका ढंग बड़ा ही निराला था। अपनी वीररसमयी, फड़कती कविताको जब वे जोशमें आकर तारस्वरसे पढ़ने लगते थे तब जनताके ऊपर उसका प्रभाव बड़ा ही अधिक पड़ता था। ऐसी प्रसिद्धि है कि वे अपने घरसे रुष्ट होकर शिवाजीके दरबारमें अपनी कविता सुनानेके लिये पूना पहुँचे। रात्रि हो गई थी, स्थान बिल्कुल अपरिचित था। अतः वे किसी धर्मशाला या मन्दिर में ठहर गए। थोड़ी देरमें शिवाजी महाराज वेष बदलकर अपनी प्रजाके दुःख तथा सुखका समाचार जाननेके लिये उस धर्मशालेमें आ पहुँचे। उन्होंने इस नवागन्तुक अतिथिसे पूछा कि तुम कौन हो और यहां क्यों आए हो ? भूषणने कहा कि मैं एक साधारण कवि हूँ और कल गुणग्राही शिवाजी जी महाराजके दरबारमें अपनी कविता सुनानेके लिये आया हूँ। शिवाजी ने पूछा कि क्या मैं वह कविता सुन सकता हूँ ? तब भूषण बड़े ऊँचे स्वरों में, बड़े उमंग तथा जोशके साथ अपनी ओजमयी निम्नांकित कविता पढ़ सुनायी।

इन्द्र जिमि जम्भपर, वाड़व सुअम्भ पर,
रावण सदम्भपर रघुकुल राज है।
पवन बारिबाह पर, सम्भु रतिनाहपर,
ज्यों सहस्रबाहुपर राम द्विजराज है।
दावा द्रुमदंडपर चीता मृगझुंड पर,
भूषण वितुण्डपर जैसे मृगराज है।
तेज तम अंसपर, कान्ह जिमि कंसपर,
त्यौं म्लेच्छवंशपर शेर शिवराज है॥

शिवाजी इस वीर रससे ओतप्रोत तथा तारस्वरसे जोशके साथ पढ़ी गई कविताको सुनकर फड़क उठे और कविजीसे कहा कि इस कविता

को एक बार और पढ़िए। इस प्रकार उन्होंने इस कविताको भूषणके मुंहसे ५२ बार सुना और प्रसन्न होकर भूषणको ५२ गांव, ५२ हाथी, ५२ लाख रुपए दिये।

आधुनिक हिन्दीके जन्मदाता, महाकवि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र कोमल कविताके पाठ करनेमें बड़े निपुण थे। एक तो उनका वेश ही बड़ा सुन्दर था—कन्धेपर लटकते हुए घुंघराले बाल, शरीरपर सुन्दर बहुमूल्य वस्त्र, सुन्दर चमकता हुआ वदन। जब भारतेन्दुजी कविता-पाठ करनेके लिये खड़े होते थे तो एक अजीब समां बँध जाता था। यों तो प्रत्येक छन्दमें निबद्ध कविताको वे सुन्दर रीतिसे पढ़ते थे परन्तु वे सरस सवैयाके कवि ही न थे प्रत्युत मनोरम पाठ करनेमें दक्ष भी थे। उनके मधुर कण्ठ से पढ़ी गई सवैया सुनकर श्रोतागण लोटपोट हो जाते थे। घनानन्द की 'सवैया' उन्हें बड़ी प्रिय थी और उनका वे बड़े प्रेमसे पाठ किया करते थे तथा विशेषकर इस सवैयाका:—

"अतिसूधो सनेह को मारग है, तँह नेकु सयानप आँक नहीं।
तुम कौनसी पाटी पढ़े हो लला, मन लेत हो देत छटाँक नहीं॥"

प्रान्तीय कवियोंका कविता-पाठ

राजशेखरने काव्य-मीमांसामें भारतके विभिन्न प्रान्तोंके निवासी कविजनोंके काव्य-पाठका बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है। भारत एक महान् देश है जहांके विभिन्न प्रान्तोंमें विभिन्न भाषाओंको भिन्न-भिन्न स्वरोंमें पढ़नेका ढंग प्रचलित था। ऐतिहासिक दृष्टिसे राजशेखरके इस वर्णनका बड़ा ही महत्त्व है। आजसे लगभग एक हजार वर्ष पहले काव्य-पाठके विषयमें कवि-परम्परा कैसी थी इसका परिचय हमें राजशेखरके इस विवरणसे भलीभांति चलता है।

काशीसे पूरबके कवियोंके विषयमें उनका कहना है कि वे लोग संस्कृत कविताका पाठ बड़ा ही सुन्दर करते थे, परन्तु प्राकृत कविताका पाठ बड़ा

ही कर्कश होता था[1]। गौड़ देशीय संस्कृत-पाठकी प्रशस्त प्रशंसा करते हुए राजशेखरने लिखा है कि गौड़देशीय ब्राह्मणका पाठ न तो अत्यन्त स्पष्ट होता है, न अत्यन्त आश्लिष्ट (मिला हुआ) होता है, न रूखा होता है और न अत्यन्त कोमल होता है, न मन्द्र होता है और न अन्त्यन्त ऊँचा ही होता है। अर्थात् वह मध्यम स्वरमें काव्यका पाठ करता है[2]। इस विषयमें राजशेखरने एक प्राचीन श्लोक उद्धृत किया है जिसमें सरस्वती ब्रह्मासे प्रार्थना कर रही है कि ए भगवन्! में अपना अधिकार छोड़नेके लिये उद्यत हूँ। या तो गौड़देशीय कवि प्राकृतका पढ़ना छोड़ दें अथवा उनके लिये दूसरी सरस्वती हो—

ब्रह्मन् विज्ञापयामि त्वां स्वाधिकारजिहासया।
गौडो त्यजतु वा गाथामन्या वाऽस्तु सरस्वती॥

भारतके पश्चिमी भाग अर्थात् गुजरान्तप्रान्तके कविजन संस्कृतके द्वेषी होते थे। वे प्राकृत कविताको बड़े लटकके साथ पढ़ते थे। ललित वचनके उच्चारणके कारण उनकी जीभ बड़ी मीठी मालूम पड़ती थी[3]। सुराष्ट्र (काठियावाड़) एवं त्रवण (पश्चिमी भारतका एक प्रान्त)के कविजन संस्कृत कविताको अपभ्रंश कविताके उच्चारण विधानके अनुसार

---

१. पठन्ति संस्कृतं सुष्ठु कुण्ठाः प्राकृतवाचि ते।
वाराणसीतः पूर्वेण ये केचिन्मगधादयः॥
का० मी०, अ० ७ पृ० ३३

२. नातिस्पष्टो न चाश्लिष्टो न रुक्षो नातिकोमलः।
न मन्द्रो नाति तारश्च पाठो गौडेषु वाडवः॥
का० मी० अ० ७ पृ० ३४

३. पठन्ति लटभं लाटाः, प्राकृतं संस्कृतद्विषः।
जिह्वया ललितोल्लापलब्धसौन्दर्यमुद्रया॥
वही—

पढ़ते थे[1]। राजशेखरने अपने बालरामायणमें लाट देश (गुजरात)को प्राकृत कविताका केन्द्र माना है। इस प्रसंगमें वे लिखते हैं कि प्राकृत संस्कृतकी योनि है। वह सुलोचनी स्त्रियोंकी जिह्वापर आनन्द देती हैं, जिसको सुनते ही संस्कृत भाषाके अक्षरोंका रस भी कटु प्रतीत होता है। जो स्वयं कामदेवका निवास स्थान है, उस प्राकृतका पाठ करनेवाली लाटदेशकी सुन्दर स्त्रियां होती हैं।

> यद्योनिः किल संस्कृतस्य सुदृशां जिह्वासु यन्मोदते,
> यत्र श्रोत्रपथावतारिणि कटुर्भाषाक्षराणां रसः।
> गद्यं चूर्णपदं पदं रतिपतेस्तत्प्राकृतं यद्वच-
> स्ताँल्लाटाँल्ललिताङ्गि पश्य नुदती दृष्टेर्निमेषव्रतम्॥
>
> राजशेखर—बालरामायण

गुर्जरदेशीय लोगोंका प्राकृत-प्रेम इतना अधिक है कि आज भी वे संस्कृत-शब्दोंका विशुद्ध उच्चारण नहीं कर सकते। तुलसीको वे तलसी कहते हैं, मुकुन्दको मकन्द और शिवका उच्चारण शव करते हैं। महाराष्ट्र पण्डितोंका गुर्जरदेशीय पण्डितोंके संस्कृत उच्चारणकी यह आलोचना कितनी समीचीन है।

> तुलसी तलसी जाता, मुकुन्दोऽपि मकुन्दताम्।
> गुर्जराणां मुखं प्राप्य शिवोऽपि शवतां गतः॥

इस श्लोकसे पता चलता है कि गुजराती लोग संस्कृत शब्दोंके इकार और उकारके स्थानपर अकारका उच्चारण करते हैं। यह उच्चारण की प्रवृत्ति प्राकृत भाषासे आई है क्योंकि प्राकृत-भाषाके व्याकरणके अनुसार किन्हीं संस्कृत-शब्दोंका इकार और उकार अकार हो जाता है।

---

१. सुराष्ट्रत्रवणाद्या ये पठन्त्यर्पितसौष्ठवम्।
अपभ्रंशावदंशानि ते संस्कृतवचांस्यपि॥

वही, पृ० ३४

भारतके उत्तरी प्रान्तोंमें काश्मीर ही संस्कृत काव्यकलाका केन्द्र था। शारदापीठ होनेके कारण वहांके कवि संस्कृतके प्रकाण्ड विद्वान् होते थे। महाकवि बिल्हणने कविताके विलासको केसर-प्ररोहका सहोदर माना है। उनके मतसे केसर और कविता कश्मीरमें ही पैदा होती है। इन दोनोंका अंकुर किसी दूसरे देशमें नहीं जमता। वे कहते हैं—

सहोदराः कुंकुमकेसराणां भवन्ति नूनं कविता विलासाः।
न शारदादेशमपास्य दृष्टः तेषां यदन्यत्र मया प्ररोहः॥

विक्रमाङ्कदेवचरित १।१०

बिल्हणकी यह उक्ति वस्तुतः यथार्थ है। कश्मीरके कवियोंने सरस कविताका निर्माणकर सरस्वतीके भण्डारकी पूर्ति की है। परन्तु उनके संस्कृत श्लोकोंका पाठ सुन्दर नहीं होता। वह इतना कड़ुआ होता है कि जान पड़ता है मानो कोई गुड़ुचीका रस कानोंमें उड़ेल रहा हो। राजशेखर कहते हैं:—

शारदायाः प्रसादेन काश्मीरः सुकविर्जनः।
कर्णे कडूची कण्डूषस्तेषां पाठक्रमः किमु॥

का०यमीमांसा, अ० ७ पृ० ३४

कश्मीरके उत्तर गिलगित प्रान्तमें जो संस्कृत भाषाभाषी व्यक्ति होते थे उनमें कितना ही संस्कार किया जाय परन्तु संस्कृत शब्दोंका सर्वदा सानुनासिक ही पाठ करते थे[1]।

---

१. ततः पुरस्तात् कवयो ये भवन्त्युत्तरापथे।
ते महत्यपि संस्कारे सानुनासिकपाठिनः॥ का० मी० वहीपृ० ३३

दक्षिण भारतके लोगोंके उच्चारणके विषयमें राजशेखरने कर्णाट देश तथा द्रविड़ देशके कवियोंका वर्णन किया है। वे कहते हैं कि चाहे कोई भी रस हो, कोई भी रीति हो, कोई भी गुण हो परन्तु कर्णाट देशका कवि गर्वके साथ जोशीले स्वरोंमें टंकारके साथ बोलता है[१]। इससे विपरीत दशा है द्रविड़ देशके कविकी जो गद्य, पद्य अथवा चम्पूको संगीत के स्वरमें पढ़ता है। काव्यके प्रकारपर बिना विचार किए हुए वह सबको गा-गाकर पढ़ता है[२]।

राजशेखरने भारतवर्षके मध्यदेश (वर्तमान 'उत्तर प्रदेश')के कवियों के काव्य-पाठकी बड़ी प्रशंसा की है। उनका कहना है कि इन कवियोंका संस्कृत काव्य-पाठ रीतिका अनुगमन करता है, गुणोंका निधान है, सम्पूर्ण वर्णोंके उच्चारणकी अभिव्यक्ति करता है, यतियोंके द्वारा वह विभक्त रहता है। उनका काव्य-पाठ इतना मधुर होता है कि वह श्रोताओंके कानमें मधुकी धारा उड़ेल देता है। राजशेखर कहते हैं :—

"मार्गानुगेन निनदेन निधिर्गुणानां,
सम्पूर्णवर्णरचनो यतिभिर्विभक्तः।
पाञ्चालमण्डलभुवां सुभगः कवीनां
श्रोत्रे मधु क्षरति किञ्चन काव्यपाठः॥"

काव्यमीमांसा, अंक ७ पृ० ४२

---

१. रसः कोप्यस्तु काप्यस्तु, रीतिः कोप्यस्तु वा गुणः।
सगर्वंसर्वकर्णाटाः टंकारोत्तरवादिनः॥

अ० ७ पृ० ३४

२. गद्ये पद्येऽथवा मिश्रे काव्ये काव्यमना अपि।
गेयगर्भे स्थितः पाठे सर्वोपि द्रविडः कविः॥ वही—पृ० ३४

महाकवि सुबन्धुने कानोंमें मधुधारा बहानेवाली, सत्कविकी कविताका जो वर्णन किया है वह राजशेखरके द्वारा वर्णित मध्यदेशीय कवियोंके काव्योंमें विशेष रूपसे चरितार्थ होता है[1]। आजकल भी मध्यदेशकी काशी नगरीमें निवास करनेवाले पण्डितोंका संस्कृतका उच्चारण शुद्ध, सुन्दर, मनोरम तथा आदर्श माना जाता है।

---

१. अनधिगतगुणापि हि सत्कविभणितिः कर्णेषु वमति मधधाराम्।
अनधिगतपरिमलापि हि हरति दृशं मालतीमाला ॥

वासवदत्ता

६—कवि-कोटियाँ

विषय-दृष्टिसे कविभेद

राजशेखरने कवियोंका काव्यके विषयकी दृष्टिसे तीन भेद किया है—(१) शास्त्र-कवि (२) काव्य कवि और (३) उभय-कवि। श्यामदेव नामक आचार्यकी सम्मतिमें इनमें क्रमशः एक दूसरेसे बड़ा होता है। शास्त्र-कवि सबसे निम्न श्रेणीका होता है। उससे बढ़कर होता है काव्य-कवि और सबसे श्रेष्ठ है उभय-कवि। परन्तु राजशेखर इस मतके सर्वथा विरुद्ध हैं। उनका कथन है कि प्रत्येक कवि अपने विषयमें श्रेष्ठ होता है। यह विभाग विषयकी दृष्टिसे किया गया है। प्रत्येक विषयका कवि अपने विषयमें स्वतन्त्र है। न राजहंस चन्द्रकिरणके पान करनेमें कभी समर्थ होता है और न चकोर पानीसे दूधको अलग कर सकता है। नीर-क्षीर विवेक हंसका कार्य है और चन्द्रिका-पान चकोर का। दोनों अपने विषयमें कुशल हैं। इसी प्रकार विषयकी दृष्टिसे कवियोंकी भी व्यवस्था है।

शास्त्र-कवि काव्यमें रस सम्पत्तिका सम्पादन करता है और काव्य-कवि शास्त्रके तर्क-कर्कश अर्थको भी उक्तिकी विचित्रतासे मनोरम बना देता है। परन्तु उभय-कवि शास्त्र और काव्य, दोनोंमें परम प्रवीण होता है। इसलिये शास्त्र-कवि और काव्य-कविका प्रभाव एक समान् हुआ करता है। दोनोंमें परस्पर उपकार्योपकारक भाव भी हुआ करता है। अर्थात् शास्त्र-कविको काव्यकी मधुरता तथा सरसताको ग्रहण कर उसे अपने काव्यमें लानेका उद्योग करना चाहिए। यदि वह शास्त्रमें ही एकांगी रूपसे प्रवण होगा तो उसकी कविता माधुर्यसे विहीन होनेके कारण जन-मनका अनुरंजन नहीं कर सकती। इसी प्रकार काव्य-कविको भी शास्त्रका संस्कार होना चाहिए क्योंकि शास्त्रका संस्कार काव्य-रचनामें महती सहायता करता है। काव्यमें एकांगी रूपसे प्रवण होनेसे शास्त्रके गम्भीर

तत्त्वोंका विवेचन काव्यमें नहीं हो सकता। इसीलिये काव्य और शास्त्र, दोनोंका उपकार्योपकार्य भाव मानना नितान्त शोभन तथा युक्तियुक्त है।

शास्त्र-कवि

शास्त्रकवि वराहमिहिरकी रसमयी कविता देखिए। कवि अग्नि-प्रदाहका शास्त्रीय वर्णन मनोरम शब्दोंमें कर रहा है—

वातोद्धतश्चरति वह्निरतिप्रचण्डो,
ग्रामान् वनानि नगराणि च संदिधक्षुः।
हा हेति दस्युगणपातहता रटन्ति,
निःस्वीकृता विपशवो भुवि मर्त्यसंघाः॥

—बृहत्संहिता।

यदि काव्यकवि शास्त्रके तत्त्वोंका विवेचन भी अपने काव्यमें कोमल शब्दोंमें प्रसंगतः करता है तो उसका शास्त्रीय विवेचन भी इसी प्रकार रोचक तथा ज्ञानवर्धक होता है। महाकवि माघ और श्रीहर्षमें कवित्व तथा पाण्डित्यका अद्भुत विकास दृष्टिगोचर होता है। अतः इनके काव्योंमें एतद्विषयक दृष्टान्तोंकी विशेष बहुलता है। माघने प्रातःकालके वर्णन-प्रसंगमें उपयुक्त रागके ग्रहण तथा अनुचित रागके निषेधकी बात बड़े मार्मिक ढंगसे कही है:—

श्रुतिसमधिकमुच्चैः पञ्चमं पीडयन्तः
सततमृषभहीनं भिन्नकीकृत्य षड्जम्।
प्रणिजगदुरकाकु श्रावक—स्निग्धकण्ठाः
परिणतिमिति रात्रेर्मागधा माधवाय॥

—शिशुपाल वध, ११।१

श्री हर्षने निम्नांकित श्लोकमें योगशास्त्रके तत्त्वका निर्देशकर कितनी मार्मिकता अभिव्यक्त की है:—

हंसं तनौ सन्निहितं चरन्तं मुनेर्मनोवृत्तिरिव स्विकायाम् ।
ग्रहीतुकामा दरिणा शयेन यत्नादसौ निश्चलतां जगाहे ॥
—नैषध-चरित ३।२

वैशेषिक मतकी दूसरी संज्ञा है औलूक्य दर्शन । अन्धकार तत्त्वके विषयमें वैशेषिक मतके आचार्योंने बड़ा ही गम्भीर विचार किया है । इसीको लक्ष्य करते हुए श्री हर्षने वैशेषिक मतानुयायी विद्वानोंपर बड़ी ही सुन्दर छींटाकशी की है । तमिस्रामें दर्शनकी क्षमता रखता है उलूक तथा तमस्तत्त्वके निरूपणकी क्षमता रखता है औलूक्य दर्शन ।

ध्वान्तस्य वामोरु विचारणायां,
वैशेषिकं चारुमतं मतं मे ।
औलूकमाहुः खलु दर्शनं तत्,
क्षमं तमस्तत्त्वनिरूपणाय ।
—नैषध २२।३६,

इन कवियोंके अवान्तर प्रकार भी अनेक होते हैं ।

(१) शास्त्रकवि तीन प्रकारका होता है—

(क) जो विभिन्न छन्दोंमें शास्त्रका विधान करता है ।

(ख) जो शास्त्रमें काव्यका संविधान करे अर्थात् शास्त्र लिखते समय काव्यकी सुन्दर सामग्रीका भी स्थान-स्थानपर निवेश करे; जैसे वराहमिहिर और भास्कराचार्यने अपने ज्योतिषके ग्रन्थोंमें ऋतुवर्णन आदि कमनीय अवसरोंपर बड़ी ही रोचक तथा रसपेशल कविता लिखी है ।

(ग) जो काव्यमें शास्त्रके अर्थको रखता है जैसे भट्टि ।

महाकवि भट्टिने अपने विश्रुत काव्यमें व्याकरणशास्त्रके नियमोंका उदाहरण इतनी सुन्दरतासे प्रस्तुत किया है कि कोई भी व्यक्ति भट्टि काव्यकी सहायतासे व्याकरणका प्रवीण पण्डित बन सकता है ।

काव्यकवि

२—राजशेखरने काव्यकविके आठ प्रकार बताए हैं। काव्यगत वैशिष्ट्य या चमत्कारके कारण यह विभाजन स्वीकार किया गया है। ये भेद हैं—(१) रचनाकवि (२) शब्दकवि (३) अर्थ-कवि (४) अलंकारकवि (५) उक्तिकवि (६) रसकवि (७) मार्गकवि और (८) शास्त्रार्थकवि।

(१) **रचनाकवि**—उसे कहते हैं जिसकी पदरचना अत्यन्त सुन्दर हो अर्थात् अनावश्यक, अधिक तथा अपुष्टार्थक पदोंकी भी योजना केवल अनुप्रास लानेके लिये की गई हो।[1]

(२) **शब्दकवि**—जिस कविके काव्यमें शब्दोंकी योजना अत्यन्त सुन्दर हो अर्थात् एक ही शब्दके विन्याससे काव्यमें सच्चा चमत्कार उत्पन्न हो जाय वह होता है शब्दकवि। संस्कृतके राजशेखर शब्द-कविके प्रख्यात उदाहरण हैं। 'श्रुति-मर्मज्ञ'के लिये उनका 'श्रुत्यर्थवीथिगुरुः' ऐसा ही सुन्दर शब्द है। लैटिन भाषाके महनीय कवि वर्जिल तथा अंग्रेजी भाषाके महाकवि टेनिसन इस श्रेणीमें रखे जा सकते हैं। टेनिसनके विषयमें कहा जाता है कि इन्होंने अपने महाकाव्य 'इन मेमोरियम' के संस्कार करनेमें अनवरत बीस वर्ष लगाए, तब कहीं यह अनुपम काव्य निष्पन्न हुआ। वर्जिल तो इस सौशब्द्यके प्रधान आचार्य माने जाते हैं जिनके विषयमें इस कलाके विशेषज्ञ टेनिसनकी यह उक्ति नितान्त प्रसिद्ध है—

Landscape-lover, lord of language
more than he that sang the *Work and Days*,

---

१. अधिकानामपुष्टार्थानामपि पदानामनुप्रासाय छन्दः पूरणाय च अर्थानुगुण्येन रचितत्वादियं पदरचना॥

भोज, सरस्वती-कण्ठाभरण २।६९

All the chosen coin of fancy
flashing out from many a golden phrase.

How that singest wheat and woodland,
tilth and vineyard, hive and horse and herd;

All the charm of all the muses
often flowering in a lonely word.

(३) अर्थकवि—नवीन अर्थ, नूतन घटना तथा अभिनव स्थितिकी कल्पना करनेमें प्रवीण कवि 'अर्थकवि' कहलाता है।

(४) अलंकारकवि—अलंकारकी योजनामें निपुण कवि इस नामसे पुकारा जाता है।

(५) उक्तिकवि—'उक्ति'का अर्थ है कथनका विलक्षण प्रकार। इस विषयमें चतुर कवि 'उक्ति कवि' कहलाता है। जैसे किसी युवतिकी यौवनदशाका वर्णनात्मक यह पद्य—

उदरमिदमनिन्द्यं मानिनीश्वासलाव्यं
स्तनतटपरिणाहो दोर्लतालेह्यसीमा।
स्फुरति च वदनेन्दुर्दृक्प्रणालीनिपेय—
स्तदिह सुदृशि कल्याः केलयो यौवनस्य॥

युवतिका अभिनन्दनीय उदर मानिनीके श्वाससे टूटने योग्य है। मानिनीकी आहोंकी हवासे युवतीका उदर टूट पड़ता है। स्तनतटकी विशालता ऐसी है जैसे लतातुल्य भुजाएँ उसकी सीमाको चाट रही हैं। मुखरूपी चन्द्रमा ऐसा चमकता है मानो नेत्रोंके पनालेके द्वारा वह बिल्कुल पीने योग्य है—इस प्रकार उस सुनयनीके शरीरमें यौवन कमनीय क्रीड़ा कर रहा है। इस पद्यमें उक्तिकी विचित्रता है।

(६) रसकवि—रसको काव्यमें प्रधानता देनेवाला कवि।

(७) मार्गकवि—काव्यमें विशिष्ट रीतिको आदर देनेवाला कवि मार्ग कवि कहलाता है।

(८) शास्त्रार्थकवि—काव्यमें शास्त्रके विशिष्ट अर्थोंको कोमल पदावलीमें प्रस्तुत करनेवाला कवि।

विचार करनेसे स्पष्ट होगा कि इन प्रकारोंमें अनेक प्रकार अलंकार शास्त्रके विभिन्न सम्प्रदायोंकी ओर लक्ष्य करके ही निर्दिष्ट किए गए हैं।

अवस्थागत कविकोटि

राजशेखरने अवस्थाको दृष्टिमें रखकर कवियोंके दश भेद निर्धारित किये हैं:—

(१) काव्यविद्यास्नातक, (२) हृदयकवि, (३) अन्यापदेशी, (४) सेविता, (५) घटमान, (६) महाकवि, (७) कविराज, (८) आवेशिक, (९) अविच्छेदी और (१०) संक्रामयिता।

(१) काव्यविद्यास्नातक—जो व्यक्ति कवित्वकी कामनासे काव्य की विद्याओं (व्याकरण, छन्दःशास्त्र, अलंकार-शास्त्र आदि) तथा उपविद्याओं (चौसठकला)के ग्रहण करनेके लिये गुरुकुलमें जाकर निवास करता है वही काव्यविद्यास्नातक कहलाता है।

(२) हृदयकवि—वह है जो कविता तो बनाता है परन्तु संकोचवश उसे छिपा रखता है, न बाहर प्रकट करता है; न पत्र, पत्रिकाओंमें छपनेके लिये उसे भेजता है। उसकी कविताका प्रचार उसके हृदय तक ही सीमित है। अतः उसे हृदयकवि कहते हैं।

(३) अन्यापदेशी—वह कवि है जो स्वयं कविता तो करता है परन्तु दोषके भयसे वह दूसरेकी रचना कहकर लोगोंमें उसका प्रचार करता है। अनेक कवि आरम्भिक दशामें दूसरोंके ही नामसे अपनी कविताका प्रचार करते हैं।

(४) सेविता—वह कवि है जो प्राचीन कवियोंकी कविताकी छाया लेकर कविताका अभ्यास करता है।

(५) घटमान—वह कवि है जो स्फुट कविता तो सुन्दर लिख लेता है परन्तु कोई प्रबन्धकाव्य नहीं लिख सकता। आजकलके हिन्दीके अधिकतर वर्तमान कविगण 'घटमान' कविकी श्रेणीमें रखे जा सकते हैं।

(६) महाकवि—वह है जो प्रबन्ध काव्यकी रचनामें समर्थ होता है। मुक्तक काव्यकी रचना करना तो सरल काम है परन्तु प्रबन्ध काव्यकी रचना—जिसके अंग और उपांग परस्पर संबद्ध हों तथा रससंवलित हों—अतीव दुष्कर व्यापार है। ऐसे ही प्रबन्ध काव्यकी रचनाको लक्ष्य-कर महाकवि माघ ने कहा है:—

बह्वपि स्वेच्छया कामं प्रकीर्णमभिभाष्यते।
अनुज्झितार्थसंबंधः प्रबधो दुरूदाहरः॥
—शिशुपालवध २।७३

प्रकीर्ण कविताकी रचनामें अधिकतर मनमानी कल्पनाका ही राज्य रहता है, अतः बहुतसे कवि स्फुट कविता बांधते देखे जाते हैं, परन्तु अर्थ-सम्बन्धसे संवलित पुष्ट प्रबन्धकी रचना किसी ही भाग्यशाली कविके लिलारमें लिखा रहता है।

संस्कृतके कवियोंने प्रबन्ध-रचनाको विशेष महत्त्व दिया है। इसी-लिये संस्कृतमें महाकाव्योंकी संख्या बहुत ही अधिक है। यह दुःखकी बात है कि हिन्दीमें प्रबन्ध-काव्यकी रचना आज भी बहुत ही कम हो रही है।

(७) कविराज—राजशेखरके अनुसार कवियोंकी सबसे उन्नत कोटि कविराजकी है। कविराज वही होता है जो कि सब प्रकारकी भाषा में कविता लिखनेमें समर्थ होता है। प्रत्येक प्रकारके प्रबन्धमें तथा प्रत्येक प्रकारके रसमें जो स्वतन्त्रतया सिद्ध हो वही कविराजकी महनीय

पदवीसे अलंकृत किया जाता है[1]। राजशेखर यह मानते हैं कि यह पद सर्वश्रेष्ठ है और इसके पानेके अधिकारी संसारमें इनेगिने दो-चार ही कवि होंगे। सरस्वती भी ऐसे वश्यवाक् कविकी दासी बनकर उसका अनुगमन किया करती है। ऐसे ही रससिद्ध कविराज तथा पारदसिद्ध वैद्यराजकी प्रशंसा भर्तृहरिने समभावेन इस प्रख्यात पद्यमें की है:—

जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः।
नास्ति येषां यशः काये, जरामरणजं भयम्॥

अबतक कवियोंकी वर्णित सातों अवस्थाएं विकास तत्त्वानुयायी हैं— क्रम क्रमसे विकासको प्राप्त होनेवाली हैं अर्थात् काव्य-विद्या-स्नातककी दशासे आरम्भ कर जो व्यक्ति प्रतिभा तथा अभ्यासके बलपर आगे उन्नति करता जाता है वह कविराजकी सबसे उन्नत कोटि प्राप्त करनेमें समर्थ होता है। ये सातों अवस्थाएं बुद्धिमान् तथा आहार्य-बुद्धि नामक कवियोंकी हैं। औपदेशिक कविकी भी तीन अवस्थाएँ होती हैं जो नीचे दिखाई जाती हैं—

(८) **आवेशिक**—मन्त्र तथा तन्त्र आदिकी उपासनासे काव्य-रचनामें सिद्धि पानेवाला व्यक्ति तभी कविता करता है जब वह आवेशमें आताहै। ऐसे कविको 'आवेशिक' कहते हैं।

(९) **अविच्छेदी**—जो जब चाहता है तभी बिना किसी प्रतिबन्धके कविता करता है उसे अविच्छेदी कवि कहते हैं, क्योंकि उसकी इच्छाका कभी विच्छेद नहीं होता है।

(१०) **संक्रामयिता**—उसे कहते हैं जो स्वयं सिद्धमन्त्र होकर मन्त्रके ही बलपर अबोध कन्या तथा कुमारोंमें, बालक तथा बालिकाओंमें,

---

१. यस्तु तत्र तत्र भाषाविशेषे तेषु तेषु प्रबन्धेषु तस्मिन् तस्मिन् च रसे स्वतन्त्रः स कविराजः। ते यदि जगत्यपि कतिपये।
काव्यमीमांसा अ० ५ पृ० १९

सरस्वतीका संक्रमण कराता है अर्थात् उन्हें काव्यरचनाकी शक्ति तथा स्फूर्ति प्रदान करता है। सरस्वतीके संक्रमण करानेके कारण वह 'संक्रामयिता' कहलाता है। ऐसा कवि उपासनामें लब्धप्रतिष्ठ सिद्ध पुरुष ही हो सकता है।

वामनके मतानुसार काव्य-शिक्षाके अधिकारीके भेदसे कवि दो प्रकारके होते हैं---(१) अरोचकी:, (२) सतृणाभ्यवहारी। ये दोनों शब्द वैद्यकशास्त्रसे लिए गए हैं। अरोचकी वह व्यक्ति है जो स्वादका विशेषज्ञ होता है और इसीलिए उसे साधारण स्वादकी वस्तु अच्छी नहीं लगती। सतृणाभ्यवहारी वह पुरुष होता है जो किसी वस्तु विशेषका बिना स्वाद लिये ही उसे खा डालता है। यदि किसी व्यक्तिको जलपान करनेके लिये मिश्री दी गई और वह मिश्रीके साथ ही मिश्रीके खुज्जेको भी खा डालता है, तो उसे सतृणाभ्यवहारी कहेंगे। लक्षणाके द्वारा इनका क्रमशः अर्थ होता है विवेकी और अविवेकी। वामनका कहना है कि विवेकी पुरुषको काव्य-शिक्षा दी जा सकती है। वह काव्यका अधिकारी हो सकता है[१]। परन्तु अविवेकीको शास्त्रकी शिक्षा कथमपि नहीं दी जा सकती[२]। पात्रको ही शास्त्रकी शिक्षा दी जाती है, कुपात्रको नहीं। पानीमें यदि कतक डाला जायगा तो वह उसे शुद्ध कर सकता है परन्तु कीचड़में कतकको डालनेसे वह पंकको कदापि शुद्ध नहीं कर सकता है।[३]

उपर्युक्त कथनका अभिप्राय केवल इतना ही है कि जो विवेकी पुरुष हैं शास्त्र उन्हींका उपकार कर सकता है किन्तु जो स्वभावसे ही विवेकरहित हैं उनका उपकार शास्त्रके द्वारा कुछ भी नहीं हो सकता।

---

१. पूर्वे शिष्याः विवेकित्वात्। का० लं० सू० १।२।२
२. नेतरे तद्विपर्ययात्। वही १।२।३
३. न शास्त्रमद्रव्येषु अर्थवत्। वही १।२।४
न कतकं पंकप्रसादनाय। वही १।२।५

जड़ व्यक्तिको शास्त्रका शिक्षण उसी प्रकार व्यर्थ होता है जिस प्रकार भस्ममें हवन करना, मरुभूमिमें पानीका बरसना और बहिरेको गाना सुनाना:--

अयं भस्मनि होमः स्यादियं वृष्टिर्मरुस्थले ।
इदमश्रवणे गानं यज्जडे शास्त्रशिक्षणम् ॥

वामन--का० लं० सू० की टीका १।२।४

काव्योपासनामूलक कविभेद

काव्यकलाकी उपासनाकी दृष्टिसे राजशेखरने कवियोंके चार भेद किए हैं:--(१) असूर्यंपश्यः, (२) निषण्ण, (३) दत्तावसर, (४) प्रायोजनिक ।

(१) **असूर्यंपश्य**--कवि वह होता है जो गुहाके गर्भमें, भूमिगृहमें, प्रवेश करके नैष्ठिक वृत्तिसे कविता करता है । असूर्यंपश्य शब्दका अर्थ है सूर्यको न देखनेवाला । इस नामकरणका तात्पर्य यह है कि यह कवि कविताकी उपासनामें इतना व्यस्त रहता है कि वह अपने एकान्त निवासको छोड़कर बाह्य जगत्के प्रपंचोंमें तनिक भी नहीं फँसता । ऐसे कविके लिये क्या काव्यकालका विधान किया जा सकता है ? उसके लिये तो सब समय काव्य-रचनाके अनुकूल हैं ।

(२) **निषण्ण**--निषण्ण कवि कहलाता है जो रसावेशके समयमें ही कविता करता है । वह नैष्ठिक वृत्तिसे नहीं रहता । काव्य-क्रियामें अभिनिवेश होनेपर ही वह काव्यकी रचना करता है । ऐसे कविके लिये अभिनिवेशका समय ही उसके लिये काव्य-रचनाका समय है ।

(३) **दत्तावसर**--इस श्रेणीमें उन कवियोंकी गणना है जो नौकरी, चाकरीके द्वारा अपनी जीविकाके साथ ही साथ कविताका अभ्यास करते हैं । उनके जीविकोपार्जनसे काव्य-रचनाका कोई संघर्ष नहीं होता । ऐसे कविके लिये काव्य-रचनाका समय परिमित ही होता है । ब्राह्ममुहूर्त ऐसे कविके लिये काव्यरचनाकी सिद्धिका बड़ा ही उपयुक्त समय है ।

प्रतिभाकी स्फूर्ति होनेके कारण यह अवसर 'सारस्वत' मुहूर्त भी कहा गया है। दूसरा अवसर भोजनके उपरान्त होता है जब भोजनसे तृप्त होनेपर विक्षेपों तथा बाधाओंको दूरकर चित्त स्वस्थ हो जाता है। पालकीके ऊपर यात्रा करते समय भी काव्य-रचनाकी जा सकती है क्योंकि इस अवसरपर चित्तके एकाग्र होनेका संयोग प्राप्त होता है। ऐसे कविके लिये काव्य-रचनाके निमित्त यही उपयुक्त अवसर है। इस कविको दत्तावसर इसीलिये कहते हैं कि यह अवसर या अवकाश मिलनेपर ही काव्यकी सेवामें प्रवृत्त होता है।

(४) **प्रायोजनिक**—किसी विशिष्ट प्रयोजनको लक्ष्य कर जो कवि कविता लिखता है वह प्रायोजनिक कहलाता है। जैसे किसी राजाके राज्याभिषेकके अवसरपर अथवा किसी महान् व्यक्तिके आगमनपर या विवाहादिक उत्सव-विशेषपर, या किसीकी बिदाईके अवसरपर जो कबि कविता लिखता है वह प्रयोजन-विशेषको लक्ष्यकर काव्य-रचना करनेके कारण 'प्रायोजनिक' नामसे पुकारा जाता है।

प्रतिभाजन्य भेद

इसी प्रतिभा-भेदके कारण राजशेखरके अनुसार कवि भी तीन प्रकारके होते हैं।—(१) **सारस्वत**, (२) **आभ्यासिक** और (३) **औपदेशिक**। सारस्वत कविकी सरस्वती पूर्वजन्मके संस्कारसे काव्य-कलामें प्रवृत्त होती है। वह स्वतः बुद्धिमान् होता है। उसकी काव्यकलाके विकासके लिये अभ्यासकी आवश्यकता नहीं पड़ती। आभ्यासिक कविका मूल रहस्य है—अभ्यास। इसी अभ्यासके बलपर वह काव्य-कर्ममें कृतकृत्य होता है। उसकी सरस्वती इसी जन्मके अभ्याससे उद्भासित होती है। इसीलिये उसे 'आहार्य-बुद्धि' कहते हैं। औपदेशिक कवि उपदेशके बलपर ही अपनी काव्य-कलाका प्रदर्शन करता है। वह गुरुके उपदेशके कारण मन्त्र-तन्त्रका अभ्यास करता है और इसीके कारण उसकी काव्य-कर्ममें स्फूर्ति होती है।

इन तीन प्रकारके कवियोंमें कौन श्रेष्ठ है और कौन हीन? यह भी विवादका विषय है। श्यामदेवकी सम्मतिमें इस विभाजनमें पूर्व निर्दिष्ट कवि ही दूसरेसे श्रेष्ठ होता है। सारस्वत कविको वे कवियोंमें मूर्धन्य मानते हैं क्योंकि वह अपने विषयमें स्वतन्त्र होता है और किसीका अंकुश नहीं मानता। आभ्यासिक कविकी कविता परिमित होती है परन्तु औपदेशिक कवि सबसे हीन श्रेणीका होता है और निरर्गल कविता करता है[1]। परन्तु राजशेखर इस मतसे सहमत नहीं है। उनका तो मत यह है कि उत्कर्ष ही श्रेयस्कर होता है और यह तभी संभव है जब अनेक गुणोंका समुदाय एकत्र हो। यह दुर्लभ अवश्य है परन्तु असंभव नहीं। बुद्धिमत्ता, काव्य-कर्ममें अभ्यास, मन्त्रका अनुष्ठान—ये तीनों गुण जिस व्यक्तिमें एकत्र होते हैं वही कविराजकी महनीय उपाधिसे विभूषित किया जा सकता है। इस विवेचनासे हम इस निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि राजशेखरके अनुसार वही व्यक्ति सर्वश्रेष्ठ कवि या कविराज हो सकता है जो उपर्युक्त तीनों गुणोंसे युक्त हो[2]।

---

१. "तेषां पूर्वः पूर्वः श्रेयान्" इति श्यामदेवः। यतः—
सारस्वतः स्वतन्त्रः स्याद् भवेदाभ्यासिको मितः।
उपदेशकविस्त्वत्र वल्गु फल्गु च जल्पति॥
का० मी०, अ० ४, पृ० १३

२. "उत्कर्षः श्रेयान्" इति यायावरीयः। स चानेके गुणसन्निपाते भवति। किञ्च—
बुद्धिमत्त्वं च काव्याङ्गविद्यास्वभ्यासकर्म च।
कवेश्चोपनिषच्छक्तिस्त्रयमेकत्र दुर्लभम्॥
काव्यकाव्याङ्गविद्यासु कृताभ्यासस्य धीमतः।
मन्त्रानुष्ठाननिष्ठस्य नेदिष्ठा कविराजता॥
—वही पृ० १३

मौलिकतामूलक कविभेद

रचनाकी मौलिकताकी दृष्टिसे कवियोंके चार भेद होते हैं:—

(१) उत्पादक कवि—वह होता है जो अपनी प्रतिभाके बलपर अपने काव्यमें नवीन भावकी तथा नूतन अर्थकी रचना करता है। अपने निर्माणके निमित्त वह किसी भी कविका ऋणी नहीं होता।

(२) परिवर्तक कवि—वह है जो प्राचीन कविके भावको फेर-फार कर अपना बना लेता है। अपनी निपुणताके सहारे अपनी रचनाओंमें आवश्यक परिवर्तन कर उसके ऊपर अपने व्यक्तित्वकी छाप दे देता है।

(३) आच्छादक कवि—दूसरोंकी रचनाको छिपाकर तत्सदृश अपनी रचनाका प्रचार करनेवाला कवि इस नामसे पुकारा जाता है।

(४) संवर्गक कवि—यह कवि दूसरोंके मालपर पूरी डकैती करने-वाला होता है। 'संवर्गक'का अर्थ होता है डाकू। अतः दूसरेके काव्यको खुल्लमखुल्ला अपना कहकर प्रकट करनेवाला ढीठ कवि इस नामसे पुकारा जाता है। मौलिकताकी दृष्टिसे प्रथम प्रकारका कवि ही श्लाघनीय होता है। अन्य तीनों प्रकारके कवियोंमें मौलिकताका टोटा रहता है। संवर्गक कवि तो होता है पूरा डकैत, जो दूसरेकी कविताको बल-पूर्वक निजी रचना बताकर दूसरेके धनपर गुलछर्रे उड़ाता है और लोकमें अपनी काव्यकलाकी विपुल प्रख्यातिका प्रचार करता है। कहना न होगा कि इन चारोंमें उत्पादक कवि ही श्लाघनीय होता है, अन्य कवि न तो किसी श्लाघाके पात्र होते हैं, न आदरके भाजन।

इस विषयमें पण्डितोंमें यह श्लोक प्रसिद्ध है—

> कविरनुहरति च्छायामर्थं कुकविः पदादिकं चौरः।
> सर्वप्रबन्धहर्त्रे साहसकर्त्रे नमस्तस्मै ॥

भावार्थ—जो दूसरोंके काव्यके छायामात्रका अनुकरण करता है वह होता है 'कवि'। जो अर्थ या भावका केवल अनुकरण करता है वह

होता है 'कुकवि'। जो पद, वाक्य आदिका अनुकरण करता है वह होता 'चोर', परन्तु जो समस्त प्रबन्ध, पद-वाक्य, अर्थ-भाव सब किसीका हरण कर लेता है, उस साहस करनेवाले डाकू कविको नमस्कार है।

अर्थापहरणमूलक कवि-भेद

दूसरेके काव्यार्थका अपहरण करनेवाले कवियोंमें भी राजशेखरने पार्थक्यका विवेचन किया है। ये कवि अयस्कान्त या चुम्बकके समान होते हैं जो दूसरोंका अर्थ ग्रहण करके भी उसमें अपने गुणोंका समावेश कर देते हैं तथा उसमें सर्वथा नवीनताकी भ्रान्ति उत्पन्न करनेमें कृतकार्य होते हैं। ऐसे कवियोंकी पांच कोटियां होती हैं--

(१) **भ्रामक कवि**--पुराने कवियोंके द्वारा अदृष्ट भावोंका वर्णन कर जो कवि पाठकोंमें अपनी मौलिकताका भ्रम उत्पन्न कर देता है वह कहलाता है--भ्रामक कवि।

(२) **चुम्बक कवि**--जो दूसरेकी उक्तियोंको स्पर्श करनेवाली उक्तियोंमें नया रंग भरकर उन्हें चटकीला तथा मनोहारिणी बना डालता है वह कहलाता है--चुम्बक कवि।

(३) **कर्षक कवि**--जो दूसरे कवियोंके शब्दों तथा अर्थोंको खींचकर अपनी रचनामें निबद्ध कर देता है उसकी संज्ञा है--कर्षक कवि।

(४) **द्रावक कवि**--जो दूसरेकी उक्तियोंका सार लेकर अपने काव्योंमें इस प्रकार रख देता है कि उनका प्राचीन रूप जाना नहीं जाता अर्थात् अनजाने ही उसकी उक्तियोंमें प्राचीन कवियोंकी उक्तियोंका सादृश्य उपलब्ध होता है उसका नाम है--द्रावक कवि।

(५) **चिन्तामणि कवि**--पूर्वोक्त चारों कवियोंको प्राचीन कवियोंके भावापहरण करनेके कारण 'लौकिक' कहते हैं, परन्तु यह अन्तिम प्रकार 'अलौकिक' कहलाता है। इसका अपर नाम है--**अदृष्टचरार्थदर्शी**

अर्थात् किसीके भी द्वारा नहीं दृष्ट अर्थका द्रष्टा कवि। राजशेखरका कथन बड़ा ही सारदर्शी है—

चिन्तासमं यस्य रसैकसूति-
रुदेति चित्राकृतिरर्थसार्थः।
अदृष्टपूर्वो निपुणैः पुराणैः
कविः स चिन्तामणिरद्वितीयः॥
(का० मी०, १२ अ०, पृ० ६५)

जिसके चिन्तनके साथ ही साथ प्रधानतया रसको उत्पन्न करने तथा चित्ररूपवाले ऐसे अर्थोंका समुदाय झटिति उत्पन्न हो जाता है जिसके दर्शनका सौभाग्य भी पुराने निपुण कवियोंको नहीं होता वह अद्वितीय कवि 'चिन्तामणि'के नामसे विख्यात होता है।

इनमेंसे प्रथम चारों कवियोंके अन्य आठ प्रकार होते हैं जिनका वर्णन अर्थसंवाद के प्रकरणमें दिखाया जायगा।

१०—काव्य-संवाद

'संवाद'का अर्थ है अन्य-सादृश्य। भिन्नकर्तृक काव्योंमें जो परस्पर सादृश्य दीख पड़ता है वही काव्यसंवादके नामसे साहित्य ग्रन्थोंमें उल्लिखित किया गया है। काव्यमूलकी समीक्षा करनेपर काव्य तीन प्रकारका सिद्ध होता है—

(१) अन्ययोनि (निश्चित रूपसे दूसरे कविके काव्यका आधार मानकर निर्मित रचना);

(२) निह्नुतयोनि (प्राचीन कविकी रचनापर आश्रित होनेपर भी इस काव्यका मूल एकदम छिपा रहा है)

(३) अयोनि (मौलिक रचना—कविकी प्रतिभाके बलपर निर्मित नूतन काव्य)।

इन तीनों प्रकारके काव्यमें प्रथम दो भेदके दो-दो अवान्तर भेद भी स्वीकृत किए गए हैं। और इन अवान्तर भेदोंके भी आठ अन्य प्रकार माने गए हैं। इस प्रकारकी समीक्षासे काव्यके ३२ भेद सिद्ध होते हैं।

(क) अन्ययोनि

अन्ययोनि काव्यके दो भेद होते हैं:—

(१) प्रतिबिम्बकल्प तथा (२) आलेख्यप्रख्य।

(क) प्रतिबिम्बकल्प अर्थात् प्राचीन काव्यके सामने रखनेपर नवीन काव्य उसका केवल प्रतिबिम्ब प्रतीत होता है—हूबहू एक समान, बिना किसी अन्तर तथा पार्थक्यके। आनन्दवर्धन ऐसे काव्यको 'अनन्यात्म' तथा 'तात्त्विक-शरीर-शून्य' मानते हैं। जो काव्य प्राचीन काव्यके समग्र अर्थको ग्रहण कर रचित है वह सचमुच तात्त्विक शरीरसे शून्य रहता है। राजशेखरकी दृष्टिमें भी काव्यहरणका यह प्रकार अग्राह्य होता है—

अर्थ स एव सर्वो वाक्यान्तरविरचनापरं यत्र ।
तदपरमार्थविभेदं काव्यं प्रतिबिम्बकल्पं स्यात्[1] ॥

दोनों काव्योंमें शाब्दिक कथनका ही अन्तर होता है। अर्थ तो तो एकदम हूबहू वही होता है। अतः दोनों काव्योंमें परमार्थतः कोई भेद रहता ही नहीं। इसीलिए ऐसा अर्थहरण सर्वथा निन्दनीय तथा नितान्त अग्राह्य श्रेणीमें आता है।

(ख) आलेख्यप्रख्य--(चित्रके समान)। नवीन काव्य प्राचीन काव्यका अनुकरण होनेपर भी नूतन संस्कारके द्वारा परिष्कृत किए जानेके कारण चित्रके समान प्रतीत होता है। आनन्दवर्धनकी दृष्टिमें यह काव्य 'तुच्छात्म' है अर्थात् पृथक् शरीर होनेपर भी वह शोभन नहीं है। अतः वे इसे सर्वथा अग्राह्य मानते हैं, परन्तु राजशेखर इसके ग्रहणके पक्षमें हैं। उनका कहना है कि अनेक सामग्रीसे संस्कारयुक्त होनेसे यह काव्य चित्रके समान चटकीला दीखने लगता है और प्राचीन काव्यसे भिन्न न होनेपर भिन्नवत् प्रतीत होता है। 'चित्रतुरगन्याय'के अनुसार यह काव्य चमत्कृत, पृथक्-शरीर-सम्पन्न तथा सर्वथा उपादेय होता है--

कियतापि यत्र संस्कारकर्मणा वस्तु भिन्नवद् भाति ।
तत् कथितमर्थचतुरैरालेख्यप्रख्यमिति काव्यम् ॥

भगवान् शंकरके कण्ठदेशमें भौरोंके समान काले-काले सांप विराजमान हैं। प्रतीत होता है कि चन्द्रमाकी सुधासे सिक्त होनेपर कालकूटके अंकुर निकल आये हैं। इस अर्थको द्योतित करना यह प्राचीन पद्य है--

ते पान्तु वः पशुपतेरलिनीलभासः
कण्ठप्रदेशघटिताः फणिनः स्फुरन्तः ।
चन्द्रामृताम्बुकणसेकसुखप्ररूढै-
र्यैरङ्कुरैरिव विराजति कालकूटः ।

---

१. काव्यमीमांसा, अ० १२, पृ० ६३

इस अर्थको प्रकट करनेवाला नूतन पद्य है जिसमें केवल शाब्दिक पार्थक्य है, आर्थिक ऐक्य बिल्कुल वही है—

जयन्ति नीलकण्ठस्य नीलाः कण्ठे महाहयः।
गलद्गङ्गाम्बुसंसिक्तकालकूटाङ्कुरा इव॥

यह अर्थसंवाद प्रतिबिम्बकल्प कहलाता है। नवीन संस्कार करने पर यह श्लोक इस रूपमें दृष्टिगोचर होता है—

जयन्ति धवलव्यालाः शम्भोर्जूटावलम्बिनः।
गलद् गङ्गाम्बुसंसिक्तचन्द्रकन्दाङ्कुरा इव॥

पूर्वपद्यमें काले सर्पोंकी कल्पना कालकूटके अंकुरसे की गई है। इस नवीन श्लोकमें सफेद सापोंकी तुलना गंगा-जलसे सिक्त चन्द्रमाके अंकुरोंसे की गई है। अतः श्याम सर्पोंके स्थानपर धवल सर्पोंका निवेश तथा तदनुसार कालकूटके अंकुरकी जगह चन्द्रमाके अंकुरकी नवीन कल्पना की गई है। इसी संस्कारके कारण यह पद्य 'आलेख्यप्रख्य'का सुन्दर उदाहरण है।

इन दोनोंमें प्रतिबिम्बकल्पके ८ प्रकार होते हैं—

(१) **व्यस्तक**—जहां पूर्व श्लोकके पूर्वापरका परिवर्तन कर दिया जाता है वह 'व्यस्तक' कहलाता है।

(२) **खण्ड**—विस्तृत अर्थका जहां एक अंश ही गृहीत किया जाय वह 'खण्ड' कहलाता है।

(३) **तैलबिन्दु**—संक्षिप्त मूल अर्थका जहां विस्तार किया जाता है वह 'तैलबिन्दु' कहलाता है।

(४) **नटनेपथ्य**—जहां प्राचीन उक्तिकी भाषा परिवर्तित कर दी जाय, संस्कृतसे प्राकृतमें अथवा प्राकृतसे संस्कृतमें उसी अर्थके परिवर्तन होनेपर यह भेद सम्पन्न होता है।

(५) **छन्दोविनिमय**--उक्ति-परिवर्तन छन्दोंके पार्थक्यके कारण जहां सिद्ध होता है वह 'छन्दोविनिमय' कहलाता है ।

(६) **हेतुव्यत्यय**--मूल अर्थका कारण बदलकर नये कारणकी कल्पना कर जो उक्ति लिखी जाती है वह कहलाती है 'हेतुव्यत्यय' ।

(७) **सङ्क्रान्तक**--एक पदार्थमें देखे गए धर्मोंका दूसरे पदार्थोंमें जहां संक्रमण किया जाय वह कहलाता है 'संक्रान्तक' ।

(८) **सम्पुट**--दो पद्योंका अर्थ जहां मिश्रित कर एक ही पद्यका निर्माण किया जाय, वह 'सम्पुट' माना जाता है ।

'आलेख्यप्रख्य'के भी इसी प्रकार ८ भेद होते हैं:--

(१) **समक्रम**--प्राचीन उक्तिके समान रचना करना ।

(२) **विभूषणमोष**--प्राचीन उक्तिमें जो अलंकार समाविष्ट किए गए हों उसे अलंकारसे रहित बनाकर कहना ।

(३) **व्युत्क्रम**--प्राचीन उक्तिमें बातें जिस क्रमसे कही हैं उनको क्रम बदल कर कहना ।

(४) **विशेषोक्ति**--प्राचीन उक्तिमें जो बात सामान्य रूपसे कही गई हो उसे विशेष रूपमें कहना ।

(५) **उत्तंस**--जो बात गौण भावसे कही गई हो उसे प्रधानभावसे कहना ।

(६) **नटनेपथ्य**--प्राचीन बातको थोड़ा बदलकर कहना ।

(७) **एकपरिकार्य**--जो कारण-सामग्री प्राचीन उक्तिमें कही गई हो वही सामग्री किसी भिन्न कार्यके विषयमें कहना ।

(८) **प्रत्यापत्ति**--जो बात विकृत रूपसे कही गई हो उसे प्रकृति रूपसे कहना ।

यह मार्ग कवियोंके लिए अनुग्राह्य तथा उपादेय है, क्योंकि अर्थकी समता होनेपर भी उक्तिमें सर्वत्र वैचित्र्यका संचार विद्यमान रहता है ।

(ख) निह्नुतयोनि

इस प्रकारके दो भेद हैं—

(१) तुल्यदेहितुल्य तथा (२) परपुरप्रवेश।

(१) तुल्यदेहितुल्य—वह प्रकार है जिसमें शरीरकी पृथक्ता होनेपर भी दोनों उक्तियोंकी आत्मा एक समान ही रहती है। आनन्दवर्धन इसे 'प्रसिद्धात्म' कहते हैं और इसके सर्वथा ग्रहणके पक्षपाती हैं। जैसे कामिनीका मुख चन्द्रमाकी समता रखनेपर भी नवीन तथा चमत्कारयुक्त प्रतीत होता है उसी प्रकार प्राचीन पद्यकी छाया रखनेपर भी नवीन तत्त्वके प्रतिपादनके कारण उक्ति श्लाघनीय मानी जाती है:—

तत्त्वस्यान्यस्य सद्भावे पूर्वस्थित्यनुयाय्यपि।
वस्तु भातितरां तन्व्याः शशिच्छायमिवाननम्॥

(ध्वन्या० ४।१४)

राजशेखर भी इसी मतके समर्थक हैं[1]।

(२) परपुरप्रवेश—वह अर्थहरणका प्रकार है जिसमें दोनों उक्तियों में मूल तत्त्व तो एक ही है, परन्तु सजावटकी भिन्नता है, भिन्न-भिन्न अंग-प्रत्यंगोंके द्वारा वस्तुका उपन्यास पृथक् रूपसे किया गया है—

मूलैक्यं यत्र भवेत् परिकरबन्धस्तु दूरतोऽनेकः।
तत् पुरप्रवेशप्रतिमं काव्यं सुकविभाव्यम्॥

इस नवीन भेदका वर्णन राजशेखरने ही किया है, आनन्दवर्धन इस प्रभेदसे परिचित नहीं हैं।

---

१. विषयस्य यत्र भेदेऽप्यभेद-बुद्धिर्नितान्तसादृश्यात्।
तत् तुल्यदेहितुल्यं काव्यं बध्नन्ति सुधियोऽपि॥

—का० मी०, पृ० ६३

तुल्यदेहितुल्यके आठ अवान्तर भेद माने गए हैं—

(१) **विषयपरिवर्तन**—पहले कहे गए विषयमें विषयान्तर मिलाकर उसका स्वरूपान्तर कर देना।

(२) **द्वन्द्वविच्छित्ति**—जिस पदार्थका वर्णन प्राचीन उक्तिमें दो प्रकारसे किया गया हो, उसके केवल एक रूपका ग्रहण करना।

(३) **रत्नमाला**—पूर्व अर्थोंका अर्थान्तरोंके द्वारा परिवर्तन।

(४) **संख्योल्लेख**—पूर्व उक्तिमें उल्लिखित संख्याको बदल देना।

(५) **चूलिका**—पहिले जो सम कहा गया हो उसे विषम कहना अथवा पहिले जो विषम कहा गया हो उसे सम कहना।

(६) **विधानापहार**—निषेधको विधि रूपसे कहना।

(७) **माणिक्यपुञ्ज**—बहुत अर्थोंका एकत्र उपसंहार।

(८) **कन्द**—कन्दको कन्दल रूपोंमें परिवर्तन अर्थात् समष्टिरूपसे निर्दिष्ट अर्थका व्यष्टिरूपसे वर्णन करना।

परपुर-प्रवेशके भी आठ भेद होते हैं:—

(१) **हुडयुद्ध**—एक प्रकारसे निबद्ध वस्तुको युक्तिपूर्वक बदल देना।

कुमारसम्भवमें हिमालयका वर्णन करते हुए कालिदासकी उक्ति—

अनन्तरत्नप्रभवस्य यस्य, हिमं न सौभाग्यविलोपि जातम्।
एकोहि दोषो गुणसन्निपाते, निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः॥

हिमालय अनन्त रत्नोंके उद्गमका स्थान है। इसलिये हिमरूप दोषके होते हुए भी उसके सौभाग्यका नाश नहीं हुआ। जिस प्रकार किरणोंमें चन्द्रमाकी कालिमा डूब जाती है उसी प्रकार गुणोंके समुदायमें एक दोष दब जाता है।

अब इसी सिद्धान्तके विपरीत प्रदर्शनके निमित्त नवीन युक्तिका उपन्यास देखिए। कविका कहना है कि जो व्यक्ति गुण-समुदायमें एक

दोषके छिप जानेकी बात कहता है वह नहीं जानता कि एक ही दारिद्र्य-रूपी दोष हजारों गुणोंको नष्ट कर देता है । युक्तिकी नूतना देखिए—

एकोऽपि दोषो गुणसन्निपाते, निमज्जतीन्दोरिति यो बभाषे ।
तेनेव नूनं कविता न दृष्टं, दारिद्र्यदोषो गुणराशिनाशी ॥

(२) प्रतिकञ्चुक—एक प्रकारसे वस्तुको अन्य प्रकारकी वर्णन करना ।

(३) वस्तुसञ्चार—एक उपमानको दूसरे उपमानमें बदल देना ।

(४) धातुवाद—शब्दालंकारको अर्थालंकारके रूपमें बदल देना ।

(५) सत्कार—किसी वस्तुका उत्कर्षके साथ परिवर्तन कर देना ।

(६) जीवञ्जीवक—पहले जो सदृश था उसे असदृश कर देना ।

(७) भावमुद्रा—प्राचीन उक्तिका आशय लेकर प्रबन्धकी रचना ।

(८) तद्विरोधी—प्राचीन उक्तिके विरुद्ध नवीन उक्तिका निर्माण ।

महाकवि क्षेमेन्द्रने 'कविकण्ठाभरण' में कवि प्रकारोंका निदर्शन करते हुए काव्य-संवादकी भी बात लिखी है । उनकी दृष्टिमें कवियोंकी ६ श्रेणियां होती हैं—

छायोपजीवी पदकोपजीवी पादोपजीवी सकलोपजीवी ।
भवेदथ प्राप्तकवित्वजीवी स्वोन्मेषतो वा भुवनोपजीव्यः ॥

अर्थात् (१) दूसरेकी काव्यकी केवल छाया लेकर कविता करनेवाला, (२) एक आध पद लेकर, (३) श्लोकका एक पाद लेकर, (४) समग्र श्लोकको लेकर, (५) कवि-शिक्षा प्राप्त कर कविता करनेवाला, (६) अपनी स्वाभाविक प्रतिभाके बलपर, काव्यनिर्माण करनेवाला । इनमें से प्रथम चार प्रकारके कवियोंका काव्य 'काव्यसंवाद'के भीतर आता है ।

इस विषयका सामान्य निर्देश वामन तथा आनन्दवर्धन (ध्वन्यालोकका चतुर्थ उद्योतने) प्रथमतः किया था, परन्तु इसका विस्तृत तथा विशिष्ट अनुशीलन राजशेखरकी काव्यमीमांसामें उपलब्ध होता है (अध्याय ११ तथा १२)। राजशेखरके विवरणका सामान्य रूप ऊपर प्रदर्शित किया गया है। इस रोचक विषयकी समीक्षा हमारे आलोचकोंकी अन्तर्दृष्टिकी पर्याप्त परिचायिका है।

११—आलोचक

संस्कृतके आलोचना-ग्रन्थोंमें कविके समान आलोचकका भी पद बड़ा महनीय तथा महत्त्वपूर्ण माना जाता है। आलोचक कविके काव्य सौन्दर्यको स्वयं समझकर उसका चारों ओर प्रचार करता है। कविके काव्यको लोक-प्रिय बनानेमें सबसे बड़ा हाथ इस आलोचकका ही है। कविके उस काव्यसे कौन प्रयोजन सिद्ध होगा जो उसके मनमें ही निवास करता है और जो भावकों द्वारा व्याख्यात होकर चारों ओर समादृत नहीं होता[1]। पोथियोंमें लिखे गए काव्य तो घर-घरमें पड़े रहते हैं, परन्तु सच्चा काव्य तो वही है जो भावकके हृदयपर उट्टंकित रहता है[2]। इसीलिये भावक कविके लिये क्या नहीं है? भावक कविका स्वामी है, मित्र है, मन्त्री है, शिष्य है तथा आचार्य भी है। जो भाव किसी कविको अपनी कवितामें स्वयं स्फुरित नहीं होते, उन भावोंकी स्फूर्ति तथा व्याख्या करनेवाले आलोचकको यदि आचार्यकी पदवीसे मण्डित किया जाय, तो क्या यह अनुचित है? काव्यमें यदि दोषोंका निरूपण करनेवाला व्यक्ति कविको दोष-गर्तमें गिरनेसे बचाकर सन्मार्गमें ले जाता है, तो क्या वह उसका मन्त्री नहीं है? इसीलिये काव्यके प्रचुर प्रचार तथा गुण-दोष विवेचनके लिये आलोचकोंकी महत्ता संस्कृत साहित्यमें सर्वत्र स्वीकृत की गई है। राजशेखरका यह कथन बिल्कुल सत्य है—

---

१. काव्येन किं कवेस्तस्य, तन्मनोमात्रवृत्तिना।
नीयन्ते भावकैर्यस्य न निबन्धा दिशो दश॥

का० मी० अ ४ पृ० १५

२. सन्ति पुस्तकविन्यस्ताः काव्यबन्धाः गृहे गृहे।
द्वित्रास्तु भावकमनः शिलापट्ट–निकुट्टिताः॥ —वही

स्वामी मित्रं च मन्त्री च, शिष्यश्चाचार्य एव च।
कवेर्भवति हि चित्रं किं हि तद् यन्न भावकः[1] ॥

कुछ लेखकोंका तो यहां तक कहना है कि अभिनयके प्रसंगमें जिन दोषों तथा विकृतियोंका दर्शन नाट्यवेदके स्रष्टा स्वयं ब्रह्माको भी नहीं हुआ वे विकृतियां आलोचकके हृदयमें स्वतः आविर्भूत हुआ करती हैं:--

सत्काव्ये विक्रियाः काश्चित् भावकस्योल्लसन्ति ताः।
सर्वाभिनयनिर्णीतौ दृष्टा नाट्यसृजा न याः[2] ॥

संस्कृतमें आलोचकके लिए अधिकतर प्रयुक्त शब्द है 'भावक'। भावकका व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ है **भावयतीति भावकः** अर्थात् जो कविके श्रम तथा अभिप्रायकी भावना करता है, समझता बूझता है, ठीक-ठीक निरूपण करता है वही भावक है। भावकके लिए सबसे आवश्यक गुण है प्रतिभा। इस दृष्टिसे वह काव्यस्रष्टा कविका समकक्ष है परन्तु एक अन्तरके साथ। प्रतिभा दो प्रकारकी होती है--**कारयित्री** तथा **भावयित्री**।

कारयित्री प्रतिभा वह है जो काव्य-निर्माणमें कविका उपकार करती है, उसे अप्रतिभात वस्तुओंको भी प्रतिभासित कराती है, अज्ञात वस्तुओंको भी ज्ञात करा देती है तथा अदृष्ट वस्तुओंको भी हस्तामलकके समान दर्शन करा देती है।

भावयित्री प्रतिभा वह है जो भावकका उपकार करती है, गुणदोषके विवेचनमें भावककी सहायता करती है, कविके द्वारा अज्ञात दोष तथा गुणोंकी कल्पना कर उसके सुधार तथा संशोधनमें विशेष सहायता देती है। कविका व्यापार-तरु इसी प्रतिभाके बलपर फलित होता है। इस प्रतिभाके अभावमें काव्य-वृक्ष निष्फल तथा फलहीन ही बना रहता है।

---

१. का० मी०, अध्याय ४, पृ० १५।
२. वही ,, ,, ,,

कवि और भावक

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि उभय प्रकार—कारयित्री और भावयित्री—की प्रतिभाका निवास एक ही व्यक्ति-विशेषमें हो सकता है या नहीं। अर्थात् एक ही व्यक्ति कारयित्री प्रतिभाके बलपर नवीन काव्यकी सृष्टि कर सकता है तथा भावयित्रीके द्वारा वह अपने ही रचित काव्योंमें गुण और दोषकी विवेचना सम्यक् रीतिसे कर सकता है? इस विषयमें संस्कृतके विद्वानोंमें दो विशिष्ट मत दीख पड़ते हैं। साहित्य शास्त्रके प्राचीन आचार्योंकी सम्मति कवि तथा भावकको एक ही मानती थी। आचार्योंका कथन है—**कविर्भावयति भावकश्च कविः**—कवि ही भावना करता है और भावक ही काव्य-सृष्टि करता है। भावक कवि कभी अधम दशा प्राप्त नहीं कर सकता। उसकी प्रतिष्ठा सार्वत्रिक तथा सार्वकालिक है:—

प्रतिभातारतम्येन, प्रतिष्ठा भुवि भूरिधा।
भावकस्तु कविः प्रायो, न भजत्यधमां दशाम्॥

—काव्यमीमांसा, अ० ४ पृ० १३

अंग्रेजी साहित्यके मान्य आलोचक हेजलिट भी आलोचकके लिये काव्यकी उपासना आवश्यक मानते हैं—We do not say that a man to be critic must necessarily be a poet, but to be good critic he ought not to be a bad poet. Such poetry as a man deliberately writes and such only, will he like.

अच्छे काव्यकी समीक्षाके लिये अच्छे काव्यकी रचना-चातुरी अपेक्षित होती है। कुकवि कभी सत्काव्यका समीक्षक नहीं बन सकता।

यह तो हुआ सिद्धान्तवादी कोरे आलंकारिकोंका मत। परन्तु कवि-कर्ममें निष्णात कविजनोंकी अनुभूति इसके ठीक विपरीत है। वे कविता और भावुकताको एक व्यक्तिमें सीमित करनेके पक्षपाती नहीं हैं। इस विषयमें संस्कृत कवियोंके मूर्धन्य महाकवि कालिदासकी सम्मति अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा माननीय है। कालिदास सत् और असत् काव्यकी अभिव्यक्तिका कारण सन्त जन (भावक)को मानते हैं। आगमें डालनेपर ही सोनेके खरा या खोटा होनेकी परीक्षा होती है। इस शोभनता या अशोभनताकी अभिव्यक्तिका उत्तरदायी भावक ही होता है—

तं सन्तः श्रोतुमर्हन्ति, सदसद्व्यक्तिहेतवः।
हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकापि वा ॥

—रघुवंश १।१३

इसी भावको कालिदासने अभिज्ञान-शाकुन्तलमें भी पुष्ट किया है—

आपरितोषाद् विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।
बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः ॥

शकुन्तला १।२

विद्वज्जनके हृदयमें परितोष उत्पन्न करना ही कविकलाकी चूड़ान्त सफलता है। अपनी कलाके विलासमें सुशिक्षित भी कवि आलोचककी शोभन सम्मतिके अभावमें अपने ऊपर विश्वास नहीं करता। कविजनके हृदयमें काव्यकलाके प्रति विश्वासोत्पादनका गुरुतर भार निहित रहता है भावकके ऊपर। भावक कविसे नितान्त भिन्न रहता है। अतः कालिदासकी इन युक्तियोंसे हम इसी निर्णयपर पहुँचते हैं कि कवित्वसे भावकत्व भिन्न ही होता है। यदि कविमें ही आलोचनाकी शक्ति निहित रहती तो वह काव्य-परीक्षाके लिये आलोचकोंके पास भटकता ही क्यों? कालिदासके इस अनुभवका अनुमोदन महाकवि राजशेखर

भी कर रहे हैं—स्वरूप-भेद तथा विषय भेद होनेसे भावकत्व भिन्न है तथा कवित्व भावकत्वसे पृथक् है। प्राचीन आचार्योंका मर्मकथन है कि कोई व्यक्ति वचनकी रचनामें समर्थ होता है और दूसरा व्यक्ति उसके सुनने तथा विवेचनमें दक्ष होता है। एक पत्थर सोना पैदा करता है और दूसरा पत्थर (कसौटी) उसकी परीक्षा करता है। कसौटी सोनेके खरेपन या खोटेपनको ढूंढ़ निकालती है, सोनेको पैदा थोड़े ही करती है। इसी प्रकार भावक कविताके गुणदोषोंकी विवेचना कर सकता है, वह कविताकी सृष्टि नहीं कर सकता। कवित्व और भावकत्वका एकत्र संयोग होता है अवश्य, परन्तु बहुत ही कम। इसे नियम नहीं, प्रत्युत अपवाद ही मानना चाहिए।

कश्चिद् वाचं रचयितुमलं श्रोतुमेवापरस्तां
कल्याणी ते मतिरुभयथा विस्मयं नस्तनोति।
नह्येकस्मिन्नतिशयवतां सन्निपातो गुणानां
एकः सूते कनकमुपलस्तत्परीक्षाक्षमोऽन्यः॥

का० मी० अ० ४ पृष्ठ १४

कवि और भावकमें कौन बड़ा है? यह बड़ा ही विवादास्पद विषयहै। सुनते हैं कि इसी विषयको लेकर एक बार एक कवि और एक भावक में झगड़ा शुरू हो गया। कविका आग्रह था कि स्रष्टा होनेके नाते कवि ही काव्यके रहस्यका ज्ञाता होता है। उधर भावकका हठ था कि आलोचना शास्त्रका मर्मज्ञ होनेसे भावक ही काव्यके गुण-दोषोंका सम्यक् विवेचना कर सकता है। विवाद बढ़ता ही गया। झुंझलाकर भावकजी बोल उठे—अच्छी बात है कविजी, कोई कविता तो सुनाइए। कवि झट अपनी नयी सूक्ति सुनाने लगे—

इयं सन्ध्या दूरादहमुपगतो हन्त! मलयात्,
तवैकान्ते गेहे तरुणि वत नेष्यामि रजनीम्।

समीरेणैवोक्ता नवकुसुमिता चूतलतिका,
धुनाना मूर्धानं नहि, नहि, नहीत्येव कुरुते ॥

इस रमणीय पद्यमें मलयानिल तथा चूतलतिकाका परस्पर कथनोपकथन है। मलय पर्वतसे बहनेवाला दक्खिनी पवन लताको थपकी देकर धीरे-धीरे कह रहा है कि देखो, मैं कितनी दूरसे चलकर तुम्हारे दरवाजे आया हूँ। मैं तुम्हारे एकान्त घरमें यह रात बिताना चाहता हूँ। क्या तुम मुझे रहनेके लिये स्थान न दोगी? वायुकी यह बात सुनकर नयी खिली हुई बाललतिका अपना सिर हिला-हिलाकर कहने लगी—नहीं, नहीं, नहीं।

यह रमणीय पद्य सुनकर भावक झट कविसे पूछ बैठा कि इस पद्यमें 'नवकुसुमिता' का क्या तात्पर्य है तथा तीन बार निषेध करनेका क्या अभिप्राय है? कविने कहा—इसका कारण सीधा-साफ है। वसन्तके आगमनपर लतामें नये फूल आये थे। इसीलिये 'नवकुसुमिता' विशेषण दिया गया है तथा अस्वीकृतिको दृढ़ करनेके लिए 'नहीं' शब्दका तीन बार प्रयोग है। भावकने कहा- बस, इन गूढ़ शब्दोंका यही तात्पर्य है? तब कविने कहा कि इससे भिन्न यदि कोई दूसरा गूढ़ार्थ हो तो आप ही बताइये। भावकने कहा—सुनिए। 'नवकुसुमिता' में यह व्यङ्ग्य है कि लता पुष्पवती (रजस्वला) है। पुष्पवती-नायिका और नायकका संगम शास्त्र-निषिद्ध है। तीन बार निषेध करके लता यह दिखलाना चाहती है कि वह तीन दिनों तक अस्पृश्य होनेके कारण संगमके अयोग्य है। चौथे दिन शुद्ध होनेपर वायु उसके घरमें मौजसे निवास कर सकता है। इस सुन्दर तथा गूढ़ तात्पर्यको अभिव्यक्ति सुनकर कविजी गद्गद् हो उठे और उन्होंने भावककी श्रेष्ठता सहर्ष स्वीकार कर ली।

गोस्वामी तुलसीदासजीका इस विषयमें अपना अनुभव कालिदासके अनुभवके अनुकूल ही है। स्वयं एक सिद्ध कवि थे, परन्तु अपनी कविताके गुणदोषके निर्णयका भार सन्तोंके ऊपर ही छोड़ रखा है। नीरक्षीर

विवेकी हंस तथा दोष-गुण विवेचक सन्तकी तुलना सचमुच मर्म-स्पर्शी है—

जड़ चेतन गुणदोषमय, विश्व कीन्ह करतार।
सन्त हंस गुण गहहि पय, परिहरि वारि विकार॥

ध्यान देनेकी बात है कि तुलसीदासजीने कालिदासकी भांति सन्त (आलोचक)को ही काव्य-परीक्षाका सच्चा अधिकारी माना है। यदि वे कवि और भावकके कर्मको पृथक् न मानते तो संभवतः ऐसी बात नहीं लिखते। दूसरी विशिष्ट बात यह है कि तुलसीदासजीके मतानुसार आदर्श सन्त या आलोचक हंसके समान होता है। जिस प्रकार हंस बिना किसी पक्षपातके दूध और पानीको ठीक-ठीक अलग कर देता है, उसी प्रकार आदर्श भावक या आलोचक किसी कवि-विशेषकी कविताके साथ पक्षपात नहीं करता प्रत्युत काव्यके गुण-दोषोंका उचित रीतिसे विवेचन कर देता है। कालिदास और गोस्वामीजी दोनोंने ही आलोचकके लिए 'सन्तः' शब्दका प्रयोग किया है।

भावक-कोटियाँ

आलोचनाकी अभिव्यक्तिकी दृष्टिसे भी आलोचकोंके अनेक प्रकार हैं:—

(१) **हृदयभावक**—जो व्यक्ति किसी कविताका आस्वादन करके, उसके गुणदोषोंका विवेचन बाहर प्रकट नहीं करता, प्रत्युत अपने हृदयमें ही रखता है उसे '**हृदयभावक**' कहते हैं।

(२) **वाक्-भावक**—जो गुण-दोषोंको शब्दोंके द्वारा प्रकट करता है वह वाक्-भावक कहलाता है।

किन्हीं लोगोंके मतमें हृदयभावक कविताके **हृदयपक्ष** (रसवत्ता)का समीक्षक होता है और वाक्-भावक उसके **कलापक्षका** (बाह्य चाकचिक्यका, अलंकार-जन्य चमत्कारका)।

(३) **गूढ भावक**—तीसरे प्रकारका आलोचक वह है जो काव्यकी गुणग्राहकता आंगिक तथा सात्विक अनुभावोंके द्वारा प्रकट करता है। वह आलोचक रमणीय काव्यको सुनकर तथा उससे प्रभावित होकर नेत्रके स्फुरणसे, हाथके चलनसे तथा मुखकी मुद्रासे अपने हृदयके भावको प्रकट करता है। काव्यानन्दसे उसके नेत्र विकसित हो जाते हैं, मख प्रसन्न दीखने लगता है, होठोंके ऊपर मन्द मुसकराहट झलकने लगती है, शरीरमें रोंगटे खड़े हो जाते हैं। ऐसे ही आलोचककी श्लाघ्य स्तुति विज्जकाने भले शब्दोंमें की है:—

कवेरभिप्रायमशब्दगोचरं स्फुरन्तमार्द्रेषु पदेषु केवलम्।
वदद्भिरंगैः कृतरोमविक्रियैर्जनस्य तूष्णीं भवतोऽयमञ्जलिः॥

सच्चे कविका अभिप्राय शब्दोंके द्वारा अभिव्यक्त नहीं होता, प्रत्युत कुछ रसभरे मनोहर पदोंमें वह भाव झलकता रहता है। ऐसे कविका

सच्चा मर्मज्ञ किसे कह सकते हैं ? उर्दू कविताके भावुकोंकी भांति केवल भावावेशमें 'वाह' 'वाह' कह कर अपनी सहृदयताका परिचय देना संस्कृत कविताके सच्चे रसिकका काम नहीं है। कविके गूढ़ व्यञ्जना-द्योतित अभिप्रायको समझकर जो रसिक शब्दोंके द्वारा अपने आनन्दका पता नहीं देता, वरन् चुप रहनेपर भी जिसके रोमाञ्चित अंग ही हृदयकी आनन्दलहरीका पता साफ शब्दोंमें बता देते हैं, वह होता है सच्चा रसिक, पक्का सहृदय। गूढ़ तात्पर्यकी अभिव्यक्ति भी गूढ़ रूपसे ही उचित है, वाचालताके द्वारा नहीं।

गोसाईंजीका भी यही अनुभव है—

जे परभणिति सुनत हरखाही,
ते नरवर थोरे जग माहीं।

तुलसीदासकी दृष्टिमें आदर्श आलोचक, उदारहृदय, पक्षपातरहित तथा मत्सरहीन होता है। गोस्वामीजी कहते हैं कि संसारमें तालाब और नदीके समान बहुतसे मनुष्य हैं जो जल पाकर अपनी ही बाढ़से बढ़ते हैं अर्थात् अपनी काव्य-रचनासे अत्यन्त प्रसन्न होते हैं। पर आदर्श सज्जन अथवा आलोचक उस समुद्रके समान हैं जो चन्द्रमाको बढ़ता देखकर स्वयं बढ़ने लगता है। भाव यह है कि जिस प्रकार समुद्र पूर्णिमाके दिन चन्द्रमाको परिपूर्ण देखकर वृद्धिको प्राप्त करता है उसी प्रकार आदर्श सज्जन पुरुष अथवा आलोचक दूसरों कवियोंकी कविताको सुनकर प्रसन्न होता है, उसके हृदयमें आनन्दकी बाढ़ आ जाती है:—

जग बहु नर सरसरि सम भाई,
जे निज बाढ़ बढ़हि जल पाई।
सज्जन सुकृत सिन्धुसम कोई,
देखि पूर बिधु बाढ़हि जोई॥

(४) तत्त्वाभिनिवेशी—जो व्यक्ति काव्यके तत्त्व को ठीक-ठीक समझकर उसे निर्भय और निःपक्षपात रूपसे प्रकट करता है वही इस मह-

नीय नामको धारण करता है। चारों आलोचकोंमें यही आलोचक सर्व-श्रेष्ठ होता है। यह इतना विरल होता है कि कहीं हजारों आलोचकोंमें एक होता है। इसके स्वरूपका विवेचन करते हुए एक प्राचीन ग्रन्थ-कारका कहना है कि वह शब्दोंकी रचना-विधिको भलीभांति जानता है, सुन्दर उक्तिसे आह्लादित होता है, काव्यके घने रसका पूर्ण आनन्द लेता है। काव्यके तात्पर्यको भलीभांति समझता है और विवेकी आलो-चकके न होनेसे चित्तमें दुःखित होनेवाले सुधीजनोंके काव्य-रचनाके परिश्रमको जानता है। ऐसा व्यक्ति या आलोचक बड़े पुण्योंसे ही प्राप्त होता है। सचमुच संस्कृत आलोचना-शास्त्रके अनुसार यही व्यक्ति आदर्श आलोचकके सिंहासनपर आरूढ़ होनेका अधिकारी है:--

> शब्दानां विविनक्ति गुम्फनविधीनामोदते सूक्तिभिः
> सान्द्रं लेढि रसामृतं विचिनुते तात्पर्यमुद्रां च यः।
> पुण्यैः संघटते विवेक्तृविरहादन्तर्मुखं ताम्यतां
> केषामेव कदाचिदेव सुधियां काव्यश्रमज्ञो जनः॥

का० मी० अ ४, पृ० १४-१५

मंगल नामक आचार्यके अनुसार आलोचक दो प्रकारके होते हैं-- (१) **अरोचकी** और (२) **सतृणाभ्यवहारी**। अरोचकीका अर्थ है विवेकी और सतृणाभ्यवहारीका तात्पर्य है अविवेकी। इन प्राचीन दो भेदोंमें राजशेखरने दो भेद और जोड़ दिये हैं (३) **मत्सरी** तथा (४) **तत्त्वाभिनिवेशी**। राजशेखरका कहना है कि आरम्भमें साधारण भावक सतृणाभ्यवहारी ही हुआ करता है। यह अवस्था तो सर्व-साधारण है। उस समय प्रतिभा तथा विवेकसे रहित होनेके कारण विवेचक गुण और दोषका विभाजन कर ही नहीं सकता। वह भी बहुत-सी अनुपादेय वस्तुओंका ग्रहण कर लेता है तथा उपादेय होनेपर भी वह बहुतसे पदार्थोंको छोड़ देता है। विवेकके उत्पन्न होते ही भावककी बुद्धि

परिष्कृत होती है और वह काव्यके मूल्यका अंकन भलीभांति कर सकता है। आलोचकमें विवेकका होना परमावश्यक है। परन्तु इसके अतिरिक्त उसका आवश्यक गुण है—पक्षपातहीनता तथा मत्सरराहित्य।

मत्सरी—पक्षपात आलोचकको अन्धा बना देता है जिससे वह न तो गुणोंको गुण समझता है और न दोषोंको दोष। जिधर उसका पक्षपात हुआ उसी काव्यको वह आसमानपर चढ़ा देता है और जिधर उसकी रुचि नहीं हुई उस काव्यको निन्दाके गड्ढे ढकेल देता है। मत्सरी आलोचक की भी यही दशा है। उसे काव्यका तत्त्व अवश्य सूझता है परन्तु द्वेषके कारण वह दूसरोंकी महनीय कृतिमें छिद्रान्वेषण कर वह उसे क्षुद्र तथा हीन बनाना चाहता है। फलतः उसके लिये काव्यकी स्फूर्ति न होनेके बराबर है।

कोई कवि आप बीती सुनाते हुए कह रहा है कि जो कविताके मर्मको समझनेवाले हैं वे तो मत्सरसे ग्रस्त हैं; जिन धनी लोगोंके गुणग्राही होनेकी आशा की जा सकती है वे तो धन तथा ऐश्वर्यके अभिमानमें चूर हैं; बिचारे सामान्य जन अज्ञानमें पड़े हैं, कविताके मर्म समझ नहीं सकते। तब भला समीक्षकके अभावमें कविताका बहिःस्फुरण कैसे हो; कविके अंगमें ही न पच जाय तो और कहां जाय ? :—

बोद्धारो मत्सरग्रस्ताः प्रभवः स्मयदूषिताः।
अबोधोपहताश्चान्ये जीर्णमङ्गे सुभाषितम् ॥

हिन्दीका एक कवि भी मत्सरी आलोचककी निन्दा करता हुआ कह रहा है कि सरस कवियोंके चित्तको दो ही बातें बेधती हैं। एक तो है कविताको न समझनेवाली जनताके द्वारा उसकी प्रशंसा और दूसरी है काव्यको समझनेवाले आलोचकका द्वेषके कारण मौनावलम्बन।

सरस कविनके चित्तको, बेधत वै द्वै कौन।
असमुझवार सराहिबो, समझवारको मौन ॥

इस प्रसंगमें किसी कवि और काव्य-श्रोताकी बातचीत बड़ी रमणीय तथा सजीव है।

श्रोता—आप कौन हैं ?

कवि—मैं कवि हूँ।

श्रोता—तो कोई अपनी अभिनव कविता सुनाइए।

कवि—आजकल तो मैंने कविता करना ही छोड़ दिया है, अतः मेरे पास कोई नयी सूक्ति नहीं है जो सुनाऊँ।

श्रोता—आपने ऐसा क्यों किया ? कवि होकर कविताका परित्याग !

कवि—हां, भाई ठीक है। परन्तु इसका कारण तो सुनिए। इस संसारमें ऐसा कोई भावक (आलोचक) ही नहीं है जो स्वयं सत्कवि होकर दोष, गुणके तत्वोंकी विवेचना कर सके। यदि भाग्यसे ऐसा कोई भावक मिल भी जाता है तो वह द्वेष-रहित कदापि नहीं मिलता। ऐसी दशामें द्वेषहीन समीक्षकके अभावमें मेरी बेचारी कविता मौन है:—

कस्त्वं भो कविरस्मि, काव्यमिनवा सूक्तिः सखे पठ्यतां,
त्यक्त्वा काव्यकथैव सम्प्रति मया, कस्मादिदं श्रूयताम्।
यः सम्यग् विविनक्ति दोषगुणयोः सारं स्वयं सत्कविः
सोऽस्मिन् भावक एव नास्त्यथ भवेद्दैवान्न निर्मत्सरः" ॥

(काव्यमीमांसा, अ० ४, पृ० १४)

कविका कहना बिलकुल सच्चा है। काव्यका मत्सरहीन ज्ञाता होना सचमुच दुर्लभ है। वह कोई विरला ही आलोचक होगा जो दूसरोंके काव्यको पढ़ प्रसन्नता प्राप्त करे। अपनी कविता पढ़कर आनन्दमें कौन विभोर नहीं हो जाता ?

अपि मुदमुपयान्तो वाग्विलासैः स्वकीयैः
परभणितिषु हि तोषं यान्ति सन्ति कियन्तः ॥[1]

जयदेव—प्रसन्नराघव ।

अन्य प्रकारका आलोचक वह होता है जो केवल गुणोंको ही ग्रहण करता है तो अन्य प्रकारका आलोचक काव्यके दोषोंको ही अपनाता है। इन सबसे विलक्षण दूसरा ही आलोचक होता है जो दोषोंका सर्वथा परित्याग कर गुणोंके ग्रहण करनेमें ही अपना आग्रह दिखलाता है। काव्यके मूल्यांकन करनेका उद्योग यद्यपि सभी आलोचकोंमें एक समान ही होता है तथापि प्रकृतिकी भिन्नतासे आलोचकोंमें ये विविध प्रकारके भेद होते हैं।

---

१ निज कवित्त केहि लाग न नीका ।
सरस होइ अथवा अति फीका ॥

—गो० तुलसीदास ।

आलोचना

आलोचनाका मुख्य तत्त्व है कि आलोचक अपने समयके सिद्धान्तोंके अनुसार किसी काव्यकी आलोचना न करे। किसी कविके समयमें विद्यमान आलोचना-सिद्धान्तकी दृष्टिसे ही उस कविकी आलोचना की जा सकती है। आजकलकी बीसवीं शताब्दीके मान्य सिद्धान्तोंके अनुसार संस्कृतके प्राचीन कवियोंके काव्योंकी आलोचना करना नितान्त औचित्यविहीन है। काव्यके उद्गमकी परिस्थितियोंका निरीक्षण अत्यन्त आवश्यक होता है। डाक्टर जान्सन भी इस पक्षके समर्थक थे—

To judge rightly of an author we must transport ourselves to his time, and examine what were the wants of his contemporaries, and what were his means of supplying them.

—Lives of the Poets (Dryden)

आलोचनाका उद्देश्य नितान्त उदात्त तथा विधायक होता है। "संसारमें जो सबसे सुन्दर वस्तु ज्ञात है और विचार द्वारा निर्धारित की गई है उसे केवल जानना ही आलोचनाका प्रयोजन नहीं है, प्रत्युत उस वस्तुसे सर्वसाधारणको परिचित कराकर नूतन तथा सत्य विचारोंकी धाराको प्रवाहित करना है। और यह कार्य बड़ी ईमानदारी तथा योग्यताके

साथ सम्पादन किया जाता है[1]"। आर्नाल्डका यह कथन यथार्थ है। आलोचक अयथार्थ तथा अनृत भावनाओंसे यथार्थ तथा सच्ची भावनाओंको अलग कर कवियोंकी दृष्टिको उदात्त बना देता है। जिस महनीय तत्त्वकी ओर उनकी दृष्टि साधारणतया आकृष्ट नहीं होती, उधर उसे आकृष्ट कर वह कविहृदयको ऊँचे स्तरपर पहुँचा देता है और इस प्रकार साहित्यकी अभिवृद्धिमें वह पूर्ण सहयोग देता है। भारतीय ध्वनिवादी आचार्योंकी काव्यसमीक्षाने कितने नवीन कवियों और लेखकोंको ध्वनि-मार्गका पथिक बनाया है। इसका यथार्थ लेखा-जोखा क्या कथमपि किया जा सकता है?

आलोचकोंके अनेक महनीय गुणोंमें दो विशेष महत्त्वपूर्ण होते हैं—तत्त्वाभिनिवेश तथा मात्सर्यहीनता। आलोच्य विषयकी यथार्थ जानकारी होनेपर ही कोई आलोचक उसके गुण-दोषका विवेचन कर सकता है। आलोचकके कर्तव्यकी तीन[2] अवस्थाएँ होती हैं—कवि या चित्रकारके सद्गुणकी स्वतः अनुभूति, उस गुणका विवेचन तथा उसका उचित

---

१. The business of Criticism is simply to know the best that is known and thought in the world, and by in its turn making this known, to create a current of true and fresh ideas. Its business is to do this with inflexible honesty, with due ability.

—Arnold.

२. To feel the virtue of the poet or the painter, to disengage it, to set it forth—these are the three stages of the critic's duty.

—Walter Pater.

भाषामें प्रकटीकरण। कविके भावोंकी बिना यथार्थ अनुभूति हुए उनकी व्याख्या करना उपहासका विषय है। काव्यके सतहके ऊपर ही तैरनेवाला व्यक्ति न तो काव्यके हृदयको परख सकता है, न उसे साधु भाषामें अभिव्यक्त ही कर सकता है। परन्तु इस सहानुभूतिको आलोचककी मत्सरता एकदम नष्ट कर देती है। रागकी भावनासे काव्यका अन्तस्तत्त्व स्फुरित होता है; द्वेषकी भावना आलोचकको अन्धा बना डालती है; वह काव्यके गुणोंका दर्शन ही नहीं कर सकता। विद्वान् 'दोषज्ञ' कहलाता है—वह दोषोंको जाननेवाला होता है, परन्तु इसका अर्थ नहीं है कि वह गुणोंका मर्म न समझे। विवेकी आलोचक हंसके समान दोषोंसे गुणोंके पृथक् करनेमें सर्वथा समर्थ होता है।

आलोचकको अपने वैयक्तिक रुचिसे ऊपर उठनेकी आवश्यकता होती है। बहुतसे आलोचक अपने व्यक्तिगत पक्षपातके कारण किसी लेखकको सुन्दर तथा शोभन मानते हैं परन्तु सच्चे आलोचकका यह कर्तव्य नहीं है। आलोचना-शास्त्रके अपने मान्य सिद्धान्त होते हैं। इन्हीं सिद्धांतोंका अनुसरण, न कि वैयक्तिक रुचिका व्यामोह, आलोचकका मान्य धर्म होना चाहिए। रचनाके उद्देश्यपर उसे दृष्टि रखनी पड़ती है। मानव समाजके समुत्थान तथा उदात्तीकरणमें काव्यकी चरितार्थता है। आलोचक इसी कसौटीपर काव्यको कसता है और खरे-खोटेपनकी परख करता है। अतः कविकी अपेक्षा भावकका कार्य किसी प्रकार भी न्यून मानना उचित नहीं है। प्रतिभा दोनोंको अपने-अपने विशिष्ट कार्यकी सिद्धिमें समर्थ सहायिका होती है।

काव्य-रहस्य

सत्सूत्रसंविधानं सदलङ्कारं सुवृत्तमच्छिद्रम् ।
को धारयति न कण्ठे सत्काव्यं माल्यमर्घ्यं च ॥

※

शब्दशक्त्यैव कुर्वाणा सर्वदा नवनिर्वृतिम् ।
काव्यविद्या श्रुतिगता स्यान्मृतस्यापि जीवनी ॥

१—काव्यकी प्रेरणा

(क)-भारतीय मत

मानवकी प्रत्येक प्रवृत्ति हेतुमूलक होती है। बिना किसी बलवान् निमित्तके वह किसी भी प्रवृत्तिके लिए उद्योगशील नहीं होता। काव्य-कला मानवकी उच्चतम आध्यात्मिक प्रवृत्तिकी प्रतीक है। बुद्धिके किसी विकसित उच्चतर स्तरपर पहुँचकर ही मनुष्य अपनी अनुभूतियोंकी अभिव्यक्तिके लिए शब्दार्थयुगलका मधुर माध्यम पकड़ता है। वह अपने प्रातिभ चक्षुके द्वारा पदार्थकी मधुर झांकी पाता है; वह जगत्के पदार्थ तथा अन्तर्जगत्के भावमें रसका अक्षय उत्स पाकर अपने जीवनको आनन्दमय बनाता है। इतनेसे ही वह कृतकार्य नहीं होता, प्रत्युत उसी आनन्दका प्रकाशन अपनी कलाके द्वारा सम्पन्न कर दर्शक तथा पाठकको आनन्दमय बनानेका भी प्रयत्न करता है। यही अभिव्यञ्जना उसकी अनुभूतिका चरम अवसान है।

हमारे मनीषियोंकी प्रत्यक्ष दृष्टि बतलाती है कि आनन्दके अनुभवके लिए ही विश्वस्रष्टाने सृष्टिकी रचना की। वह स्वयं रससे तृप्त है; किसी प्रकार न्यून नहीं है—रसेन तृप्तः न कुतश्चनोनः (अथर्व० १०।८।४४)। रसतृप्त विश्वकर्ताकी सृष्टि भी एक अखण्ड रसकी धारासे चारों ओर व्याप्त है। इसके मधुर सरोवर शत-सहस्रसंख्यामें चारों ओर भरे हुए हैं। उनसे रसका आस्वादन करनेके हेतु हमारे प्राण सदा व्याकुल रहते हैं। रस-प्राप्ति मानवजीवनका चरम लक्ष्य है। आनन्दकी अनुभूतिके लिये ही प्राणी बेचैन होकर इधर-उधर भटकता है। रस पानेके लिये उसके चित्त बेचैन हैं, प्राण आकुल हैं। इस रसका अनु-भव पाकर मनुष्य शब्दमय या रेखामय या स्वरमय या चित्रमय माध्यम

द्वारा अपनी उपलब्ध तृप्तिको बाहर प्रकट करता रहता है। वह स्वार्थी नहीं है; वह क्षुद्र स्वार्थका केन्द्रीभूत निकेतन नहीं है कि वह समग्र रस चुपचाप अपने ही आप पान कर जाना चाहता हो। वह अपने 'स्व' को इतना विस्तृत तथा व्यापक बना देता है कि उसके लिये कोई 'पर' रहता ही नहीं। इसी व्यक्तित्वके प्रसारको, अपने 'स्व' को 'पर' के साथ तादात्म्य-को, साहित्यकी भाषामें 'साधारणीकरण'की संज्ञा दी गई है। रसकी उपलब्धिके अनन्तर रसके उन्मीलनका प्रधान साधन है—कला।

अब विचारणीय प्रश्न है कि कला या साहित्यके मूलमें कौन-सी प्रेरणा कार्य करती है? कौन वस्तु उसे कलाके उन्मीलन तथा काव्यके सर्जनके लिए अग्रसर करती है? सन्ध्याकालमें रक्ताभ वारिदमालासे आवृत तथा मञ्जुल स्वरोंकी ध्वनि करनेवाले हरे-लाल रंगके उड़ते हुए पक्षियोंके समूहसे गुंजारित आकाश-मण्डलकी छविको तूलिकासे चित्रित करनेके लिये चित्रकार क्यों व्याकुल होता है? अथवा ऊँची अट्टालिकापर चढ़ झरोखेसे झांकनेवाली शरदिन्दु-विनिन्दक आननसे अन्धकारका तिरस्कार करनेवाली सुन्दरीकी भव्य कान्तिको कविताके द्वारा आलोकित करनेके लिए कवि क्यों लालायित रहता है? कमनीय वीणाकी तन्त्रीको झंकारित कर कलावन्त स्वरमाधुरीसे श्रोताओंको मुग्ध करनेका अश्रान्त परिश्रम क्यों करता है? इसका एकमात्र उत्तर है—स्वान्तः सुखाय = अपने मनके सुखके लिये, अपने हृदयके आनन्दके निमित्त ही। आनन्दसे मुग्ध कलाकार आनन्दकी अभिव्यक्तिका प्रतिनिधि ठहरा; वह अपनी कलाके विविध माध्यमोंके द्वारा उसका उन्मेष करता है। इस उत्तरकी विस्तृत मीमांसा अपेक्षित है।

उपनिषद् बतलाता है कि आरम्भमें ब्रह्म अकेला था। एक होनेसे वह रमण नहीं करता था। रमणकी इच्छा होते ही एकने बहुके रूपमें उत्पन्न होना चाहा। रमणकी अभिलाषा ही एक को बहु बननेकी प्रधान प्रेरिका हुई—'एकाकी नैव रमते'। सो अकामयत् एकोऽहं बहु स्याम्'

इस 'बहु स्याम्' के अभिलाषसे ही सृष्टिका उद्गम हुआ। 'एषणा'की तृप्तिके लिये ही जगत्का समस्त प्रपञ्च जागरूक रहता है। एषणा है कामना या अभिलाषा। एषणा तीन प्रकारकी मानी गई है—पुत्रैषणा, वित्तैषणा तथा लोकैषणा, पुत्र-स्त्रीकी इच्छा, धनकी इच्छा तथा यशकी इच्छा। अथवा अन्य शब्दोंमें काम, अर्थ तथा धर्म ही इस संसारमें समग्र प्रवृत्तियोंके प्रधान निदान माने गए हैं। हमारे समस्त कार्य-व्यवहार इन्हीं कारणोंसे उत्पन्न होते हैं। मानवजीवनकी अशेष प्रवृत्तिका मूल यही है। परन्तु इन तीन पुरुषार्थोंके अतिरिक्त 'मोक्ष' नामक चतुर्थ पुरुषार्थ भी है जो प्राणिमात्रके उद्बोधन तथा प्रवृत्तिका साधन है। दुःख-त्रयकी लहरिकासे प्रताड़ित मानव सदा अपने दुःखमोचनके लिये प्रयत्न-शील होता है। वह सर्वत्र अपनेको बन्धनमें पाता है, चारों ओर परतन्त्रताकी जंजीर उसकी देहको जकड़े हुए खड़ी रहती है, वह स्वतन्त्र होता चाहता है। "सर्वं परवशं दुःखम् सर्वमात्मवशं सुखम्'की उक्ति सर्वथा सत्य है। परवश होना दुःख है। आत्मवश होना सुख है। प्रकृतिसे अपनेको विविक्त जानकर पुरुष ख्याति-लाभ करता है और मुक्त बनता है। यह मोक्ष ही परम पुरुषार्थ है और इसीकी सिद्धिके लिये यावत् कला, यावत् शास्त्र, यावत् काव्य, सतत प्रवृत्त होते हैं।

हमने गोस्वामी तुलसीदासके ही प्रसिद्ध शब्द 'स्वान्तःसुखाय'को समस्त कलाका मूल प्रेरक शक्ति माना है। इसे कुछ विस्तारके साथ समझनेकी आवश्यकता है। इस विश्वमें समस्त प्रेरणाओं तथा स्फुरणाओंका स्फीत भव्य आधार है यही आत्मा। आत्मा ही प्रेरक शक्तिका प्रतीक है। आत्मशक्ति ही सर्वत्र विकसित होकर नाना रूप रूपान्तरोंमें हमारे सामने प्रकटित हो रही है। आत्मा ही विश्वकी समग्र वस्तुओंमें श्रेष्ठ है, प्रियतम है। कामनावेलि आत्मद्रुमका ही आश्रय लेकर अपनी भव्य महिमा सर्वत्र विस्तारित करती है। जीवनके अशेष कार्य-कलापोंके बीच इसीकी शक्ति काम करती दीख पड़ती है। विश्वका निरीक्षण किसी

जगहसे आरम्भ कीजिए, अन्ततोगत्वा आत्माके ऊपर ही पर्यवसान होगा। प्रिय वस्तुओंकी गणनामें आत्मा ही श्रेष्ठ ठहरता है। आत्मा विशाल विश्ववृत्तका केन्द्रस्थानीय बिन्दु है। विश्वकी परिधिके किसी बिन्दुसे गणना आरम्भ कीजिए, केन्द्रको स्पर्श करते ही जाना पड़ता है। प्रियतम होनेके हेतु ही पुत्रवत्सला ममतामयी माताकी भांति श्रुति मानवोंको उपदेश देती है—आत्मा वा ऽरे द्रष्टव्यः—आत्माका साक्षात्कार करो। अये दुःखपीड़ित प्राणी, यदि तुझे क्लेशकी असहनीय वेदनासे अपनी रक्षा करनी है, आवागमनके पचड़ेसे अपनेको बचाना अभीष्ट है, तो इस श्रेष्ठ आत्माका दर्शन करो, मनन करो तथा निदिध्यासन करो। भारतीय आध्यात्मिक चिन्तनाका यही परिगलित फल है—आत्मानं विजानीहि और यूनानके मान्य महापुरुषका यही आदर्श-वाक्य है—Know thyself. आत्माकी यही साक्षादनुभूति कलात्मक चिन्तना तथा रसात्मक रचनाका मूल स्रोत है।

जीवनका पतन

महाकवि कालिदासके मेघदूत काव्यका आध्यात्मिक रहस्य इस विषयको कितनी मनोज्ञतासे झलका रहा है। आनन्दमय लोकमें यह जीव कितने सुखके साथ अपना जीवन बिताता है। नित्य वृन्दावनमें रसिक शिरोमणि भगवान्‌के साथ रास-लीला में लीन यह जीव तन्मयताका अनुभव करता हुआ आत्मविभोर रहता है। अनन्त रासके मधुर रसका आस्वादन कर वह अपनेको कृतार्थ समझता है। परन्तु विषम-कर्मकी विषमय परिणति ऐसी होती है कि वह उस आनन्दधामसे बहिष्कृत किया जाता है, भगवान् विष्णुके तृतीय क्रमसे वह च्युत हो जाता है, 'भूरिशृंगाः अयासः' गायें जिस लोकमें विचरण करती हैं उस गोलोकसे वह अपनेको भूलोकमें पाता है। स्वर्गसे यही च्युति है। क्या हम सब प्राणी उस अमरावतीके शापग्रस्त यक्ष नहीं हैं जिसे स्वामीके अभिशापके कारण ललित अलकाका परित्याग करना पड़ा है। कालिदासका यक्ष,

स्वर्गधामसे च्युत मानवमात्रका प्रतीक है। वह कर्तव्यके साथ प्रेमका, विश्व मंगलके साथ आत्मकल्याणका, परोपकारके साथ स्वार्थका सामञ्जस्य न रखनेके कारण तो इतना आपद्ग्रस्त होकर जंगलोंकी धूलि छानता फिरता है। ईसाई मतके अनुसार ज्ञानके फल चखनेके कारण स्वर्लोकसे आदम अपनी प्रियतमाके साथ निष्कासित किए गए थे। इस निष्कासनका यही तो रहस्य है। यह तो हुआ मानवजीवनका पतनपक्ष।

जीवनका उत्थान

उत्थानपक्षमें ही मानवताकी चरितार्थता है। यदि जीव शिवसे वियुक्त होकर सन्तत वियोगाग्निके भीषण दाहमें दग्ध होता रहे, तो यह उसकी शक्तिशालिताके लिए नितान्त अनुचित है। वियोगकी चरितार्थता संयोगकी उपलब्धिमें ही है। वियोग मानवके आध्यात्मिक विकासमें, मानवतासे ऊपर उठकर शिवत्वकी उपलब्धिमें एक सामान्य दशा है। इसीको चरम फल माननेवाला प्राणी कभी अपनी उन्नतिका फल नहीं पा सकता और उच्चतम ध्येय तक पहुँच ही नहीं सकता। पतन और उत्थान, ह्रास और वृद्धि, वियोग तथा संयोग—दोनों ही आध्यात्मिक विकासके चरम उत्कर्षके लिए नितान्त आवश्यक हैं। वियोगकी वेदना हमारे हृदयको आमूल दग्ध कर रही है, आनन्दधामकी स्मृति आज भी जीवको आनन्दकी झलक दिखलाकर उसे संयोगके लिये उत्साह दे रही है। अमरत्वकी प्राप्ति हमारा अन्तिम ध्येय है। मृत्युसे होकर हमें अमरत्वको पाना है। प्रपञ्च द्वारा निष्प्रपञ्चकी प्राप्ति करनी है। यह तभी सम्भव है जब हम अपने आत्माकी अनुभूति कर अपने आपेको जानें।

विश्वमें जितने रचनात्मक तथा रसात्मक कार्यकलाप हैं वे इस आत्मशक्तिके ही विभिन्न तथा विचित्र स्फुरण हैं। आत्मा ही आनन्दकी उपलब्धिके हेतु इन वस्तुओंका निर्माण करता है—आत्माकी ही आनन्द-

रूपतासे विश्वमें आनन्दरूपता है। क्या चित्रकारी, क्या स्थापत्यकला, क्या कविता, क्या संगीत, सभी इसी आनन्दमय रूपकी अनुभूतिके भिन्न-भिन्न साधन तथा उपाय हैं। अतः भारतीय आलोचकोंकी दृष्टिमें कलाकी रचना आत्मशक्तिका स्फुरण है। काव्यके निर्माणमें भी यही प्रेरक शक्ति है। आत्माका स्वरूपोन्मेष ही काव्यका प्राण है; आनन्दका उन्मीलन ही काव्यका उद्देश्य है; सुखपूर्वक चतुर्वर्गकी प्राप्ति ही काव्यका प्रोच्च प्रयोजन है।

(ख)—काव्यप्रेरणा और नवीन मनोविज्ञान

उपरिनिर्दिष्ट भारतीय मतका औचित्य समझनेके लिये पाश्चात्य मनोविज्ञानके द्वारा उद्भावित सिद्धान्तोंके साथ उसकी तुलना अत्यन्त आवश्यक है। प्राचीन मनोविज्ञानके अनुसार प्राणियोंको भिन्न-भिन्न कार्योंमें प्रवृत्त करानेवाली तेरह प्रकारकी मानसिक शक्तियां हैं जो सहजात होनेके कारण 'मूल-प्रवृत्तियां' (instinct) कही जाती हैं। ये विभिन्न प्रकारकी शक्तियां विभिन्न प्रकारकी उत्तेजनासे उत्तेजित होती हैं और स्वयं विशेष क्रियाओंमें प्रकाशित होती हैं[1]। नवीन मनोविज्ञान (साइको-एनेल्सिस)के जन्मदाता फ्रायडके अनुसार मनुष्यकी समस्त अभिलाषाओं तथा चेष्टाओंका आधार एक ही शक्ति है जिसे वे 'लिबिडो'[2] या मूल शक्तिके नामसे पुकारते हैं। इस मूल शक्तिके रूप निर्देश करनेमें ही फ्रायड महाशयकी मौलिकता है। उनके शिष्य एडलर तथा युंगने भी इस मूल शक्तिको अंगीकार किया है परन्तु उनकी इसकी रूपमीमांसा उनसे नितान्त पृथक् तथा विलक्षण है।

(१) फ्रायड-कामवासना

फ्रायडके अनुसार यह मूल शक्ति काममयी है। मनुष्य जो कुछ भी कार्य करता है, जो कुछ भी चेष्टा करता है उसकी प्रेरिका होती है यह कामवासना जो अपनी तृप्तिके लिये अनेक मार्गोंको खोज निकालती है।

---

१. मैकडूगल नामक प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिकने 'आउट लाइन आफ साइकोलाजी' तथा 'इनरजीज आफ मैन' नामक ग्रन्थोंमें इसी मतकी व्याख्या की है।

२. Libido.

जब इसकी तृप्ति साधारण मार्गसे नहीं होती तब यह अपनी अभिव्यक्तिके लिये असाधारण मार्ग ढूंढ़ लेती है। इस असाधारण मार्गके अन्तर्गत इस इच्छाके अवरोध[१] मार्गान्तरीकरण,[२] रूपान्तरकरण,[३] अथवा उन्नयन[४]की गणना की जाती है। इन्हींके द्वारा समताका विकास होता है। फ्रायडके अनुसार जगत्की मौलिक प्रवृत्तिमें यही कामवासना सर्वत्र व्यापक रूपसे विद्यमान रहती है। इस कामेच्छाके तीन रूप विश्लेषणसे सिद्ध होते हैं--(१) संभोगेच्छा जो विषम लिंगधारियोंके दैहिक मिलनसे सम्भव है तथा जिसका लक्ष्य सन्तानोत्पत्ति है। (२) मानसिक संयोग जो एक-दूसरेके प्रति आकर्षण, प्रेमभाव तथा स्निग्ध बातचीतकी इच्छामें अभिव्यक्त होता है; (३) बालबच्चोंके प्रति प्रेम तथा रक्षाका भाव। सन्तानोत्पत्ति गार्हस्थ्य जीवनका पर्यवसान है। यह साधारण अभिव्यक्तिके प्रकार हैं। कामवासना साधारणरीतिसे अभिव्यक्त होकर अनेक रूपोंमें दृष्टिगोचर होती है। मनोविज्ञानके मर्मज्ञोंका परीक्षित सत्य है कि जब कामवासनाके प्रकाशनका दमन किया जाता है, तब मानव-जीवनकी मार्मिक तथा प्रभावशाली घटनाओंकी उत्पत्ति होती है। लोक-व्यवहारकी घटनाओंमें हम कामवासनाकी ही चरितार्थताका अनुभव करते हैं। कामवासनाके निरोधमें तथा उदात्तीकरणमें ही कलाकी अभिव्यक्ति होती है। कामशक्तिके अधःप्रसरणसे उत्पन्न होता है व्याव-हारिक जीवन तथा कामशक्तिके ऊर्ध्व प्रसरण (परिशोधन या उदात्ती-करण, सबलिमेशन)से उदय लेता है साहित्यिक जीवन !

अतः फ्रायडके अनुसार कलाकी प्रेरणात्मिका शक्ति काम-वासना

---

१. Inhibition.
२. Redirection.
३. Transformation.
४. Sublimation.

ही है। उदात्त मार्गमें जब वह प्रवाहित होती है, भोगविलासमें दैनन्दिन प्रवाहको रोककर जब उसका प्रवर्तन किसी उदात्त भावनाकी अभिव्यञ्जनाके निमित्त किया जाता है, तब कला या काव्यका उद्गम होता है। फ्रायडके अनुयायी आधुनिक आलोचकंमन्योंकी यह धारणा कितनी भ्रान्त है कि कामवासनाकी अटूट तृप्ति ही काव्यकलाकी जननी है। यदि यही पक्ष मान्य होता, तो नैतिक जीवनसे विरुद्ध आचरण करनेवाले व्यभिचार-परायण व्यक्ति ही सबसे श्रेष्ठ कवि होता। परन्तु उनके प्रमाणभूत फ्रायडकी ही उनके विरोधमें घोषणा है कि कामवासनाके परिशोधन तथा उदात्तीकरणसे ही काव्यकलाका जन्म होता है। महाकवियों तथा महनीय कलाकारोंके जीवन भी उसके उज्ज्वल प्रमाण हैं।

कामेच्छाका प्राबल्य हमारे शास्त्रोंमें सर्वत्र स्वीकार किया गया है। 'कामस्तदग्रे समवर्तताधि' (ऋ० १०।१२९।४) ऋग्वेदके विख्यात नासदीय सूक्तमें सृष्टिके आरम्भमें कामके उदयकी कथा मिलती है। वासनारूप काम सूक्ष्मरूपसे सृष्टिके मूलमें सर्वत्र व्यापक दृष्टिगोचर होता है, परन्तु उसीको एकमात्र मूलशक्ति मान लेना मानवजीवनके विकासकी प्रेरिका अन्य शक्तियोंकी सत्ताका तिरस्कार करना होगा। अतः प्राबल्य मानकर भी मनोवैज्ञानिक उसका सर्वव्यापक रूप नहीं मानते। यह सिद्धान्त कलाके आंशिक उदय की ही व्याख्या कर सकता है, समग्र रूपका नहीं। इसीलिए फ्रायडके ही प्रबल सहयोगी तथा अनन्य शिष्य एडलर कामकी इतनी व्यापकता माननेके लिए तैयार नहीं हैं।

फ्रायड आदि आधुनिक मनोवैज्ञानिक काव्यको स्वप्नका सगा भाई मानते हैं। काव्यलोक स्वप्नलोककी ही एक प्रतीकात्मक झांकी है। उनकी मान्यताके अनुसार स्वप्न अन्तःसंज्ञामें निहित अतृप्त वासनाओंकी अन्तर्व्यञ्जना है। काव्यकी भी दशा ठीक ऐसी ही है। इस दैनंदिन जगत्में मनुष्योंकी समग्र इच्छायें बाह्य रूपमें अभिव्यक्त नहीं हुआ करतीं। किन्हीं इच्छाओंके ऊपर सामाजिक नियमोंका इतना कड़ा

प्रतिबन्ध लगा रहता है कि वे बाह्य जगत्की अभिव्यक्तिमें आकर कभी कृतार्थ नहीं होती। निरुद्ध होकर वे केवल अन्तःसंज्ञाके भीतर दब जाती हैं और स्वप्नको अपनी अभिव्यक्तिका माध्यम बनाती हैं। काव्यके सम्बन्धमें भी स्वप्नकी यह विशिष्टता सर्वथा जागरूक रहती है। विशालता, भव्यता, उदात्तता आदिकी चढ़ी-बढ़ी भावनाएँ अतृप्त बनकर अन्तश्चेतनामें अज्ञात रूपसे दबी पड़ी रहती हैं। काव्य ऐसी अतृप्त इच्छाओंकी बाह्या-भिव्यक्तिका एक कलात्मक मार्ग है जो केवल कविके ही हृदयको हलका नहीं बनाता, प्रत्युत श्रोताओंके चित्तको भी प्रफुल्लित तथा आह्लादित करता है।

काव्यके विषयमें फ्रायडका यही मान्य सिद्धान्त है, परन्तु विचार करनेपर इस सिद्धान्तमें अनेक त्रुटियां लक्षित होती हैं। काव्यको स्वप्नका प्रतिनिधि मान बैठना सरासर अन्याय है। यदि दोनोंमें कोई समता है तो वह इतना ही है कि जैसे स्वप्न हमारी बाह्य इन्द्रियोंके सामने नहीं रहता, वैसे काव्य-वस्तु भी नहीं रहती। परन्तु दोनोंके स्वरूपमें महान् अन्तर है। कल्पनाके द्वारा जिन काव्य-वस्तुओंकी प्रतीति होती है उनका रूप स्वप्नकी वस्तुओंकी प्रतीतिके समान नहीं रहता। स्वप्नमें अनुभूत वस्तुएँ प्रत्यक्षके समान स्पष्ट तथा प्रभावोत्पादक होती हैं, परन्तु कल्पना-प्रसूत वस्तुका यह विस्पष्ट रूप नहीं होता। एक और भी बड़ी त्रुटि इस मतमें है करुणरसके प्रसंगमें। काव्यमें करुण रसके उत्पादक प्रसंगोंकी कमी नहीं रहती, परन्तु शोककी वासनाकी तृप्ति इस प्रकार कोई भी व्यक्ति नहीं चाहेगा। शोककी वासना दबानेकी चीज होती है, अभि-व्यक्तिकी वस्तु नहीं होती, क्योंकि इससे किसी व्यक्तिको आनन्द पाना नितान्त दुर्लभ होगा। अतः इन मनोवैज्ञानिकोंका काव्यविषयक मत कथमपि ग्राह्य तथा उपादेय नही हो सकता[1]।

---

१. द्रष्टव्य आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—रसमीमांसा, पृ० २९३-२९४।

प्रवृत्तियां नहीं होतीं। संसारमें ऐसे भी अनेक व्यक्ति होते हैं और आज वर्त्तमान हैं जिनमें हीनताकी विरोधिनी उदात्तताकी ग्रन्थि[1] विद्यमान है। ऐसे लोगोंकी प्रवृत्तिका मूल कहां खोजा जायगा ?

(३) युंग—आत्म-साक्षात्कारकी वृत्ति।

इन दोनों व्याख्याओंसे सन्तोष न होनेके कारण प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक युंग (Yung) ने अपने लिए एक नया ही मार्ग खोज निकाला है। उन्होंने मनोविज्ञानकी दृष्टिसे मनुष्योंको दो भागोंमें विभक्त किया है—बहिर्मुख और अन्तर्मुख। बहिर्मुख (एक्स्ट्रावर्टेड) वृत्तिवाले मानवोंकी दृष्टि सर्वंव संसारके भोगविलासकी ओर लगी रहती है। जगत्में प्रतिष्ठा तथा यश पाना, अपने साथियोंकी दृष्टिमें महत्त्वशाली बनना,ऐसे प्राणियोंका मुख्य उद्देश्य रहता है। अन्तर्मुख (इन्ट्रावर्टेड) प्राणी सर्वंव अपनी दृष्टि बाहरी विषयोंसे हटाकर भीतरकी ओर ले जाता है और अपनी मानसिक शान्तिकी खोजमें रहता है। युंगका कहना है कि इन व्यक्तियोंके चेतन मन तथा अचेतन मनमें वास्तव विरोध रहता है। इनका चेतन मन जैसा रहता है, अचेतन मन ठीक उससे विपरीत होता है। यदि बहिर्मुख व्यक्तिका चेतन मन नितान्त प्रसन्न तथा आह्लादित रहता है, तो उसका अचेतन मन उतना ही अप्रसन्न तथा दुःखी होता है। अन्तर्मुख व्यक्तिका चेतन मन तो उदास, अलस तथा दुःखी दीख पड़ता है, परन्तु उसका अचेतन मन एकान्त शान्त, प्रसन्न तथा आनन्वित रहता है। इस तथ्यका युंगने नाम दिया है—Mental compensation मानसिक समीकरण। मानसिक क्रियाओंका, चाहे वे मनुष्यकी प्रगति या प्रत्याचरण दिखलाती हों, अन्तिम लक्ष्य मानव जीवनको पूर्णताके लक्ष्यकी ओर ले जाना है।

---

१. Superiority complex.

हेडफील्ड नामक मनोवैज्ञानिकके मन्तव्यानुसार मानसिक विकासका लक्ष्य पूर्ण आत्मसाक्षात्कार है। **पूर्ण आत्मसाक्षात्कारकी मनोवैज्ञानिक व्याख्या है[1]—प्रत्येक स्पृहा और अभिलाषाका पूर्ण तथा स्वतन्त्ररूपेण अभिव्यक्ति तथा विकास।** जबतक हमारे मनके अन्तर्गत किसी कोनेमें किसी भी समयकी, बालपनकी या प्रौढ़कालकी, इच्छा अविकसित रूपसे रह जाती है और चेतन मनके ऊपर आकर अपनी समग्र अभिव्यक्ति नहीं प्राप्त कर लेती, तबतक हमारा मानसिक विकास अधूरा ही रहता है—आत्माके पूर्णसाक्षात्कार करनेकी बात कल्पनाजगत्की ही चीज होती है। आदर्शजीवनमें वैयक्तिक सुख-सम्बन्धी इच्छाओं और परमार्थ भावका पूरा सामञ्जस्य रहता है। वह केवल ज्ञानका ही उपासक बनकर अपनी भावशक्तिको सुखा नहीं डालता और न भावकी अत्यधिक सेवासे ज्ञानका पन्थ अवरुद्ध करता है, प्रत्युत ज्ञान तथा भाव, विचार तथा इच्छा, उभय शक्तियोंका इस प्रकार पूर्ण विकास करता है जिससे वे समष्टिके विरोधी न बन जायें। पूर्णताकी प्राप्तिके लिये व्यक्तिके अचेतन मनके भावका ज्ञान तथा उनका प्रकाश करना ही आव-

---

१. Self realisation—that is to say, the complete and full expression of all the instincts and impulses within us—cannot be achieved so long as there are elements in our soul that are repressed and denied expression. In a full-realised self there is no conflict of purpose, no complexes, no repression, but the harmonious expression of all the vital forces towards a common purpose and end.

—Hadfield : Psychology and Morals

श्यक नहीं होता, वरन् समष्टिके अचेतन मनको जानना और उसके अनुसार आचरण करना भी आवश्यक होता है। आत्मसाक्षात्कार करनेके लिये तथा अपने जीवनको आनन्दमय बनानेके लिये हेडफील्डने उपदेश दिया है—(१) अपनी आत्माको जानो; (२) अपनी आत्माको स्वीकार करो। (३) अपनी आत्मामें रहो। अतः आत्माका ज्ञान तथा उस आत्मज्ञानको अपने जीवनमें तथा आचरणमें लाना व्यक्तिके मानसविकासका लक्ष्य है।

युंगके सिद्धान्तके अनुसार आत्मसाक्षात्कारकी वृत्ति ही कला तथा काव्यकी प्रेरिका शक्ति है। कला व्यक्तिके मानसिक विकासका अन्यतम प्रकार है। अतः उसमें व्यक्तिके मानसविकासकी पूर्णता तभी हो सकती है जब वह अपना साक्षात्कार सम्पन्न करता है। पूर्व प्रतिपादित भारतीय मतसे यही मत मिलता है, परन्तु इस सिद्धान्तमें भी अनेक बातें विचारणीय हैं। मेरी दृष्टिमें आधुनिक मनोविज्ञान भी कलाकी प्रेरणा-शक्तिकी खोज करता हुआ उसी सिद्धान्त तथा मतको माननेके लिए बाध्य हो रहा है जिसे हमारे आलोचकोंने बहुत पहिले हीसे निर्णीत और निश्चित कर दिया है।

३—कलामें व्यक्तित्वका स्थान

इस प्रसंगमें यह विचारणीय प्रश्न है कि कला अथवा काव्यमें कलाकार या कविके व्यक्तित्वका कितना आभास तथा प्रभुत्व रहता है ? ऊपरके विवेचनसे स्पष्ट है कि भारतीय दृष्टिमे काव्यमें कविके व्यक्तित्वकी मधुर झांकी ही नहीं रहती, प्रत्युत उसकी आत्माका पूर्ण प्रभाव प्रकाशित होता है—बाह्य सामग्रीका आश्रय और तज्जन्य बन्धन नहीं रहता। इस कथनकी यहां कुछ व्याख्या अपेक्षित है।

काव्यमें व्यक्तित्वके सम्बन्धमें दो परस्पर विरोधी मत पाश्चात्य आलोचना जगत्में दीख पड़ते हैं। एक पक्ष कलाकृतिमें कलाकारके व्यक्तित्वका पूर्ण विकास मानता है, तो दूसरा पक्ष कलाकारके व्यक्तित्वका कलामें सर्वथा तिरस्कार तथा परिहार मानता है। पाश्चात्य आलोचकोंने इस सम्बन्धमें कला और कलाकारके ही विषयमें विशेष आलोचना की है। ब्रेडलेका कथन है—"कला न तो वास्तविक जगतका अंश है, न अनुकरण। इसकी दुनिया ही निराली है जो स्वयं स्वतंत्र तथा स्वाधीन रहती है।" एक दूसरे आलोचक (क्लाइभ बेल) भी इसी स्वरमें स्वर मिलाकर कहते हैं—"किसी कलाकी वस्तुका आनन्द उठानेके लिये हमें जीवनसे सहायता लेनेकी कोई जरूरत नहीं पड़ती। जीवनके विचारों, घटनाओं, या भावनाओंसे उसे परिचित होनेकी कोई आवश्यकता नहीं होती।" इस पक्षके लेखक कलात्मक अनुभूतिको एक विशेष प्रकारकी अनुभूति मानते हैं जो संसारकी अन्य अनुभूतियोंसे विलक्षण तथा विचित्र होती है।

यह एकपक्षीय मत ही माना जा सकता है। भारतीय आलोचना-शास्त्रमें काव्यमें कविके व्यक्तित्वकी अभिव्यक्ति एकान्त रूपसे नहीं मानी

गई है। भारतीय रसशास्त्रका प्रधान उद्देश्य पाठकों या दर्शकोंको रस-बोध कराना ही है। पाठक तथा श्रोताके लिये हमारे शास्त्रका शब्द है 'सामाजिक'। श्रव्य काव्यका पाठक तथा दृश्य काव्यका दर्शक 'सामाजिक' शब्दसे अभिहित किया जाता है। 'सामाजिक'के हृदयमें रसोन्मीलन करना कविका प्रधान लक्ष्य होता है। सामाजिक पूरे समाजका प्रतिनिधित्व करता है। समाजकी मंगलकामना, समाजका हितचिन्तन, आनन्दके साथ समाजके कल्याणके लिए उपदेश—इन सब महनीय उपदेशोंकी पूर्तिके लिये कवि सतत प्रयत्नशील रहता है। काव्यमें उसका 'स्व' अवश्यमेव परिस्फुरित होता है परन्तु यह 'स्व' संकीर्ण 'स्व' नहीं है जिससे 'सर्व'का विरोध उत्पन्न हो। काव्यमें कविके 'स्व' तथा 'सर्व'में कथमपि विरोध नहीं घटित होता।

भारतीय संस्कृतिमें समाज और व्यक्तिमें भव्य सामञ्जस्य सर्वंव वर्तमान रहा है। भारतीय धर्म जिस प्रकार व्यक्तिकी आध्यात्मिक उन्नतिका सन्देश देता हुआ समाजके हितचिन्तनके लिये भी जागरूक रहता है, उसी प्रकार भारतीय साहित्य भी व्यक्ति तथा समाज, दोनोंके हितचिन्तन तथा स्वार्थके एकीकरणके लिये प्रवृत्त होता है। इस प्रकार काव्य वह साधन है जिसमें कलाकारके व्यक्तित्वके माध्यम द्वारा समाज अपना सुभग रूप सन्तत प्रस्तुत किया करता है। भारतीय कवि अपनी कृतिमें समाजकी कभी भी उपेक्षा नहीं करता। लौकिक व्यक्तियोंकी अपेक्षा कलाकारके व्यक्तित्वमें एक विशेष अन्तर यह दीख पड़ता है कि लौकिक व्यक्ति विशिष्ट रूपसे व्यावहारिक जगत्के सुख-दुःखका अनुभव स्वयं करता है। परन्तु कविका व्यक्तित्व 'साधारणीकृत' होता है। कलाकार कभी अपने स्वार्थका विचार न कर अपनी अनुभूतिको साधारण रूपमें ही ग्रहण करता है। उसे वह अपनी निजी अनुभूति न मानकर सरस तथा मंगल साधक कलाकारकी अनुभूति मानता है। कलाकारके इस साधारणीकृत

व्यक्तित्वके कारण काव्यमें सर्वजनीनता तथा सार्ववर्णिकता सदैव प्रस्तुत रहती है।

पाश्चात्य आलोचकोंका भी इसी सिद्धान्तकी ओर झुकाव अधिक दीख पड़ता है। प्रसिद्ध आलोचक रीचर्ड्स कलात्मक अनुभूतिको कोई विशिष्ट नये प्रकारकी अनुभूति नहीं मानते, बल्कि साधारण अनुभूतिओंका ही संगठन मानते हैं। तथ्य यह है कि कलाकारके व्यक्तित्वकी दृष्टिसे कलात्मक रचनाकी समीक्षा उतनी वैज्ञानिक नहीं प्रतीत होती। व्यक्तित्व तो स्वयं एक माध्यम है जिसके द्वारा वह वस्तु व्यक्त होती है जिसे हम बाह्य जीवन कहते हैं। समाजका जैसा रूप रंग होता है, जैसा उसका निर्माण होता है वैसा ही वह कलाकारके निर्माणका उपादान होता है। इसीलिये आजकल पच्छिमी जगत्में भी कलाकी समीक्षामें कलाकारके व्यक्तित्वको महत्त्व न देकर इतिहास और समाजको ही विशेष महत्त्व दिया जा रहा है। आजकलके सुविख्यात अंग्रेजी कवि इलीयटका तो यहां तक कहना है—कविता व्यक्तित्वकी अभिव्यक्ति नहीं, बल्कि व्यक्तित्व से पलायन है (Poetry is not the expression of personality but an escape from personality)

तात्पर्य यह है कि सच्चा कलाकार जीवनकी विशालता और विविधताकी ओर ही दृष्टि डालता है। उसके सामने वह अपने व्यक्तित्वको भी सर्वथा तिरस्कृत कर देता है। यदि काव्यको 'स्व' के ऊपर 'सर्व'की –विजय–घोषणा कहें तो कोई अनुचित नहीं। अभिव्यंजन ही कलाका उद्देश्य है और व्यक्तिगत उद्गारोंके स्थानपर विश्वगत अनुभूतियोंको आसीन किए बिना अभिव्यंजना पूर्ण तथा परिपक्व नहीं हो सकती।

सारांश यह है कि कलामें हमारी ही जीवनधारा बहती है। समाजकी प्राचीन और वर्तमान परम्परासे परे कलाकी कोई अलग दुनिया नहीं होती। कलाकार समाजमें जनमता है। समाजसे ही अपने विचारोंके

लिये पौष्टिक पदार्थ ग्रहण करता है। अपने विचारों और भावनाओंको व्यक्तित्वके संकुचित क्षेत्रसे ऊपर उठाकर वह विश्वके साथ सामञ्जस्य स्थापित करनेका प्रयत्न करता है। ऐसी दशामें हमारे आलोचक कलाको कलाकारके सीमित व्यक्तित्वकी अभिव्यक्ति नहीं मानते; प्रत्युत उसके उस व्यक्तित्वकी झलक मानते हैं जो विश्वके साथ सामञ्जस्य स्थापित कर चुका है। ऐसे कलाकारकी कृति 'सर्वजनसुखाय' तथा 'सर्वजन हिताय' अवश्यमेव होती है।

२—काव्य और प्रतिभा

वर्त्मनी गिरां देव्याः शास्त्रं च कविकर्म च।
प्रज्ञोपज्ञं तयोराद्यं प्रतिभोद्भवमन्तिमम् ॥

वाग्देवीकी अभिव्यक्तिके दो मार्ग हैं—शास्त्र तथा काव्य। इनमेंसे शास्त्र प्रज्ञाके ऊपर आश्रित रहता है और काव्य प्रतिभाकी उपज होता है। समस्त वाङ्मयके दो ही प्रकार हैं—शास्त्र और काव्य, जिनमें शास्त्र प्रज्ञाका वैभव है तो काव्य प्रतिभाका विलास है।

कमनीय काव्यकी प्रसूति प्रतिभाका परिणत फल मानी जाती है। प्रतिभा ही कविकी अलोकसामान्य अभिव्यक्तिका मुख्य हेतु है। प्रतिभाके पंखपर आरूढ़ होकर कवि ऐसे लोकोंकी लम्बी उड़ान लेता है जहां साधारण जनकी बुद्धि प्रवेश भी नहीं पाती। प्रतिभा आर्षचक्षु है। प्रतिभाके द्वारा आन्तर आर्षचक्षुका उन्मीलन होता है जिससे साधारणजनके लिये अगम्य स्थानोंमें कवि पहुँच जाता है और अदृश्य वस्तुओंका सद्यः साक्षात्कार करता है। कवि और आलोचक दोनोंके नैसर्गिक विकासके निमित्त प्रतिभा जागरूक रहती है। कविके लिये आवश्यक होती है कारयित्री प्रतिभा और काव्यके मर्मज्ञके लिये उपयोगी होती है भावयित्री प्रतिभा। कवि-जनोंने एक स्वरसे काव्यनिर्माणमें प्रतिभाकी उपयोगिता मानी है। भवभूतिके कथनानुसार ब्रह्माने स्वयं उपस्थित होकर महर्षि वाल्मीकिकी प्रशस्त श्लाघा की थी—प्रबुद्धोऽसि वागात्मनि ब्रह्मणि—आर्षेण चक्षुषा—के द्वारा। आर्षचक्षुका उन्मेष प्रतिभाके विलासकी ही सूचना है। कविवर शेलीके कथनानुसार कवि प्रतिभाके कारण ही निरवच्छिन्न रूपसे पद्यकी धारा बहानेमें समर्थ होता है—

Like a poet hidden
In the light of thought
Singing hymns unbidden
Till the world is wrought
To sympathy with hopes and fears it heeded not

'Singing hymns unbidden' बिना किसी आदेशके गीतिकाके गानेसे अभिप्राय प्रतिभाके स्रोतके उन्मीलनका है।

भारतीय दर्शन तथा साहित्यशास्त्रमें प्रतिभाकी बड़ी ही मार्मिक तथा आध्यात्मिक व्याख्या की गई है। साधारण समझ कहती है कि जगत्के पदार्थोंका तात्त्विक निरूपण करती है हमारी मानव-बुद्धि इन्द्रियोंकी सहायतासे, परन्तु दार्शनिकोंकी दृष्टिमें वस्तुतत्त्वके अपरोक्ष ज्ञानका प्रबल साधन प्रतिभा ही है। प्रतिभा का शाब्दिक अर्थ है झलक, कारण-सामग्रीके अभावमें भी भावोंका मानस क्षितिजपर स्वतः प्रकाश या आविर्भाव। भारतीय दर्शनकी नाना शाखाओंने अपने दृष्टिकोणसे प्रतिभा-तत्त्वकी गम्भीर आलोचना प्रस्तुत की है और इसका प्रभाव अलंकारशास्त्रीय कल्पनापर भी विशेष रूपसे पड़ा है।

त्रिकदर्शनमें 'प्रतिभा'

शैवागममें प्रतिभाका स्थान बड़ा ही उदात्त तथा गम्भीर है। प्रतिभाका यह आगमिक स्वरूप तथा रहस्य हमारे साहित्य-शास्त्रको भी मान्य है। आचार्य अभिनवगुप्त आगम तथा साहित्य दोनोंके पारगामी मनीषी थे। लोचनमें उनकी इस तत्त्वकी व्याख्या बड़ी ही मार्मिक तथा तलस्पर्शी है। पाश्चात्य आलोचनाका Imagination तथा Intuition भारतीय साहित्य-शास्त्रकी 'प्रतिभा' ही है।

त्रिकदर्शनके अनुसार ३६ तत्त्वोंमें मूर्धन्य तत्त्व है परमशिव तत्त्व। परमशिवके हृदयमें विश्वसिसृक्षाके उदय होते ही उसके दो रूप हो जाते हैं—शिवरूप तथा शक्तिरूप। शिव प्रकाशरूप है तथा शक्ति विमर्श-रूपिणी है। विमर्शका अर्थ है—पूर्ण अकृत्रिम अहंकी स्फूर्ति। यह स्फूर्ति सृष्टिकालमें विश्वाकार रहती है, स्थितिकालमें विश्वप्रकाश तथा संहारकालमें विश्वसंहरण रूपमें विद्यमान रहती है—

विमर्शो नाम विश्वाकारेण विश्वप्रकाशेन
विश्वसंहरणेन च अकृत्रिमाहमिति स्फुरणम्

—परा प्रावेशिका पृ० २

इस शक्तिकी अनेक संज्ञाएँ है यथा चित्, चैतन्य, स्वातन्त्र्य, कर्तृत्व, स्फुरत्ता, सार, हृदय, स्पन्द तथा प्रतिभा। विमर्शके द्वारा ही प्रकाशका अनुभव होता है और प्रकाशकी स्थिति बिना विमर्शके सिद्ध हो ही नहीं सकती। जिस प्रकार दर्पणके अभावमें मुखका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, उसी प्रकार विमर्शके बिना प्रकाशका रूप सम्पन्न नहीं हो सकता। शिवको चेतन बनानेकी क्षमता विद्यमान रहती है इसी शक्तिमें। शिव चिद्रूप हैं, परन्तु अचेतन है। उनमें चैतन्यके आविर्भावका ज्ञान कराती है यह

शक्ति ही । जिस प्रकार माधुर्यका आवास होनेपर भी मधु अपनी मिठासका स्वयं अनुभव नहीं कर सकता और शराबमें मादकता होनेपर भी वह उसका ज्ञान नहीं कर सकती, उसी प्रकार चैतन्यका निकेतन होनेपर भी शिव अपने चैतन्यका अनुभव स्वतः नहीं कर सकता । शिवको अपने चैतन्यरूप तथा प्रकाशरूपका ज्ञान इसी शक्तिके द्वारा ही होता है ।

'प्रतिभा' इसी शक्तिकी अपर संज्ञा है । शिवकी यह परा शक्ति शिवमें ही सन्तत विश्राम करती है और अपनी उन्मीलन-क्रियाके द्वारा, अपने रूपको प्रकटित करनेकी क्रियाके द्वारा, विश्वका उन्मीलन करती है—

यदुन्मीलनशक्त्यैव विश्वमुन्मीलति क्षणात् ।
स्वात्मायतनविश्रान्तां तां वन्दे प्रतिभां शिवाम् ॥

(ध्वन्या० लोचन, पृ० ६०)

'परा प्रतिभा'का यह स्वरूप 'कविप्रतिभा'का भी स्वरूप है । प्रतिभाकी उन्मीलन शक्तिके द्वारा ही कविके सामने समग्र विश्व क्षणमात्रमें उन्मीलित हो जाता है । जो संसार अबतक बन्द तथा परोक्ष था, वह क्षणभरमें खुल जाता है और अपरोक्ष बन जाता है । यह प्रतिभा 'स्वात्मायतन-विश्रान्ता' रहती है—कविका हृदय ही प्रतिभाका आयतन रहता है जहां वह सन्तत विश्राम करती है । 'स्वात्मायतन'का अभिनवगुप्तके प्रामाण्य पर ही अर्थ है—'स्वहृदयायतन' (कविका हृदयरूपी आयतन)[1] । यह विशेषण प्रतिभाको बुद्धिके व्यापारसे पृथक् सिद्ध कर रहा है । प्रतिभाका आयतन हृदय है, बुद्धि नहीं । प्रजापति प्रतिभा शक्तिसे ही जगत्के निर्माणमें, विचित्र अपूर्व वस्तुकी रचनामें, समर्थ होते हैं । उसी प्रकार

---

१. कवेरपि स्वहृदयायतन-सततोदित-प्रतिभाभिधान-परवाग्देवता-नुग्रहोत्थित-विचित्रापूर्वनिर्माणशक्तिशालिनः प्रजापतेरिव काम-जनितजगतः ।

—अभिनवभारती, प्रथम भाग, पृ० ४

कवि भी प्रतिभा नामक वाग्देवीके अनुग्रह से विचित्र अपूर्व वस्तुके निर्माणमें सर्वथा सक्षम होता है। इसी निर्माणकौशलके कारण कविको 'प्रजापति'की महनीय पदवी प्रदान की जाती है--

अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते॥

जगत् प्रजापतिकी इच्छाका विलास है। काव्य भी कविकी प्रतिभाका विलास है।

प्रतिभा—पश्चिमी मत

कोलरिज

इस निर्माणकुशला प्रतिभाको अंग्रेजी साहित्यके मान्य कवि तथा आलोचक कोलरिज Esemplastic Imagination के नामसे पुकारते हैं। कोलरिजकी विचारधाराके ऊपर नव्य प्लेटोवादका विशेष प्रभाव पड़ा है। इस वादका सिद्धान्त यह है कि अव्यक्त प्रकृतिके ऊपर स्रष्टाके दैवी संकल्पके संस्कार (impress) पड़नेपर प्राकृतिक व्यवस्थाका उदय होता है। प्राकृतिक प्रपञ्च इस परिवर्तनशील जगत्में अपरिवर्तन-शील तथा नित्य आदर्शके प्रतीक हैं। दैवी प्रत्यय एक अपरिच्छेद्य आदर्श है जिसकी अनुकृति विश्वकी घटनाओं तथा पदार्थोंकी रचनामें उपलब्ध होती है। मोमके ऊपर जिस प्रकार किसी मुहरको दबाकर चिह्न बनाया जाता है उसी प्रकार प्रकृतिके ऊपर भगवान्के संकल्पका चिह्न नहीं पड़ता। प्रकृति स्वतः विकासशील है। भागवत संकल्पमें एक विशिष्ट प्रकारकी रचनात्मक शक्ति होती है जो प्रकृतिमें नित्य नूतन रूपकी अभिव्यक्ति किया करती है—

The impress of the Divine mind upon matter is not like the impress of a seal or wax, for nature to him was something organic and enolving. The Divine mind does not stamp itself upon matter in one fixed and determinate act, but works through the agency of a plastic power which

brings new forms into being by a process of growth.

—English Studies, 1949, P. 83.

प्लास्टिक पावर (Plastic Power) का अर्थ है अनगढ़ वस्तुओंको सुगढ़ बनानेकी कला अथवा अमूर्त पदार्थोंको मूर्तिप्रदान करनेकी शक्ति। ईश्वरमें इस विचित्र शक्तिकी सत्ता कोलरिज स्वीकार करते हैं। कवि भी प्रजापतिके समान स्रष्टा है। ईश्वरीय सृष्टिके अनुरूप ही कविसृष्टि अमूर्त पदार्थोंको मूर्त रूप प्रदान करती है। इसके लिये कविके पास प्रधान साधन है प्रतिभा जो इस शक्तिके सम्पन्न होनेके कारण 'इसेम्प्लास्टिक' esemplastic (या मूर्तविधायिनी शक्तिसे युक्त) माना गया है। इसीलिए कोलरिजने अनेक स्थलोंपर कवि प्रतिभाकी तुलना सृष्टिके ईश्वरीय कार्यसे की है। उनकी यह विख्यात उक्ति है—A repetition in the finite mind of the etenal act of creation in the infinite I Am" अर्थात् अपरिच्छिन्न चैतन्यके नित्य सृष्टिकार्यका परिच्छिन्न चैतन्यमें पुनरावृत्ति। कवि उसी प्रकार काव्य स्रष्टा है जिस प्रकार ईश्वर जगत्-स्रष्टा। इसी तुलनाके आधारपर वह कहता है कि काव्यरचना विचारका प्रतीक है। जिस प्रकार प्राकृतिक पदार्थ ईश्वरके विचारके प्रतीक होते हैं, उसी प्रकार काव्यसृष्टि कविके विचार की प्रतिनिधि होती है। कोलरिजकी यह विचारधारा पूर्वोक्त भारतीय सिद्धान्तके अनुरूप है।

शैली

कोलरिजके सिद्धान्तोंके ऊपर नव्यप्लेटोवादका विशेष प्रभाव पड़ा है। वे कतिपय अंशोंमें प्लेटोके भी ऋणी हैं। प्रतिभा-विषयक पाश्चात्य कल्पनाका मूल स्रोत यूनानी आलोचकोंके ग्रन्थोंमें अधिकतर उपलब्ध होता है। पाश्चात्य आलोचना काव्यको कविके व्यक्तित्वकी अभिव्यक्ति

मानता है। काव्य-व्यापारके कारण ही काव्यका उदय होता है और इस व्यापारको सफल तथा समर्थ बनानेमें सबसे अधिक प्रभावशालिनी शक्ति है प्रतिभा (इमैजिनेशन Imagination)। पाश्चात्य आलोचक इस शब्दपर इतना आग्रह रखता है कि काव्यकी विविध परिभाषाओंमें यह शब्द सर्वदा वर्तमान रहता है। कविवर शेली काव्यकी अपनी सुप्रसिद्ध परिभाषामें काव्यको प्रतिभाकी ही अभिव्यञ्जना मानते हैं—

Poetry is the expression of imagination.

अंग्रेजी साहित्यमें स्वच्छन्दतावाद (Romanticism) के युगमें कवियोंकी यह विख्यात मान्यता रही है कि जड़ पदार्थको अपनी इच्छानुसार नवीन रूपमें ढालनेकी शक्ति परमात्मामें रहती है। जड़-पदार्थ उस शक्तिके प्रभावको यथाशक्ति निरोध करता रहता है, परन्तु वह विधायिका शक्ति (plastic power) इतनी प्रबल तथा प्रभविष्णु होती है कि जड़प्रकृतिके निरोधकी परवाह न कर चूर्ण-विचूर्णकर उसे अपनी इच्छाकी वशवर्तिनी बनाती है—अपने ढांचेमें ढालकर उसे स्वाभिलषित रूप प्रदान करती है। यही विधायिका शक्ति कविमें प्रतिभाके नामसे पुकारी जाती है। काव्य कविकी प्रतिभा शक्तिके कौशलका विलास है। कवि पदार्थोंके ऊपर अपनी छाप लगाकर, अपने सांचेमें ढालकर उन्हें नवीन रूप ग्रहण करनेके लिए बाध्य करता है। इसीलिए कविकी प्रतिभा विश्व-स्रष्टा भगवान्के सर्जन-शक्तिका प्रतीक है। शेली अपने दिवंगत सुहृद् कीट्सकी स्मृतिमें इसी धारणाकी कवित्वमयी अभिव्यक्ति कर रहे हैं—

He is a portion of the loveliness
Which once he made more lovely:he doth bear
His part, while the one spirit's plastic stress
Sweeps through the dull dense world,
compelling there

All new successions to the forms they wear;
Torturing th' unwilling dross that checks
its flight
To its own likeness, as each mass may bear;
And bursting in its beauty and its might
From trees and beasts and men its the
Heaven's light.
--Adonais

प्रतिभाके विषयमें प्लेटो

प्रतिभाके रूपकी पाश्चात्य जगत्में प्रथम अभिव्यक्ति हमें मिलती है प्लेटोके ग्रन्थोंमें। कविताके विषयमें उनका स्वतन्त्र ग्रन्थका अभाव जरूर खटकता है, परन्तु इस विषयमें उनके सिद्धान्त अन्य ग्रन्थोंमें बिखरे मिलते हैं। प्लेटोकी दृष्टिमें काव्योंकी महनीयता तथा सुन्दरताका कारण बाह्य न होकर अन्तःस्फुरण ही मुख्य है।

प्लेटोका कथन है कि प्रशंसित काव्योंके लेखक कलाके नियमोंके अनुसार उत्कर्ष नहीं प्राप्त करते हैं, प्रत्युत वे स्फूर्तिकी दशामें अपने सुन्दर गीत अलापते हैं, प्रतीत होता है कि उनके ऊपर एक नवीन व्यक्तित्वका आक्रमण हो जाता है तथा वे अपनेसे पृथक् किसी आत्मासे आक्रान्त होते हैं। गीतिकाव्यके रचयिता दैवी पागलपन (divine insanity)की दशामें अपने विख्यात गायनोंका निर्माण करते हैं।[१] प्लेटोने कवियोंकी तुलना भ्रमरोंसे की है। मधुव्रत एक पुष्पसे

१ The authors of these great poems which we admire do not attain to excellence through the rule of any art, but these utter their beautifull melodies of verse in a state of inspiration and, as it were, possessed by a spirit not their own. —Plato:Ion.

दूसरे पुष्पपर जाता है और नाना उपवनोंमें घूमकर मधुकी राशि इकट्ठा कर लौटता है। कविजनोंकी भी दशा ठीक ऐसी ही है। वे भी शारदाके मधुमय उत्सोंके समीप जाकर रागकी माधुरी ग्रहण कर लौटते हैं और कल्पनाके पंखोंसे सुसज्जित होकर तथ्यकी अभिव्यक्ति करते हैं[१]। प्लेटोकी इस सम्मतिमें कविके लिये स्फूर्ति, प्रेरणा या प्रतिभाकी नितान्त आवश्यकता रहती है। कविमें जबतक प्रतिभाका आविर्भाव नहीं होता—कल्पना जागरूक नहीं होती, तबतक वह कविताकी रचना कर ही नहीं सकता। प्लेटो इससे आगे बढ़ते हैं। उनका तो यहां तक कहना है कि बुद्धि-व्यापार (Reason) का कोई भी अंश जबतक अवशिष्ट रहता है,[२] तबतक वह कविताकी रचनामें एकदम असफल रहता है। कविता बुद्धि व्यापारकी उपज नहीं है, वह तो प्रतिभाकी प्रसूति है। प्लेटोके अनुसार मनकी दो वृत्तियां हैं—बुद्धि-व्यापार तथा स्फूर्ति-व्यापार। प्रथममें मन नितान्त सजग रहता है और दूसरेमें वह सुप्त दशाका अनुभव करता है। बुद्धि व्यापारका चमत्कार है शास्त्र तथा स्फूर्ति व्यापारका विलास है काव्य। अतः शास्त्रकी अपेक्षा काव्यकी महत्ता तथा गरिमा सर्वथा मान्य है।

---

१. For a poet is indeed a thing ethreally light, winged and sacred, nor can he compose anything worth calling poetry until he becomes inspired, and as it were, mad, or whilst any reason remains within him. plato.

२. For whilst a man retains any portion of the thing called reason, he is utterly incompetent to produce poetry.—वही

प्रतिभाके विषयमें काण्ट

प्रतिभाके विषयमें दार्शनिक—प्रवर काण्ट (Kant) तथा आलोचक—प्रवर कोलरिज (Coleridge)का मत विशेष सादृश्य रखता है। भारतीय दर्शनके सिद्धान्तोंसे इसकी तुलना इस प्रकार की जा सकती है—

	काण्ट	कोलरिज	भारतीय मत
१	Reproductive Imagination	Fancy	स्मृति
२	Productive Imagination	Primary Imagination	सविकल्पक प्रत्यक्ष
३	Aesthetic Imagination	Secondary Imagination	कविप्रतिभा

दार्शनिक शिरोमणि काण्टकी दृष्टिमें कल्पनाके तीन प्रकार होते हैं:—

(१) Reproductive Imagination (अर्थात् सम्मेलक प्रतिभा)। इसके व्यापार स्वतन्त्र नहीं होते, क्योंकि वह मानव बुद्धिके सामने पूर्वसे ही उपस्थित होनेवाले पदार्थोंका केवल मिश्रण प्रस्तुत करती है। इस दृष्टिसे यह कोलरिजके द्वारा व्याख्यात फैन्सी (Fancy)की समानता रखती है। यह मानवबुद्धिकी प्रारम्भिक प्रवृत्ति है। जब मनुष्य प्रारम्भमें प्रकृतिका निरीक्षण करता है, तब वह केवल नीरस अंगोंपर ही दृष्टि डालता है। अवलोकित अंश इतस्ततः विकीर्ण ही रहते हैं। उन्हें एकरूपमें अंकित करनेकी क्षमता नहीं होती। ये इतस्ततः संकलित विचार केवल स्मृतिरूप होते हैं। उनमें जीवन नहीं

होता। ये चित्र स्वतः निर्जीव, निष्प्राण तथा निराधार होते हैं। यह कार्य प्रतिभासे भिन्न फैन्सीका होता है[१]। कालरिजकी दृष्टिमें फैन्सी समय तथा स्थानके क्रमसे उन्मुक्त स्मृतिका एक प्रकारमात्र है। भारतीय दर्शनकी दृष्टिमें यह स्मृतिका ही एक रूप है।

(२) **उत्पादक कल्पना** (Productive Imagination) काण्टके अनुसार इसका रूप निम्नलिखित शब्दोंमें अभिव्यक्त किया जा सकता है--

It enables the mind to create perceptions from the raw material of sense data and by bringing sensation and understanding togather enables the latter to carry on its work of discursive reasoning

—English Studies 1949 P. 86.

कोलरिजका भी यही कथन है। उनसे पहिले अंग्रेज दार्शनिकोंकी यही मान्यता थी कि प्रत्यक्ष इन्द्रियोंके द्वारा अनुभूत रूप रंग आदिका एक समुच्चयमात्र होता है, परन्तु कोलरिजकी दृष्टिमें मस्तिष्क स्वयंक्रियाशील होता है। वह केवल क्रियाहीन पदार्थ नहीं होता जिसमें रूप-रंग आदि इन्द्रियजन्य अनुभूति स्वयं प्रवेशकर निवास करती हैं। प्रत्यक्षानुभूतिके समय मस्तिष्क स्वयं क्रियाशील होता है और इन्द्रियजन्य पदार्थोंको एकताके

---

१ Fancy, on the conrary, has no other counters to play with, but fixities and difinites. The Fancy is indeed no other than a mode of memory emancipated from the order of time and place.

—Coleridge.

सूत्रमें शक्तिविशेषके सहारे बांधता है जिसका अभिधान है Primary Imagination, आरम्भिक कल्पना। अनुभवके समय इन्द्रियोंके द्वारा जो वस्तु गृहीत होती है वह इन्द्रिय-जन्य वस्तुओंकी एक अव्यवस्थित राशि होती है जिसके ऊपर द्रष्टाका मन एक मूर्ति तथा व्यवस्था निर्धारित करता है[१]। इसीके कारण हम पदार्थोंके यथार्थ रूपको देखने तथा जाननेमें समर्थ होते हैं। काण्ट 'उत्पादक कल्पना' शब्दके द्वारा यह दिखलाना चाहते हैं कि यह कल्पना इन्द्रियजन्य अनुभवका केवल संघात नहीं है, प्रत्युत उस अनुभवके द्वारा उत्पादित एक स्वतन्त्र अनुभूति है। इस दृष्टिमें यह' कल्पना नैयायिकोंके 'सविकल्पक प्रत्यक्ष'का प्रतिनिधि है जिसमें इन्द्रियजन्य अनुभवका परस्पर तारतम्य मिलाकर बुद्धि उस पदार्थको एक नवीन नाम प्रदान करती है।

(३) **सौन्दर्य-कल्पना**—Aesthetic Imagination काण्टके अनुसार यह कल्पना सौन्दर्यानुभूतिकी जननी होती है। यह केवल विधायक ही नहीं होती, प्रत्युत स्वतन्त्र होती है। कवि इसी कल्पनाके बलपर नवीन पदार्थोंको, नूतन अनुभूतियोंको, जन्म दिया करता है। कोलरिजके मतानुसार इसका अभिधान है अमुख्य प्रतिभा। यह प्रारम्भिक कल्पनाके द्वारा उपस्थित अनुभूतियोंका विश्लेषण तथा विभाजन करती है तथा उसका नवीन ढंगसे निर्माण कर एक विचित्र सरस पदार्थको रूपरेखा हमारे मानस पटलपर खींच देती है।

---

१ The mind is active in preception and brings together the sense-data by a power which he calls the 'primary imagination', so that they seem as an object and not merely the sum of the detached sensations.

प्रतिभाका प्रधान कार्य है 'पुनर्निर्माण। प्रकृतिके इन्द्रिय-साध्य अंशोंका ग्रहण कर उन्हें अपनी अभिरुचि तथा भावनाके अनुसार पुनः निर्माण करना कविकी प्रतिभाका महत्त्वशाली कार्य होता है। प्रकृतिके पदार्थोंका ज्ञान होता है हमें इन्द्रियोंके द्वारा ही और यह ज्ञान होता है, स्वभावतः अपूर्ण। जगत्का आंशिक रूप ही हमें इन्द्रियोंके साधनोंके द्वारा प्राप्त होता है। इसी उपादानको ग्रहण कर प्रवृत्त होती है कविकी कल्पना-शक्ति। कविकी प्रतिभा इन्हीं बिखरे हुए अंशोंको, अव्यवस्थित अवयवोंको परस्पर मिलाकर एक पूर्ण तथा परस्पर-सम्बन्ध चित्र प्रस्तुत करती है। इसीलिये प्रतिभा जीवित तथा क्रियाशील होती है। कोलरिजकी यह समीक्षा नितान्त प्रामाणिक है—

Imagination dissolves, diffuses, dissipates in order to recreate, or where the process is rendered imposible, yet still at all events it struggles to idealise and to unify. It is essentially vital, even as all objecs (as objects) are essentilly fixed and dead.

अर्थात् प्रतिभा पदार्थोंको अवयवशः छिन्न-भिन्न करके देखती है। अभिप्राय होता है पुनर्निर्माण करना। परन्तु जहां यह प्रक्रिया एकान्त असम्भव होती है, वहां प्रत्येक दशामें यह वस्तुको आदर्श रूपमें अंकित करने और एकता उत्पन्न करनेमें उद्यमशील रहती है। मुख्यतः प्रतिभा जीवित, प्राण-सम्पन्न होती है जिस प्रकार पदार्थत्वेन समग्र पदार्थ मुख्यतः निश्चित रहते हैं और प्राणहीन होते हैं। प्रतिभाकी यह प्रक्रिया तथा रूपनिर्देश नितान्त सत्य है।

प्रतिभा—भारतीय दृष्टि

हमारे मान्य आलोचकोंने काव्यके इस प्रधान बीजकी व्याख्या बड़ी सूक्ष्मता तथा जागरूकताके साथ की है—विशेषतः भट्टतोत, आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, राजशेखर, कुन्तक तथा महिमभट्टने 'प्रतिभा'की अन्तरंग परीक्षा बड़ी मार्मिकताके साथ की है।

प्रतिभा क्या है ? प्रतिभा अपूर्व निर्माणकी शक्ति है—सन्ततनवीन, चिरनूतन विचारों तथा मूर्तियोंके गढ़नेकी क्षमता है, उन्हें उज्ज्वल शब्दोंमें अभिव्यक्त करनेकी योग्यता है। अभिनवगुप्तके साहित्य-गुरु भट्टतौतका यह विश्रुत लक्षण[1] प्रतिभाके इस निर्माण-कौशलका परिचायक है—

> प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता।
> तदनुप्राणनाजीवद्वर्णनानिपुणः कविः।
> तस्य कर्म स्मृतं काव्यम्..............॥

नये नये अर्थके उन्मीलनमें समर्थ होनेवाली प्रज्ञा ही 'प्रतिभा' कही जाती है। अभिनवगुप्तका लक्षण इसीके अनुरूप[2] है—'प्रतिभा अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा। तस्याः विशेषो रसावेशवैशद्यसौन्दर्यकाव्यनिर्माणक्षमत्वम्''। इस लक्षणमें ध्यान देनेकी बात यह है कि प्रतिभा वह स्रोत मानी गई है जहां प्रत्येक रचनात्मक वस्तुका उद्गम होता है। कवि-प्रतिभा उस सामान्य प्रतिभाका एक विशिष्ट प्रकार है जब कवि रसावेशकी विशदता तथा सुन्दरताके कारण काव्यके निर्माणमें समर्थ होता है।

---

१. हेमचन्द्र—काव्यानुशासन पृ० ३ पर उद्धृत लुप्तप्राय 'काव्य-कौतुक' ग्रन्थमें निर्दिष्ट लक्षण।

२. लोचन पृ० २९।

प्रतिभा का ही दूसरा अभिधान है—शक्ति। इसकी रुद्रट कृत व्याख्या सहज तथा सुबोध है। चित्तके समाहित होनेपर अभिधेय अर्थ अनेक प्रकारसे स्फुरित होता है तथा कमनीय पदोंके द्वारा वह अभिव्यक्त होता है। जिसकी सत्ता होनेपर यह दशा स्वतः उपस्थित होती है उसीका नाम है—शक्ति या प्रतिभाः—

मनसि सदा सुसमाधिनि विस्फुरणमनेकधाऽभिधेयस्य।
अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः।

(काव्यालंकार १।१५)

महाकवि राजशेखर मानो इसीकी व्याख्या करते लिखते हैं—या शब्दग्रामम्, अर्थसार्थम्, अलंकारतन्त्रम् उक्तिमार्गम् अन्यदपि तथाविध-मधिहृदयं प्रतिभासयति सा प्रतिभा। अप्रतिभस्य पदार्थसार्थः परोक्ष एव। प्रतिभावतः पुनः अपश्यतोऽपि प्रत्यक्ष एव (काव्यमीमांसा पृ० ११–१२) प्रतिभा वह वस्तु है जो काव्यके समग्र उपकरणोंको—शब्द-समूह, अर्थपुञ्ज, अलंकार, उक्तिप्रकार आदिको—कविके हृदयमें प्रति-भासित करती है जिससे ये सब पदार्थ उसके मानसनेत्रके सामने झटिति अभिव्यक्त हो जाते हैं। प्रतिभा-दरिद्र व्यक्तिके सामने पदार्थपुञ्ज परोक्ष रहता है और प्रतिभासम्पन्नके सामने न देखनेपर भी सब कुछ प्रत्यक्ष ही रहता है। इसीके सहारे ही कवि उस अदृश्य तथा परोक्ष जगत्के पदार्थोंकी व्याख्यामें समर्थ होता है जिसे भगवान् सविताका प्रकाश भी अपनी अलौकिक शक्तिसे आलोकित नहीं कर सकता। 'जहां न जाय रवि, तहां जाय कवि' इस लोकोक्तिकी गम्भीर सत्यता इसी गूढ़तम सिद्धान्त पर आश्रित रहती है।

प्रतिभाके दो पक्ष होते हैं—(१) दृष्टिपक्ष तथा (२) सृष्टिपक्ष। प्रथमपक्षके अनुसार प्रतिभा विश्वके रूप-निरीक्षणका एक प्रकार है। सृष्टिपक्षमें प्रतिभा नवीन सृष्टिकी साधिका शक्ति है।

प्रतिभा—दृष्टिपक्ष

प्रतिक्षण नित्य नूतन रूप धारण करनेवाले नानावस्था-संवलित वैषम्यमण्डित पदार्थ-पुञ्जका ही अभिधान जगत् है। इस जगत्के अन्तर्निहित तथ्यके निर्धारण करनेमें दोनों ही समर्थ होते हैं विद्वान् और कवि। प्रज्ञा और प्रतिभा—दोनों ही मानवके दो आध्यात्मिक लोचन हैं जिनके द्वारा वह जगत्को देखता है, समझता है और व्याख्या करता है। जिस प्रकार दार्शनिक विद्वान् प्रज्ञाके बलपर जगत्की बौद्धिक व्याख्या करनेमें कृतकार्य होता है, उसी प्रकार कवि प्रतिभाके आश्रयसे जगत्की भावमयी व्याख्या करनेमें कृतार्थ होता है। सच तो यह है कि हमारे साहित्यमें कवि शब्दका तात्पर्य विस्तृत, व्यापक तथा विशाल है। कवयः क्रान्तदर्शिनः—'कवि'का मूल अर्थ है द्रष्टा, इन्द्रियोंसे अगोचर तत्त्वोंका साक्षात्कार करनेवाला व्यक्ति। 'कवि' 'ऋषि'का ही पर्यायवाची सूक्ष्म शब्द है। शब्दोंके माध्यमके द्वारा जगत्के अन्तर्गत रहस्योंका व्याख्याता उसी प्रकार 'कवि' है, जिस प्रकार अध्यात्मशास्त्रके तत्त्वका वेत्ता विद्वान्। दोनों ही 'कवि' हैं। दोनों ही सृष्टितत्त्वके मार्मिक व्याख्याता हैं। अन्तर इतना ही है कि विद्वान् प्रज्ञाके सहारे जो गूढ़ कार्य सम्पन्न करता है वही कार्य कवि प्रतिभाके आधारपर करता है। मनुष्यको आवश्यकता है दोनोंकी-प्रज्ञाकी तथा प्रतिभाकी। आनन्दवर्धनने भगवान्की स्तुतिके प्रसंगमें इन दोनोंके वैशिष्ट्यका सुन्दर उद्घाटन किया है—

या व्यापारवती रसान् रसयितुं काचित् कवीनां नवा
दृष्टिर्या परिनिष्ठितार्थविषयोन्मेषा च वैपश्चिती।
ते द्वे चाप्यवलम्ब्य विश्वमनिशं निर्वर्णयन्तो वयं
श्रान्ता नैव च लब्धमब्धिशयन! त्वद्भक्तितुल्यं सुखम्॥

(ध्वन्या० पृ० २२७)

[इस कमनीय पद्यका भावार्थ है—कवियोंकी कोई नवीन दृष्टि रहती है जो रसोंके आस्वादनमें संलग्न रहती है। विपश्चितोंकी भी दृष्टि होती है जो परिनिष्ठित (व्यवस्थित) अर्थके विषयोंके उन्मीलनमें लगी रहती है। इन दोनों दृष्टियोंका अवलम्बन कर हम लोग विश्वका निरन्तर वर्णन करते हुए थक गए हैं। परन्तु हे समुद्रशायी नारायण! आपकी भक्तिके समान सुख हमने कहीं भी नहीं पाया।] यहां हमारे भक्त कविके विचारसे कवि-दृष्टि तथा विद्वद्दृष्टिसे विचार्यमाण सुख भक्तिके सामने नितान्त निर्जीव, निर्वीय तथा नीरस बनकर पड़ा हुआ है।

ध्यान देनेकी बात है कि आनन्दवर्धन **कविदृष्टि** (प्रतिभा) को तथा **वैपश्चिती दृष्टि** (प्रज्ञा)को जीवनकी व्याख्या करनेमें समान अधिकार प्रदान कर रहे हैं। प्रज्ञाका जितना अधिकार तथा सामर्थ्य जीवनके रहस्योंके उन्मीलनमें है उतना ही अधिकार तथा सामर्थ्य प्रतिभाको भी है। उनका प्रतिभाके लिए 'दृष्टि' शब्दका प्रयोग अपना गम्भीर महत्त्व रखता है। संसारके पदार्थोंका सम्यक् निरूपण (निर्वर्णन) एक ही दृष्टिसे नहीं हो सकता, दोनों दृष्टियोंके सम्मिलनसे ही विश्वके तात्त्विक रूपका उन्मीलन होता है, एक ही दृष्टिसे नहीं—नहि एकया दृष्ट्या सम्यङ् निर्वर्णनं निर्वहति (लोचन)।

हमारी दृष्टिमें आलोचक-शिरोमणि आनन्दवर्धनका यह विवेचन बड़ा ही सारगर्भित तथा मर्मस्पर्शी है। कविकी दृष्टि तथा विपश्चित्की दृष्टि एक दूसरेकी विरोधिका न होकर परस्पर सहायिका है। दोनों एक दूसरेकी कमीको पूरा करती हैं। कवि-दृष्टि (प्रतिभा) विचित्र उपादानोंसे नवीन जगत्की सृष्टि करती है, तो विद्वद्दृष्टि (प्रज्ञा) परि-निष्पन्न रूपवाले पदार्थोंका उन्मीलन करती है। प्रतिभा अपूर्व वस्तुको उन्मीलन करती है, तो प्रज्ञा लोकप्रसिद्ध अर्थका उन्मेष करती है। प्रज्ञा तथा प्रतिभा—दोनों आवश्यक हैं विश्वके रहस्योंके निर्धारणके लिये। भेद इतना ही प्रतीत होता है—

प्रज्ञा है स्थितिशील (Static) पदार्थों के निरूपण का साधन। प्रतिभा है प्रगतिशील (dynamic) वस्तुओंके उन्मीलन का उपाय।

दृष्टिरूपा प्रतिभाकी आनन्दवर्धनकृत यह व्याख्या पाश्चात्य आलोचकों द्वारा भी की गई है। क्रोचे[१] तथा हरफोर्ड[२] प्रातिभ ज्ञानकी विशिष्टताके प्रबल समर्थकोंमें हैं।

---

१ Intuitive knowledge has no need of a master, not to lean upon any one, she does not need to borrow the eyes of others, for she has most excellent eyes of her own.

–Croce : Aesthetics pp. 2-3.

२ What distinguishes poetic from religious or philosophical apprehension is not that it turns away from reality, but that it lies open to and eager watch for reality at doors and windows. which with them are barred and behind. The poet's soul resides, so to speak, in his senses, in his emotions, in his imagination, as well as in his conscious intelligence, and we may provisionally describe poetic apprehension as an intense state of consciousness in which all these are vitally concerned.

C. N. Hereford: Is there a Poetic view of the world.

महिमभट्ट

विचारणीय विषय है कि कविकी प्रतिभा वैयक्तिक रूपसे जगत्के रहस्योंका दर्शन किस प्रकार करती है ? इसका समुचित उत्तर दिया है महिमभट्टने। भट्टजी नैयायिक थे और ध्वनिका अनुमानके भीतर अन्तर्भाव सिद्ध कर उन्होंने आलोचना–जगत्में विपुल ख्याति अर्जन की है। अतः उन्होंने 'प्रतिभा'की मीमांसाके अवसरपर पदार्थके सामान्य रूप तथा विशेष रूपके वर्णनमें नैयायिक विलक्षणताका प्रतिपादन किया है—

विशिष्टमस्य यद् रूपं तत् प्रत्यक्षस्य गोचरम्।
स एव सत्कविगिरां गोचरः प्रतिभाभुवाम्॥

यतः—

रसानुगुणशब्दार्थ-चिन्तास्तिमितचेतसः।
क्षणं स्वरूपस्पर्शोत्था प्रज्ञैव प्रतिभा कवेः॥
सा हि चक्षुर्भगवतस्तृतीयमिति गीयते।
येन साक्षात् करोत्येष भावाँस्त्रैलोक्यवर्तिनः॥

(व्यक्तिविवेक, पृ० १०८)

महिमभट्टका तात्पर्य है कि पदार्थका विशिष्ट रूप ही प्रत्यक्षका गोचर होता है और वही सत्कविकी प्रतिभाजनित वाणीका भी गोचर होता है। पदार्थके दो रूप होते हैं—**सामान्य और विशिष्ट**। सामान्य रूप तज्जातीय समस्त पदार्थोंमें रहनेवाला रूप है। विशिष्टरूप उसी विशिष्ट पदार्थमें अन्तर्निविष्ट होनेवाला रूप है। साधारण जन पदार्थके सामान्य रूपके ही ग्रहण करनेमें व्यस्त रहता है। उतनेसे ही उसके योग-क्षेमका निर्वाह होता है, उसका लोक-व्यवहार उतने से ही सुचारुरूपसे चलता है। उससे अधिक जाननेकी न उसमें क्षमता होती है और न उसे अवसर ही मिलता है। पदार्थके इस विशिष्ट रूपका अवगमन कवि करता है और वह भी प्रतिभाके सहारे ही। जब कवि सरस काव्य-चिन्तनमें

दत्तचित्त होकर समाहित होता है, रसानुकूल शब्द और अर्थकी चिन्ताके हेतु उसका चित्त एकाग्र हो जाता है, तब उसकी प्रज्ञा क्षणभरके लिये पदार्थके सच्चे स्वरूपको स्पर्श करती हुई जागरित होती है। इसीका नाम है 'प्रतिभा'। यही भगवान् शंकरका तृतीय नेत्र ह। इसीके द्वारा कवि त्रैलोक्यवर्ती भावोंको—तीनों लोकोंमें होनेवाली घटनाओं तथा वस्तुओंका—साक्षात्-कार करता है। भगवान् त्रिलोचनके तृतीय लोचन (ज्ञाननेत्र)के उन्मी-लनके समान कविकी उन्मिलित प्रतिभा–चक्षुके सामने जगत्का कोई भी पदार्थ अनालोकित तथा अनवज्ञात नहीं रह सकता। महिमभट्टका गूढ़ तात्पर्य यही है कि प्रतिभाके दृष्टिपक्षकी सार्थकता इसी कारण है कि कवि प्रातिभचक्षुसे पदार्थके अन्तर्निविष्ट तथ्यरूपका निरीक्षण करनेमें समर्थ होता है।

'स्वभावोक्ति' अलंकार है या अलंकार्य ? इस विषयका भी चिन्तन प्रस्तुत विषयसे सम्बन्ध रखता है[1]। कविको काव्यमें सौन्दर्य उत्पन्न करनेके लिये सामान्य जीवनसे बाहर जानेकी आवश्यकता ही नहीं होती। कविके सामने सर्वत्र ही प्रत्येक वस्तुमें—क्षुद्रतम पुष्पसे लेकर उन्नततम आकाशतक—सौन्दर्य झलकता रहता है। कविको यदि प्रतिभा-सम्पन्न नेत्र है तो वह उस सौन्दर्यकी झलक देखता है, परखता है और अपने काव्यमें निबद्ध करता है। अलंकारके चमत्कारसे विहीन भी यह स्वाभाविक वर्णन नानाप्रकारके करामाती वर्णनोंसे कहीं अधिक चमत्कारजनक तथा हृदयावर्जक होता है। इसीलिये कुन्तककी मार्मिक उक्ति है—

भावस्वभावप्राधान्यन्यक्कृताहार्यकौशलः।

—व० जी० १।२६

पदार्थके स्वभावकी प्रधानता आहार्यकौशलको, अलंकारसे सज्जित करनेकी कलाको, दूर भगा देती है। इसीलिये अत्यन्त प्राचीनकालसे

१. द्रष्टव्य इस ग्रन्थका द्वितीय खण्ड पृ० ३५१–३५४

हमारे आलोचकोंने 'स्वभावोक्ति'को काव्यके भूषण-रूपमें अंगीकार किया है। स्वभावोक्तिमें कवि अपनी ओरसे कुछ भी जोड़ता बटोरता नहीं, वह वस्तुको उसी रूपमें अंकित करता है जिस रूपमें वह होती है। अवश्य ही प्रतिभाके कारण ही उसे इस कार्यमें अपूर्व सफलता मिलती है।

प्रतिभा—सृष्टिपक्ष

प्रतिभाके दो पक्ष होते हैं—(१) दृष्टिपक्ष; और (२) सृष्टिपक्ष। दृष्टिपक्षमें प्रतिभा जगत्के पदार्थोंके **अवलोकन**का एक प्रकारमात्र है। सृष्टिपक्षमें प्रतिभा काव्योंके द्वारा नित्य नूतन पदार्थोंके **निर्माण**का एक विशिष्ट साधन है। प्रथम पक्षका वर्णन अबतक किया गया है। अब प्रतिभाके द्वितीयपक्षकी आवश्यक विवेचना प्रस्तुत की जाती है।

प्रतिभा सृष्टिका साधन है। इसीके कारण 'प्रजापति'के साथ कविकी तुलना की जाती है, यद्यपि यह तुलना प्रजापतिके लिये नितान्त तिरस्कारजनक है। प्रजापति उपादान कारणोंकी सहायतासे ही सृष्टि-कार्यमें समर्थ होते हैं, परन्तु हमारा कवि बिना कारणकलापके ही अपूर्व वस्तुका निर्माण करता है (अपूर्वं यद् वस्तु प्रथयति विना कारणकलाम्—लोचनका मंगल श्लोक)। कविनिर्मितिकी विलक्षणता आचार्य मम्मटने बड़े ही सुन्दर और विश्रुत शब्दोंमें दिखलाई है—

नियतिकृतनियमरहिताम्
आह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम्।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती
कवेर्भारती जयति॥

—काव्यप्रकाश १।१

प्रजापतिकी सृष्टि नियतिके द्वारा उत्पादित नियमोंका पालन करती है, कविकी सृष्टि ऐसे नियमोंकी संकीर्णतामें कभी जकड़ी नहीं रहती, प्रत्युत वह बन्धनमुक्तकी भांति स्वतन्त्र होती है। प्रजापतिकी सृष्टि त्रिगुणमयी होनेसे सुखमयी, दुःखमयी तथा मोहमयी होती है; परमाणु आदि उपादान तथा अदृष्ट, ईश्वर आदि निमित्त कारणोंके ऊपर

आश्रित होनेसे परतन्त्र होती है; मधुर, अम्ल आदि छः रसोंसे ही युक्त रहती है तथा मनोज्ञ नहीं होती, कभी वह घृणा उत्पन्न करती है, कभी ग्लानि। हर्ष-विषाद, शोक-मोह, सुख-दुःखके नाना द्वन्द्वात्मक भावोंकी क्रीड़ा किया करती है यह प्रजापति-सृष्टि। परन्तु कवि-सृष्टि इससे नितान्त विलक्षण होती है। वह नियतिकृत नियमोंसे रहित होती है। केवल एकमात्र ह्लादमयी होती है; कविको छोड़कर किसी कारणविशेषपर अवलम्बित नहीं होती; नव रसोंसे युक्त होती है और सर्वदा रुचिर, मनोज्ञ तथा हृदयानुरञ्जक होती है। अतः आलोचकोंकी दृष्टिमें प्रतिभा विलक्षण सृष्टिकी अवश्यमेव साधिका है।

समाधेय प्रश्न है कि प्रतिभा किन मौलिक उपादानोंको ग्रहणकर नवीन रचनामें प्रवृत्त होती है? असत् पदार्थसे अथवा सत् पदार्थसे वह सत् पदार्थका सर्जन करती है? असत्से सत्की सृष्टि मानना कथमपि तर्कसंगत नहीं है। क्या आधुनिक मनोविज्ञान नहीं बतलाता कि प्रतिभा उन्हीं इन्द्रियजन्य अनुभूतियोंके आधारपर नई सृष्टि करती है जिनका सम्बन्ध बाहरी जगत्से होता है और जिनका आनयन हमारी इन्द्रियां किया करती हैं[1]? हमारे शास्त्रकार भी इस तथ्यसे अपरिचित न थे, जब आनन्दवर्धन कहते हैं—

> अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः।
> यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते॥
> भावानचेतनानपि चेतनवत्, चेतनानचेतनवत्।
> व्यवहारयति यथेष्टं सुकविः काव्ये स्वतन्त्रतया॥
>
> —ध्वन्या० पृ० २२२

---

1. Inspiration may produce new modes of combination but no new elements.

तब उनका यह अभिप्राय नहीं है कि कवि शून्यसे ही चित्रोंका निर्माण करता है, प्रत्युत विद्यमान पदार्थोंसे ही अपनी सामग्री एकत्र कर वह नवीन वस्तुओंकी रचनामें समर्थ होता है ।

कुन्तकका समग्र 'वक्रोक्तिजीवित' ग्रन्थ प्रतिभाकी अतिगूढ़ व्याख्या है। उनका स्पष्ट मत है कि काव्यमें कवि—प्रतिभाका ही चरम उत्कर्ष रहता है ('कवि-प्रतिभाप्रौढ़िरेव प्राधान्येनावतिष्ठते, पृ० १३); कवितामें जो कुछ भी चमत्कार होता है वह सब प्रतिभाके द्वारा ही उत्पन्न होता है (यत् किञ्चनापि वैचित्र्यं तत् सर्वं प्रतिभोद्‌भवमेव, पृ०, ४८) तथा काव्यके समग्र सौन्दर्यसाधनोंका प्राण है यही प्रतिभा—विशेषतः अलंकारोंका। कवितामें रस, भाव तथा अलंकार—समस्त काव्यशोभाधायक अंगोंका कविकौशल ही जीवित है, तथापि अलंकारोंका तो प्रधानरूपसे यह जीवित है, क्योंकि कविकौशलके अनुग्रहके बिना अलंकारगत अल्पमात्र भी वैचित्र्यकी कल्पना हम काव्यमें नहीं कर सकते—

यद्यपि रसभावालङ्काराणां सर्वेषां कविकौशलमेव जीवितं
तथापि अलङ्कारस्य विशेषतः तदनुग्रहं विना
न मनागपि वैचित्र्यमुत्प्रेक्षामहे

—व० जी०, पृ०, १४६

'कविकौशल' कविप्रतिभा व्यापारका ही दूसरा नाम है। उनकी दृष्टिमें काव्यको 'अम्लान प्रतिभोद्‌भिन्न—नवशब्दार्थबन्धुर' होना चाहिए। अकुण्ठित प्रतिभासे उन्मीलित नूतन शब्द तथा नवीन अर्थके साहचर्यसे ही काव्य रमणीय होता है। कुन्तककी दृष्टिमें प्राचीन तथा इस जन्ममें उत्पन्न संस्कारोंके परिपक्व होनेपर उदय लेनेवाली प्रौढ़ प्रतिभा अनिर्वचनीय कविशक्ति है—प्राक्तनाद्यतनसंस्कार-परिपाक-प्रौढ़ा प्रतिभा काचिदेव कविशक्तिः (व० जी०, पृ० ४६)

प्रतिभा का कार्य

प्रतिभा किस आधारपर निर्माण करती है ? इसके उत्तरमें कुन्तकका कथन मार्मिक तथा सूक्ष्म है—

यन्न वर्ण्यमानस्वरूपाः पदार्थाः कविभिरभूताः सन्तः क्रियन्ते। केवलं सत्तामात्रेण परिस्फुरतां चैषां तथाविधः कोऽप्यतिशयः पुनराधीयते, येन कामपि सहृदयहृदयहारिणीं रमणीयतामध्यारोप्यते (व० जी०, पृ० १४०)

काव्यमें जिन पदार्थोंके स्वरूपका वर्णन कवि करता है, वे असद्रूप नहीं होते। जगत्में वे केवल सत्तामात्रसे परिस्फुरित होते हैं। कवि अपनी प्रतिभाके सहारे उनमें अनिर्वचनीय अतिशय उत्पन्न कर देता है, जिसके कारण काव्यमें सहृदयहृदयहारिणी रमणीयताका उदय हो जाता है। इस शक्तिसे कवि पदार्थोंके मूल रूपको ढक देनेमें समर्थ होता है और उनका इतना चमत्कारिक चित्र प्रस्तुत करता है कि वे सर्वथा नवीन कृतिके रूपमें प्रतीत होने लगते हैं। यह बात केवल **उत्पाद्य** वस्तुके ऊपर ही चरितार्थ नहीं होती, प्रत्युत **प्रसिद्ध** वस्तुके विषयमें भी। इस विवेचनका यही निष्कर्ष है—**कवि पदार्थके स्वरूपका निर्माण नहीं करता, प्रत्युत प्रतिभाशक्तिके बलपर वह केवल अतिशयका निर्माण कर देता है**। अतिशय-विधान ही प्रतिभाका केवल कार्य है—**प्रस्तुतातिशयविधानमन्तरेण न किञ्चिदपूर्वमत्रास्ति** (व०जी०, पृ०, १४३)।

त एव पदविन्यासास्त एवार्थविभूतयः।
तथापि नव्यं भवति काव्यं ग्रथन-कौशलात् ॥

पदोंके विन्यास वे ही होते हैं। अर्थकी विभूतियां वे ही हैं। तथापि ग्रथनकी कुशलतासे ही काव्य नवीन होता है। समग्र कुशलता है कि कविकी प्रतिभाव्यापारकी जिसके कारण परिचित तथा पूर्वज्ञात भी वस्तु नवीन तथा अपूर्व रूपमें उद्भासित होती है। प्रतिभाका यह रहस्य आनन्दवर्धनने अपनी प्राकृत-गाथामें बड़ी सुन्दरतासे अभिव्यक्त किया है—

ण अ ताण घडइ ओही न अ ते दीसन्ति कह वि पुनरुत्ता ।
जे विब्भमा पिआणं अत्था वा सुकइवाणीनं ॥

—ध्वन्या०, पृ० २४१

[न च तेषां घट्तेऽवधिः, न च ते दृश्यन्ते पुनरुक्ताः ।
ये विभ्रमाः प्रियाणामर्था वा सुकविवाणीनाम् ॥]

प्रियतमाके विलास तथा सुकवि-वाणीके अर्थ एकसमान होते हैं, न तो उनकी अवधि ही मिलती है और न वे पुनरुक्त ही दिखलाई पड़ते हैं। वे सर्वदा नवीन प्रतीत होते हैं और उनका अन्त ही नहीं मिलता। यही है प्रतिभाका विलास !

काव्य और जीवन

भारतीय कवियोंने अपने काव्योंमें 'जीवनकी सत्यता'की कभी उपेक्षा नहीं की है। त्रिविध ध्वनिके भीतर 'वस्तुध्वनि' माननेका यही स्वारस्य है। 'वस्तु'का अर्थ है अनलंकृत कथन, संसारके पदार्थोंका सज्जा-विहीन अलंकार-विरहित विन्यास। यह भी अवसरविशेषमें चमत्कार-जनक ही नहीं होता, प्रत्युत उत्तमकोटिकी कविता मानी जाती है। वस्तु दो प्रकारकी मानी गई है—'कविप्रौढोक्ति-निष्पन्न' (कविकी वक्रोक्तिसे उत्पन्न) तथा 'स्वतःसंभवी' (अपने आप संसारमें होनेवाली)। इन दोनोंमें स्वतःसंभवी वस्तुको ध्वनिकोटिमें माननेका यही तात्पर्य है कि भारतीय आलोचक जीवनके तथ्यसे पराङ्मुख नहीं है, वह जीवनकी सत्यताका परम पक्षपाती है। वह उस विचित्र शुतुरमुर्गके मानिन्द नहीं है जो अपना सिर बालूके भीतर गाड़कर दुनियाके प्रपञ्चोंसे वास्ता ही नहीं रखता।

इसीलिये पाश्चात्य आलोचनाके समान भारतीय आलोचनामें कभी यह बखेड़ा ही नहीं खड़ा हुआ कि कविता अनुकृति (Imitation) है या कृति (Creation)? Memesis है या Poesis? इस प्रश्नका समाधान हमारे माननीय आलोचकोंने बहुत पहिले ही कर

दिया है कि अनुकृति (= स्वभावोक्ति) या कृति (= वक्रोक्ति) दोनोंका काव्यमें तभी उपयोग होता है जब ये रसके उन्मीलनमें समर्थ होती हैं। रसोन्मेष ही वस्तुतः कविके काव्यका चरम उत्कर्ष ठहरा। अतः काव्यमें हम दोनोंका समान भावेन आदर करनेको प्रस्तुत हैं यदि ये दोनों ही रसको प्रकाशित कर आनन्द-उन्मीलनमें सहायता करती हों। भोजराजके शब्दोंमें 'स्वभावोक्ति' और वक्रोक्ति'का पर्यवसान 'रसोक्ति'में ही होता है। रसोक्तिके अभावमें स्वभावोक्ति नीरस अनुकरणमात्र है और वक्रोक्ति निराधार हवाई महल है[1]। आचार्य अभिनवगुप्तका प्रसंगान्तरमें कहा गया कथन इसी सिद्धान्तको पुष्ट करता है—

> काव्येऽपि च लोकनाट्यधर्मिस्थानीये स्वभावोक्ति-
> वक्रोक्तिप्रकारद्वयेन अलौकिकप्रसन्नमधुरौजस्वि-
> शब्दसमर्प्यमाणविभावादियोगात् इयमेव रसवार्ता ॥
>
> —लोचन पृ० ६१

---

१. द्रष्टव्य, इस ग्रन्थका द्वितीय खण्ड पृ० ३६३–३६८

कवि—द्रष्टा और स्रष्टा

प्रतिभाका साम्राज्य बड़ा ही विस्तृत तथा विशाल होता है। अर्थ और शब्द, स्फुरणा तथा अभिव्यञ्जना, दर्शन तथा वर्णन, प्रख्या तथा उपाख्या—इस नित्यसम्बद्ध-युगलका उन्मीलन प्रातिभ ज्ञानसे ही कवि करता है। जबतक इस युगलकी अभिव्यक्ति नहीं होती, तब तक कोई भी व्यक्ति 'कवि'की महनीय पदवीका भाजन नहीं बनता। कवि होनेके लिये तत्त्वद्रष्टा होनेके अतिरिक्त शब्दस्रष्टा होनेकी नितान्त आवश्यकता है। कतिपय तत्त्वज्ञोंका तो यहां तक कहना है कि अभिव्यञ्जना ही स्फुरणाका चरम पर्यवसान है, वर्णन ही दर्शनकी परिनिष्ठित कोटि है। पाश्चात्यतत्त्वज्ञ क्रोचेका तो स्पष्ट मन्तव्य है कि प्रातिभ ज्ञानकी यथार्थताका परिचय ही तबतक नहीं मिलता जबतक वह अभिव्यञ्जना expression (मानसिक ही सही) के रूपमें परिणत नहीं होता—

Intuition is only intuition in so far as it is, in that very act, expression. An image that does not express, that is not speach, song, drawing, painting, sculpture or architecture—speech at least murmured to oneself, song at least echoing within one's own breast, line and colour seen in imagination and colouring with

its own tint the whole soul and organism—is an image that does not exist[1]

इतनी दूर न जाकर भी हमारे आलोचकोंका कथन है कि कविके लिये दर्शन और वर्णनकी नितान्त आवश्यकता है। द्रष्टा होनेपर भी शब्दस्रष्टा बिना हुए कोई भी व्यक्ति 'कवि' शब्दका भाजन नहीं बन सकता। अभिनवगुप्तके गुरु भट्टतौतकी यह पूर्वनिर्दिष्ट विवेचना जितनी मार्मिक है उतनी ही विस्पष्ट है—

स तत्त्वदर्शनादेव शास्त्रेषु पठितः कविः।
दर्शनाद् वर्णनाच्चाथ रूढा लोके कविश्रुतिः॥
तथा हि दर्शने स्वच्छे नित्येऽप्यादिकवेर्मुनेः।
नोदिता कविता लोके यावज्जाता न वर्णना॥

—काव्यानुशासन, पृ० ३७९

कवि ऋषि होता है। शास्त्रमें तत्त्वके दर्शनमात्रसे कोई भी व्यक्ति 'कवि' कहलाता है, परन्तु लोकमें कविपदवी दर्शन तथा वर्णन—दोनोंके ही ऊपर अवलम्बित होती है। वाल्मीकि तत्त्वद्रष्टा ऋषि थे। उनका स्वच्छ दर्शन नित्य था, परन्तु लोकमें वे 'कवि' नामसे तबतक विश्रुत नहीं हो सके, जबतक उनका दर्शन अभिधानके रूपमें अपनेको परिणत न कर सका।

---

१. Croce—Aesthetics (अंग्रेजी विश्वकोष १४ वां संस्करण) क्रोचेका कथन है कि द्रष्टा होते ही व्यक्ति शब्दस्रष्टा भी बन जाता है चाहे वह शब्द बाहर अभिव्यक्त न होकर हृदयकुटीमें ही रह जाता है। राजशेखरके शब्दोंमें ऐसा व्यक्ति 'हृदयकवि' कहलाता है—"यो हृदय एव कवते निह्नुते च स हृदयकविः" (काव्यमीमांसा, पृ० १९) = जो हृदयमें ही कविता करता है तथा छिपा लेता है वह 'हृदय-कवि' कहलाता है।

प्रतिभा वक्रोक्तिके रूपमें परिणत होनेपर भी यथार्थ सिद्ध होती है। वक्रोक्ति प्रतिभाकी मंगलमयी पूर्ति है।

कभी-कभी वक्रोक्ति प्रतिभाके भीतर निहित चमत्कारमें जीवन डाल देती है। उपाख्या प्रख्याको सजीव रूपसे चमका देती है; मृतप्राय शब्दोंमें बिजुली दौड़ा देती है। कुन्तकने अनंगहर्ष-मात्रराजके 'तापस-वत्सराज' नामक विख्यात नाटकसे इस प्रसंगमें निम्नलिखित पद्य उद्धृत किया है—

> तद्वक्त्रेन्दुविलोकनेन दिवसो नीतः प्रदोषस्तथा
> तद्गोष्ठ्यैव निशापि मन्मथकृतोत्साहैस्तदङ्गार्पणैः।
> तां सम्प्रत्यपि मार्गदत्तनयनां द्रष्टुं प्रवृत्तस्य मे
> बद्धोत्कण्ठमिदं मनः किमथवा प्रेमाऽसमाप्तोत्सवः।

उदयन वासवदत्तासे मिलनके लिये जा रहा है। रास्तेमें सोच रहा है कि हमारी इस विपुल उत्कण्ठाका कारण ही क्या हो सकता है? उस प्रियतमाके चन्द्रवदनके दर्शनसे मैंने दिन बिता दिया है। उसकी सरस गोष्ठीके द्वारा प्रदोषको भी मैंने व्यतीत कर दिया है। रात भी सूखी या सूनी नहीं बीती। मनको मन्थन करनेवाले कामदेवके द्वारा उत्साहित किये गये उसके अंगोंके आलिंगनोंसे निशाको भी मैंने आनन्दसे ही बिताया। रात-दिन उसी प्रियतमा की ही सरस चर्चा है। कभी चन्द्र-मुखका दर्शन है, कभी सरस गोष्ठीका प्रसंग है, कभी आलिंगनकी मधुरिमा है। एक क्षण भी उसके बिना मेरा नहीं बीतता। तब क्या कारण है कि हमारे राहकी ओर टकटकी बांधनेवाली उसे देखनेके लिये आज भी जब मैं आगे डग भर रहा हूँ, तब मेरा मन उत्कण्ठित हो रहा है? कवि ही इस प्रश्नका मधुर समाधान दे रहा है—**अथवा प्रेमासमाप्तोत्सवः** अथवा प्रेमका उत्सव कभी समाप्त नहीं होता; प्रेमी प्रेमिकाका प्रेम आनन्दकी एक दीर्घ परम्परा है जो उपभोग किए जानेपर भी कभी समाप्तिका

नाम नहीं जानती। उदयनके चरितसे परिचित पाठक कविकी इस सरस उक्तिका अभिनन्दन अक्षरशः करेंगे। इस वाक्यने पूर्व वाक्योंमें जान डाल दी है। मृतकल्प वाक्योंका इतना मधुर स्वारस्य जाग्रत हो उठा है कि यह पूरा पद्य ही वक्र अभिधानका एक नितान्त उत्कृष्ट उदाहरण हो गया है।

सचमुच वर्णनसे दर्शन उज्ज्वल हो उठता है, उपाख्यासे प्रख्या चमक उठती है।

प्रतिभाका बीज

इतनी महत्त्वशालिनी प्रतिभाका बीज मानव-हृदयमें किस प्रकार या किस कारणसे उगता है ? इस प्रश्नका समाधान हमारे आलोचकोंने मनोवैज्ञानिक रीतिसे किया है । अधिकांश शास्त्रकार इसे प्राक्तन जन्ममें उत्पन्न संस्कार-विशेष मानते हैं । दण्डी प्रतिभान (प्रतिभा) को पूर्ववासनाके गुणोंसे सम्बद्ध बतलाते हैं (पूर्ववासना गुणानुबन्धि प्रतिभानमद्भुतम्—काव्यादर्श १।१०४), वामन भी जन्मान्तर संस्कार मानते हैं[1] जिसकी पुष्टि अभिनवगुप्त भी अभिनव—भारतीमें स्पष्टतः करते हैं[2] ।

पण्डितराज जगन्नाथ प्रतिभाके उदयके लिए दो अन्य कारण बतलाते हैं । प्रथम कारण है किसी देवताके प्रसाद या साधुके अनुग्रहसे अदृष्टका उदय । दूसरा कारण है व्युत्पत्ति तथा अभ्यासका परिपाक, जिसके कारण अत्यधिक उम्र बीत जानेपर भी अनेक व्यक्तियोंमें अकस्मात् कवित्वका उदय हो जाता है[3] जिससे उनके मुखसे कविताकी धारा वर्षाकालीन नदीके

---

१. जन्मान्तरसंस्कारविशेषः कश्चित्—वामन

२. अनादिप्राक्तनसंस्कारप्रतिभानमयः—

अभिनवभारती (खण्ड १, पृ० ३४६)

३. तस्याश्च (प्रतिभायाः) हेतुः क्वचिद् देवतामहापुरुषप्रसादादि-जन्यम् अदृष्टम् । क्वचिच्च विलक्षणव्युत्पत्ति—काव्यकरणाभ्यासौ । न तु त्रयमेव । नापि केवलमदृष्टमेव कारणमित्यपि शक्यं वक्तुम् । कियन्तं-चित् कालं काव्यं कर्तुमशक्नुवतः कथमपि संजातयोर्व्युत्पत्त्यभ्यासयोः प्रतिभायाः प्रादुर्भावस्य दर्शनात् ।

—रसगंगाधर, पृ० ८

प्रवाहके समान अजस्र बहने लगती है[1]। हेमचन्द्रकी व्याख्या बहुत कुछ इसी प्रकारकी है। ये प्रतिभाके दो भेद मानते हैं—जन्मजात (सहजा) तथा कारणजन्य (औपाधिकी), जिनमें अन्तिमका उदय मन्त्र-तन्त्र तथा देवताके प्रसादसे होता है। आत्मा सूर्यके समान स्वयंप्रकाश है, परन्तु ज्ञानावरण कर्मोंके सम्पादनके कारण मेघपटलके समान आत्माके विशुद्ध रूपपर अज्ञानका आवरण पड़ा रहता है। जब इन कर्मोंका नाश हो जाता है (क्षय), अथवा इनका उपशम हो जाता है, तब यह प्रतिभा स्वतः अपनी पूर्ण विभूतिके साथ प्रकट होती है। यदि यह कार्य स्वतः सम्पन्न होता है तो होती है, सहजा प्रतिभा। यदि बाह्य उपायोंके द्वारा सिद्ध होता है, तो होती है—औपाधिकी प्रतिभा[1]। हेमचन्द्रका जैन मताभिमत यह सिद्धान्त आधुनिक मनोविज्ञानके साथ पूर्ण सामञ्जस्य रखता है।

मनोवैज्ञानिकोंका कहना है कि प्रतिभाका सम्बन्ध अचेतन मनसे है। इन्द्रियजन्य ज्ञानकी अनुभूति प्रत्येक व्यक्ति करता है। साधारण जन इन अनुभूतियोंके विश्लेषण तथा संयोजन करनेमें सर्वथा अक्षम होते हैं। फलतः बाह्य जगत्का ज्ञान उनके हृदयमें मूर्तरूप धारण नहीं करता। उनके हृदयमें विपुल अनुभूतियां दबी रह जाती हैं और अचेतन मनमें विलीनप्राय-सी बनी रहती हैं, परन्तु प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्तिके हृदयमें ये दबी प्रवृत्तियां शनैः शनैः उन्मुक्तावस्थाको प्राप्त करती हैं—वे चेतनताके स्तरपर आकर अपने आपको स्वतः उद्बुद्ध करती हैं। यही कारण है कि कभी-कभी काव्यकलासे पराङ्मुख व्यक्तिके हृदयमें प्रतिभा जाग उठती है और वह कमनीय कवितासे अपने श्रोताओंको आश्चर्यचकित कर देता है। इस प्रकार इन दोनों व्याख्याओंमें गाढ़ साम्य है। अन्तर

---

१. काव्यानुशासन पृ० ५–६।

केवल शब्दोंका है। मनोवैज्ञानिक जिसे 'अवरोध'[1] के नामसे पुकारते हैं उसे हेमचन्द्र 'आवरण'की संज्ञा देते है।

इस प्रकार कविके लिये सर्वातिशायी महत्त्वपूर्ण साधन है—प्रतिभा (Imagination) कवि तथा आलोचक—उभयके दृष्टिकोण इस बातपर मिलते हैं कि प्रतिभाके द्वारा ही कवि काव्यस्रष्टा बनता है और प्रजापतिकी समता करता है। आनन्दवर्धन व्युत्पत्ति तथा अभ्यास, दोनों साधनोंसे बढ़कर प्रतिभाकी उपयोगिता काव्यमें स्वीकार करते हैं। इस विषयमें उनकी विस्पष्ट उक्ति है कि महाकवियोंकी वाणी मधुर अर्थका निस्यन्द करती हुई अलोक-सामान्य तथा परिस्फुरणशील प्रतिभा-विशेषकी अभिव्यक्ति करती है—

सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु
निस्यन्दमाना महतां कवीनाम्।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति
परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम्॥
—ध्वन्या० १।६

---

१. (Inhibition)

३—काव्यपर दोषारोपण

नैतिकता तथा धार्मिकता भारतीय संस्कृतिके मूल आधार हैं। भारतकी ही संस्कृति क्यों, किसी भी देशकी संस्कृति नीतिको तिलाञ्जलि देकर पनप नहीं सकती और धर्मके दृढ़ आश्रयका तिरस्कारकर वह समृद्ध नहीं बन सकती। सच्ची बात तो यह है कि नीति और धर्म संसारके परम मंगलसाधक प्रधान प्रसाधन हैं जिनका अवलम्बन प्रत्येक तत्त्वज्ञानीकी दृष्टिमें नितान्त श्रेयस्कर है। परन्तु काव्यमें कभी-कभी इन तत्त्वोंकी विषम अवहेलना दीख पड़ती है—विषमय निराकरण दीख पड़ता है। ऐसी दशामें किसी भी देशका सच्चा मंगलसाधन करनेवाला तत्त्वज्ञानी विद्वान् कवियोंकी इस काली करतूतपर खीझ उठता है और कवियोंको समाजसे बहिष्कृत करनेका प्रस्ताव उपस्थित करता है। वह कवियोंको समाजका बड़ा भारी शत्रु समझता है। कवि समाजका महान् अनर्थ करता है। वह उसे सन्मार्गसे हटाकर उन्मार्गकी ओर ले जाता है। इसी कारण पश्चिमी देशोंमें तथा भारतवर्षमें काव्यके ऊपर उन्मार्गगामी होनेके अनेक दोषारोपण किए गए हैं।

भारतवर्षके प्राचीन वैदिकधर्मानुयायी कर्मकाण्डके उपासकोंने काव्यके ऊपर यह दोषारोपण किया है और उपदेश दिया है—**काव्यालापांश्च वर्जयेत्** ।काव्यालापका सदा वर्जन करना चाहिए।'इसके विपरीत काव्यके सच्चे रूपसे परिचित आलोचकोंने डंकेकी चोट घोषित किया है—

शब्दमूर्तिधरस्यैते विष्णोरंशा महात्मनः

शब्द भगवान्की मूर्ति है। भगवान्का वर्णमय भी विग्रह होता है। अतः ये समस्त काव्य, शब्दमूर्ति धारण करनेवाले भगवान् विष्णुके

अंश हैं—अंश ही नहीं, प्रत्युत सरस अंश हैं। अतः काव्य गर्हणीय न होकर उपादेय होता है।

राजशेखरने काव्यके इन दोषोंका तथा उनके परिहारका निर्देश बड़े ही सुन्दर शब्दोंमें किया है।

---

(१) असत्यार्थाभिधायक काव्य

असत्यार्थाभिधायित्वात् नोपदेशष्टव्यं काव्यम्

काव्य असत्य अर्थका अभिधान करता है। वह उन अर्थों तथा वस्तुओंके वर्णनमें संलग्न रहता है जिनका वास्तव जगत्‌में कथमपि सद्भाव नहीं होता। सत्य अर्थका ही मंगलमय प्रभाव मानव जीवनपर पड़ता है। वास्तव वस्तु ही प्राणियोंके कल्याण-साधनमें समर्थ हो सकती है, परन्तु काव्यमें यह वस्तु अधिकतर अविद्यमान रहती है। अतः काव्यका उपदेश मानव समाजके लिये नितान्त हानिकर है।

उदाहरणके लिए इस पद्यकी परीक्षा कीजिए—

कालः किरातः स्फुटपद्मकस्य वधं व्यधाद् यस्य दिनद्विपस्य।
तस्यैव सन्ध्यारुधिराऽस्रधाग ताराश्च कुम्भस्थलमौक्तिकानि ॥

श्रीहर्षकृत सन्ध्यावर्णनका यह अन्यतम पद्य है। कवि सन्ध्याकालीन रक्त आभा तथा तारापुञ्जके उदयका रहस्य समझा रहा है। वह कह रहा है कि कालरूपी किरातने विकसित कमलसे मण्डित दिवसरूपी हाथीको, जिसके सूंड़पर लाल रंगके बिन्दु चमक रहे थे (स्फुटपद्मकस्य), मार डाला है। यही कारण है कि सन्ध्याकी शोभाके रूपमें रुधिरकी धारा दीख पड़ती है तथा आकाशमें उदय लेनेवाले तारक हाथीके मस्तकसे बिखरे हुए मोती हैं। इससे अधिक असत्य घटना हो ही क्या सकती है? सन्ध्याकी स्वाभाविक लाल शोभाको खूनके रूपमें तथा टिमटिमाते ताराको मोतीके रूपमें जिनकी आंखें देख सकती हैं उन्हें, हम इतना ही कहेंगे, कि उन्हें देखना नहीं आता। असत्यकी पराकाष्ठा ही हो गई है। इसी असत्यताके कारण ही सत्यके प्रेमी आलोचक काव्यकी खिल्ली उड़ाते हैं।

काव्यतथ्य

इस आरोपके परिहारके अवसरपर हमारा निवेदन है कि असत्य नामक वस्तु काव्यमें होती ही नहीं, काव्यमें वर्णित वस्तुओंकी अपनी एक विशिष्ट सत्ता है। काव्यतथ्य भी उसी प्रकार उपादेय तथा प्रामाणिक है जिस प्रकार बाह्यजगत्‌का वस्तुसत्य या वस्तुका यथार्थ रूप। विज्ञानमें वस्तुका सच्चे रूपमें हमें दर्शन मिलता है, परन्तु काव्यमें वस्तुके एक दूसरे पहलूका हमें ज्ञान होता है। पहला रूप यदि समीक्षण तथा तत्त्वनिरूपणपर आश्रित रहता है, तो दूसरा रूप कविकी निजी अनुभूतिके आधारपर प्रकटित वस्तुकी रसात्मक प्रतीतिपर अवलम्बित रहता है। दोनों रूप सत्य हैं। इसका विशेष विवरण अन्यत्र प्रस्तुत किया जायगा। राजशेखर इतनी दूर न जाकर इतना ही कहते हैं—

नासत्यमस्ति किञ्चन काव्ये स्तुत्यर्थमर्थवादोऽयम्।
स न परं कविकर्मणि श्रुतौ च शास्त्रे च लोके च॥

अर्थात् काव्यमें कोई भी वस्तु असत्य नहीं होती; जो सत्याभासके समान प्रतीत होता है वह वस्तुतः अर्थवाद होता है जो किसी विशिष्ट वस्तुकी स्तुतिके लिए प्रयुक्त किया जाता है। वह केवल कविकर्ममें ही विद्यमान नहीं रहता, प्रत्युत वेदमें, शास्त्रमें तथा लोकमें भी दृष्टिगोचर होता है। अर्थवाद विधिकी प्रशंसाके लिए ही प्रयुक्त होता है। वैदिक कर्मकाण्डमें विधिके साथ अर्थवादका अखण्ड साम्राज्य विद्यमान रहता है। अर्थवाद कहां नहीं है? वैदिक अर्थवाद देखिए—

पुष्पिण्यौ चरतो जङ्घे भूष्णुरात्मा फलेग्रहिः।
शेरेऽस्य सर्वे पाप्मानः श्रमेण प्रपथे हताः।

—ऐतरेय ब्राह्मण ७

यह श्लोक ऐतरेय ब्राह्मणके शुनः शेप आख्यानसे सम्बन्ध रखता है। रोहित अपने पितृचरण राजा हरिश्चन्द्रकी उदरव्याधिकी बात सुनकर

जंगलसे घर लौट रहा है। रास्तेमें इन्द्र उससे मिलते हैं और इस पद्यके द्वारा उसे लौटाकर संचरण करनेका उपदेश देते हैं—संचरण करनेवाले व्यक्तिके दोनों जङ्घे पुष्पके समान खिल उठती हैं। उसकी आत्मा फल-ग्रहण करनेमें समर्थ बन जाती है। श्रमके द्वारा नष्ट किए जानेपर उसके सब पाप सो जाते हैं। अतः चरैवेति—अतः सदा संचरण करना ही श्रेयस्कर होता है। इस मन्त्रमें जंघोंको पुष्पिणी (पुष्पके सम्पन्न) मानना क्या असत्यार्थका अभिधान नहीं है? श्रमके द्वारा पापोंको नष्ट होकर सो जानेकी बात क्या सत्यार्थका प्रतिपादन है? स्पष्टतः यहां भी वही 'असत्यार्थाभिधान'का दोष विद्यमान है। पर इस अभिधानका निजी स्वारस्य है। यह परिश्रमी अनलस उद्यमी संचरणशील व्यक्तिके स्वभावकी प्रशंसा कर रहा है और यही स्तुति ही इसका चरम तात्पर्य है।

शास्त्रीय अर्थवाद

आपः पवित्रं परमं पृथिव्याम् अपां पवित्रं परमं च मन्त्राः।
तेषां च सामर्ग्यजुषां पवित्रं महर्षयो व्याकरणं निराहुः॥

व्याकरणकी स्तुतिमें यह पद्य प्रयुक्त हुआ है। पृथिवीमें सबसे पवित्र वस्तु है जल और जलोंमें सबसे पवित्र पदार्थ है मन्त्र। इन त्रिविध मन्त्रोंमें—साम, ऋक्, यजुःमें महर्षि लोग व्याकरणको परम पवित्र मानते हैं। मन्त्रोंमें व्याकरणको पवित्र बतलानेकी बात क्या 'असत्यार्था-भिधान' नहीं है? परन्तु इस पद्यका तात्पर्य व्याकरणशास्त्रकी प्रचुर प्रशंसा है। अतः यह शास्त्रीय अर्थवादका जीता-जागता नमूना है। इसी प्रकार महाभाष्यकार पतञ्जलिकी यह उक्ति भी अर्थवाद-रूप है—

यस्तु प्रयुङ्क्ते कुशलो विशेषे शब्दान् यथावद् व्यवहारकाले।
सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः।

—पश्पशाह्निक।

जो शब्दके प्रयोगका ज्ञाता व्यक्ति व्यवहारके समय शब्दोंका यथावद् प्रयोग करता है वह दूसरे लोकमें अनन्त कालतक जय प्राप्त करता है परन्तु अपशब्द—अशुद्ध पदोंके प्रयोग करनेसे वही दोषका भागी बनता है। स्पष्टतः इस पद्यका तात्पर्य व्याकरणशास्त्रकी स्तुति ही है। इसी प्रकार लोकमे भी किसी व्यक्तिको किसी कार्य-विशेषके लिये उद्यत तथा तत्पर बनानेके लिये अर्थवादका प्रयोग बहुलताके साथ किया जाता है। जो वस्तु इतनी व्यापक है कि उसके प्रभावसे न तो लोक ही अछूता बचा है न शास्त्र और न श्रुति, उसीका कीर्तन करनेवाला काव्य 'अस्पृश्य' क्योंकर माना जा सकता है? अतः इस दोषका आरोप कविजनोंपर कथमपि नहीं किया जा सकता।

(२) असदुपदेशक काव्य

काव्य अशोभन, नीतिमत्तासे विरहित वस्तुका उपदेश दिया करता है। अतः काव्यका उपदेश नितान्त वर्जनीय है।

असदुपदेशकत्वात् तर्हि नोपदेष्टव्यं काव्यम्।

इस पक्षके समर्थक आलोचक अपने मतकी पुष्टिमें काव्यके अनैतिक वर्णनोंका संग्रह उपस्थित करते हैं। कवि सदा नैतिक बातोंकी ही चर्चा अपने काव्यमें नहीं करता, वह सदा शोभन-शिवं-पदार्थकी ही व्याख्यामें संलग्न नहीं रहता, वह अनेक अशोभन, समाजिक दृष्टिसे निन्दनीय आदर्शोंको अपने काव्योंमें प्रस्तुत कर साधारण जनोंका मनोरञ्जन किया करता है। क्या यह समाजके हितैषीका कार्य है? देखिए एक सुकविकी कविता, जिसमें एक वृद्धा कुलटा अपनी सती पुत्रीके शोभन आचरणकी समीक्षा कर अपना आदर्श प्रस्तुत कर रही है—

वयं बाल्ये डिम्भांस्तरुणिमनि यूनः परिणता-
वपीच्छामो वृद्धान् परिणयविधेस्तु स्थितिरियम्।
त्वयारब्धं जन्म क्षपयितुमनेनैकपतिना
न नो गोत्रे पुत्रि! क्वचिदपि सतीलाञ्छनमभूत्॥

हे पुत्रि! तुम क्या कर रही हो? भला एक पतिके साथ तुमने जीवन बितानेका यह संकल्प क्यों कर लिया है? क्या हमारा आदर्श नहीं जानती? हमारे विवाहकी दशा तो देखो। बालकपनमें हम बच्चोंको चाहती हैं, युवावस्थामें युवकोंके साथ रमण करनेकी इच्छा रखती हैं और इस बुढ़ापेमें भी वृद्धोंको चाहती हैं। ऐसे आचरणके लिये विवाह बन्धन ही है—एक पतिके साथ इस लम्बे जीवनको काटना नितान्त कष्टकर व्यापार है! हे पुत्रि मैं अपने कुलकी सच्ची बात तुमसे कह रही हूँ।

मेरे कुलमें सती होनेका कलंक कभी भी नहीं लगा है। यह पहला अवसर है कि तुम इस कुल-मर्यादाको तोड़कर सती बननेका कलंक हमारे पवित्र कुलमें लगानेके लिए उद्यत हो !!! सुना आपने कुलटाका यह पवित्र चरित्र—यह अनुकरणीय आदर्श !! यदि हमारा ललनावर्ग इस ललित उपदेशको अपने जीवनका महामन्त्र बनाए, तो हमारे समाजकी गति क्या होगी ?

संस्कृतके कवियोंके ऊपर यह दोषारोपण कुछ ही मात्रामें चरितार्थ हो सकता है, परन्तु हमारे मध्ययुगी हिन्दीकाव्योंके ऊपर तो यह आरोप विशेषमात्रामें सत्य सिद्ध होगा। जहां विलासी नरेशोंकी कामवासनाका उत्तेजन ही कविताका मुख्य उद्देश्य माना जाता था वहां इस दोषका सद्भाव न होगा तो कहां होगा ? मध्यकालीन हिन्दी-काव्योंमें नायिका-भेदका विशेष वर्णन भी इसीलिये निन्दाका भाजन माना जाता है। हमारे कविजन नायिकाओंके नानाप्रकारके विभेदोंके वर्णनसे न तो विरत होते थे और न नये नये प्रकारोंकी उद्भावनामें ही उनकी प्रतिभा ढीली पड़ती थी। फलतः हिन्दीमें एक विशाल साहित्य उठ खड़ा हुआ है जिसपर नवीन आलोचक सदा अपनी उँगली उठाता है और उसे सभ्यसमाजके सामने सम्मानके स्थानसे गिरानेका उद्योग करता है।

समाधान

इस आरोपका सुन्दर उत्तर हमारे आलोचकोंने दिया है। राजशेखरका कहना बहुत ही उपादेय है कि लोकयात्रा—कविवचनका आश्रय लेकर स्थिर रही है 'कविवचनायत्ता लोकयात्रा'। काव्य पढ़कर हम अनेक अज्ञात पदार्थों तथा घटनाओंके स्वरूपको भलीभांति समझ सकते हैं। यदि कवि चापलूस दरबारियोंसे चारों ओर घिरे हुए रंगीले राजा साहबका वर्णन हमारे सामने प्रस्तुत नहीं करता, तो राजदरबारके छिछले जीवनका परिचय कहांसे हमें मिलता ? शोभन तथा अशोभन वस्तुओंकी दीर्घ परम्पराकी ही

संज्ञा 'संसार' है। कवि शोभन वस्तुओंके ही चित्रणमें व्यस्त हो, तो अशोभनका परिचय ही हमें कैसे मिलेगा ? अतः काव्यमें अशोभनकी भी झांकी रहती है अवश्य, परन्तु यह उपदेश है निषेध्य रूपसे, विधेय रूपसे नहीं—'अस्त्ययमुपदेशः किन्तु निषेध्यत्वेन न विधेयत्वेन' इति यायावरीयः (राजशेखरः)।

राजशेखरसे कई शताब्दी पूर्व ही रुद्रटने भी इस आरोपका अपनयन बड़े ही मार्मिक रीतिसे किया था। वे कहते हैं कि कविको अपने काव्यमें न तो परदाराका उपदेश देना चाहिए और न स्वयं उनकी कामना करनी चाहिए। क्योंकि यह कर्तव्य कर्म नहीं है जिसका उपदेश कविके विपुल कार्यक्षेत्रके भीतर आता है। परन्तु वह केवल काव्यके अंग होनेके कारण ही उनका वर्णन करता है। काव्य जीवनके नाना पक्षोंका स्पर्श करता है। ऐसी दशामें जीवनके इस काम-पक्षके वर्णनका अभाव काव्यमें महती त्रुटि होगी। अतः ऐसे वर्णनोंके लिए कवि दोषका भाजन नहीं बनता—

नहि कविना परदारा एष्टव्या नापि चोपदेष्टव्या।
कर्तव्यतयाऽन्येषां न तदुपायो विधातव्यः॥
किन्तु तदीयं वृत्तं काव्याङ्गतया स केवलं वक्ति।
आराधयितुं विदुषो न तेन दोषः कवेरत्र॥

(काव्यालंकार)

कवियोंके ऊपर ही यह आरोप क्यों ? आरोपका प्रधान पात्र इस विषयमें यदि कोई है तो वह हैं स्वयं महर्षि वात्स्यायन जिन्होंने कामसूत्रमें 'पारदारिक' नामक एक स्वतन्त्र अधिकरणका ही निर्माण किया है। महर्षिकी करुणा ही इस विषयमें दोषी ठहर सकती है जिसने गृहस्थोंकी आत्मरक्षा तथा चरित्र-रक्षणके लिये इस अधिकरण-रचनाकी प्रेरणा दी।

वत्स्यायनका कथन बड़ा ही स्पष्ट है—

संदृश्य शास्त्रतो योगान् पारदारिकलक्षितान् ।
न याति छलनां कश्चित् स्वदारान् प्रति शास्त्रवित् ॥
पाक्षिकत्वात् प्रयोगाणामपायानां च दर्शनात् ।
धर्मार्थयोश्च वैलोम्यान्नाचरेत् पारदारिकम् ॥
तदेतद् दारगुप्त्यर्थमारब्धं श्रेयसे नृणाम् ।
प्रजानां रक्षणायैव न विज्ञेयो ह्ययं विधिः ॥

—कामसूत्र ५।६।२

(३) असभ्यार्थक काव्य

तीसरा आरोप है अशिष्ट अर्थका प्रवचन।

असभ्यार्थाभिधायित्वान्नोपदेष्टव्यं काव्यम्।

असभ्य अर्थका अभिधान काव्यमें सैकड़ों स्थानोंपर उपलब्ध होता है, परन्तु क्या सभ्यता तथा शिष्टताके विरुद्ध अर्थोंका वर्णन कभी क्षन्तव्य हो सकता है? राजशेखरका उत्तर इस विषयमें बड़ा ही सीधा-सादा है—प्रक्रममापन्नो निबन्धनीय एवायमर्थः। असभ्य भी अर्थ वर्णनक्रममें आनेपर उपेक्षणीय नहीं होता। ऐसे अर्थसे घबड़ानेकी जरूरत ही क्या है? क्या वेद या शास्त्रमें प्रसंगानुसार यह अर्थ नहीं आता? आता है और यथायोग्य आता है। तब काव्यके ही ऊपर लगुड़प्रहार क्यों किया जाय? नीतिमत्ताके उपदेशकी दृष्टिसे श्रुति तथा शास्त्रका महत्त्व तो काव्यकी अपेक्षा कहीं अधिक है। ऐसी दशामें क्रमकी रक्षाके हेतु कविपर यह दोष आरोपित नहीं किया जा सकता। तथ्य यह है कि काव्यसे चतुर्वर्गकी प्राप्ति सुखसे, अनायास ही, होती है। धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष—ये चारों ही पुरुषार्थ काव्यके उदात्त प्रयोजनोंके अन्तर्गत होते हैं। अतः काव्य निन्दाका पात्र न होकर श्लाघाका भाजन होता है। महर्षि वाल्मीकि जिस काव्यका आश्रय लेकर लोक तथा परलोकमं कीर्तिशाली बन गए, तथा महाभारतकी रचना द्वारा सत्यवतीसूनु व्यासने भी अक्षय कीर्ति अर्जित की, वह **सारस्वतवर्त्म**, शारदा-मार्ग, किसके लिए वन्दनीय नहीं है?

वाल्मीकजन्मा स कविः पुराणः
कवीश्वरः सत्यवतीसुतश्च।
यस्य प्रणेता तदिहानवद्यं
सारस्वतं वर्त्म न कस्य वन्द्यम्॥

—का० मी०, पृ० २७

४—काव्यका प्रयोजन

'कला कलाके लिये'

काव्यके उद्देश्यकी समीक्षाके प्रसंगमें पाश्चात्य जगत्का एक मान्य सिद्धान्त है आर्ट फार आर्ट सेक Art for Art's sake 'कला कलाके लिये'। इसका अनुमोदन पश्चिमी जगत्के आलोचक तथा भारतवर्षके भी नवीन समीक्षक इधर करने लगे हैं। हम यदि कलाके स्थानपर काव्यको रखें तथा प्रधान्य दृष्टिसे काव्यका प्रयोजक रस मानें तो इस सूत्रका अर्थ होगा कि रस ही रसका लक्ष्य है। रसात्मक वाक्यका पर्यवसान रसमें ही होता है, उससे किसी बाह्य उद्देश्यकी सिद्धि कथमपि नहीं होती। यदि इस सूत्रका यही तात्पर्य माना जाय, तो कोई भी विप्रतिपत्ति दृष्टिगोचर नहीं होती।

रसोद्बोधके अवसरपर श्रोता तथा द्रष्टाके हृदयमें राजस तथा तामस वृत्तियोंका सर्वथा तिरस्कार कर सात्त्विक भावका प्राबल्य सम्पन्न हो जाता है। जब तक दुःखजनक रजोगुण तथा मोहजनक तमोगुणकी प्रधानता बनी रहती है, आनन्दजनक सत्त्वगुणका उदय ही नहीं होता। रसकी अनुभूति मुख्यतया आनन्दकी ही अनुभूति है, इसका निर्देश हम अनेक स्थलोंपर करते आए हैं। रसका अनुभवकर्ता सामाजिक उस अवसरपर अपनी स्वार्थमूलक वृत्तियोंकी ही चरितार्थता नहीं मानता, प्रत्युत साधारणीकरण व्यापारके द्वारा सामाजिक अपने वैयक्तिक सम्बन्धका परिहार कर समाजके साधारण व्यक्तिका प्रतिनिधित्व करने लगता है। फलतः वह द्वैत भावनासे ऊपर उठकर अद्वैत भावनामें प्रतिष्ठित हो जाता है। वह अपनी वैयक्तिक आनन्दानुभूतिको साधारण सामाजिककी आनन्दानुभूतिमें विसर्जित कर देता

है। रस ही शिव है, सत्य है तथा सुन्दर है। रस-दशा सर्वदा आनन्दकारिणी, मंगलदायिनी तथा कल्याणजननी है। उस दशाकी परिणतिके उत्पादक समग्र रसोपकरण तथा रससामग्री सत्य, शिव तथा मंगलकी अभिव्यक्तिके कारण नितान्त उपादेय तथा श्लाघनीय होती है। रसोद्बोधक कोई भी वस्तु अमंगलकारिणी नहीं हो सकती। रसके उन्मेषमें कारणभूत काव्यके समग्र उपकरण इसी निमित्तसे ग्राह्य तथा अनुग्राह्य होते हैं। इस दृष्टिसे विचार करनेपर यह सूत्र कथमपि आपत्तिजनक नहीं प्रतीत होता। परन्तु इस सिद्धान्तके उदयका इतिहास बतलाता है कि इसके उद्भावकोंकी दृष्टिमें इस सूत्रका आशय कुछ दूसरा ही था।

सिद्धान्तका उदय

गत शताब्दीके मध्यकालमें इस सिद्धान्तका उद्गम फ्रान्सके साहित्याकाशमें हुआ। और यह उदय हुआ प्रतिक्रियाके रूपमें। यूरोपमें प्लेटोसे आरम्भ कर ग्वेटे तथा मेथ्यू आर्नाल्ड तक कला तथा नैतिकताका अभेद्य सम्बन्ध स्वीकार किया गया है। इन मान्य प्राचीन आलोचकोंकी दृष्टि कलाको नैतिकताके क्षेत्रसे कभी बहिष्कृत नहीं देखना चाहती। नैतिकताकी दृढ़ आधारशिला पर ही कलाका विशाल किला खड़ा रहता है तथा नैतिकताके आधारके तिरस्कारके साथ ही यह किला ताशके किलेके समान जमीनपर गिरकर टूक टूक हो जाता है। प्राचीनोंके इस पारस्परिक सम्बन्धके दृढ़ आग्रहसे ऊबकर उन्नीसवीं शताब्दीके यूरोपीय आलोचकोंने, विशेषतः फ्रान्सके नैसर्गिकवाद (Naturalism) तथा यथार्थवाद (Realism)के प्रचारक जोला, फ्लाउवर आदि लेखकोंने इस सिद्धान्तको अग्रसर किया कि कलाका उद्देश्य कला ही है।

कलाका उद्देश्य

अभिव्यञ्जनावादी (Expressionist) आलोचकोंका कथन है—अभिव्यंजना ही कलाका विशुद्ध रूप है। कलाकार अपने विशिष्ट माध्यमके द्वारा अपनी अनुभूतिकी अभिव्यक्ति कर देता है। इतनेमें ही उसके कर्तव्यकी इतिश्री हो जाती है। उसके कार्यका पर्यवसान होता है अनुभूतियोंकी अभिव्यञ्जनामें। समाज तथा व्यक्तिके ऊपर उस अभिव्यञ्जनाके प्रकट या गुप्त प्रभावकी मात्राको न तो वह ढूंढ़ता है और न उसे ढूंढ़ निकालनेकी जरूरत होती है। कलाकार उस कोयलके समान है जो वसन्तकी मस्तीमें झूमती हुई डालियोंपर बैठकर आनन्दसे चहक उठती है। उसका चहकना किसके हृदय-भारको कम करनेमें समर्थ होगा अथवा किस विरहीके चित्तमें वियोगकी आग भड़कानेमें चमक उठेगा? इसके विचार करनेका न तो उसे समय है और न आवश्यकता। कलाकारका भी यही विशुद्ध स्वरूप है। वह बाह्य जगत्की स्वीय अनुभूतियोंकी अभिव्यञ्जना करके ही अपना काम समाप्त कर देता है। कलाका बस इतना ही कार्य है, इतना ही उद्देश्य है। अतः इन आलोचकोंकी दृष्टिमें कलाका उद्देश्य अन्य कुछ न होकर स्वतः कला ही होती है। कलामें सत्यकी परिणति रहती है।

वाल्टर पेटर (इस मतके प्रधान अंग्रेजी आलोचक)की सम्मतिमें सत्यका निवास होता है अपनी अनुभूतिकी यथार्थ रूपसे अभिव्यक्तिमें ही। कलाकारका यही कर्तव्य है और इतना ही कर्तव्य है—अभिव्यञ्जनाकी यथार्थता। अभिव्यञ्ज्य वस्तुके सत्यासत्यके विषयमें विचार करना उसके क्षेत्रसे बाहरकी बात है।

All beauty is in the long run only fineness of truth, or what we call 'expression' the finer accomodation of speech to that vision within.

—Walter Pater

काव्य वस्तुका प्रभाव

इस विषयकी विशद व्याख्या करना अपेक्षित है। एक मौलिक प्रश्न प्रथमतः विचारणीय है कि काव्यका उपादान या वस्तु कविको तथा पाठकको स्पर्श करती है या नहीं? यदि वर्ण्य वस्तुका लगाव न कविसे ही सिद्ध हो और न पाठकसे ही, तो यह हठात् मानना ही पड़ेगा कि कविताका उद्देश्य स्वयं कविता ही है, परन्तु यदि इस सम्बन्धका संकेत भी दूरतः उपलब्ध हो, तो काव्यके उद्देश्यपर हमें नवीन दृष्टिसे विचार करना ही पड़ेगा। पूर्वोक्त प्रश्नका संक्षिप्त उत्तर यही है कि वस्तु कविको भी स्पर्श करती है तथा पाठकको भी।

राजशेखरका स्पष्ट कथन है—स यत्स्वभावः कविः तदनुरूपं काव्यम्। कवि जिस स्वभावका होता है तन्निर्मित काव्य भी उसके ही अनुरूप होता है। यदि काव्यकी देहलीपर कामवासनाके कमनीय कुसुमोंके द्वारा कन्दर्पदेवकी ही अर्चना दीख पड़ती है अथवा पुरुषत्वनाशक जघन्य लोल वासनाका ही नग्न नृत्य दृष्टिगोचर होता है, तो मानना पड़ेगा कि कविके चित्तमें भी ये ही गर्हणीय वासनाएं भरी पड़ी हैं। कोयलेकी खानसे कोयला ही निकलता है, और सोनेकी खानसे सोना।

काव्यके वस्तुका धर्म पाठकको समधिक भावेन स्पर्श करता है। पाठकके हृदयमें रसोन्मेष ही भारतीय आलोचकोंके द्वारा निर्धारित तथ्य है। भावके ऊपर ही आश्रित होकर काव्यमें रस उन्मीलित होता है। भरतमुनिका स्पष्ट आदेश है—

न भावहीनो ऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः

—नाट्यशास्त्र

कोई भी रस भावसे वर्जित नहीं हो सकता अथवा कोई भी भाव रसविहीन नहीं हो सकता। इस कथनका तात्पर्य यही है कि कितना भी रसोन्मेषसे विलसित काव्य हो उसमें भावका स्पर्श होगा ही अथवा भाव-प्राधान्य काव्यमें रसका सम्पर्क अत्यल्प-मात्रामें भी होता ही है।

पण्डितराज जगन्नाथके कथनानुसार—

'रत्याद्यवच्छिन्ना भग्नावरणा चिदेव रसः'

रतिप्रभृति भाव द्वारा अवच्छिन्न या विशिष्ट हुए बिना चित्-सत्ता कभी रसरूपमें प्रकाशित नहीं होती। रसमें भावावच्छिन्नता या भाव-वैशिष्ट्यकी सत्ताका होना नितान्त आवश्यक होता ही है। रसका विशुद्ध रूप कितना भी अलौकिक, लोकातीत क्यों न हो, उसे भावका अवलम्बन करना ही पड़ेगा। और यह भाव आश्रित रहता है वस्तुपर। संसार नाना पदार्थोंकी संघटना तथा परस्पर सम्पर्कसे जायमान ललित लीलाओंका अथवा गर्हणीय क्रीडाओंका एक विलक्षण सामूहिक अभिधान है। इन्हीं वस्तुओंको अवलम्बित कर कवि भावोंकी सृष्टि करता है। ऐसी दशामें हम जोर देकर कह सकते हैं कि काव्य-वस्तु पाठकोंका केवल स्पर्श ही नहीं करती, प्रत्युत विलक्षण रूपसे उनके मनस्तलको आलोड़ित करती है। काव्यमें वर्णित वस्तु पाठकके हृदयको नैराश्यके प्रचंड झंझावातसे कभी उद्विग्न कर देती है और कभी आशाकी स्निग्ध चन्द्रिकाके उदयसे उसे शीतल तथा सजीव बना देती है। कभी उसका हृदय धनिकों तथा समर्थोंके उत्पीड़नके शिकार बने निर्धन तथा आर्त्त पुरुषोंके अश्रान्त करुण चीत्कारसे उद्दीप्त हो उठता है, तो कभी ममतामयी माताके वात्सल्य गंगाजलसे धुलकर उज्ज्वल तथा शान्त बन जाता है। काव्यकी वस्तु पाठकोंको बिना आलोड़ित या प्रभावित किए बिना क्षणभर भी स्थिति लाभ नहीं कर सकती। हम रसकी गंभीर अनुभूतिवाले मस्त मौला मर्मज्ञोंकी

बात नहीं करते। उनकी रसदशा स्वतन्त्र होती है तथा चिरस्थायी होती है, परन्तु साधारण पाठकोंकी रसदशा क्षणिक होती है। रसके अनुभूतिकालमें सत्त्वगुण तम तथा रजको दबाकर अपना स्वातन्त्र्य बनाए रहता है तथा आनन्दकी चरम अनुभूति होती है। रसदशाके पर्यवसानमें केवल आनन्दकी स्मृति शेष रह जाती है और बच जाती है केवल भावोंकी अनुभूति। इस भावानुभूतिकी तीव्रता तथा शोभनताके निमित्त वस्तुकी शोभनता नितान्त आवश्यक होती है। सद्-वस्तुका इसीलिये उत्कृष्ट प्रभाव पाठकोंपर पड़ता है। काव्यवस्तुकी अशोभनता कथमपि वाञ्छनीय नहीं होती। वस्तुकी सद्रूपता, उपादेयता तथा ग्राह्यताके ऊपर इसीलिये कविको सर्वदा ध्यान देना आवश्यक होता है।

कविकी सृष्टि

साहित्य समाजका दर्पण है और समाज साहित्यकी कृति है। दोनोंका अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। विश्वसाहित्यका इतिहास इस तथ्यका साक्षी है कि शोभन-साहित्य सुन्दर समाजकी रचनामें कृतकार्य होता है तथा औदार्यपूर्ण समाज सत्साहित्यकी प्रेरणाका विमल निदान होता है। कवि सामाजिक प्राणी है—वह अपनी सत्ता, स्थिति तथा समृद्धि समाजका श्लाघ्य अंग बनकर ही पा सकता है। कवि समाजकी एक कमनीय कृति है। कवि अपने समाजका प्रतिनिधि होता है। इसी प्रकार वह समाजका स्रष्टा भी होता है। कवि अपने हाथमें हिंसा तथा विद्रोह, विनाश तथा वैरको प्रेरित करनेवाले साहित्यको लेकर समाजको सभ्यताके अधः-पतनकी ओर ले जानेमें समर्थ होता है। दूसरी ओर कवि त्याग तथा औदार्य, शौर्य तथा औदात्यके प्रेरक साहित्यके द्वारा समाजको अधिक त्यागशील तथा उदार बनाकर उसे उद्दीप्त तथा तेजस्वी बनाता है। आदर्श कवि कवितामें ऐसे पदार्थका निर्वाचन करता है, जो समाजमें प्रेम तथा त्यागका महनीय आदर्श प्रस्तुत करता है, श्रेय तथा प्रेयका मञ्जुल सामरस्य प्रस्तुत करता है और आदर तथा श्रद्धाकी समधिक वृद्धि करताहै।

कविका प्रधान कार्य है आत्मचैतन्यको प्रबुद्ध करना। सुप्त आत्मचैतन्यकी भावना समाजको जड़, अलस तथा निरुद्यम बनाकर उसे अवनतिके गर्तमें ढकेल देती है। साहित्य आत्मचैतन्यको प्रबुद्ध कर उसे बलवान् बनाता है, ओजस्वितासे मण्डित करता है तथा सामर्थ्य-शक्तिका उन्मीलन करता है। समाजको सुगठित करनेमें कविकी महत्वशालिनी लेखनी अपना जौहर दिखानेमें कभी चूक नहीं करती। उसके अदम्य प्रभावके प्रवाहको समाज रोक नहीं सकता। कवि अपने विचारालोकसे

आच्छन्न होकर स्वतः स्वच्छन्द वृत्तिसे ऐसी गीतिकाके गायनमें प्रवृत्त होता है जिससे समस्त विश्व आशा तथा भयके द्वारा सहानुभूतिकी ओर अग्रसर हो जाता है जिसका अबतक उसे तनिक भी ध्यान नहीं था। इस दृष्टिसे वह एकान्तमें चहकनेवाले तथा विश्वमें शान्ति तथा प्रेमका सन्देश सुनानेवाले कोकिलके नितान्त सदृश है। महाकवि शेलीने इस प्रख्यात पद्यमें बड़ी सुन्दरतासे स्वानुभूति अभिव्यक्त की है—

Like a Poet hidden
In the light of thought,
Singing hymns unbidden
Till the world is wrought
To sympathy with hopes and fears
it heeded not,

जगती कविवाणीके प्रभावके प्रसारकी लीलाभूमि है। समाज कविवाणीके द्वारा उन्मीलित प्रेम तथा आशा, दया तथा औदार्यके प्ररोहका उर्वर क्षेत्र है। ऐसी दशामें कविको अपनी वस्तुके लिये सदा सतर्क रहना चाहिए। निकृष्ट उपादानसे उत्कृष्ट भावकी सृष्टि एकदम असम्भव है। क्या समाजके लिये हेय तथा अग्राह्य उपकरणसे उच्च काव्यकी कथमपि सृष्टि हो सकती है? काव्यका लक्ष्य अध्यात्मके सदृश ही श्रेयस्करकी सृष्टि है और यह तभी साध्य है जब समाजके शोभन उपकरणोंका योग कवि अपने काव्यमें करता है। ऐसी दृष्टिसे काव्यका अन्तिम लक्ष्य काव्य नहीं हो सकता।

काव्यका द्विविध पक्ष

ध्यान देनेकी बात है कि काव्यके दो ही पक्ष होते हैं—सुन्दर तथा कुरूप। कविकी दृष्टि सदा सौन्दर्यकी ओर जाती है, चाहे वह जहां

हो—वस्तुके रूपरंगोंमें हो अथवा मनुष्यके मन, वाणी तथा कर्ममें हो। कविकी अन्तर्दृष्टि सौन्दर्यको निरखती है और उसकी वाणी उसीकी अभिव्यक्ति सुन्दर शब्दोंके द्वारा करती है। भला-बुरा, मंगल-अमंगल, पाप-पुण्य—आदि शब्द नीतिशास्त्र, धर्मशास्त्र तथा अर्थशास्त्रसे सम्बद्ध शब्द हैं। ये काव्यक्षेत्रसे बाहर रहते हैं। विशुद्ध काव्यके क्षेत्रमें न कोई वस्तु भली होती है न बुरी, न उपयोगी होती है, न अनुपयोगी। कवि केवल दो ही बातोंपर ध्यान देता है कि वह सुन्दर है या कुरूप। मंगल वस्तु या सुन्दर वस्तुमें कथमपि अन्तर नहीं होता। धार्मिक जिस वस्तुको अपनी दृष्टिसे मंगलमय मानता है उसे ही कवि अपनी दृष्टिसे सुन्दर समझता है। दृष्टिभेद होनेपर भी वस्तुका रूपगत भेद नहीं होता। कविके इस दृष्टि-विशेषपर ध्यान देनेसे अनेक समस्याओंका स्वतः समाधान हो जाता है :—काव्य सत् होता है या असत्? कवि प्रचारक होता है या उपदेशक? काव्यका नीतिसे ऐकमत्य है या वैमत्य? जो सुन्दर है वही शिव है, वही सत्य है।

कविके इस वैशिष्ट्यपर लक्ष्य रखनेसे काव्य सौन्दर्यसे युक्त होनेसे ही मंगलमय होता है। सौन्दर्य मंगलका प्रतीक है। सौन्दर्य सत्यका प्रतिनिधि है। काव्यमें जितने प्रकारके सौन्दर्यका एकत्र संविधानक प्रस्तुत किया जाता है वह उतना ही रमणीय तथा आवर्जनीय, प्रभावशाली तथा उत्कर्षाधायक बन जाता है। मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रके चित्रणमें अन्तःसौन्दर्यके साथ रूपमाधुरीका सन्निवेश वाल्मीकिकी प्रतिभाका सुन्दर विलास है। उदात्त नायकका बाहरी सौन्दर्य उसके अन्तःकरणके सौन्दर्यका स्पष्ट प्रतिबिम्ब है। प्राकृतिक सौन्दर्यका साहाय्य पानेपर यह सौन्दर्यगरिमा और भी अधिक विमुग्धकारिणी बन जाती है। सौन्दर्यका चित्रण करनेवाले कविका काव्य कथमपि अमंगल आदर्श प्रस्तुत नहीं करता। अतः मुख्यतया लक्ष्य न होनेपर भी सत्कविकी वाणी समाजका परममंगल—शाश्वत कल्याण—उत्पन्न किए बिना नहीं रहती।

काव्यको मूलतः जीवनकी आलोचना माननेवाले आर्नाल्ड महोदयका भी यही तात्पर्य है। हमने ऊपर कहा है कि काव्य तथा जीवनमें घनिष्ठ तथा श्लाघ्य सम्पर्क स्थापित रहता है। कवि अपने सामने प्रस्तुत जीवनके नाना अंशोंपर अपनी पैनी दृष्टि डालकर उन्हें अपने काव्यमें चित्रित करता है। कवि होता है आदर्शवादका पक्षपाती। काव्यमें यथार्थवादकी ओर इधर विशेष पक्षपात दृष्टिगोचर हो रहा है, परन्तु कवि वस्तुके हेयपक्षका ग्रहण न कर उसके ग्राह्यपक्षका ही अनुरागी होता है। पाठक काव्यनिबद्ध वस्तुके अनुशीलनसे अपनी दशाका सूक्ष्म निरीक्षण तथा तुलना करता है तथा अपने जीवनको उदात्त एवं मंगलमय बनानेके लिये अभ्रान्त परिश्रम करता है। इस प्रकार काव्य जीवनका मूलतः आलोचन ही होता है—

Poetry is at bottom a criticism of life; the greatness of a poet lies in his powerful and beautiful application of ideas to life—to the question : How to live.

नैतिकता उदात्त कविताकी जीवनी शक्ति है। नैतिक भावनासे विद्रोह करनेवाली कविता वस्तुतः जीवन से विद्रोह करनेवाली कविता है। नैतिक भावनाका अवहेलनामय काव्य जीवनके प्रति अवहेलनात्मक काव्य है—

A poetry of revolt against moral ideas is a poetry of revolt towerds life; a poetry of indifference towards moral ideas is a poetry of indifference towards life. — M. Arnold.

काव्य और जीवन

कविता जीवनकी मनोरञ्जिनी व्याख्या है। कवि पदार्थोंके सौन्दर्य-पक्ष तथा अध्यात्मपक्षका ग्रहण कर अपने काव्यमें निबद्ध करता है। पदार्थोंका हमारे जीवनपर क्या प्रभाव पड़ता है तथा हम किस प्रकार उस प्रभावको व्यक्त करते हैं—इसका स्पष्टीकरण काव्यके द्वारा होता है। काव्यके प्रभावको व्यापक, दूरगामी तथा विशाल बनानेके आशयसे कविको वस्तु-निर्वाचनकी ओर सावधानी रखनी चाहिए। तुच्छ तथा क्षुद्र विषय-पर प्रतिभाके सहारे कविता करनेवाले कवियोंकी रचनाएं क्षणिक मनो-रञ्जनसे अधिक मूल्य नहीं रखती। शाश्वत प्रभाव उसी काव्यका पड़ता है जिसका विषय अधिकसे अधिक प्राणियोंके अन्तस्तलको स्पर्श करता है तथा शाश्वत मानसवृत्तिका चित्रण करता है। इस प्रसंगमें प्रगति-वादी आलोचकोंका अपना एक पक्ष है। उनकी दृष्टिमें काव्य या कलाका मुख्य उद्देश्य यही है कि वह आढ्यों तथा सम्पन्न पुरुषोंके द्वारा निर्धनों तथा निरीहोंके ऊपर किए गए अत्याचारोंका स्फूर्तिमय विवरण प्रस्तुत करती है। उनका तो यहां तक बढ़ कर कहना है कि जो काव्य इस प्रचारकार्यमें योगदान नहीं देता वह काव्य ही नहीं है। इस सम्प्रदायके एक आलोचककी तो यहांतक सम्मति है कि वर्तमान कालमें लिखित कोई भी ग्रन्थ शोभन नहीं हो सकता, यदि वह मार्क्सीय अथवा प्रायः मार्क्सीय दृष्टिसे नहीं लिखा गया हो[१]। दूसरे आलोचकका कहना है कि कला श्रेणी-संग्रामका

No book written at the present time can be 'good', unless it is written from a Marxist or near-Marxist point of view.

— Upward : The Mind in Chains.

एक विशिष्ट यन्त्र है जो दरिद्र श्रमिक-संघके द्वारा उनके अन्यतम अस्त्रके हिसाबसे अनुशीलित होना चाहिए[1]। इन युक्तियोंको पढ़कर यही प्रतीत होता है कि कला या कलाके उद्देश्यकी हत्या और अधिक नहीं हो सकती। जो कला कुलांगनाके समान उद्दीप्त भावभंगीसे सम्पन्न होकर राजसिंहासनकी शोभाको विकसित करती थी वही अब दरिद्रताके पंकसे मलिन वेशललनाके कार्य-सम्पादनके निमित्त उपयोगमें लगाई जा रही है। 'कला कलाके लिये' इस सिद्धान्त तक तो गनीमत थी, परन्तु अब 'कला प्रचारके लिये' यह सिद्धान्त तो कलाके कोमल उद्देश्यपर भीषण तुषारपात है तथा उसके पवित्र लक्ष्यकी निर्मम हत्या है !!!

भारतीय आलोचकोंने काव्यका उद्देश्य उभयप्रकारका बताया है। भरतमुनिका कथन है—

धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविर्धनम्
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति ॥

इस पद्यका गम्भीर अर्थ बतलाते हुए अभिनवगुप्तका मार्मिक विवरण है कि नाट्य स्वतः हितकारक नहीं होता, प्रत्युत वह हितकारक प्रतिभाका जनक होता है। क्या नाट्य गुरुके समान उपदेश देता है ? क्या नाट्य नीतिशास्त्रके समान साक्षात् रूपसे उपदेश प्रदान करता है ? अभिनवका स्पष्ट उत्तर है—नहीं, किन्तु बुद्धिको बढ़ाता है; वैसी प्रतिभाका ही वितरण करता है[2]। इसका स्पष्ट आशय यही प्रतीत होता है कि

१ Art, an instrument in class struggle, msut be developed by the proletariat as one of its weapons.

—Freaman : Proletarian Litrature in U. S. A.

२. ननु किं गुरुवद् उपदेशं करोति। नेत्याह। किन्तु बुद्धिं विवर्धयति स्वप्रतिभामेवं तादृशीं वितरतीत्यर्थः।

—अभिनवभारती, १ खण्ड, पृ० ४१

नाटय श्रोताओंकी बुद्धि बढ़ाता है—उनकी प्रतिभाको ही उन्नत कर देता है जिससे वे अपना हितचिन्तन स्वयं करने लगते हैं।

भामहकी दृष्टिमें साधु-काव्यका निषेवण कीर्ति तथा प्रीति (आनन्द) उत्पन्न करता है। विश्वनाथ कविराज काव्यको चतुर्वर्गकी प्राप्तिका सुगम साधन स्वीकार करते हैं। काव्यके द्वारा मानवजीवनके चारों लक्ष्य, चतुर्विध पुरुषार्थ—अर्थ, धर्म, काम तथा मोक्षकी उपलब्धि अनायास होती है। मम्मटके द्वारा निर्दिष्ट उद्देश्योंका विश्लेषण करनेसे काव्यके द्विविध प्रयोजन प्रतीत होते हैं—मुख्य तथा गौण। इनमें मुख्य प्रयोजन है—सद्यः परनिर्वृति; काव्यपाठके समनन्तर सद्यः उत्पन्न होनेवाला सातिशय आनन्द। यही उद्देश्य 'सकलप्रयोजनमौलिभूत' माना गया है। काव्य-पाठसे तुरन्त होनेवाला अलौकिक आह्लाद ही काव्यका सर्व-श्रेष्ठ प्रयोजन है। गौण प्रयोजन अनेक हैं जिनमें यश, अर्थ, व्यवहारज्ञान, विघ्ननाश तथा कान्तासम्मित उपदेशदान प्रधान हैं। काव्य नीतिशास्त्रके समान रूखा-सूखा उपदेश देनेमें ही अपनी कृतकार्यता नहीं मानता। सरसता केसाथ उपदेश देना ही काव्यका प्रयोजन है, परन्तु यह भी अमुख्य प्रयोजन है। श्रोता तथा पाठकके हृदयमें अलौकिक आनन्दमय रसका उन्मीलन ही काव्यका मुख्य प्रयोजन है। आरम्भमें कहा गया है कि इस रसोन्मेषके सिद्धान्तसे काव्यकी मांगलिकता तथा कल्याण-परायणतापर तनिक भी आंच नहीं आती। मम्मटका यह प्रतिपादन काव्यके द्विविध प्रयोजनकी ओर संकेत करता है:—

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥

—काव्यप्रकाश १।२

काव्यकी व्यवहारक्षमता

काव्य व्यवहार-ज्ञानका साधन ही नहीं है, प्रत्युत वह व्यवहारका सर्वश्रेष्ठ प्रेरक भी है। मानवमात्रको व्यवहारके क्षेत्रमें प्रवृत्त करनेवाले साधनोंमें ज्ञानकी ही प्रभुता अधिक मानी जाती है। जनसाधारण ज्ञानको ही व्यवहारका प्रेरक उपाय मानते हैं, परन्तु ज्ञानकी अपेक्षा भाव या वासनाकी ही प्रभुता इस विषयमें सर्वापेक्षा महत्त्वशालिनी होती है। कर्मकी गतिविधिके समीक्षक नैयायिकोंका यह मान्य सिद्धान्त है—जानाति, इच्छति, यतते अर्थात् ज्ञान, इच्छा तथा कृति—यही मनोविज्ञानकी दृष्टिसे उपादेय क्रम है। ज्ञानसे कृतिकी साधना सद्यः नहीं होती, क्योंकि दोनोंके अन्तरालमें 'इच्छा'की विकट घाटी पड़ी हुई है। ज्ञानके कार्योंको भी यदि अन्तर्दृष्टि गड़ाकर देखा जाय तो उसके भी भीतर भावया वासनाका गुप्त संकेत क्रियाशील रूपसे अवश्य उपलब्ध होगा। बड़े घुटे हुए राजनैतिक नेताओंके क्रियाकलापको जनसाधारण अकसर ज्ञानकी ही प्रेरणाका परिणाम मान लेता है, परन्तु ध्यानपूर्वक देखनेसे उसके भीतर अपने देश या राष्ट्रकी समुन्नतिकी भावना, अन्य राष्ट्रसे किसी पुराने वैर-भावके चुकानेकी इच्छा, विश्वके कोने-कोनेमें अपनी चीजोंके लिये बाजार ढूंढ़ निकालनेकी आशा, अपने देशके शिक्षित जवानोंको अपने कलाकौशलके जौहर दिखलानेका अभिलाष, राष्ट्रोंकी दौड़में पिछड़ जानेकी आशंका आदि नाना भावोंका विचित्र गंगाजमुनी मेल अवश्यमेव दिखाई पड़ेगा।

ज्ञान स्वभावतः होता है शान्त और वासना होती है मूलतः चञ्चल। ज्ञान पुण्यसलिला भागीरथीके मञ्जुल प्रवाहकी समता रखता है और वासना होती है दुर्दान्त सोनभद्रकी आकस्मिक भीषण बाढ़के समान।

ठण्डे दिमागसे कोई बात कितनी भी अच्छी तरहसे क्यों न सोची जाय उसके करनेके लिये हम तबतक अग्रसर नहीं होते जबतक हमारे हृदयके भीतर वह बात नहीं घुसती। कार्य-सम्पादनके निमित्त मनुष्य अपने भावोंमें कुछ वेग चाहता है। मानव-हृदयके इस स्वभावसे हमारे राजनीतिक नेता भलीभांति परिचित होते हैं। जनताको किसी कार्यविशेषके लिये तत्पर बनानेके समय वक्ता उसे तर्कके द्वारा बात समझानेका परिश्रम नहीं उठाता, प्रत्युत अपनी वाग्धाराके प्रभावसे उसके हृदयको उद्रिक्त करनेकी चेष्टा करता है, भावोंको उद्दीप्त बनानेका परिश्रम करता है जिससे उनकी अभीष्ट सिद्धिमें तनिक भी विलम्ब नहीं होता। विदेशी शासनके द्वारा किये गये आर्थिक शोषणका विवरण प्रस्तुत करनेके दो मार्ग हैं। एक मार्ग है पूरा लेखा-जोखा देकर अनेक आंकड़ोंके सहारे देशकी आर्थिक दरिद्रताका युक्तिपूर्वक विवरण। दूसरा मार्ग है उस दरिद्रताके कारण टूटी कुटियामें अपना दिन काटनेवाली किसी बुढ़ियाकी रोटीके लिये तरसने वाले तथा सड़कपर गिरे टुकड़ोंपर टूट पड़नेवाले छोटे-छोटे बच्चोंके करुण रुदनका चित्रण प्रस्तुत करना। पहिला है बुद्धिमार्गी अर्थशास्त्रियोंका पन्थ और दूसरा है भावमार्गी कविजनोंका रास्ता। कहना न होगा कि दूसरा मार्ग पाठकोंके ऊपर विशेष प्रभाव डालनेवाला है जिससे वे देशकी दरिद्रता तथा आर्थिक शोषणके समाप्त करनेके लिये कटिबद्ध हो जाते हैं अथवा दृढ़ संकल्प कर बैठते हैं।

मनुष्यके भावोंको उद्बुद्ध करनेके लिये, सुप्तभावोंको जाग्रतकर वेगवान् बनानेके लिये, सबसे महनीय साधन कविता है। काव्य वह प्रकाश-स्तम्भ है जहांसे भावरश्मियां फूटकर मानव-हृदयको उद्दीप्त तथा जागरूक बनाती हैं तथा व्यवहारके लिये उसे उद्वेलित करती हैं। इसीलिये प्राचीन कालमें रणक्षत्रमें विजिगीषु महीपतियोंके साथ राजकवि अथवा चारणोंके जानेकी बात सुनी जाती है। यह राजकवि अवसरविशेषपर अपनी ओज-स्विनी कविताके द्वारा शत्रुओंके उग्र आक्रमणके कारण पैर उखड़ जानेपर

भाग खड़े होनेवाले सैनिकोंके हृदयमें वीरताका भाव भर देता था, रणके प्रांगणमें उनके पैर जमा देता था; पराजयको विजयके रूपमें परिणत कर देता था। कविताकी इस भावोद्रेक शक्तिसे परिचित होकर ही महाराज पृथ्वीराज महाकवि चन्द्रवरदाईका घमासान युद्धक्षेत्रमें भी कभी संग नहीं छोड़ते थे। अतः काव्य प्राणियोंको व्यवहारक्षेत्रमें अग्रसर करनेकी महती शक्तिसे संवलित प्रशंसनीय पदार्थ है।

काव्यका उच्च आदर्श

कविता हृदयकी विशुद्धि तथा मुक्तिका महनीय उपकरण है। वह हृदयकी संकीर्ण दशाको हटाकर उसे मुक्तदशामें परिणत कर देती है। हमारा हृदय अविकसित अथवा अर्धविकसित नानाभावोंकी क्रीडा-केलिका कमनीय कानन है। सभ्यताकी उन्नति केवल ज्ञानकी उन्नतिमें सीमित नहीं रहती, प्रत्युत वह भावकी उन्नतिकी ओर सद्यः संकेत करती है। मनुष्य केवल ज्ञानक्षेत्रमें ही पशुओंसे बढ़कर नहीं है, प्रत्युत भाव-क्षेत्रमें भी। सभ्यताका प्रसार ज्ञानप्रसारके साथ-साथ भावप्रसारकी भी मनोहर गाथा है। सभ्य मानव पशुओंसे इसीलिये बढ़कर नहीं है कि उसका मस्तिष्क उन्नत है, उसका ज्ञानक्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है, वरन् इसलिये भी कि उसका हृदय उदात्त है, उसका भावराज्य समधिक विशाल है। पशु केवल अपने बच्चोंसे ही प्रेम करता है, दूसरे पशुके बच्चोंको देखकर वह गुर्राता है, मार भगाता है, परन्तु मनुष्य अपने ही बच्चोंसे प्रेम नहीं करता, प्रत्युत दूसरोंके बच्चोंको वह अपने प्रेमका भाजन बनाता है। वह मूर्तसे बढ़कर अमूर्तसे भी प्रेम करता है—स्वदेशकी रक्षाके निमित्त शत्रुओंके बाणोंका लक्ष्य बनकर अपने प्राण गँवानेवाले सैनिकोंके देशप्रेमपर वह रीझता है; पतिपारायण नारीके मुग्धचरित्रपर वह मुग्ध होता है, जातिके उत्थानके लिये अपना सर्वस्व निछावर करनेवाले परोप-कारीकी उदात्त त्यागभावनापर वह आनन्दसे खिल उठता है।

सभ्यताके अभ्युदयके साथ भावोंका भी अभ्युदय सम्पन्न होता है, परन्तु परिस्थितिकी विषमताके कारण उसके भावोंमें विषमता, जटिलता तथा संकीर्णताका प्रवेश हो जाता है। वह अपनेको भावोंकी चहारदीवारीसे घेरकर संकीर्ण 'स्व'को ही अपना वास्तव रूप समझने

लगता है। हृदयकी संकीर्णता ही बन्धन है। हृदयकी उदारता ही मुक्ति है। जो मनुष्य अपना और परायाके विवेचनके पचड़ेमें दिन काटता है वह खुले स्थानमें रहनेपर भी हृदयके कारागृहमें निवास करता है, परन्तु जिसका हृदय 'वसुधैव कुटुम्बकम्' मन्त्रकी उपासनासे शीतल तथा विशाल है, वह मनुष्य हृदयकी मुक्तिका आनन्द उठाता है। जिस प्रकार ज्ञान-योग प्राणिमात्रमें एक ही परमात्माकी झलक बतलाकर अद्वैतका उपदेश देता है, उसी प्रकार प्राणिमात्रमें रागात्मिका वृत्तिकी एकताका प्रतिपादन भावयोगकी चरम सीमा है। इस उदात्त भावयोगकी सिद्धि काव्यके द्वारा ही होती है।

जिस प्राणीकी हृत्तन्त्री दूसरेके आनन्दके अवलोकनसे स्वतः बजने लगती है, जिसका हृदय दीन तथा आर्तजनोंके करुण क्रन्दनसे झटिति पिघल उठता है, जो जगत्के प्राणिमात्रके साथ तादात्म्यका अनुभव कर उनके हर्षमें हृष्ट, विषादमें विषण्ण, हास्यमें प्रसन्न, क्रोधमें दीप्त, अनुरागमें अनुरक्त होनेकी कला जानता है वह मानव नहीं, महामानव है। जिसके हृदयको क्षुद्र स्वार्थकी भावना प्रेरित नहीं करती, प्रत्युत परोपकारके नामपर जिसका चित्त नाच उठता है, जिसके जीवनमें का 'स्व' 'पर'के रूपमें स्वतः परिणत होकर प्रबुद्ध हो गया है वह मानवताके चरम विकासपर पहुँच चुका है।

मनुष्योंको मानवताके इस उच्च स्तरपर पहुँचाना सच्ची कविताका मान्य प्रयोजन है। "कविता ही हृदयको प्रकृत दशामें लाती है और जगत्के बीच क्रमशः उसका अधिकाधिक प्रसार करती हुई उसे मनुष्यत्वकी उच्च-भूमिपर ले जाती है। भावयोगकी उच्च कक्षापर पहुँचे हुए मनुष्यका जगत्के साथ पूर्ण तादात्म्य हो जाता है, उसकी अलग भावसत्ता नहीं रह जाती, उसका हृदय विश्वहृदयसे एकाकार हो जाता है। उसकी अश्रुधारामें जगत्की अश्रुधाराका, उसके हास-विलासमें आनन्द-नृत्यका, उसके गर्जन-

सर्जनमें जगत्के गर्जन-तर्जनका आभास मिलता है[1]।" इस प्रसंगमें प्राचीन पद्यमें थोड़ा परिवर्तन कर हम भलीभांति कह सकते हैं—

अयं निजः परो वेति गणना शुष्कचेतसाम् ।
रसभावानुषक्तानां वसुधैव कुटुम्बकम् ॥

---

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्लः रसमीमांसा पृ० २५

५—काव्यकी 'वस्तु'

काव्य तथा नाटयमें किस प्रकारकी वस्तु आधारभूत मानी गई है, जिसके वर्णन या प्रदर्शनसे कवि अपनी अभीष्ट सिद्धिमें कृतकार्य होता है? इस प्रश्नकी मीमांसा करनेसे हमारे आलोचकोंकी समधिक उदार तथा उदात्त दृष्टिका पूर्ण परिचय मिलता है।

हमारे आद्य आलोचक भरतमुनिने नाटयकी उत्पत्तिके अवसरपर नाटयके स्वरूपकी समीक्षा करते हुए इस प्रश्नका विशद उत्तर प्रस्तुत किया है। नाटय सार्ववर्णिक पञ्चम वेद है जिसके अंगोंकी रचना त्रैवर्णिक वेदोंके विशिष्ट अंशोंसे ही की गई है। नाटयका पाठय ऋग्वेदसे संगृहीत किया गया है, गीति सामवेदसे, अभिनय यजुर्वेदसे तथा रस अथर्व-वेदसे। नाटयको 'सार्ववर्णिक' कहनेका यही तात्पर्य है कि इसका क्षेत्र नितान्त विस्तृत तथा व्यापक है, क्योंकि यह सब वर्णोंके लिये उपयोगी और उपादेय है। वेदत्रयीके समान इसका श्रवण स्त्री तथा शूद्र जातिके लिये निषिद्ध नहीं है। इस व्यापक तथा विस्तृत क्षेत्र सम्पन्न होनेके कारण ही, भरतमुनिने नाटयको 'सर्वशास्त्रार्थ[१] सम्पन्न', 'सर्वशिल्प प्रवर्तक',[२] 'नानाभावोपसम्पन्न''[३], 'नानावस्थान्तरात्मक',[४] 'लोकवृत्तानुकरण'',[५] 'सप्तद्वीपानुकरण'',[६] बतलाया है।

नाटयकी वस्तुके विषयमें भरतका मान्य मत है—

१–२. नाट्यशास्त्र १।१५
३–४. ,, वही १।११२
५. ,, वही १।११३
६. ,, वही १।१२०

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला ।
नासौ योगो न तत् कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते ॥
(नाट्यशास्त्र १।११७)

ऐसा कोई ज्ञान--उपादेय आत्मज्ञान आदि--नहीं है, न कोई शिल्प (माला, चित्र, पुस्त आदिकी रचना) है, न ऐसी कोई विद्या (दण्ड-नीति आदि) ही है, न वह कला (गीत, वाद्य, नृत्य आदि) है, न ऐसा कोई योग (योजना) है, और न कोई व्यापार (युद्ध, नियुद्ध आदि) ही है जो इस नाटयमें नहीं दिखलाई पड़ता ।

भामहका भी काव्य-वस्तुके विषयमें इसी प्रकारका सिद्धान्त है--

न स शब्दो न तद् वाच्यं न तच्छिल्पं न सा क्रिया ।
जायते यन्न काव्याङ्गम् अहो भारो महान् कवेः ।
(काव्यालंकार ५।३)

विश्वमें न कोई ऐसा शब्द है, न कोई अर्थ, न कोई शिल्प है, न कोई क्रिया जो काव्यका उपादेय अंग बनकर उसकी सहायता नहीं करता । कविका उत्तरदायित्व सचमुच महान् है, विपुल है ।

अग्निपुराण काव्यस्रष्टाको जगत्स्रष्टा प्रजापतिसे तुलनाकर उसके उदात्ततम स्थान तथा महनीय उत्तरदायित्वकी ओर संकेत कर रहा है--

अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ।

अपार काव्य संसारके बीचमें कवि ही एक प्रजापति है । उसे जैसा रुचता है वैसा ही वह इस विश्वकी रचना करता है ।

भारतीय आलोचकोंकी दृष्टि बड़ी उदार तथा प्रशस्त है । वे काव्य तथा नाटयमें किसी भी वस्तु या शिल्पका वर्जन करना नहीं चाहते । विश्वके प्रजापतिके समान ही हमारे काव्यके स्रष्टा कविका सम्माननीय

हमारा साहित्यिक किसी विशिष्ट वस्तुको ही अपनी रचनाका विषय नहीं बनाता, प्रत्युत वह मुक्तहस्तसे प्रत्येक विषयका, चाहे वह क्षुद्रसे भी क्षुद्रतम हो अथवा महान्से भी महत्तम हो, समान भावसे स्वागत करनेके लिये सदा तैयार रहता है। उसकी दृष्टिमें कोई भी वस्तु न तो गर्हणीय है और न हेय। समस्त वस्तु होती है उपादेय तथा उपयोगी। आलोचकोंका शास्त्रीय विवेचन तथा कवियोंका व्यावहारिक प्रदर्शन इसी सिद्धान्तको पुष्ट कर रहा है।

आनन्दवर्धनका कथन बड़ा ही युक्तिपूर्ण है—

वस्तु च सर्वमेव जगद्गतमवश्यं कस्यचिद् रसस्य चाङ्गत्वं प्रतिपद्यते। न तदस्ति वस्तु किञ्चित्, यन्न चित्तवृत्तिविशेषमुपजनयति। तदनुत्पादने वा कविविषयतैव तस्य न स्यात्।

जगत्‌की समस्त वस्तुएँ अवश्य ही किसी न किसी रसका अंग बनती है। जगत्‌में उस वस्तुका सर्वथा अभाव है जो कविके चित्तमें वृत्ति-विशेषको उत्पन्न नहीं करती, क्योंकि यदि वह वृत्तिविशेष उत्पन्न नहीं करती तो वह कविके लिये काव्य-विषय ही नहीं बन सकती। आशय है कि पदार्थकी पदार्थता यही है कि साक्षात्कार होनेपर वह कविके हृदयमें कोई विशिष्ट चित्तवृत्ति उत्पन्न करें। नहीं तो उसका होना और न होना एक समान ही है। इस युक्तिसे देखनेपर संसारकी प्रत्येक वस्तु कविकी वर्णनाका विषय बनती है और किसी न किसी रसका अंग बनती है। रसोपयोगी समग्र उपकरणोंका संग्रह कविके लिये आवश्यक होता है।

धनञ्जयकी दृष्टिमें काव्य-विषयकी इयत्ता नहीं है। कविकी भावनासे भावित होनेपर प्रत्येक वस्तु, चाहे वह क्षुद्र हो, रम्य हो, उदार हो, जुगुप्सित हो, रसत्वको प्राप्त कर लेती है। वस्तुके विषयमें ही यह तथ्य जागरूक नहीं होता, प्रत्युत अवस्तु—काल्पनिक वस्तु—भी काव्यका विषय बनकर रमणीयता तथा मनोज्ञता प्राप्त कर लेती है—

रम्यं जुगुप्सितमुदारमथापि नीचम्
उग्रं प्रसादि गहनं विकृतं च वस्तु।
यद् वाप्यवस्तु कविभावकभावनीयं
तन्नास्ति यन्न रसभावमुपैति लोके।

(दशरूपक, ४।८५)

संसारकी प्रत्येक वस्तु काव्यका विषय है। प्रत्येक पदार्थ रसका अंग है। उसके स्वरूपपर बिना दृष्टिपात किए ही कवि अपनी भावना-शक्तिसे उनमें ऐसी क्षमता उत्पन्न कर देता है कि वे विशुद्ध आनन्द प्रदान करने लगते हैं। वस्तुकी बात तो पृथक् रहे, अवस्तु—कल्पना प्रसूत अप्रसिद्ध अज्ञात वस्तु—भी वही चमत्कार उत्पन्न करती है। चाहिए इसके लिए जादूगरकी छड़ी। जादूगर जिस वस्तुके ऊपर अपनी मोहमयी छड़ी फेर देता है वही चीज उछलने-कूदने लगती है, चमत्कार पैदा कर देती है। कविकी भावना-शक्तिकी भी यही अलोकसामान्य महिमा है। शक्तिके क्षेत्रके भीतर आते ही पदार्थमें जीवनी-शक्ति आ जाती है, आनन्द उत्पादन करनेमें विचित्र क्षमता उन्हें प्राप्त हो जाती है। कविके लिये विषयकी अवधि नहीं। इसीलिए भामह आश्चर्य भरे शब्दोंमें कविकर्मकी महिमा उद्घोषित करते हैं—**अहो भारो महान् कवेः**।

धनञ्जयका यह कथन बड़ा ही सरगर्भित है। वस्तुकी बात दूर रहे; जो अवस्तु भी है—कल्पनाजगत्में ही जिसका अस्तित्व विद्यमान रहता है—वह भी कविकी प्रतिभाके बलपर काव्यका विषय बन जाती है और आनन्द उत्पन्न कर है।

नैषधचरितमें श्रीहर्षकी इस सुन्दर उक्तिकी परीक्षा कीजिए—

अस्य क्षोणिपतेः परार्ध्यपरया लक्षीकृताः संख्यया
प्रज्ञाचक्षुरवेक्ष्यमाणतिमिरप्रख्याः किलाकीर्तयः।

गीयन्ते स्वरमष्टमं कलयता जातेन वन्ध्योदरान्—
मूकानां प्रकरेण कूर्मरमणीदुग्धोदधे रोधसि ॥
(नैषधीय चरित १२।१०६)

इस राजाकी अकीर्ति परार्ध्यसे ऊपरवाली संख्यासे गिनी गई है तथा प्रज्ञाचक्षु (अन्धों)के द्वारा दृश्यमान अन्धकारके समान श्यामवर्णकी है। कछुएकी स्त्रीके दूधवाले समुद्रके किनारे बैठकर बांझके पेटसे पैदा होनेवाले गूंगोंका समुदाय अष्टमस्वरमें इन अकीर्तियोंका गान करता है ! ! ! इस पद्यमें अवस्तु, अर्थात् कल्पित वस्तुओंकी दीर्घ परम्पराका परस्पर सम्बन्ध उत्पन्न कर कवि श्रोताओंके हृदयको आनन्दरसमें लीन कर रहा है। परार्ध्यसे ऊपरकी संख्या, प्रज्ञाचक्षुके द्वारा दर्शन, अष्टम स्वर, वन्ध्याका पुत्र, मूकका गायन, कूर्मरमणीका दुग्ध—समस्त वस्तुएँ कविकी कमनीय कल्पनासे प्रसूत हैं; वास्तवजगत्में इनकी सत्ता विद्यमान न होनेपर कविकी भावनासे भावित होते ही उनमें अलौकिक आनन्द उत्पन्न करनेकी योग्यता उत्पन्न हो गई है। 'योग्यता'की कमीके कारण यह पद्य 'वाक्य' नहीं हो सकता, तथापि यह काव्य है और सुन्दर काव्य है। अतः विश्वनाथ कविराजका यह आग्रह कि रसात्मक वाक्य ही काव्य होता है अनेक आलोचकोंकी दृष्टिमें निराधार तथा प्रमाणविहीन लक्षण है, कोरी निःसार हठ-धर्मिता ही है[1]।

---

१. कविकर्णपूर—अलंकार कौस्तुभ पृ० ८। 'कूर्मलोमपटच्छन्नः' इतिपद्ये वाक्यत्वाभावेऽपि काव्यत्वदर्शनात्।

पश्चिमी मत

काव्यवस्तुके विषयमें भारतीय आलोचकोंकी ही यह विचारधारा नहीं है, प्रत्युत पाश्चात्य कवि और आलोचक भी अपने अनुभव तथा तर्कसे इसी मतका पोषण करते हैं। महाकवि शेक्सपिअरकी प्रसिद्ध सूक्ति है--

The poet's eyes, in a fine frenzy rolling,
Doth glance from heaven to earth,
from earth to heaven;
And as imagination bodies forth
The forms of things unknown, poet's pen
Turns them to shape,
and gives to airy nothing
A local habitation and a name.[१]

कविकी सुन्दर चक्षु उन्मादनासे बन, घूर्णित
कटाक्षसे देखती है स्वर्गसे भूतल,
और भूतलसे स्वर्ग,
और जब कल्पना स्फुरित होती है,
तब अज्ञात वस्तुराशिके रूपको
कविकी लेखनी गढ़ती है उनकी मूर्ति,
शून्य तुच्छ वस्तुको देती है वासस्थान और नाम।

---

१ Mid-summer Night's Dream, Act V. sc. I, 12—17.

महाकवि शेलीने अपने काव्य-विषयक प्रबन्धमें स्पष्टतः लिखा है—

Poetry turns all things to loveliness, it exalts the beauty of that which is most beautiful, and it adds beauty to that which most deformed.

—A Defence of Poetry

आशय है कि कविता सब वस्तुओंको सौन्दर्यसे मण्डित बना देती है। जो स्वयं सुन्दर होता है उसे सौन्दर्यको बढ़ा देती है और जो वस्तु अत्यन्त कुत्सित होती है, उसके साथ सौन्दर्यका योग कर देती है।

लेहण्टने कविताविषयक निबन्धके आरम्भमें ही कहा है कि इस भुवनमें जो कुछ भी है, वह सब काव्यका उपादान बनता है—

Its means are whatever the universe contains.

What is Poetry.

तत्त्ववेत्ता शोपेन हावरकी समीक्षा इसी सिद्धान्तको पुष्ट करती है। उनका कथन है कि इस संसारमें ऐसे पदार्थोंका अभाव है जो स्वयं विशिष्ट भावसे सुन्दर हों; परन्तु यदि हम लोग उपयुक्त प्रतिभाके अधिकारी हों तो प्रत्येक वस्तुमें सौन्दर्यकी उपलब्धिकी योग्यता विद्यमान होती है—

There are not certain beautiful things, beautiful each in its own certain way, but that every thing in the world is capable of being found beautiful, perhaps in many diffrent ways, if only we have the necessary genius.[1]

---

१. Carrit: The Theory of Beauty P. 122 में उद्धृत

काव्य वस्तु और रवीन्द्रनाथ

कवीन्द्र रवीन्द्रनाथने इस विषयका बड़ा ही मार्मिक विवेचन अपने एक पत्रमें किया है। उनका कथन है कि साहित्यमें हम समग्र मनुष्यको पानेकी आशा रखते हैं, परन्तु सब समय समग्रको पाया नहीं जाता—उसका एक प्रतिनिधि ही पाया जा सकता है। परन्तु प्रतिनिधि किसे बनाया जा सकता है? जिसे समस्त मनुष्यके रूपमें स्वीकार करनेमें हमें कोई आपत्ति न हो। प्रेम, स्नेह, दया, घृणा, क्रोध, ईर्ष्या—ये सब हमारी मानसिक वृत्तियां हैं। ये यदि अवस्थाके अनुसार मानव-प्रकृतिके ऊपर एकच्छत्र आधिपत्य प्राप्त करें, तो इससे हमारी अवज्ञा या घृणाका उद्रेक नहीं होता। क्योंकि इन सबके ललाटपर राज्यचिह्न हैं—इनके मुखपर एक प्रकारकी दीप्ति प्रकट होती है।

काव्यमें वही वस्तु उपादेय मानी जा सकती है जो मनुष्यकी समग्र मानवताको प्रकट करनेकी क्षमता रखे। जो गुण केवल एकदेशीय होता है, जो मानवताकी सच्ची अभिव्यक्ति करनेवाला नहीं होता, वह व्यापक होनेपर भी काव्यमें उपादेय नहीं माना जा सकता। 'औदरिकता' (पेटूपन) को ही लीजिए। यह व्यापक गुण है; कथमपि असत्य नहीं है, परन्तु फिर भी काव्यमें इसे हम राजसिंहासनपर प्रतिष्ठित नहीं कर सकते। समग्र मनुष्यका प्रतिनिधि माननेमें हमें अत्यन्त आपत्ति है। रवीन्द्र-नाथके स्मरणीय शब्दोंमें[1] कोई वास्तविकताका प्रेमी पेटूपनको ही अपने उपन्यासका विषय बना ले और कैफियत देते समय कहे कि पेटूपन पृथ्वीका एक चिरन्तन सत्य है। इसलिये साहित्यमें वह क्यों नहीं स्थान पाएगा?

---

१. विश्वभारती पत्रिका, वर्ष ४ (सन् १९४५), पृ० २११–२१२।

तो इसके उत्तरमें हम यही कहेंगे कि **साहित्यमें हम सत्यको नहीं चाहते, मनुष्यको चाहते हैं।**······चाहे अपने दुःखके द्वारा हो, चाहे दूसरोंके; प्रकृतिका वर्णन करके ही हो या मनुष्यके चरित्रका चित्रण करके, जैसे भी हो मनुष्यको प्रकाशित करना ही होगा; बाकी सारी बातें उपलक्ष्य हैं।········केवल प्रकृतिका सौन्दर्य ही कविका वर्ण्य विषय नहीं है। प्रकृतिकी भीषणता और निष्ठुरता भी वर्णनीय है। किन्तु वह भी हमारे हृदयकी वस्तु है, प्रकृतिकी वस्तु नहीं। **अतएव ऐसा कोई वर्णन साहित्यमें स्थान नहीं पा सकता, जो सुन्दर न हो, शान्तिमय न हो, भीषण न हो, महत् न हो, जिसमें मानवधर्म न हो, अथवा जो अभ्यास या अन्य कारणसे मनुष्यके साथ निकट सम्पर्कमें बद्ध न हो।**

इस समीक्षासे स्पष्ट है कि कविता केवल कमनीय उद्यानके बीच तड़ागमें विकसित कमलकी सुषमाके वर्णनमें ही चरितार्थ नहीं होती, प्रत्युत उस श्यामरंग पंकको भी वह नहीं भूलती जिससे पंकजका जन्म होता है। वह समग्र मानवको अपनी कमनीय आभासे आलोकित कर प्रकट करनेका उद्योग करती है। कवि जानता है कि मानवता देवत्वसे भी बढ़कर अधिक स्पृहणीय गुण है। देवत्वमें जीवनके केवल एक सुभग पक्ष—सौख्यपक्ष—की ही उपलब्धि होती है, परन्तु मानवतामें सौख्यपक्ष तथा दुःखपक्ष उभय पक्षोंका सुभग चित्रण किया जाता है।

मानवजीवनकी सफलताका रहस्य है कर्मजीवनके बीच संघर्ष तथा तज्जन्य विजय। हमारे साहित्यमें इसीलिए कवियोंने जीवनके उभयपक्षोंकी अभिव्यक्ति की है, उपभोगपक्षकी तथा प्रयत्नपक्ष की। जो कवि केवल प्रेमके माधुर्यकी लीला गानेमें ही व्यस्त रहता है वह होता है उपभोगपक्षका कवि, परन्तु काव्यमें इतना ही श्लाघनीय नहीं है। उसकी रचनामें प्रयत्नपक्षकी लीला भी फूटनी चाहिये।

कवि वृद्धि तथा ह्रास, हर्ष तथा विषाद, उल्लास तथा अवसाद, उन्नति तथा अवनति—इन दोनोंके बीच उत्पन्न संघर्षके चित्रणमें भी अपनी कलाका विलास दिखलाता है। "लोकमें फैली हुई दुःखकी छायाको हटानेमें ब्रह्मकी आनन्दकला जो शक्तिमय रूप धारण करती है, उसकी भीषणतामें भी अद्भुत मनोहरता, कटुतामें भी अपूर्व मधुरता, प्रचण्डतामें भी गहरी आर्द्रता साथ लगी रहती है। विरुद्धोंका यही सामञ्जस्य कर्म-क्षेत्रका सौन्दर्य है। भीषणता और सरसता, कोमलता और कठोरता, कटुता और मधुरता, प्रचण्डता और मृदुताका सामञ्जस्य ही लोकधर्मका सौन्दर्य है[१]।" और इसी लोकधर्मका उद्घाटन कवि अपनी कवितामें शब्दोंके माध्यम द्वारा सम्पन्न करता है। इसीलिये कविके लिये काव्यमें सब पदार्थ उपादेय होते हैं। वह किसी भी पदार्थका वर्जन नहीं कर सकता। कविके लिये यह नियम सदा जागरूक रहता है।

---

१. शुक्लजी—चिन्तामणि (प्रथम भाग) पृ० २९४–९५।

(ख) विभाव-निर्माण

काव्यगत वस्तु विभावके रूपमें परिणत होकर ही रसके उन्मीलनमें कृतकार्य होती है। रसोन्मेषमें सफल होना ही काव्यवस्तुका वस्तुत्व है। इसके निमित्त कतिपय नियमोंका पालन कविके लिये नितान्त आवश्यक होता है। इतिवृत्त दो प्रकारके होते है। एक प्रकार तो वह है जो उस देशके इतिहास या पुराणमें प्रसिद्ध है और दूसरा प्रकार वह है जिसे कविकी उर्वर कल्पना-शक्ति स्वतः अपने बलपर उत्पन्न करती है। पहला प्रकार है ऐतिहासिक तथा पौराणिक वृत्त, **ख्यात वृत्त**; दूसरे प्रकारका नाम है **काल्पनिक वृत्त** या **उत्पाद्य वृत्त**। कवि अपने काव्यकी वस्तुरचनाके निमित्त उभय प्रकारके कथानकोंसे सामग्री एकत्र करता है तथा उन्हें संश्लिष्ट बनाकर कविताका निर्माण करता है।

कवि स्वतन्त्र होता है। अपनी प्रतिभाके बलपर निर्माण करनेमें स्वच्छन्द होता है, परन्तु इस विषयमें उसकी स्वच्छन्दताके नियमन करनेकी भी जरूरत रहती है, नहीं तो वह इतना विकृत वस्तु प्रस्तुत कर सकता है जिसे पाठक पहचान नहीं सकते। कविके स्वाच्छन्द्यके नियमनका प्रधान साधन है औचित्यबोध। उचित वस्तु ही काव्यमें निबद्ध की जा सकती है, अनुचित नहीं, क्योंकि औचित्यका रसोन्मीलनके साथ बड़ा ही गहरा सम्बन्ध है।

"औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्" (क्षेमेन्द्र)

रससे सिद्ध काव्यका स्थिर जीवन औचित्य ही है। बिना औचित्यके काव्यमें रसका उत्स नहीं फूटता—रसका समुचित संचार नहीं होता।

औचित्य विधान

इसीलिये कथामें औचित्यके ऊपर भरत, लोल्लट, यशोवर्मा तथा आनन्दवर्धनका समभावेन आग्रह है। लोल्लटका[1] तो इस विषयमें स्पष्ट कथन है कि रसवत् वस्तुका ही उपन्यास काव्यमें उचित होता है, रस-हीन वस्तुका नहीं। काव्यमें सरित्, समुद्र, प्रभात तथा चन्द्रोदय आदि वस्तुओंका वर्णन उसी सीमातक उचित माना जाता है जहांतक वे रसके विकासमें सहायक होते हैं, अन्यथा वे कविकी व्युत्पत्तिका ही सिक्का श्रोताओंके ऊपर जमानेमें समर्थ होते हैं।

आनन्दवर्धनका विवेचन तो विशेष विस्तृत तथा हृदयग्राही है। इति-वृत्तमें भावौचित्यकी सत्ता विशेष आवश्यक होती है। भावौचित्य आश्रित रहता है प्रकृत्यौचित्यपर। साहित्यमें प्रकृति मुख्यतया तीन प्रकारकी होती हैं——उत्तम, मध्यम तथा अधम अथवा दिव्य, मानुष्य तथा दिव्यादिव्य। इन तीनों प्रकृतियोंका कार्य, स्वभाव तथा प्रकर्ष भिन्न-भिन्न रहता है। औचित्यतत्त्वका आग्रह है कि कवि प्रत्येक प्रकृतिका निरूपण ठीक उसके स्वभावके अनुरूप करे। दिव्यप्रकृतिके लिये जो वर्णन स्वाभाविक तथा अनुरूप हों उनका निर्देश मानुष प्रकृतिके लिये कथमपि नहीं करना चाहिए। वह कवि अपनी कविमर्यादा का उल्लंघन करता है जो किसी भूपतिके ऐश्वर्यका उत्कर्ष दिखलाते समय उसे सात समुद्रोंके लांघ जानेकी घटनाका निवेश करता है——

केवल मानुषस्य राजादेर्वर्णने सप्तार्णवलङ्घनादिलक्षणा व्यापारा उपनि-निबन्धमाना सौष्ठवभृतोऽपि नीरसा एव नियमेन भवन्ति। तत्र अनौचित्यमेव हेतुः——ध्वन्यालोक ३।१० (वृत्ति), पृ० १४५

---

१. अस्तु नाम निःसीमा अर्थसार्थः। किन्तु रसवत एव निबन्धो युक्तः, न तु नीरसस्य इति आपराजितिः (भट्टलोल्लटः)।

काव्यमीमांसा पृ० ४५

राजा कितना भी महिमाशाली क्यों न हो! कितना भी उत्कर्षसम्पन्न क्यों न हो, मनुष्य होनेके नाते उसके बलवर्णनकी एक निर्धारित सीमा है। उसके लिये सात समुद्रोंके लांघनेका व्यापार सुन्दर होनेपर भी अनुचित होता है। ऐसा वर्णन करनेवाला कवि कविताके साथ मजाक करता है। अनुचित वृत्तका निवेश काव्यकलाके महनीय आदर्शके साथ खेलवाड़ करना ही है।

अभिनवगुप्तने इस स्थलकी व्याख्या करते समय अपना सिद्धान्त बड़े संक्षेपमें दिया है—

यत्र विनेयानां प्रतीतिखण्डना न जायते तादृग् वर्णनीयम् ॥

वस्तु उसी रूपमें वर्णन करनी चाहिए जिससे दर्शक तथा पाठकोंके चित्तमें प्रतीति खण्डित न हो। बाह्य वस्तुका काव्यमें सत्यरूपसे उपन्यास होनेपर ही सामाजिकको उससे साक्षात् रसबोध होता है। यदि असत्य रूपसे उसका विन्यास किया जाता है तो अभीष्ट फलका उदय कथमपि नहीं हो सकता। चतुर्वर्गकी प्राप्तिके निमित्त काव्य जागरूक रहता है, परन्तु किसी मानव राजाके सप्ताणंव-लंघनकी झूठी कथा सुनकर सामाजिक समग्र वर्णनसे ही अपना विश्वास उठा लेता है[1]। इसीलिये आनन्दवर्धनने औचित्यको काव्यशास्त्रका उपनिषत् बतलाया है—

अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम्।
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा ॥

—ध्वन्यालोक पृ० १४५

जिस प्रकार उपनिषत् विद्याके अनुशीलनसे ब्रह्मकी सद्यःस्फूर्ति होती है, उसी प्रकार औचित्यके अनुशीलनसे ब्रह्मास्वाद सहोदर रसका

१. तत्र केवलमानुषस्य एकपदे सप्तार्णवलङ्घनम् असम्भाव्यतयाऽनृतमिति हृदये स्फुरद् उपदेश्यस्य चतुर्वर्गोपायस्यापि अलीकतां बुद्धौ निवेशयति —लोचन पृ० १४५

साक्षात् उन्मीलन होता है। अन्तमें आनन्दवर्धनने जोर देकर कहा है कि कविको विशेष रूपसे विभावादिकोंके अनौचित्यके परिहार करनेमें यत्नवान् होना चाहिए। बिना इस औचित्यकी रक्षाके रसोन्मेष नितान्त दुःसाध्य व्यापार है। कवि इतिहास-सम्बन्धिनी कथाओंमें, अत्यन्त रसवती होनेपर भी उन्हींका ग्रहण करे जो विभावादि-औचित्यसे मण्डित हों। वृत्तकथाकी अपेक्षा उत्पाद्यकथाके विषयमें उसे और भी अधिक सावधान होनेकी जरूरत होती है—

कथाशरीरमुत्पाद्य वस्तु कार्यं यथातथा।
यथा रसमयं सर्वमेव तत् प्रतिभासते॥

—ध्वन्यालोक पृ० १४७

उत्पाद्यवस्तुवाली कथाका निवेश इस प्रकारसे होना चाहिए कि समस्त वस्तु सामाजिकको रससम्पन्न प्रतिभासित होने लगे। और इसका प्रधान उपाय है विभावादिके औचित्यका सम्यक् अनुसरण।

पाश्चात्य आलोचकोंका इस विषयमें भिन्न मत नहीं है। भारतीय आलोचकोंके समान औचित्यका सिद्धान्त पश्चिमी लेखकोंके यहां भी माननीय काव्यतत्त्व है। औचित्य कलाका नितान्त स्पृहणीय सिद्धान्त है।

अरस्तूके इस विषयमें कथन इस मतके स्पष्ट पोषक हैं। उनकी उक्ति है—

the poet should prefer probable impossibilities to improbable possibilities[1]

काव्यमे कविके लिये उचित है कि वह असम्भव घटनीय वस्तुकी अपेक्षा सुसम्भव अघटनीय वस्तुका निर्वाचन करे।

---

१ Aristotle: Poetics, XXIV. 10.

उनका अन्यत्र कथन है—

Within the action there must be nothing irrational.[1]

अर्थात् घटनाके भीतर ऐसी कोई वस्तु न होनी चाहिए जो युक्ति या प्रतीतिके अगोचर हो। इससे स्पष्ट है कि उनका आग्रह औचित्य-सम्पन्न घटनाके ऊपर ही है।

---

१ Aristotle : Poetics, XV. 7.

*

(ग) सिद्धरस-कथावस्तु

'सिद्धरस' कथावस्तुके विषयमें कविको विशेष रूपसे सावधान होनेकी आवश्यकता रहती है। रामायण, महाभारत आदिसे कथानकका ग्रहण कर हमारे कवियोंने महाकाव्यों और नाटकोंका निर्माण किया है। इन कथानकोंके प्रति कविकी दृष्टि कैसी होनी चाहिए? इसका सुन्दर विवेचन आनन्दवर्धनने इस 'परिकर श्लोक' में किया है—

सन्ति सिद्धरसप्रख्या ये च रामायणादयः।
कथाश्रया न तैर्योज्या स्वेच्छारसविरोधिनी॥

ध्वन्यालोक, पृ० १४८

तात्पर्य है कि रामायण आदि काव्यकथाके आश्रयभूत इतिहास 'सिद्धरस'के नामसे विख्यात हैं। कविको उनके अर्थके साथ रसविरोधी अपनी इच्छा या कल्पनाका योग कभी नहीं करना चाहिए।

सिद्धरस

'सिद्धरस'का अर्थ अभिनवगुप्तकी व्याख्यासे स्पष्ट झलकता है—

सिद्ध आस्वादमात्रशेषः, न तु भावनीयो रसो येषु

—लोचन, पृ० १४८

जिनमें रसकी भावना नहीं करनी पड़ती, बल्कि रस केवल आस्वादके रूपमें ही परिणत हो गया है वह काव्य 'सिद्धरस' कहलाता है। जैसे रामायण आदि।

रामायण हमारा जातीय काव्य है और रामचन्द्र हमारे मर्यादापुरुषोत्तम आदर्श पुरुष हैं। उनका कथानक भारतवर्षकी आबालवृद्ध जनताके

गलेका हार है। श्रीरामचन्द्रका नाम सुनते ही प्रजावत्सल नरपति, आज्ञापारायण पुत्र, स्नेही भ्राता, विपद्ग्रस्त मित्रोंके सहायक बन्धुका कमनीय चित्र हमारे मानसपटलके ऊपर अंकित हो जाता है। जनकनन्दिनी जानकीका नाम ज्योंही हमारे श्रवणोंको रससिक्त बनाता है, त्योंही हमारे लोचनोंके सामने अलोकसामान्य पातिव्रतकी मञ्जुल मूर्ति झूलने लगती है। उनके कथानकमात्रसे ही हमारा हृदय आनन्दविभोर हो उठता है। उनसे आनन्दकी स्फूर्ति होनेके लिये क्या रामके आदर्श चरित्रके अनुशीलनकी आवश्यकता होती है? हमारा हृदय रामकथासे इतना स्निग्ध, रससिक्त तथा घुल-मिल गया है कि हमारे लिये राम और जानकी किसी अतीतयुगकी स्मृति न रहकर वर्तमान कालके जीवन्त प्राणीके रूपमें परिणत हो गए हैं। इसीलिये रामायणको 'सिद्धरस' काव्य कहा गया है।

ऐसे काव्योंके आख्यानोंके प्रति कविको नितान्त जागरूक रहना चाहिए। उनकी अबाध कल्पना-शक्ति इन कथानकोंके साथ स्वच्छन्दताका व्यवहार नहीं कर सकती--मनमानी छेड़खानी करनेकी यह जगह नहीं है। यह तो प्रतिष्ठित परम्पराके अनुशीलनका मार्मिक स्थान है। वे हमारे मनोमन्दिरमें प्रतिष्ठित देवता हैं। उनका अंग-प्रत्यंग भारतीय संस्कृतिका सन्देशवाहक है। कितना भी प्रतिभाशाली कवि क्यों न हो, उसका इस देवताके अंगभंग करनेका अधिकार नहीं है। वह अपने काव्य-कुसुमसे इस मूर्तिकी अर्चना करनेका ही अधिकारी है, अपनी कल्पनासे छिन्न-भिन्न करनेका दायी नहीं है। ऐसा विद्रूप करनेवाला कवि कथमपि महनीय नहीं माना जा सकता। रामायण-कथापर काव्य तथा नाटक लिखनेवाले प्राचीन संस्कृत कवियोंने कहीं भी रसविरोधिनी कल्पनाका आश्रय नहीं किया है। वे राम-सीताके चरित्र-चित्रणके अवसरपर बड़े सावधान रहे हैं।

धनञ्जयके उल्लेखानुसार प्राचीन नियम यह है--

> यत् स्यादनुचितं वस्तु नायकस्य रसस्य वा ।
> विरुद्धं तत् परित्यज्यमन्यथा वा प्रकल्पयेत् ।।
>
> —दशरूपक ३।२४

जो वस्तु नायकके नायकत्वकी दृष्टिमे अनुचित हो या रसविरुद्ध हो उसे सर्वथा छोड़ देना चाहिए अथवा उसका परिवर्तन कर देना, चाहिए। इस नियमके अनुसार कवि मायुराजने अपने 'उदात्त-राघव' नाटकमें बालिवधका वृत्तान्त सर्वथा छोड़ दिया है। भवभूतिने 'वीरचरित' नाटकमें बालिको रावणके सहायक रूपमें चित्रित किया है। बालि रावणकी सहायता करनेके लिये रामसे लड़ने आया था। अतः रामने उसका वध किया और यही घटना इस प्रकार रामचरित्रके लिये दूषण न बनकर भूषण बन गई है। 'मेघनादवध'के रचयिता कवि मधुसूदन दत्तने मेघनादको विशेष चटकीले रंगमें चित्रित करनेका उद्योग किया है। उन्होंने राम और लक्ष्मणको किञ्चित् दुर्बल अंकित अवश्य किया है, परन्तु फिर भी वे इन महापुरुषोंको महापुरुषत्वके गुणोंसे वर्जित बनानेका साहस नहीं कर सके। जानकीका चरित्र नितान्त उज्ज्वल तथा मनोज्ञ चित्रित किया गया है। 'सिद्धरस' कथाओंके प्रति यही भावना सर्वदा कविजनोंको स्वीकृत करनी होगी।

सिद्धरस—ब्रैडले

इस विषयमें ब्रैडलेने जो विवेचना की है वह हमारे पूर्वोक्त कथनका भाष्यभूत है। उनकी उक्ति बड़ी समीचीन है—

If an artist alters a reality (e.g. a well-known scene or historical character) so much that his product clashes violently with our familiar ideas, he may be making a mistake; not

because his product is untrue to the reality (this by itself is perfectly irralevant) but because the 'untruth' may make it difficult or impossible for others to appreciate his product, or because this product may be aesthetically inferior to the reality even as it exists in the general imagination[१].

तात्पर्य यह है कि जो कवि किसी प्रसिद्ध दृश्य या ऐतिहासिक चरितका इतना परिवर्तन करता है कि वह हमारी परिचित भावना तथा विचारसे संघर्ष उत्पन्न कर दे, तो वह बड़ी भूल कर रहा है। असत्यसे मण्डित होना ही उसका विशेष दोष है। इसका कारण यही है कि वे उसकी कृतिसे रसास्वाद नहीं कर सकते। अथवा वह रचना कलात्मक रूपसे भी उस सत्यसे बहुत ही न्यून है जो जन साधारणकी कल्पनामें निवास करता है।

कहना न होगा कि यहां पाश्चात्य विचारक ब्रेडले आनन्दवर्धनके पूर्व निर्दिष्ट सिद्धान्तकी कमनीय व्याख्या कर रहे हैं।

निष्कर्ष

इस प्रकार औचित्यकी कसौटीपर कथावस्तुको कसना आलोचनाकी दृष्टिसे एक बड़ा ही कमनीय सिद्धान्त है। काव्यनिर्माणकी यथार्थता औचित्य-निर्वाहके ऊपरही आश्रित रहती है। यह कवियोंकी प्रतिभाशक्तिका प्राण है, उसका अवरोधक तत्त्व नहीं है। यह सीमानिर्धारण अवश्य है, परन्तु यह सीमा ऐसी है जिसका उल्लङ्घन कविप्रतिभाकी लघुता,

---

१ Bradley : Oxford Lecturs on Poetry, Note B, p. 29.

हीनता तथा अचारुताका ही परिचायक है। रसवक्ता काव्यका सर्वस्व है और सामाजिकके हृदयमें प्रतीति उत्पन्न कर ही यह स्थिर हो सकती है। इसीलिये कविका धर्म है कि वह सामाजिककी रस-प्रतीतिका खण्डन कथमपि न होने दे। प्रतीतिबोध ही यथार्थताकी कसौटी है। वृत्त-वस्तुकी अपेक्षा उत्पाद्य वस्तुके विषयमें तो कविको नितान्त जागरूक होनेकी आवश्यकता है।

(घ) काव्य-सत्य

कविकी प्रतिभा-शक्तिके द्वारा निर्मित काव्यमें कितना सत्यका निवास रहता है? कवि वर्णित घटनाओंमें सत्य रहता है या पूरा अनृतका ही साम्राज्य विराजता है? इन प्रश्नोंने प्राचीनकालसे भारत तथा युरोपमें आलोचकोंकी दृष्टि आकृष्ट कर रखा है। प्लेटो स्वयं प्रतिभासम्पन्न लेखक तथा गूढ़ार्थदर्शी तत्त्वज्ञानी थे, परन्तु इसी सत्यके अभावके कारण उन्होंने अपने आदर्शराज्यसे कविजनोंका पूर्ण बहिष्कार कर दिया था। उनकी दृष्टिमें विश्वमें यदि कोई शाश्वत सत्य वस्तु है, तो वह है Idea (प्रत्यय)। इसी प्रत्ययकी प्रतिकृति है यह विश्व। संसार उसी नित्य अचिन्त्य प्रत्ययके आधारपर गढ़ा गया, उसीकी प्रतिकृति है। परन्तु कविजनोंका व्यवसाय क्या है? अपने काव्योंमें इस विश्वकी प्रतिकृतिका निर्माण। अतः कविगण सत्यभूत मूल विचारसे बहुत ही दूर हटकर रहते हैं। उनका वर्ण्य-विषय सत्यकी प्रतिकृतिकी प्रतिकृति-मात्र होता है। सुतरां वह मूल सत्यसे बहुत ही दूर है। इसीलिये तत्त्ववेत्ता प्लेटोकी दृष्टिमें अनृतके प्रचारक होनेके कारण कवियोंको किसी भी आदर्श रियासतमें स्थान नहीं मिलना चाहिए।

भारतवर्षमें भी कभी ऐसा ही मत प्रचलित था जिसकी प्रतिध्वनि 'काव्यालापांश्च वर्जयेत्' आदि स्मृति-वाक्योंमें आज भी उपलब्ध होती है। तो क्या सचमुच हमारे कविजन अपने काव्यों द्वारा लोगोंके बीच धोखाधड़ीका प्रचार करते हैं? झूठ झूठ ही है चाहे वह कवियोंके द्वारा प्रचारित हो अथवा सामान्यजनके द्वारा प्रसारित हो। ऐसी दशामें क्या काव्यकला हमारी उपेक्षा तथा अवहेलनाका भाजन नहीं है? काव्यगत सत्यकी तर्कदृष्टिसे गहरी छानबीन बड़ी जरूरी है।

इतिहास और काव्य

ऐतिहासिक वृत्तका आश्रय लेकर भी जो काव्य निर्मित होते हैं उनमें तथा विशुद्ध इतिहासमें क्या अन्तर होता है? इतिहासमें निबद्ध सत्य तथा काव्यमें उपलब्ध सत्य---ये दोनों क्या एक ही प्रकारके होते हैं? इस प्रश्नकी विशद मीमांसा आनन्दवर्धनने बड़ी मार्मिकताके साथ ध्वन्यालोकमें की है। उनका सिद्धान्त उन्हींके शब्दोंमें यह है---

> कविना प्रबन्धमुपनिबध्नता सर्वात्मना रसपरतन्त्रेण भवितव्यम्।
> तत्र इतिवृत्ते यदि रसाननुगुणां स्थितिं पश्येत्,
> तां भङ्क्त्वापि स्वतन्त्रतया रसानुगुणं कथान्तरम् उत्पादयेत्।
> नहि कवेः इतिवृत्तमात्रनिर्वाहेण किञ्चित् प्रयोजनम्।
> इतिहासाद् एव तत् सिद्धेः।
>
> —ध्वन्यालोक, ३।१४ वृत्ति, पृ० १४८

काव्यप्रबन्धकी रचना करते समय कविको सब प्रकारसे रसपरतन्त्र होना चाहिए। इस विषयमें यदि इतिवृत्तमें रसकी अनुकूल स्थिति नहीं दीख पड़े, तो उसे तोड़कर भी स्वतन्त्र रूपसे रसानुकूल अन्य कथाकी कल्पना करनी चाहिए। क्योंकि कविको इतिवृत्तके सम्पादनसे कुछ भी लाभ नहीं; उसकी सिद्धि तो इतिहाससे ही हो जाती है।

तथ्य और रस

काव्यमें असली बात है रस। काव्यकी पूरी सामग्री इसी रसके उद्बोधनके लिये प्रयुक्त की जाती है। सामग्रीकी सार्थकता है रसोद्बोधनकी क्षमता। यदि वह सिद्ध नहीं हो सका, तो काव्यकी सामग्री, चाहे वह कितनी सुसज्जित तथा सम्पन्न क्यों न हों, किसी भी कामकी

नहीं हो सकती। यदि काव्यमें रसका प्रकाश नहीं होता, तो वह कितना भी तथ्यपूर्ण क्यों न हो, वह इतिवृत्त-मात्र होगा, केवल इतिहास होगा। कविको अधिकार है कि वह इतिवृत्तको तोड़कर ऐसी कथाओंका संघटन करे जिसे रस-समुज्ज्वल होकर प्रकाशित हो। लोकमें इतिहासकी आराधना की जाती है तथ्य पानेके लिए और काव्यकी उपासना की जाती है रस पानेके लिये। तथ्य और रस एक वस्तु नहीं है। तथ्यसे रस उत्पन्न हो सकता है, परन्तु सब प्रकारके तथ्यसे नहीं। जिन घटनाओंमें सुसम्बद्धता तथा एकता नहीं है, रूपकी अखण्डता तथा भावकी उपयोगिता जिनके बीच स्पष्टतः भासित नहीं होती, इन घटनाओंमें 'तथ्य' हो सकता है, परन्तु वे काव्यवस्तु या विभाव नहीं बन सकती। विभावमें विद्यमान रहता है औचित्य, रसोत्पादनकी क्षमता और इसके लिये उसमें कतिपय मनोज्ञ गुणोंका रहना नियमतः आवश्यक होता है।

तथ्य और सत्य

इतिहासका लेखक घटनाचक्रोंके वर्णन करनेमें ही अपनी शक्तिका परिचय देता है। किसी कालविशेष अथवा देशविशेषमें होनेवाली घटनाओंको यथार्थ रूपसे अंकित कर देना ही उसका कार्य होता है। वह विशिष्ट आधारके ऊपर आश्रित होकर घटनाओंका विन्यास प्रस्तुत करता है। ऐसी दशामें बहुत सम्भव है कि इतिहासकी घटनाओंको चुनकर क्रमबद्ध कर देनेमें काव्यकी इतिकर्तव्यताकी पूर्ति हो जाती है। ऐसी दशामें घटनाओंका रूप विकृत न होकर प्राचीन रूपमें ही रहता है, परन्तु विशेषदशामें इतिहासकी घटनाओंमें एकता, शृंखला तथा कार्य-कारणका परस्पर सम्बन्ध खोजनेपर भी नहीं मिलता। ऐसी दशामें कवि अपनी प्रतिभाके बलसे ऐसे अंशोंका परिवर्तन कर उसे सचमुच रसपेशल बनानेका अधिकार रखता है।

इतिहास तथा काव्यके इस पार्थक्यको सम[illegible]
नाटककी ओर दृष्टिपात करना आवश्यक है। शकुन्तलाका आख्यान महाभारतमें उपलब्ध होता है। कालिदासने इस कथानकको वहींसे ग्रहणकर इसे कितना रोचक, हृदयंगम तथा रसस्निग्ध बना दिया है यह बात काव्य-मर्मज्ञोंके सामने विशेषतः प्रस्तुत करनेकी आवश्यकता नहीं है। महाभारतका कथानक नितान्त अरोचक, अनौचित्यपूर्ण तथा अविशिष्ट है। कालिदासकी अलोक-सामान्य शक्तिके बलपर वह एकदम भावपूर्ण, औचित्यपूर्ण तथा दिव्य सन्देशसम्पन्न बन गया है। महाभारतकी शकुन्तला एक प्रौढ़ा साधारण-गुणसम्पन्न, व्यक्तित्वविहीन सामान्य तापस कन्या है, परन्तु नाटककी शकुन्तला नितान्त आदर्शगुण-सम्पन्न, सौन्दर्यमण्डित, व्यक्तित्वसम्पन्न विशिष्ट बालिका है जो हमारी भारतलक्ष्मीकी प्रतीक है। दोनोंमें आकाश-पातालका अन्तर है। जिस प्रकार शिल्पकार मृत्तिकाको गढ़कर कमनीय मूर्ति बनाकर मन्दिरमें प्रतिष्ठित करता है उसी प्रकार कालिदासने सामान्य आख्यानसे अपनी शकुन्तलाको गढ़कर अपने सारस्वत मन्दिरमें उसे प्रतिष्ठित किया है। महाभारतके अतिस्थूल मृत्पिण्डको ग्रहणकर कालिदासने महाकालके मन्दिरमें एक शाश्वत सौन्दर्यप्र–तिमाको प्रतिष्ठित किया है। हमारे कहनेका तात्पर्य यही है कि विभाव अर्थात् भाव और रस वस्तुतः एक ही अभिन्न वस्तु है, किन्तु वस्तु और विभाव एक नहीं है। मिट्टी और प्रतिमाके बीचमें जो सम्बन्ध है उसी प्रकारका सम्बन्ध रहता है वस्तु तथा विभावमें, तथ्य तथा सत्यमें। रस और सौन्दर्य मिट्टीमें प्रत्यक्ष नहीं है, प्रतिमामें प्रत्यक्ष है। उसी प्रकार रस और सौन्दर्य वस्तुमें या तथ्यमें प्रत्यक्ष नहीं होता परन्तु वह प्रत्यक्ष रूपसे रहता है विभावमें तथा सत्यमें।

अरस्तूका मत

काव्य तथा इतिहासके पार्थक्यका यह एक प्रकार है। अन्य भेद भी दिखाए जा सकते हैं। इसे अरस्तूने लक्ष्यकर अपने आलोचना-ग्रन्थमें उल्लेख किया है—

The poet and the historian differ not by writing in verse or in prose......the true difference is that one relates what has happend, the other what may happen. Poetry is therefore a more philosophical and a higher thing than history; for poetry tends to express the universal, history the particular.

—Poetics IX. 2. 3.

अरस्तूके इस सुचिन्तित कथनका आशय है कि कवि तथा ऐतिहासिकका भेद केवल पद्य या गद्यमें लिखनेसे नहीं है। मुख्य अन्तर यही है कि इतिहास कहता है कि क्या हुआ है। काव्य कहता है कि क्या हो सकता है। काव्य इस प्रकार इतिहासकी अपेक्षा विशिष्ट विचारशील तथा उन्नततर वस्तु है क्योंकि काव्य प्रकाश करता है सार्वजनीनको, इतिहास प्रकाश करता है विशेष को।

अरस्तू तथा आनन्दवर्धन द्वारा निर्दिष्ट पार्थक्य प्रायः एक समान ही है। दोनोंकी दृष्टियोंमें कतिपय प्रभेद दीख पड़ता है। अरस्तूने सार्वजनीन तथा विशेषका निर्देश कर विभाव तथा वस्तुके पार्थक्यकी ओर दृष्टिपात किया है, उधर आनन्दवर्धनने रचनाके औचित्य तथा रसानुकूलतापर दृष्टिपात कर विभावकी नियामक शक्तिको सुप्रतिष्ठित किया है। महाकवि शेलीने जो पार्थक्य दिखलाया है वह दोनोंके गठनको लक्ष्य करता है—

There is a diffrence between a story and a poem, that a story is a catalogue of detached facts, which have no other connection than time, space, circumstances, cause and effect; the other is a creation of actions according to the unchangeable forms of human nature.

—A Defence of Poetry.

वस्तु होती है विच्छिन्न घटनाओंकी सूचीमात्र, जिनमें देश, काल, परिस्थिति, कार्य तथा कारण भावको छोड़कर अन्य कोई सम्बन्ध नहीं रहता। काव्य होता है मानवीय प्रकृतिके अपरिवर्तन रूपका अनुवर्तन करनेवाली घटनाओंकी सृष्टि। यह स्वभावगत पार्थक्य कविके अनुभवका फल है।

साहित्यमें विश्वजनीनता

वृत्त-घटना तथा सम्भावनीय घटना—इन दोनोंमें प्रथम प्रकारकी घटनाका अन्तर्भाव द्वितीय प्रकारकी घटनाके भीतर किया जा सकता है। प्रथम प्रकारकी घटना विशेषके ऊपर आश्रित रहती है; किसी कालविशेष या देशविशेषमें होनेवाली घटनाका निर्देश इतिहासका क्षेत्र है। **सम्भावनीय घटना** अर्थात् वह घटना जो सम्पन्न नहीं हुई है परन्तु स्थितिविशेषमें उत्पन्न हो सकती है, काव्यका क्षेत्र है। इसमें घटनाकी सार्वजनीनता लक्षित होती है। ऐतिहासिक किसी विशिष्ट घटनाके वर्णन करनेमें ही अपने कर्तव्यकी समाप्ति समझता है, परन्तु कविकी दृष्टि उसके ऊपर दैशिक तथा कालिक आवरणको भंगकर उसके अन्तस्तल तक पहुँच जाती है—व्यक्तिविशेषकी घटनाके भीतर जाति या समाजके रूपका साक्षात्कार करती है। उसकी प्रतिभासे घटना अपनी वैयक्तिकतासे

विरहित होकर सार्वजनीन रूपमें झलक उठती है। यही है कविका प्रधान लक्ष्य। कालिदासकी शकुन्तला किसी देश-विशेषकी विशिष्ट नायिका न होकर सब काल तथा सब देशके लिये सौन्दर्यकी प्रतिमा है। अभिज्ञान-शाकुन्तल नाटक प्रेम तथा धर्मके स्वार्थ तथा परमार्थके विषम संघर्षकी मञ्जुल कहानी है। मनुष्यका स्वार्थ तब तक उपहास तथा तिरस्कारका पात्र बनता है जबतक वह तपस्याकी अग्निमें सन्तप्त होकर खरे परमार्थके रूपमें नहीं चमक उठता। इसी स्वार्थ तथा परमार्थ, काम तथा प्रेम, नरक तथा स्वर्गके मंगलमय समन्वयकी कलात्मक अभिव्यक्ति है हमारे कविकुल गुरुकी अनुपम कृति शकुन्तला। इसी विश्वजनीन सृष्टिके नाते कालिदासीय प्रतिभाकी यह भव्य झांकी विश्वसाहित्यमें अपूर्व वस्तु है।

अनुकरण

कवि अपनी अनुभूतिको जिस शाब्दिक माध्यमके द्वारा सामाजिक तक पहुँचाता है तथा उसमें भी वही अनुभूति उसी मात्रामें उत्पन्न करनेका प्रयत्न करता है वही कविता है। कवि वस्तुको अपने काव्यमें विभावके रूपमें निबद्ध करता है। वस्तुका विभाव रूपमें ग्रहण ही 'अनुकरण' है—इसे ही अरस्तू अपने काव्यशास्त्रमें Memesis (मिमेसिस) या Imitation (इमिटेशन)के नामसे पुकारते हैं। अनुकरणको वस्तुका यथावत् प्रतिबिम्ब मानना निर्मूल भ्रान्ति है। वस्तु प्रथमतः कवि-चित्तमें प्रतिफलित होती है और कवि उस वस्तुके स्वानुभूत रूपको अपनी प्रतिभाके बलपर एक मनोहर आकृति प्रदान करता है। कविका चित्त जड़ दर्पण नहीं है कि उसमें प्रतिफलित प्रतिबिम्ब बिम्बका यथार्थ अनुकरण रहेगा। कवि एक चेतन अनुभवी जीव है जिसके चित्तमें प्रतिफलित वस्तु पुनः प्रकट किए जानेपर एक नवीन आकृति धारण करती है। फलतः अनुकरण नवीकरणका भिन्न पर्याय है। कवि वस्तुके अनुकरणके साथ ही साथ अपनी प्रतिभाके सहारे उसकी एक सजीव तथा रोचक प्रतिकृति काव्यमें प्रस्तुत कर देता है जिसमें नवीकरणकी झलक रहती है। वस्तुकी शब्दके द्वारा अभिव्यक्ति ही उसमें नवीनताका संचार कर देती है।

समग्र कला अनुकरणात्मक होती है परन्तु इस अनुकरणकी प्रक्रियामें नवीनकरणकी स्फूर्ति स्वतः उत्पन्न हो जाती है।

भरतमुनिने नाट्यका वैशिष्ट्य बतलाते समय नाट्यको 'लोकवृत्तानुकरण'[1] तथा 'सप्तद्वीपानुकरण' कहा है। नाट्यमें कवि लोक-

---

१ नानाभावोपसम्पन्नं नानावस्थान्तरात्मकम्।
लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन् मया कृतम्॥
—नाट्यशास्त्र १।११२

वृत्तका अनुकरण करता है। धनञ्जयके अनुसार नाटच अवस्थाका अनुकरण होता है (अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्—दशरूपक १।५)। अभिनवगुप्तने यहां 'अनुकरण' शब्दकी विशिष्ट व्याख्या की है। नाटकमें नट राम आदि पात्रोंकी चेष्टाओंका अनुकरण करता है। भरतने स्वयं बतलाया है कि जहां दूसरोंकी चेष्टाओंका अनुकरण किया जाता है वहां 'हास्य' उत्पन्न होता है[1]। अतः किसी पात्रके हूबहू अनुकरण करनेसे हास उत्पन्न होता है, नाटच नहीं। नट रामके हृदयस्थ शोक-भावका अनुकरण कर ही नहीं सकता। रामका शोक रामके हृदयकी वस्तु है। वह दूसरेके हृदयमें नहीं जा सकता। अतः नट रामके शोकका अनुकरण नहीं करता, प्रत्युत उसके अनुभावोंको रंगमंचपर दिखलाता है। परन्तु नटप्रदर्शित **अनुभाव सजातीय होते हैं, तत्सदृश नहीं होते।** नटके द्वारा अभिनीत अनुभाव रामगत शोकके वास्तव अनुभावोंके समान नहीं होते, प्रत्युत उन अनुभावोंके समानजातीय होते हैं:—

> नहि नटो रामसादृश्यं स्वात्मनः शोकं करोति।
> सर्वथैव तस्य तत्राभावात्। भावे वाननुकारत्वात्।
> न चान्यद् वस्त्वस्ति यच्छोकेन सदृशं स्यात्।
> अनुभावांस्तु करोति, किन्तु सजातीयत्वेन न तु तत्सादृश्यात्।
>
> —अभिनवभारती पृ० ३७

इस कथनसे स्पष्ट है कि अभिनवगुप्तकी सम्मतिमें अनुकरण किसी पदार्थका तात्त्विक सादृश्य-विधान नहीं होता, प्रत्युत उसमें नवीकरणकी भी कल्पना स्वयं उदित होती है।

---

१ परचेष्टानुकरणाद् हासः समुपजायते। —नाट्यशास्त्र ७।१६

भावमूर्तिका स्फुरण

अनुकरणके द्वारा वस्तुके बाह्य रूपका ही स्फुरण नहीं होता, बल्कि अन्तःस्थित भावमूर्तिका भी परिस्फुरण होता है। इसीलिये भरत नाट्यको लोकत्रयका 'भावानुकीर्तन' बतलाते हैं—

त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम् ॥

(ना० शा० १।१०७)

यह अनुकरण समस्त ललित कलाओंकी मूल भित्ति है। नाट्य ही अनुकरणका विलास नहीं है, प्रत्युत चित्र तथा नृत्य आदि अन्य कलाओंका भी यही मौलिक उपकरण है। चित्रकलाका रूप निर्देश 'शिल्परत्न'में इस प्रकार प्रदर्शित किया गया है—

जंगमा वा स्थावरा वा ये सन्ति भुवनत्रये।
तत् तत् स्वभावतस्तेषां करणं चित्रमुच्यते ॥

इस त्रिभुवनमें जितने स्थावर अथवा जंगम पदार्थ हैं उनके स्वभावका करण 'चित्र' कहलाता है। यहां 'करण' शब्द 'अनुकरण'का ही पर्यायवाची समझा जाना चाहिए। चित्रकार जब किसी पदार्थका अपनी तूलिकाके द्वारा रंगीन अंकन करता है तब वह उस पदार्थके बाह्य रूपतक ही अपनेको सीमित नहीं रखता, प्रत्युत उस पदार्थके अन्तस्तल तक प्रवेशकर उसमें रूपातीत प्राणप्रद धर्मका आविष्कार करता है। चित्रमें इन्हीं दोनों वस्तुओंका संमिश्रण अनुकरणके द्वारा व्यक्त किया जाता है। चित्रकार रंगोंके मिश्रणसे वस्तुके उस रूपको अंकित करता है जिसका साक्षात्कार वह अपने मानस नेत्रोंसे करता है। काव्यमें ध्वनि वाच्यसे भिन्न प्रतीयमान अर्थकी द्योतना कर चरितार्थ होती है। चित्रमें भी ठीक यही कार्य

सम्पन्न होता है। चित्रकार नाना रंगोंके मिश्रणसे चित्रित वस्तुके अन्तस्तल तथा भावकी अभिव्यक्ति करनेपर ही अपनी कलामें सिद्धहस्त कृती माना जाता है। कवि शब्दोंके योगसे अभीष्ट अर्थकी अभिव्यंजना करता है। चित्रकार रंगों तथा रेखाओंके योगसे अभिलषित भावकी अभिव्यंजना करता है। अतः चित्रकार अपने मानस पटलपर अंकित पदार्थके हूबहू चित्रणमें ही अपनी कलाका गौरव नहीं मानता, प्रत्युत वह अपनी प्रतिभाके सहारे उसमें नवीन भावभंगी, मनोरम रूप तथा आकर्षक भावकी अभिव्यक्ति कर अपने कार्यमें अलौकिक सिद्धि प्राप्त करता है। ऐसी दशामें चित्रकलामें 'अनुकरण' क्या नवीकरणका प्रतिनिधि नहीं है ?

अनुकरण—पश्चिमी मत

पाश्चात्य आलोचकोंके आद्य गुरु अरस्तूके काव्यशास्त्र सम्बन्धी मान्य ग्रन्थ में भी 'अनुकरण'का प्रयोग इसी तात्पर्यसे किया गया है। अरस्तू काव्यके समग्र भेदको modes of imitation अनुकरण-प्रकार मानते हैं। काव्यकलाका बीज अनुकरणात्मक होता है—यह सिद्धान्त अरस्तूसे भी पहिले ग्रीस देशमें प्रचलित था। अरस्तू कवि और चित्रकारको सृष्टिकार्यके निमित्त एक श्रेणीमें रखते हैं। चित्रकारके विषयमें वे स्पष्ट कहते हैं—

They, while reproducing the distinctive form of the original, make a likeness which is true to life and yet more beautiful.

चित्रकार मूलका विशिष्ट रूप अंकित कर ऐसे सादृश्यकी सृष्टि करते हैं जो जीवनके सम्बन्धमें सत्य होता है और पूर्वापेक्षा अधिक रमणीय होता है। कविका भी कार्य इसी श्रेणीमें आता है। वह भी शब्दके माध्यम द्वारा पूर्वापेक्षया रमणीयतर पदार्थकी सृष्टि करता है।

अनुकरणका अर्थ अरस्तूके मतमें स्पष्टतः 'आदर्श अंकन' या 'आदर्श चित्रण' ही प्रतीत होता है। उनका कथन है कि कवि अनुकरणकारीके रूपमें विख्यात है। वह अनुकरण करता है तीनमेंसे एक प्रकारका—(१) वस्तुसमूह जिस प्रकारसे था या वर्तमान है, (२) 'वस्तुसमूह जिस भावसे है' ऐसा कहा जाता है या सोचा जाता है, (३) अथवा वस्तु समूहका जो रूप होना उचित है—

The poet being an imitator......must of necessity imitate one of the three objects—

things as they were or are, things they are said or thought to be or **things as they ought to be.**

अरस्तूके टीकाकार डाक्टर बूचर (Dr. Butcher) ने अनुकरणका अर्थ निर्माण करना ही सिद्ध किया है अथवा किसी सच्चे भावके अनुसार वस्तुकी सृष्टि करना (creating according to a true idea)। इससे स्पष्ट है कि भारतीय आलोचकोंके द्वारा निर्दिष्ट अनुकरणका अर्थ अरस्तूको भी पूर्णतया मान्य है।

वाल्टर पेटर भी इस सिद्धान्तसे सहमति प्रकट करते हुए कहते हैं—

Literary art, that is, like all art which is in any way imitative or reproductive of fact, form or colour or incident is the representation of such fact as connected with soul of a specific personality, in its preferences, its volition and power.

आशय है कि जिस प्रकार अन्य शिल्प वस्तु, आकृति, रंग अथवा घटनाका किसी न किसी ढंगसे अनुकरण करते हैं या सृष्टि करते हैं, काव्य-कला भी वैसा ही करती है—वह ऐसी वस्तुका वर्णन करती है जो रुचि, इच्छा अथवा शक्तिके विषयमें किसी विशिष्ट व्यक्तिकी आत्मासे सम्बद्ध रहती है। इस उद्धरणसे स्पष्ट है कि वाल्टर पेटर अनुकरणको केवल यथार्थ सादृश्य नहीं मानते प्रत्युत उसमें स्रष्टाके व्यक्तित्वसे सम्बद्ध रुचि अथवा शक्तिके द्वारा नवीन सृष्टिका प्रतिनिधि मानते हैं।

क्रोचे भी इसी मतकी प्रकारान्तरसे पुष्टि करते हैं। प्रकृतिका आदर्श अंकन अथवा आदर्श भावाङ्गमय अनुकरण ही कला है—

Art is the idealisation or idealising imitation of Nature.

अतः भारतीय तथा पाश्चात्य आलोचक इस विषयमें एकमत हैं कि कलामें अनुकरण केवल निर्जीव तथा निराधार वस्तु नहीं है, प्रत्युत वह सजीव तथा उदात्त नवीकरण एवं सृष्टिका प्रतीक है।

६—काव्यपाक

काव्यकी रचना करना तो सामान्य परिश्रमसे ही साध्य हो सकता है परन्तु उस रचनामें सिद्धि प्राप्त करना अश्रान्त सन्तत अभ्यासका मंगलमय परिणाम होता है। काव्यनिर्माणमें सतत अभ्यासशाली सुकविके वाक्य परिपक्व हो जाते हैं—उनमें एक विशिष्ट प्रकारका सौष्ठव तथा सौन्दर्य उन्मीलित हो जाता है। संस्कृत आलोचकोंकी प्रवीण दृष्टि सुकविके महनीय काव्यकी समीक्षा कर एक असामान्य तत्त्वका उन्मेष करती है जिसका नाम है—काव्यपाक, काव्यकी परिपक्व अवस्था या सिद्ध दशा।

भिन्न दृष्टियाँ

काव्यमें यह 'पाक' तत्त्व क्या है? इस प्रश्नका उत्तर भिन्न-भिन्न आचार्योंने अपनी दृष्टिसे भिन्न-भिन्न रूपसे दिया है। काव्यके इस अन्तरंग तत्त्वकी महनीयता तथा महार्यता समस्त आलोचक मानते हैं, परन्तु उनकी व्याख्या एकरूपात्मक न होकर भिन्नात्मक ही की गई है—

(१) **मंगल**—आचार्य मंगल आलोचनाशास्त्रके इतिहासमें उतने प्रसिद्ध नहीं हैं, क्योंकि इनकी कोई भी रचना पूरी या अधूरी उपलब्ध नहीं हुई है। परन्तु अलंकार ग्रन्थोंमें निर्दिष्ट इनके मतसे पता चलता है कि ये विशिष्ट सिद्धान्तके प्रतिपादक प्रौढ़ आचार्य थे।

काव्यहेतुओंमें ये 'व्युत्पत्ति'को विशेष महत्त्व देते थे। व्युत्पत्तिवादी मंगलकी सम्मतिमें 'पाक' भी 'व्युत्पत्ति'का ही दूसरा अभिधान है। उनका कहना है कि 'पाक' सुबन्त तथा तिङन्त पदोंके सन्तत श्रवण करनेसे उत्पन्न ज्ञान है और इसीकी दूसरी संज्ञा व्युत्पत्ति है—

'कः पुनरयं पाक' इत्याचार्याः । परिणाम इति मङ्गलः । कः पुनरयं परिणामः इत्याचार्याः । सुपां तिङां च श्रवः यैषा व्युत्पत्तिः इति मङ्गलः ।

—काव्यमीमांसा, पृ० २०

परन्तु प्राचीन आलंकारिकोंको इस मतमें अरुचि है। उनका कथन है कि यह तो 'सौशब्द्य'—सुन्दर शब्दोंका विलास—कहलाता है, यह तो 'पाक' नहीं हुआ। आचार्य भामह तथा भोजराजने स्पष्ट शब्दोंमें सुप् तथा तिङकी व्युत्पत्तिको 'सौशब्द्य' तथा 'सुशब्दता'के नामसे अभिहित किया है। भामहकी उक्ति है—

सुपां तिङां च व्युत्पत्तिं वाचां वाञ्छन्त्यलंकृतिम् ।
तदेतदाहुः सौशब्द्यम् —१।१४

भोजराजके शब्दोंमें यह 'सुशब्दता' है—

व्युत्पत्तिः सुप्तिङां या तु
प्रोच्यते सा सुशब्दता ।

—सर० कण्ठा०

(२) आचार्याः—अतः इन आचार्योंकी सम्मतिमें पाकका लक्षण हुआ—'पदनिवेशनिष्कम्पता'—पदोंको विशिष्ट रूपसे चुनना तथा उनका उचित स्थानपर रखना जहांसे वे हिल-डुल नहीं सकें। इस लक्षणकी पुष्टिमें वे किसी प्राचीन आचार्यकी उक्ति भी उद्धृत करते हैं—

आवापोद्धरणे तावद्, यावद् दोलायते मनः ।
पदानां स्थापिते स्थैर्ये हन्त ! सिद्धा सरस्वती ॥

पदके रखनेमें जबतक चित्त दोलायमान रहता है, तबतक नये पदोंका निवेश होता है और प्राचीन पदोंको हटाया जा सकता है। परन्तु जब पदोंकी स्थिरता स्थापित हो जाती है, तब सरस्वती सिद्ध हो जाती है। कालिदास कामदेवकी महत्त्वकांक्षाके वर्णनावसरपर कह रहे हैं—

कुर्यां हरस्यापि पिनाकपाणे-
र्धैर्यच्युतिं के मम धन्विनोऽन्ये।

कामदेवकी उक्ति है—मैं अपने हाथमें पिनाक धारण करनेवाले, संसारका प्रलय करनेवाले हरके धैर्यको भी च्युत कर सकता हूं। मेरे सामने दूसरे धनुषधारियोंकी शक्ति क्या है? यहां 'पिनाकपाणि' प्रलयकारी रुद्रके एक विशिष्ट रूपका द्योतक है। कविने इस अर्थकी अभिव्यक्तिके लिये अनेक शब्दोंको हटाकर सार्थक तथा भावाभिव्यञ्जक होनेसे इस शब्दको चुन रखा है। इन आचार्योंकी सम्मतिमें काव्य-पाकका यह उत्कृष्ट निदर्शन है।

(३) वामनीयाः—आचार्य वामन तथा उनके भक्तोंको यह मत पसन्द नहीं है। उनकी युक्ति बड़ी सुन्दर है। पाकमें पदस्थैर्य होता है अवश्य, परन्तु पदस्थैर्यका नियामक क्या है? अनेक कवि लोग अपने आग्रहवश भी किसी पदको स्थानविशेषपर जमानेके पक्षपाती देखे गए हैं, अतः 'परिवृत्तिविमुखता'[१] ही 'स्थिरता'की प्रधान परिचायिका है। पदोंको स्थिर तभी कह सकते हैं जब उनका परिवर्तन पर्याय-शब्दोंके द्वारा कथमपि हो ही नहीं सकता। कवितामें पद इतनी चारुतासे चिपक गए होते हैं, कि उनका परिवर्तन कथमपि हो ही नहीं सकता। परिवर्तनपर आग्रह करनेपर सारा चमत्कार नष्ट हो जाता है—काव्यका पूरा सौन्दर्य बिगड़ जाता है। इसीलिये वामनीयों, वामनके अनुयायियोंकी, मान्य सम्मतिमें शब्दपाक तभी सम्पन्न होता है जब पद परिवृत्तिसहिष्णुताका परित्याग कर अपने स्थान तथा अपने स्वरूपसे कथमपि डिगनेका नाम नहीं लेते।

---

१ 'आग्रहपरिग्रहादपि पदस्थैर्यपर्यवसायः, तस्मात् पदानां परिवृत्ति-वैमुख्यं पाकः' इति वामनीयाः।

—का० मी०, पृ० २०

उनकी न स्थानच्युति हो सकती है और न रूपच्युति। स्थानतः और रूपतः—उभय प्रकारसे वे अपरिवर्तनशील होते हैं—

यत् पदानि त्यजन्त्येव परिवृत्तिसहिष्णुताम्।
तं शब्दन्यायनिष्णाताः शब्दपाकं प्रचक्षते॥

—वामन १।३।१५

(४) अवन्तिसुन्दरी—आचार्य वामनके इस मान्य मतका खण्डन कविराज राजशेखरकी विदुषी पत्नी अवन्तिसुन्दरीने बड़े आग्रहके साथ किया है। वे कहती हैं—इसे 'पाक' नहीं कह सकते यह तो कविकी अशक्ति है कि वह एक अर्थकी अभिव्यक्तिके लिये एक ही प्रकारके शब्दोंका प्रयोग कर सकता है। शक्तिशाली सुकवि तो एक ही अर्थकी द्योतनाके निमित्त अनेक परिपाकसम्पन्न पदोंका प्रयोग करता है—एक ही प्रकारके पदोंका प्रयोग कविकी अशक्तिका द्योतक होता है। अतः वामनका मत मान्य नहीं हो सकता[1]।

---

१ 'इयमशक्तिर्न पुनः पाकः' इत्यवन्तिसुन्दरी। यद् एकस्मिन् वस्तुनि महाकवीनामनेकोऽपि पाठः परिपाकवान् भवति। तस्माद् रसोचितशब्दार्थसूक्तिनिबन्धनः पाकः।

—का० मी० पृ० २०

'पाक' का लक्षण

अतः 'पाक' का लक्षण होना चाहिए—रसोचित–शब्दार्थसूक्ति-निबन्धनः पाकः अर्थात् रसके उन्मेषको प्रकट करनेवाले उचित शब्द तथा अर्थका सुन्दर निबन्धन पाक कहलाता है—

गुणालंकारीत्युक्तिशब्दार्थग्रथनक्रमः ।
स्वदते सुधियां येन वाक्यपाकः स मां प्रति ॥

विज्ञ सहृदयोंको काव्यमें गुण, अलंकार, रीति, उक्ति, शब्द तथा अर्थका समुचित गुम्फन ही आनन्ददायक होता है। इसी लिये मुझे तो यही वाक्यपाकका सुन्दर रूप प्रतीत होता है।

वक्ताके होनेपर भी, अर्थके होनेपर भी, शब्द तथा रसके होनेपर भी जिस वस्तुके अभावमें वाणी मधु नहीं चुलाती, कविवाक् आनन्द उत्पन्न नहीं करती, वही वस्तु है—काव्यपाक और यह तभी सम्भव है जब कवितामें समग्र आवश्यक अंगोंका, रस, रीति, गुण, अलंकार आदिका समुचित सुन्दर निवेश होता है—

सति वक्तरि सत्यर्थे शब्दे सति रसे सति ।
अस्ति तन्न विना येन परिस्रवति वाङ् मधु[1] ॥

इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि अवन्तिसुन्दरी (राजशेखर भी इस मतके समर्थक हैं) की सम्मतिमें काव्यपाक पदमात्र तक सीमित होनेवाला

---

१ वामनने प्राचीन अलंकारिकोंके इस श्लोकको वैदर्भी रीतिकी स्तुतिमें उद्धृत किया है (काव्यालंकारसूत्र १।२।११), परन्तु राजशेखरने इसे 'पाक' की प्रशंसामें निर्दिष्ट किया है।

—का० मी०, वही

पदार्थ नहीं है। वह एक व्यापक तत्त्व है जिसकी सिद्धि काव्यके समग्र अंगोंके जागरूक होनेपर ही होती है। इसका पता वामनके ग्रन्थसे भी लगता है। काव्यमें गुणवादी आलोचक वामनकी दृष्टिमें काव्यपाक तभी सम्पन्न होता है जब काव्यमें गुणोंकी स्फुटता तथा समग्रता विद्यमान होती है। गुणोंकी असमग्रता तथा अस्फुटताके अवसरपर काव्यपाक उन्मीलित नहीं होता--

गुणस्फुटत्वसाकल्ये काव्यपाकं प्रचक्षते। —३।२।१५

वामनकी सम्मतिमें वैदर्भी रीतिमें ही गुणोंकी समग्रता रहती है--समग्रगुणा वैदर्भी--अन्य रीतियोंमें कतिपय गुणोंका ही अवस्थान रहता है। इसीलिये वैदर्भी रीतिमें ही पूर्ण पाकका उन्मेष होता है--

वचसि ऽमधिगम्य स्यन्दते वाचकश्री-
र्वितथमवितथत्वं यत्र वस्तु प्रयाति।
उदयति हि स तादृक् क्वापि वैदर्भरीतौ
सहृदयहृदयानां रञ्जकः कोऽपि पाकः।

—काव्या० १।२।२१

काव्यमें जिसका आश्रय लेकर शब्दकी सम्पत्ति प्रवाहित होती है, जहां वितथ--नीरस-वस्तु सरसताको प्राप्त करती है, सहृदयोंके हृदयको रञ्जन करनेवाला ऐसा पाक कहीं वैदर्भी रीतिमें ही उदित हुआ करता है। इससे स्पष्ट है कि वामनकी दृष्टिमें 'पाक'का परिपाक वैदर्भी रीतिमें ही सम्पन्न होता है। अतः पाककी व्यापक कल्पनाका परिचय हमें वामनके ग्रन्थमें स्फुटरूपसे उपलब्ध होता है। पिछले आलंकारिकोंनें भी 'पाक'की अपने ग्रन्थोंमें व्याख्या की है।

पाक-प्रकार

अलंकार ग्रन्थोंमें पाकके अनेक प्रभेद उपलब्ध होते हैं। भ.महने दो प्रकारका पाक माना है--एक तो अहृद्य, और दूसरा है हृद्य। अहृद्य पाकको वे कपित्थपाकके नामसे पुकारते हैं[1], परन्तु हृद्य पाकके लिये कोई विशिष्ट नामकरण उपलब्ध नहीं होता। कपित्थपाकका आश्रय वह काव्य होता है जो हृदयको रञ्जित नहीं करता, जिसका भेदन करना (व्याख्या करना) अत्यन्त कठिन होता है और जो रसयुक्त होनेपर भी असुकुमार होता है। उदाहरणसे इसका स्वरूप स्फुटतर हो जाता है—

प्रजाजन-श्रेष्ठ-वरिष्ठभूभृत्-
शिरोर्चिताङ्घ्रेः पृथुकीर्तिधिष्ण्य।
अहिघ्नपद्मस्य जलारिधाम्नः
तवैव नान्यस्य सुतस्य वृत्तम्॥

—भामह ५।६३

कवि किसी राजासे उसके प्रतापी पुत्रकी कीर्तिका वर्णन कर रहा है—हे विपुल कीर्तिके भाजन राजन्! यह चरित तुम्हारे ही पुत्रका है—उस पुत्रका, जिसके चरण प्रजाजनों तथा श्रेष्ठ मान्य राजाओंके मस्तकसे पूजित हो रहे हैं, वृत्रासुर (अहि)को मारनेवाले इन्द्रकी श्रीके समान जिसकी लक्ष्मी है और जिसका तेज जलके शत्रु (अग्नि)के समान है। कीर्तिके वर्णन होनेपर भी इस पद्यमें पेशलताका अभाव है—इसमें न

---

१ अहृद्यमसुनिर्भेदं रसवत्त्वेऽप्यपेशलम्।
काव्यं कपित्थपाकं तत् केषांचित् सदृशं यथा॥

—भामह ५।६२

तो शब्दोंका प्रसाद है और न भावोंकी सरसता। इन्द्रके लिए 'अहिघ्न' तथा अग्निके लिये 'जलारि'का प्रयोग अप्रसादका स्पष्ट परिचायक है। भामहकी दृष्टिमें काव्यमें यह कपित्थपाक नितान्त निन्दनीय होता है।

वामनने पाकके दो प्रकार बतलाए हैं—(१) सहकारपाक और (२) वृन्ताकपाक। इनमें सहकारपाक गुणोंकी स्फुटताके अवसरपर होता है और काव्यमें श्लाघनीय माना जाता है। वृन्ताकपाकमें सुप् तिङ्, नाम तथा क्रियापदोंका संस्कारमात्र रहता है, अर्थका गुण नितान्त अस्फुट रहता है। इसी कारण यह पाक काव्यमें गर्हणीय माना जाता है—

गुणस्फुटत्वसाकल्ये काव्यपाकं प्रचक्षते।
चूतस्य परिणामेन स चायमुपमीयते॥
सुप्-तिङ्-संस्कारसारं यत् क्लिष्टवस्तुगुणं भवेत्।
काव्यं वृन्ताकपाकं स्याज्जुगुप्सन्ते जनास्ततः॥

—वामन ३।२।१५

राजशेखरने काव्यमीमांसाके पञ्चम अध्यायमें 'पाक' के ९ भेद माने हैं तथा उनका परस्पर पार्थक्य भी दिखलाया है। इन नवभेदोंको तीन प्रकारोंमें बांट सकते हैं—

अधम	मध्यम	उत्तम
पिचुमन्दपाक	बदरपाक	मृद्वीकापाक
वार्ताकपाक	तिन्तिडिकापाक	सहकारपाक
क्रमुकपाक	त्रपुसपाक	नारिकेलपाक

(१) आदि और अन्तमें दोनों जगह जो काव्य अस्वादु होता है वह कहलाता है—पिचुमन्दपाक।

(२) आदिमें अस्वादु हो, पर अन्तमें, परिपाकदशामें मध्यम हो, वह होता है बदरपाक।

(३) आदिमें अस्वादु, और अन्तमें स्वादु होनेवाला काव्य **मृद्वीकापाक** कहलाता है।

(४) आदिमें मध्यम और अन्तमें अस्वादु काव्य '**वार्ताकपाक**' माना जाता है।

(५) आरम्भमें भी मध्यम और परिणाममें भी मध्यम काव्य **तिन्तिडीक** पाक होता है।

(६) आरम्भमें मध्यम हो, पर अन्तमें स्वादु हो, वह काव्य **सहकारपाक** कहलाता है।

(७) **क्रमुक पाक** आदिमें उत्तम होता है और अन्तमें अस्वादु होता है।

(८) **त्रपुसपाक** आदिमें उत्तम होता है, पर अन्तमें मध्यम होता है।

(९) **नारिकेलपाक** आदि और अन्त दोनों जगह स्वादु होता है।

इन पाकोंमें अधमपाककी सर्वत्र निन्दा की जाती है। अधमपाकका अभ्यासी कुकवि कहलाता है। मर जाना अच्छा है, परन्तु बुरी कविता लिखना अच्छा नहीं—अकवितासे कुकविता गर्हणीय वस्तु होती है। मध्यमपाकवाले लेखकोंका संस्कार हो सकता है। उत्तम पाकवाले कविजन आदरके पात्र होते हैं और इन पाकोंमें अन्तिम तीन पाक नितान्त श्लाघनीय होते हैं। पिछले आलंकारिकोंने केवल दो पाकोंको स्वीकार किया है—**मृद्वीकापाक** (**द्राक्षापाक**) तथा **नारिकेलपाक** जिनमें द्राक्षापाकको शोभनतर माना है।

७—उक्ति

"उक्ति-विशेषः काव्यम्"

'उत्ति विसेसो कव्वं भासा जा होइ सा होउ'

—कर्पूरमञ्जरी

(उक्तिविशेष ही काव्य होता है। भाषा जो हो सो हो।)

आलोचकमूर्धन्य राजशेखरने इस सारगर्भित वाक्यमें काव्यस्वरूप-विषयक महत्त्वशाली सिद्धान्तकी अभिव्यञ्जना की है। विशिष्ट प्रकारकी उक्ति ही काव्य है। 'उक्ति'का अर्थ है कहनेका ढंग या प्रकार। 'उक्तिविशेष'का अर्थ है सामान्य कथन-प्रकारसे चढ़-बढ़कर कहनेका ढंग। काव्यमें सबसे महत्त्वपूर्ण वस्तु होती है कथनका यही प्रकार, वर्ण्य वस्तुका वैशिष्ट्य नहीं। कवि अपने काव्यके माध्यम द्वारा सत्य घटनाका वर्णन करता है या असत्यका? इस झमेलेसे आलोचक कभी नहीं उलझता। वह तो कथनके प्रकारकी ही सच्ची परख करता है। जिस ढंगसे कोई वस्तु काव्यमे कही गई है वह ढंग है कैसा? पामर-जन-श्लाघनीय है या मर्मज्ञजन-स्पृहणीय? वह हृदयके ऊपर प्रभाव जमाता है या चिकने घड़ेपर जलबूंदके समान पतनमें ही अपने जीवनकी समाप्ति करता है?

कविके लिये अपने काव्य-रत्नको दो गर्त्तोंमें गिरनेसे बचाना पड़ता है—प्रथम है ग्राम्य-दोष और दूसरा है अप्रतीत दोष। केवल जनसाधारणके द्वारा प्रयुक्त होनेके कारण अनेक शब्दों तथा विन्यासोंमें अतिपरिचित होनेसे अवज्ञाका उदय होता है—यह है ग्राम्य-दोष। 'कटिस्ते हरते मनः' कहनेवाला व्यक्ति कवि नहीं है, भांड़ है। उधर शास्त्रमात्रमें ही प्रयुक्त

होनेवाले शब्दोंसे—वैज्ञानिक तथा दार्शनिक ग्रन्थोंमें प्रयुज्यमान पारिभाषिक शब्दोंसे—भी काव्यको बचाना पड़ता है। ऐसा न हो तो काव्यके रसास्वादनकी तो कथा दूर रही, उसके अर्थका समझना भी पाठकोंके लिये टेढ़ी खीर बन जाता है। कवि दोनों प्रकारके—पामर-शब्द तथा पण्डित-शब्द—शब्दोंको अपनी कवितामें प्रयुक्त करता है, परन्तु उन्हें इस रूपमें प्रयुक्त करता है, उनके कहनेका ढंग इतना निराला रहता है कि वह वाक्य पाठकों या श्रोताओंके हृदयपर गहरी लकीर खींचे बिना नहीं रहता।

जवानीमें पैर रखनेवाली किसी सुन्दरीकी कमनीयतापर दृष्टिपात कीजिए—

स्मितं किञ्चिन्मुग्धं तरलमधुरो दृष्टिविभवः,
परिस्पन्दो वाचामभिनवविलासोक्तिसरसः।
गतानामारम्भः किसलयितलीलापरिमलः,
स्पृशन्त्यास्तारुण्यं किमिव हि न रम्यं मृगदृशः।

तरुणाईको छूनेवाली मृगनयनी की कौन-सी चीज सुन्दर नहीं होती? उसकी मुसकान किञ्चित् चिकनी होती है। दृष्टिका विभव तरल और मधुर होता है। वचनकी भंगी अभिनव विलासोक्तिसे रसमयी होती है। गमनका आरम्भ लीलाकी सुगन्धसे पल्लवित होता है। इस प्रकार उसकी कौन-सी वस्तु लावण्यका निकेतन नहीं होती? इस सरस पद्यमें चारुता किंजन्य है? सुन्दरीके शरीरमें इस प्रकारकी विशिष्टता जनमती है या नहीं? इस प्रश्नकी परीक्षाके पचड़ेमें आलोचक नहीं पड़ता। वह तो फड़क उठता है कविके कथन-प्रकारको ही देखकर। 'काव्यमें उक्तिका चमत्कार ही मुख्य होता है', यह भारतीय आलोचकोंका सर्वमान्य सिद्धान्त है।

ऋजु-प्रेमके उपासक घनानन्दका यह सवैया पढ़िए। कितने अनूठे ढंगसे बात कही गई है—

मग हेरत दीठी हेराय गई जब तें तुम आवनि-औधि वदी।
बरसौ कितहूं घन आनँद प्यारे, पै बाढ़ति है इत सोच-नदी॥
हियरा अति औटि उदेगकी आँचनि च्वावति आँसुन मैन मदी।
कब आइहौ औसर जानि सुजान बहीर लौं बैस तो जाति लदी।

आशय है कि हे सुजान, जबसे तुमने आनेकी अवधि बदी है तबसे आपकी राह हेरते-हेरते मेरी दृष्टि खो गई है। हे आनन्ददायक घन! आप किधर भी क्यों न बरसें, पर इधर ही सोचकी नदी बढ़ती है। चाहिए तो यह था कि मेघ जिधर बरसे उधर ही नदी उमड़े, परन्तु यहांकी दशा विचित्र है। आपके लिये मेरे हृदयमें सोच दिन-रात बढ़ता ही चला जा रहा है। हृदयको व्याकुलताकी आंचमें औटकर कामदेव आंसुओंके रूपमें मदिरा टपका रहा है। हे सुजान, उचित अवसर जानकर आप कब पधारेंगे? यहां मेरी उम्र तो सेनाके समान (बहीर लौं) ढलती जा रही है।

घनानन्दजीकी भावाभिव्यक्तिका कथन-प्रकार कितना अनूठा तथा रोचक है। यह पद्य सचमुच हमारे कविवरकी काव्य-कुशलताका पर्याप्त सूचक है। 'उक्तिविशेषः काव्यम्'—इस काव्यके सामान्य लक्षणका यह विशिष्ट दृष्टान्त है।

---

*

*

'उक्ति' सिद्धांतका विकाश

इस विषयकी समीक्षासे पता चलता है कि काव्यमें कथन-प्रकारको ही सर्वस्व माननेवाले प्रथम आलोचक हैं भट्टनायक जिन्होंने अपने नितान्त विश्रुत, परन्तु अद्यावधि अनुपलब्ध साहित्य-ग्रन्थ 'हृदयदर्पण' में इस मतकी स्पष्ट विवेचना की थी। उनका मत है कि शास्त्र शब्दकी प्रधानतापर आश्रित होकर प्रवृत्त होता है, आख्यान (इतिहासादि कथा प्रपंच) में अर्थ ही प्रधान तत्त्व रहता है परन्तु इन दोनों—शब्द तथा अर्थ—की अप्रधानता परन्तु व्यापारके प्राधान्य होनेपर 'काव्य'की संज्ञा प्राप्त होती है—

शब्दप्रधानमाश्रित्य तत्र शास्त्रं पृथग् विदुः।
अर्थतत्त्वेन युक्ते तु वदन्त्याख्यानमेतयोः।
द्वयोर्गुणत्वे व्यापारप्राधान्ये काव्यधीर्भवेत् ॥

इस कारण भट्टनायक आलोचना-जगत्में 'व्यापारवादी'के नामसे उल्लिखित किए जाते हैं। लोक, शास्त्र, दर्शन, धर्मशास्त्र—सर्वत्र हमारी दृष्टि वर्ण्यवस्तुकी ओर ही लगी रहती है कि जिसे हमें प्रकट करना है उसका प्रकाशन ठीक-ठीक शब्दोंके द्वारा हुआ या नहीं? हमारे अभिप्रायको लोग ठीक समझ लेंगे अथवा समझनेमें गलती करेंगे? परन्तु, काव्यमें इसका विचार हो जाता है अप्रधान, शब्द और अर्थ दोनों हो जाते हैं गौण, प्रधान लक्ष्य होता है वर्णनका प्रकार या कहनेका ढंग। इसीको साहित्य जगत्में कहते हैं भट्टनायकका विशिष्ट अभिधाव्यापार।

हमारे साहित्यके एक भुक्तभोगी कवि पश्चात्ताप कर रहे हैं कि जिन शब्दोंको हम लोग कहते हैं, जिन अर्थोंका उल्लेख हम करते हैं, विन्यासकी विशेषतासे सुन्दर होनेवाले इन्हीं शब्दों तथा अर्थोंसे कवि लोग संसारको मोहित कर देते हैं—

यानेव शब्दान् वयमालपामः
यानेव चार्थान् वयमुल्लिखामः ।
तैरेव विन्यासविशेषभव्यैः
संमोहयन्ते कवयो जगन्ति ॥

महाकवि नीलकण्ठ दीक्षितने इस पद्यमें बड़े पतेकी बात कही है—विन्यासविशेषभव्यैः । वे ही शब्द होते हैं, वे ही अर्थ होते हैं, परन्तु केवल विशिष्ट विन्यासरो—रखनेकी कलाबाजीसे-कवितामें आश्चर्यजनक मोहकता उत्पन्न हो जाती है ।

राजशेखर

आलोचकप्रवर राजशेखर भी इस सिद्धान्तके विशिष्ट पक्षपाती हैं । 'उक्ति' अनेक अलंकारोंमें विद्यमान रहती है—सहोक्ति, विशेषोक्ति, अतिशयोक्ति, वक्रोक्ति आदि । इन अलंकारोंके अनुशीलनसे स्पष्टतः प्रतीत होता है कि भारतीय आलोचनाके प्रभात कालसे ही 'उक्ति'का तथ्य आलोचकोंको मान्य था । उक्ति स्वतः काव्यकी प्राणशक्ति है, जिसमें आंशिक विलक्षणताके कारण पूर्वोक्त नाना अलंकारोंका उदय होता है । उक्ति काव्य-सामान्यकी प्रतिपादिका है तथा विशेषणविशिष्ट उक्ति काव्यके शोभाधायक भूषणोंकी जननी है । राजशेखरकी काव्य-मीमांसामें 'उक्ति'का यह मान्य तथ्य संगृहीत किया गया था । 'उक्तिगर्भ' नामक आचार्यने काव्यमीमांसामें उक्तिविषयक खण्डकी रचना की थी (औक्तिकमुक्तिगर्भः—काव्यमीमांसा, पृष्ठ १) । प्रतिभाके द्वारा कवि हृदयमें प्रतिभासित होनेवाले काव्यतत्त्वोंमें 'उक्तिमार्ग' अन्यतम है (...... उक्तिमार्गम् अधिहृदयं प्रतिभासयति या सा प्रतिभा, पृष्ठ ११) । 'उक्तिविशेषः काव्यम्'—कर्पूरमञ्जरीका यह वाक्य राजशेखर-रचित ही है ।

इतना ही नहीं, उन्होंने कवियोंमें उक्तिकवि नामक भेद स्वीकार किया है जिनकी विशिष्टता काव्यके कथन-प्रकारकी ही होती है। उक्ति-कविकी यह सूक्ति बड़ी ही मनोज्ञ तथा हृदयावर्जक है—

उदरमिदमनिन्द्यं माननीश्वासलाव्यं
स्तनतटपरिणाहो दोर्लतालेह्यसीमा।
स्फुरति च वदनेन्दुर्दृक्प्रणालीनिपेय-
स्तदिह सुदृशि कल्याः केलयो यौवनस्य॥

—काव्यमीमांसा, पृ० १८।

किसी चारुवदनी मयंकमुखीके यौवनावतारकी यह मधुर कहानी है। उसका अभिन्दनीय उदर मानिनीके सांस लेनेसे ही छिन्न हो जाने योग्य है। उसके स्तनोंके तटके परिमाणकी सीमा बाहुलताके द्वारा लेह्य है—चाटने लायक है। उसका चन्द्रमुख ऐसा झलकता है मानो नेत्रकी प्रणालीसे वह नितान्त पीने योग्य है। इस प्रकार उस हरिणनयनाके शरीरमें यौवनकी क्रीड़ाएं नित्य विकसित हो रही हैं। इस पद्यमें उक्तिकी रुचिरता सचमुच सहृदयरञ्जनी है!!! आलोचकोंके अनुसार 'समाधि-गुण'के कारण ही उक्तिमें मनोज्ञताका जन्म होता है। यह बात बहुत कुछ यथार्थ है। एक पदार्थके धर्मका अन्य पदार्थमें अध्यारोप करनेसे समाधि गुण उत्पन्न होता है—एक धर्मस्यान्यत्रारोपः समाधिः। इस पद्यमें भी लाव्य, लेह्य, निपेय आदि चेतन-पदार्थके धर्मोंका आरोप अचेतन पदार्थोंमें किया गया है। उक्तिकी विचित्रताका यही साहित्यिक विश्लेषण है।

राजशेखरकी विदुषी धर्मपत्नी अवन्तिसुन्दरी भी काव्यमें उक्तिकी प्रधानता मानती थी, इसका परिचय काव्यमीमांसासे ही चलता है (पृष्ठ ४६)। उनका कथन है कि वस्तुका स्वरूप स्वभावतः नियत नहीं रहता, प्रत्युत विदग्धजनकी कमनीय भणितिकी रचनासे ही वह उसमें उत्पन्न

किया जाता है। वस्तुमें स्वतः न तो दोष होता है और न गुण, यह गुण-दोषकी सारी करामात करती है कविकी उक्ति ही। 'गुणागुणौ उक्ति-वशेन काव्ये' यही मान्य सिद्धान्त है अवन्तिसुन्दरीका। स्तुतिके अवसरपर कवि चन्द्रमाको 'अमृतांशु'—अमृतके समान शीतल किरणवाला—कहता है और निन्दाके समय 'दोषाकर' कहता है। चन्द्रमा स्वतः एकरूप रहता है। कविकी उक्ति हीका सब चमत्कार है। वस्तु स्वयं एकाकार अभिन्न रहती है।

भोजराज

भोजराजकी सिद्धान्तप्रणालीमें भी काव्यका ग्रहण उक्तिरूपसे किया गया उपलब्ध होता है। प्राचीन आलंकारिकोंमें भोजराजकी काव्य-दृष्टि समन्वयात्मक थी; उन्होंने अनेक आपाततः विरुद्ध सिद्धान्तोंका भी अपने ढंगसे सुन्दर सामञ्जस्य प्रस्तुत किया था। उन्होंने उक्तिका अन्तर्भाव गुण तथा अलंकारके भीतर माना है। उक्ति शब्द-गुण भी होती है और अर्थ-गुण भी।

उक्ति—शब्दगुण

शब्दगुणात्मिका उक्तिका लक्षण है—विशिष्टा भणिति—विशिष्ट प्रकारका कथन—

विशिष्टा भणितिर्या स्याद् उक्तिं तां कवयो विदुः ॥

—सरस्वतीकण्ठाभरण—१-७६।

इस लक्षणमें भणिति पदके साथ 'विशिष्टा' विशेषण देनेका स्वारस्य भोजके टीकाकार रत्नेश्वरने बड़ी मार्मिकतासे समझाया है। लोकोत्तरा हि सन्ति भणितिप्रकाराः। लोकप्रसिद्धा यथा सुप्तोऽसीति प्रश्ने गृहे देवकुले वेति। एतत् प्रसिद्धिव्यतिक्रमेण तु या किंचित् कविप्रतिभया भणितिराकृष्यते सा भवति लोकोत्तरा। यथा च प्रतिभाकृष्टतया चमत्कारित्वाद् गुणत्वम् (सरस्वती० पृ० ७१ निर्णयसागर सं०)।

भणिति—कथन—के प्रकार लोकोत्तर होते हैं। लोकप्रसिद्ध कथन-प्रकारमें कोई चमत्कार नहीं रहता। लोकप्रसिद्ध ढंगका सर्वथा अति-क्रमण कर कवि-प्रतिभाके द्वारा जो भणिति निर्दिष्ट की जाती है वह होती है लोकोत्तर, अलौकिक। प्रतिभाके द्वारा आकृष्ट होनेके कारण चमत्कारी होनेसे 'उक्ति' गुणके अन्तर्गत मानी जाती है।

इस व्याख्याका सार यही है कि अलौकिक भणितिको उक्ति कहते हैं और वह काव्यका नितान्त सौन्दर्यसाधक उपाय है।

उदाहरणसे इसकी चारुताका परिचय मिल जायगा—

कुशलं तस्या जीवति, कुशलं पृच्छामि जीवतीत्युक्तम्।
पुनरपि तदेव कथयसि मृतां नु कथयामि या श्वसिति।

वियोगविधुरा सुन्दरीके विषयमें यह नितान्त रोचक कथनोपकथन है। प्रथम व्यक्तिने पूछा—कहिए उसकी कुशल है न?
द्वितीय व्यक्ति—हां, जीती तो वह अवश्य है।

प्रथम—मैं तो आपसे उसकी कुशल पूछ रहा हूं।

द्वितीय—मैंने तो आपसे कह ही दिया कि वह जीती है।

प्रथम—फिर भी आप वही कहते हैं!

द्वितीय—हां, जो सांस ले रही है उसे मैं क्या मृता कहूं?

नायिकाके प्राण विरहके कारण कण्ठगत हो रहे हैं; वह केवल सांसें भर रही है। इस दयनीय दशाका चित्रण 'जीवित' शब्दके द्वारा कवि कर रहा है। इस पद्यमें कथनका ढंग नितान्त रोचक, मनोज्ञ और साहित्यिक है। साधारण कवि अनेक वाक्योंके द्वारा भी जिस चित्रको उन्मीलित नहीं कर सकता था, वही कार्य इस सुकविने 'जीवति'के द्वारा किया है।

उक्ति-शब्दालंकार

भोजराजने 'उक्ति'को शब्दालंकारका एक विशिष्ट प्रकार माना हे (कण्ठाभरण २-४२) तथा उसके छः भेदोंका भी वर्णन किया है—

विध्युक्ति, निषेधोक्ति, अधिकारोक्ति, विकल्पोक्ति, नियमोक्ति तथा परिसंख्योक्ति। इतना ही नहीं, वे स्पष्ट कहते हैं—'शब्दस्य प्राधान्यात् शास्त्रम्, अतीतार्थस्य प्राधान्यात् इतिहासः। उक्तिप्राधान्यात् काव्यम्।

भोजमें 'उक्ति' बहुत व्यापक अर्थमें भी गृहीत की गई है। वे समस्त वाङमयको ही उक्तिकी दृष्टिसे तीन भागोंमें विभक्त करते हैं—

(१) **स्वाभावोक्ति** जिसमें वस्तुके तथ्यरूपका प्रकाशन होता है,

(२) **वक्रोक्ति** जिसमें अलंकारकी सज्जासे भूषित उक्तियोंका प्रकाशन होता है;

(३) **रसोक्ति** जिसमें रसकी प्रधानता रहती है—

> वक्रोक्तिश्च रसोक्तिश्च स्वभावोक्तिश्च वाङ्मयम्
> सर्वासु ग्राहिणीं तासु रसोक्तिं प्रतिजानते ॥
>
> —सर० कण्ठा० ५-८।

भट्टनायकके मतका प्रभाव भोजराजपर स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। महिमभट्ट भी इस मतके पोषक हैं, परन्तु किञ्चित् पार्थक्यके साथ। वे भी शास्त्रको 'शब्दप्रधान' मानते हैं तथा इतिहासको 'अर्थप्रधान' परन्तु काव्यको 'व्यापार-प्रधान' न मानकर 'शब्दार्थ-युगल-प्रधान' मानते हैं। बहुरूप मिश्र भी भोजराजके ही अनुयायी हैं। अग्निपुराणमें यही पार्थक्य प्रदर्शित किया गया है—

> शास्त्रे शब्दप्रधानत्वम् इतिहासेऽर्थनिष्ठता ।
> अभिधायाः प्रधानत्वात् काव्यं ताभ्यां विभिद्यते ॥
>
> —अग्निपुराण, ३३७-२-३

यहां ध्यान देने योग्य एक विशिष्ट तथ्य है। कहा जा सकता है कि अभिधाव्यापारवादी होनेके कारण ही भट्टनायकका काव्यमें व्यापारवादका

सिद्धान्त औचित्यपूर्ण माना जा सकता है, अतः काव्यमें व्यापारप्राधान्यका तथ्य अभिधावादपर ही आश्रित रहता है। परन्तु यह कथन नितान्त भ्रान्तिपूर्ण तथा निराधार है। व्यञ्जनावादी आलोचकोंको भी काव्यमें व्यापारप्राधान्यका मत सर्वथा माननीय है। लोचनकार अभिनवगुप्ताचार्यने भी यह कहकर भट्टनायकका उपहास किया है कि काव्यमें व्यापारकी प्रधानता मानकर आपने आलोचनाके क्षेत्रमें कोई नयी वस्तु उत्पन्न नहीं की, क्योंकि ध्वनिवादी आचार्य भी आनन्दोत्पादक ध्वननव्यापारको काव्यमें प्रधान सर्वथा मानता ही है--

व्यापारो हि ध्वनात्मा रसनास्वभावो यदि, तन्न अपूर्वमुक्तं किञ्चत्।

—लोचन पृ० २७

विद्याधरने भी अभिनवगुप्तके ही इस मतका स्पष्ट अनुवाद अपने ग्रन्थमें इस प्रकार किया है--

ध्वनिप्रधानं काव्यं तु कान्तासम्मितमरितम्।
शब्दार्थौ गुणतां नीत्वा व्यञ्जनप्रवणं यतः॥

—एकावली १।६।

आलोचकमूर्धन्य मम्मटने भी अपने 'काव्य-प्रकाश' में इस तथ्यका वर्णन बड़ी सुन्दरतासे किया है। उन्होंने साहित्यके शब्दोंको तीन विभागोंमें बांटा है--प्रभुशब्द, सुहृद्शब्द तथा कान्ताशब्द। प्रभुके समान वेदादि शब्द 'शब्दप्रधान' होता है। 'अहरहः सन्ध्यामुपासीत'--इस श्रुति वाक्यमें शब्दोंकी प्रधानता है। प्रभुके सामने सेवक बिना कोई मीन्-मेख किए ही उसकी आज्ञाका पालन करता है, उसी प्रकार श्रुतिके वाक्योंको हम बिना 'ननु' 'न च' किए ही स्वीकार करते हैं।

सुहृद्शब्दके समान होते हैं इतिहास-पुराण जिनमें अर्थकी ही प्रधानता रहती है। इतिहासपुराण हमारे सामने अपना भव्य उपदेश रख देते हैं--सन्मार्गपर चलनेका फल होता है कल्याण, तथा कुमार्गपर

चलनेका परिणाम होता है अमंगल। वह मित्रके समान उपदेश-मात्रका होता है—केवल उपदेशक होता है, आग्रही नहीं होता—'येनेष्टं अधिकारी तेन गम्यताम्' उसकी मान्य नीति होती है।

परन्तु कान्ताकी दशा इन दोनोंसे विलक्षण होती है। वह न आग्रह करती है, न उपदेश देती है, प्रत्युत रसमय वाक्योंके द्वारा अपने प्रियतमका हृदय अपनी ओर बरबस खींच लेती है जिससे वह उसकी इच्छाकी पूर्ति अवश्यमेव कर देता है। यही अवस्था है काव्यकी जिसमें शब्द और अर्थ दोनों गौण रूपसे विराजते हैं और प्रधान होता है रसांगभूत व्यापार। इस व्यापारके कारण ही परम चमत्कारमय रसका काव्यमें उदय होता है। यह व्यापार व्यञ्जन-व्यापार ही होता है। अतः भट्ट-नायकके समान काव्यमें ध्वनिवादियोंको भी व्यापार-प्राधान्य अभीष्ट है। अन्तर है तो केवल उस व्यापारके रूपका। भुक्तिवादी भट्टनायकके लिए यह व्यापार है अभिधा या भोजकत्व; व्यञ्जनावादी आचार्योंकी सम्मतिमें यह होता है व्यञ्जना। मम्मटके शब्द ध्यान देने योग्य है—

प्रभुसम्मित-शब्दप्रधान-वेदादिशास्त्रेभ्यः सुहृत्सम्मितमर्थतात्पर्यवत् पुराणादीतिहासेभ्यश्च शब्दार्थयोर्गुणभावेन रसांगभूतव्यापारप्रवणतया विलक्षणं यत् काव्यम्।

—काव्यप्रकाश १-२ की वृत्ति

इस विषयमें पाश्चात्य मत भी पूर्वोक्त मतके सर्वथा अनुकूल ही है। पाश्चात्य आलोचकोंके अनुसार काव्यका मुख्य लक्ष्य है how to express, not what to express—वर्णन-प्रकार, वर्ण्य वस्तु नहीं। वर्ण्य वस्तु प्रधान लक्ष्य होता है इतिहासका, काव्यका नहीं।

८—काव्यलक्षण

(मम्मट)

भारतवर्षका प्रत्येक मान्य आलोचक अपनी दृष्टिसे काव्यके स्वरूपका निर्णय करता है और दृष्टियोंकी भिन्नताके कारण इनके काव्यलक्षणमें भी पर्याप्त भिन्नता है। इन काव्यलक्षणोंका ऐतिहासिक रीतिसे अनुशीलन करनेपर एक निश्चित विकासका परिचय आलोचकको होना स्वाभाविक है; उदाहरणके लिये हम आचार्य मम्मटका काव्यलक्षण यहां प्रस्तुत करते हैं और उसका विशिष्ट अनुशीलन ऐतिहासिक रीतिसे भी उपस्थित करते हैं।

मम्मटका विख्यात काव्यलक्षण

तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती: पुनः क्वापि ॥

काव्य होता है शब्द और अर्थ—जो दोषसे रहित हों, गुणसे मण्डित हों तथा वे कहींपर अलंकारसे हीन भी हो सकते हैं।

मम्मटकी दृष्टिमें शब्द और अर्थके जोड़के लिये 'काव्य'का प्रयोग किया है, परन्तु शब्द तथा अर्थ साधारण न होकर विशिष्ट होने चाहिए। यह विशिष्टता किरूप है? दोषहीनता, गुणसम्पन्नता तथा अलंकारयुक्तता ही काव्य बननेवाले शब्दार्थकी विशिष्टता है। दोषराहित्यपर उनका आग्रह है ही। गुण तथा अलंकार—इन दोनोंमें मम्मटका आग्रह गुणपर ही अधिक है, अलंकारके ऊपर उसकी अपेक्षा कम। इसीलिये वे गुणके समान अलंकारको काव्यका आवश्यक अंग माननेके लिये प्रस्तुत नहीं हैं। ऐसे अनेक स्थल (विशेषतः रसप्रधान) विद्यमान हैं जहां अलंकारकी सत्ता न रहनेपर भी काव्यत्वमें किसी प्रकारकी क्षति नहीं

आती। इस प्राचीन पद्यपर दृष्टिपात कीजिए जो अलंकारहीन होनेपर भी उत्तम काव्य है—

हारो नारोपितः कण्ठे मया विश्लेशभीरुणा।
इदानीमावयोर्मध्ये सरित्—सागर—भूधराः॥

किसी सुन्दरीके विषमवियोगसे सन्तप्त नायक अपनी पूर्वावस्थाके साथ वर्तमान दीनदशाकी तुलना कर कह रहा है—

मैंने विश्लेष—विच्छेद—के डरसे सुन्दरीके कण्ठमें हार नहीं पहनाया। हम दोनोंके बीचमें हारके आनेसे आश्लेष—आलिंगन—ही ठीक ढंगसे नहीं जमता। यह तो हुई संयोगकी सुहावनी कल्पना। परन्तु आज? आज तो उसके और हमारे बीचमें नदियां लहरा रही हैं, सागर कल्लोल कर रहा है तथा भूधर अगम्य रूपसे रास्ता रोके खड़े हैं। महाकवि घनानन्दके स्मरणीय शब्दोंमें यह नायक कहना चाहता है—

तब हार पहारसे लागत हे, अब बीचमें आनि पहार अड़े।

इस पद्यमें अलंकारका चमत्कार बिलकुल ही नहीं है। यदि कुछ है तो केवल 'हारो नारो' में एक फीकी झलक है, फिर भी विप्रलम्भके पोषक होनेके कारण इस पद्यमें पर्याप्त भावमाधुरी भरी हुई है। अलंकारकी सत्तासे हीन होनेपर भी यह केवल काव्य ही नहीं है, प्रत्युत उत्तम काव्य है। ऐसे ही स्थलोंके समावेशके निमित्त आचार्य मम्मट शब्दार्थको कभी कभी 'अनलंकृति' माननेके लिये प्रस्तुत हैं।

ध्वनिमार्गके उपासक मम्मटका दोषहान तथा गुणाधानके ऊपर आग्रह रखना उनके सिद्धान्तके सर्वथा अनुकूल है। काव्यमें गुणोंकी सत्ता होनेका अर्थ है रसकी सम्पत्ति। अतः मम्मटका आग्रह है कि वही शब्दार्थयुगल काव्यकी महनीय संज्ञासे मण्डित होनेका अधिकारी है जिसमें दोषहीनताके साथ साथ रसकी सम्पत्ति पर्याप्त मात्रामें उपस्थित हो। इस रससम्पत्तिके अभावमें कभी-कभी अलंकारका चमत्कार शब्दार्थको काव्य बनानेकी

क्षमता रखता है। गुणोंकी अपेक्षा अलंकारोंमें चमत्कार उत्पन्न करनेकी योग्यता न्यून ही होती है। गुण काव्यके अन्तरंग तथा नियत धर्म हैं। अलंकार काव्यके बाह्य तथा अनियत धर्म हैं। अतः अलंकारोंकी अपेक्षा गुणोंको काव्यमें महत्त्व देना नितान्त समुचित है।

मम्मटके इस स्वारस्यको न समझकर अनेक अलंकारवादी आचार्य उनके 'अनलंकृती' वाले अंशसे बेतरह चिढ़े हैं। भावावेशमें आकर चन्द्रालोकके रचयिता जयदेवने तो यहांतक कह डाला है कि जो आचार्य अलंकारसे रहित शब्दार्थको काव्य बतलानेका साहस करता है वह आगको उष्णतासे हीन माननेकी हिमाकत करता है—

अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मात् अनुष्णमनलं कृती॥

—चन्द्रलोक १।८॥

जयदेवकी दृष्टिमें अलंकार अग्निमें उष्णताके समान काव्यका नैसर्गिक धर्म भले ही हो, परन्तु परिष्कृत बुद्धिवाला आलोचक अलंकारको काव्यमें इतना महत्त्व देनेकी भूल कभी नहीं कर सकता।

अब मम्मटके काव्यलक्षणके विकासकी ऐतिहासिक समीक्षा प्रस्तुत की जाती है।

(क) अदोषौ शब्दार्थौ

इस काव्यलक्षणका प्रथम उपादेय अंश है--अदोषौ। भामहका काव्यका सामान्य लक्षण है---शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्, अर्थात् शब्द तथा अर्थ मिलकर काव्य बनते हैं, परन्तु उनके ग्रन्थसे पता नहीं चलता कि शब्द और अर्थका यह साहित्य 'सहितभाव' किस आधारपर आश्रित रहता है। यह आधार केवल वैयाकरण योजना है अथवा साहित्यिक सामञ्जस्य ? भामहने काव्यमें अनेक हेय दोषोंका वर्णन अपने ग्रन्थमें किया है जिससे स्पष्ट है कि वे अस्पष्ट रूपसे शब्दार्थको दोषहीन माननेके पक्षमें हैं। वामन ही हमारे प्रथम आलंकारिक हैं जिन्होंने काव्यके लक्षणमें 'अदोष'को स्थान दिया है। उनकी दृष्टिमें काव्य होता है---**काव्य-शब्दो गुणालंकृतयोः शब्दार्थयोः वर्तते** अर्थात् गुण (रीति और रस) तथा अलंकार (उपमा रूपक आदि) से सुन्दर बनाए गए शब्द और अर्थ ही 'काव्य' कहे जाते हैं। वामनका पुनः कहना है कि गुणालंकारके आदानसे तथा दोषके हान (तिरस्कार)से काव्यमें सौन्दर्य उत्पन्न होता है---

स दोष-गुणालंकार-हानादानाभ्याम् (१।१।३)

भामहमें जो बात अस्पष्ट रूपसे विद्यमान थी वही वामनमें स्पष्ट रूपसे दृष्टिगोचर होती है। अलंकार---सौन्दर्य--की सत्ता काव्यमें उपादेयता उत्पन्न करती है और इस उपादेयताके लिए सबसे पहिली वस्तु है दोषका हान अर्थात् निराकरण। 'अदोषौ शब्दार्थौ'का यही मूल स्थान है। मम्मटसे कुछ पहिले भोजराजने भी काव्यलक्षणमें 'निर्दोषत्व'को आवश्यक अंग बतलाया है। उनका काव्य-लक्षण है---

निर्दोषं गुणवत् काव्यम् अलंकारैरलंकृतम् ।
रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति ॥

—सरस्वतीकण्ठाभरण १।२

रत्नेश्वरकी व्याख्याके अनुसार 'निर्दोष' शब्दका अर्थ है—दोषका नितान्त अभाव (अत्यन्ताभाव)। इस विशेषणपर आग्रह करनेका कारण यही है कि जिस प्रकार कामिनीके किसी अंगमें विद्यमान श्वित्रका छींटा उसके समग्र शरीरके सौन्दर्यको भ्रष्ट करनेमें समर्थ होता है, उसी प्रकार काव्यके एकदेशमें वर्तमान वर्णगत भी दोष काव्यकी समग्र रमणीयताके तिरस्कारमें कृतकार्य होता है।[1]

इन्हीं सूत्रोंको ग्रहणकर मम्मटने अपने काव्यलक्षणमें 'अदोषौ' पदका विन्यास किया है।

'अदोषौ' का खण्डन

इसका विस्तारसे खण्डन किया है विश्वनाथ कविराजने तथा पण्डितराज जगन्नाथने। विश्वनाथका तर्क है कि काव्य भी मनुष्यके इतर व्यापार तथा कृतियोंके समान मानवसुलभ त्रुटियोंका आगार है। दोष इतने सूक्ष्म तथा व्यापक होते हैं कि दोषहीन काव्यकी कल्पना करना आकाशपुष्पकी आशाके समान है। कितना भी कवि जागरूक रहे या तर्कसे काम ले, उसकी रचनाओंमें दोषोंका आ जाना असम्भव नहीं होता। इसीलिए महामान्य कवियोंकी काव्यकृतियोंमें भी अनेक दोषोंकी सत्ता

---

१ निर्दोषं दोषात्यन्ताभाववत्। अवयवैकवर्तिना श्वित्रेणेव कामिनी शरीरस्य वर्णमात्रगतेनापि दोषेण काव्यवैरस्यनियमात्। अत एवामंगलप्रायाणामपि दोषाणां प्रथममुपादानम्। अयमेव हि प्राचः कवेर्व्यापारो यद् दोषहानं नाम।

—रत्नेश्वर

सर्वथा विद्यमान रहती है। ऐसी परिस्थितिमें क्या 'निर्दोष' काव्यकी सत्ता कथमपि मान्य हो सकती है? ध्वनिसे समन्वित उत्तम काव्यमें भी दोष कहीं न कहीं उसे कलुषित बनानेके लिये छिपकर बैठा रहता है। अतः निर्दोषके सर्वथा असम्भव होनेके कारण काव्य ही प्रविरलविषय या निर्विषय हो जायगा।

दूसरी ध्यान देनेकी बात यह है कि किसी भी पदार्थके स्वरूप-निर्देशमें दोषाभावका उल्लेख नितान्त अनुचित है। दोष पदार्थकी हेयताका हेतु होता है, उसके स्वरूपका अपवर्जक नहीं होता। यदि रत्नोंको कीड़ोंने छेदकर दूषित बना डाला हो, तो इससे रत्नोंका रत्नत्व नष्ट नहीं हो जाता, प्रत्युत उसकी उपादेयतामें ही हानि हो सकती है। विशुद्ध रत्नोंका मूल्य दूषित रत्नोंकी अपेक्षा कहीं अधिक सारवान् होता है। काव्य की भी दशा ठीक रत्नके ही सदृश होती है। श्रुतिदुष्ट आदि दोष काव्यके काव्यत्वको कथमपि दूर नहीं कर सकते, केवल उसकी रमणीयता-मात्रामें ही ह्रास उत्पन्न कर सकते हैं। अतः काव्यके लक्षणमें 'अदोष' विशेषणकी सार्थकता कथमपि सिद्ध नहीं हो सकती—

एतदपि काव्यलक्षणे न वाच्यम्, रत्नादिलक्षणे कीटानुवेधपरिहारवत्। नहि कीटानुवेधादयो रत्नस्य रत्नत्वं व्याहन्तुमीशाः, किन्तु उपादेयतारतम्यमेव कर्तुम्। तद्वत् अत्रापि श्रुतिदुष्टादयः काव्यस्य।

—साहित्यदर्पण, प्रथम परिच्छेद।

पण्डितराज जगन्नाथकी भी समीक्षा इसी शैलीपर की गई है।

समाधान

इतनी विरुद्ध आलोचना होनेपर भी मम्मटके काव्य-लक्षणमें 'अदोषौ' पदका समाधान भली भांति किया जा सकता है। केवल दोषकी सत्ता होनेसे ही काव्य त्याज्य नहीं हो सकता, क्योंकि सब दोष दोष नहीं होते। दोषोंमें भी परस्पर तारतम्य होता है। रसका अपकर्षकत्व ही दोषका मुख्य लक्षण है—रसापकर्षका दोषाः। अतः रसदोष काव्यके मौलिक चमत्कारका जितना विघातक होता है उतना पददोष नहीं। 'दोषहान' से अभिप्राय इन्हीं मुख्य रसदोषके परिहानसे है, क्षुद्र दोषोंकी सत्ता रहनेपर भी काव्यमें किसी प्रकारकी हानि नहीं होती। इसीलिये नमि साधुने न्यूनाधिक दोषको 'नेत्रोत्पाटतुल्य' माना है और असमर्थ दोषको 'पटलनिभ' (नेत्ररोग-विशेषके समान) स्वीकार किया है (रुद्रट टीका ६।१)। आलोचक आदर्शको लक्ष्यकर लक्षण-निर्माण करता है, वस्तुस्थितिके विचारसे नहीं। मम्मटने इसीलिये स्थित काव्यका लक्षण न देकर आदर्श काव्यका (या नागेशभट्टके शब्दोंमें 'अनुपहसनीय' काव्यका) लक्षण यहां प्रस्तुत किया है।

काव्यमें अनेक उपायोंके द्वारा सौन्दर्यका उन्मीलन किया जा सकता है। बिना सुन्दर हुए शब्दार्थको हम काव्यपदवीसे मण्डित नहीं कर सकते। इन सौन्दर्यसाधनोंमें 'दोषहान'—दोषहीनता—भी एक महनीय साधन है। सत्तात्मक गुणोंके अभावमें इस निषेधात्मक साधनकी स्थिति भी सर्वथा श्लाघनीय होती है। कवि तथा भावक दोनों ही इस विषयमें एकमत हैं कि दोषहीनता भी काव्यमें उपादेय साधन है। माघका मत है—अपदोषतैव विगुणस्य गुणः (माघ ६।१२)। गुणहीन व्यक्तिके लिये दोषहीनता ही स्वयं गुण होती है। उसमें सत्तात्मक गुणोंके अभावमें

दोषकी हीनता भी महनीय गुणका काम करती है। केशव मिश्रने किसी प्राचीन आचार्यकी उक्तिका उल्लेख इसी मतकी पुष्टिके निमित्त किया है—

दोषः सर्वात्मना त्याज्यो रसहानिकरो हि सः।
अन्यो गुणोऽस्तु मा वास्तु महान् निर्दोषता गुणः॥

काव्यमें दोष रसकी हानि करता है। अतः उसका परित्याग सब प्रकारसे होना चाहिए। अन्य गुण हों या न हों; काव्यमें निर्दोषता ही महान् गुण होता है। अतः प्रत्येक कविका लक्ष्य दोषहीनताकी ओर होना ही चाहिए।

महाकवि कालिदास भी इसीके समर्थक हैं। कविका कर्तव्य है सब प्रकारसे अपने काव्यको दोषसे उन्मुक्त रखे। यदि सर्वथा प्रयत्न करनेपर भी वह मानव-सुलभ त्रुटियोंका पात्र बनकर दोष कर ही बैठता है, तो भी कोई हानि नहीं होती। क्या सुधाकरके किरणोंमें उसका दोषरूप एक कलंक छिप नहीं जाता? क्या गुणगरिमासे सम्पन्न काव्यमें उसी प्रकार एक दोष छिप नहीं सकता?

एको हि दोषो गुणसन्निपाते
निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः (कुमारसम्भव १।२)

कभी कभी दोषकी सत्तासे भी काव्यका गुण झलक उठता है। ऐसी दशामें वह दोष अपकर्षक न होकर रसावर्जक होनेसे नितान्त श्लाघनीय हो जाता है। क्या चन्द्रमाके काले धब्बे उसकी सुन्दरता बढ़ानेमें सहायक नहीं होते? 'मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति'—कालिदासके अनुभूत सत्यकी यह उक्ति काव्य-उपासकोंके लिये क्या उपास्य नहीं है?

तात्पर्य यह है कि विश्वनाथ तथा जगन्नाथ कितनी भी युक्तियोंसे काव्यलक्षणमें निविष्ट 'अदोष' विशेषणका खण्डन करें, परन्तु यह तो मानना ही पड़ता है कि कोई भी आलोचक काव्यमें दोषोंकी सत्ता स्वीकार

नहीं कर सकता। यहां मम्मटने लोकमें विद्यमान काव्यकी स्थितिपर विचार कर अपना लक्षण प्रस्तुत नहीं किया है। आलोचकका काम है—'काव्य जैसा है' वैसा ही वर्णन करना नहीं ; वरन् 'काव्य जैसा होना चाहिए' वैसा वर्णन करना। जगत्में अधिकांश काव्य दोष-सम्पन्न ही उपलब्ध होते हैं। तो क्या आलोचक भी काव्यके लक्षणमें दोषकी सम्पत्तिको भी एक आवश्यक अंग मानें ? मम्मटका काव्यलक्षण आदर्श तथा अनुपहसनीय काव्यके स्वरूपका निर्देश करता है और इस दृष्टिसे वह सर्वथा श्लाघनीय है।

(ख) सगुणौ सालङ्कारौ

अब काव्यलक्षणके द्वितीय अंशपर विचार कीजिए। शब्दार्थका गुण तथा अलंकारसे सम्पन्न होना नितान्त आवश्यक होता है। काव्यके उदयके साथ ही साथ यह विशिष्टता भी उसके साथ सर्वथा सम्बद्ध दृष्टि-गोचर होती है। यद्यपि आलोचनाजगत्में वामन ही प्रथम आलंकारिक हैं जिन्होंने 'गुणालंकृतयोः शब्दार्थयोः काव्यशब्दो विद्यते' लिखकर गुणा-लंकारकी सम्पत्तिको काव्यके लिये आवश्यक माना है, परन्तु काव्यजगत्में यह उनसे बहुत ही प्राचीन है। हमारे आदिकवि वाल्मीकि और भारतकार व्यासके काव्योंमें गुण तथा अलंकारकी सम्पत्ति, स्वरूप तथा वैशिष्टयपर आग्रह हम भलीभांति पाते हैं।

लवकुशके द्वारा मधुर स्वरोंमें गाए गए रामायणके श्लोकोंको सुनकर कवि वाल्मीकि कह रहे हैं—

अहो गीतस्य माधुर्यं श्लोकानां च विशेषतः।
चिरनिवृत्तमप्येतत् प्रत्यक्षमिव दर्शितम्।

—रामायण १।४।१७

अहो, इस गायनमें, विशेषकर श्लोकोंमें कितना माधुर्य है। वर्णन इतना रोचक है कि प्राचीनकालमें बहुत पहिले होनेवाली भी घटना प्रत्यक्षके समान दीख पड़ रही है। इस पद्यमें माधुर्यगण तथा भाविक अलंकारका नितान्त स्पष्ट उल्लेख है।

रघुवरचरितकी विशिष्टताके प्रसंगमें रामायणका कथन है—

तद्रुपगतसमाससन्धियोगं सम-मधुरोपनतार्थवाक्यबद्धम्।
रघुवरचरितं मुनिप्रणीतं दशशिरसश्च वधं निशामयध्वम्॥

—रामायण १।२।४३

इस पद्यमें काव्यके अनेक विशिष्ट गुणोंका स्पष्ट निर्देश उपलब्ध होता है—समास-योग, सन्धि-योग, समता तथा मधुरता (शब्द तथा अर्थ दोनों की)। इनमें प्रथम दोनों व्याकरण-सम्बन्धी गुण हैं तथा अन्तिम दोनों शब्द तथा अर्थके सौन्दर्यबोधक साधन हैं।

किष्किन्धा काण्डमें भगवान् रामचन्द्र तथा हनुमानजीके समागमका प्रथम अवतार होता है। हनुमान् अपने प्रभुवरके प्रतापातिरेकसे प्रभावित होकर उनका परिचय पूछते हैं। वह भाषण इतना सौन्दर्यपूर्ण, प्रभावशाली तथा विशुद्ध है कि रामचन्द्रको उसकी विपुल प्रशंसा करनी पड़ती है। इस प्रशंसाके अवसरपर वाल्मीकिने काव्यमें उपादेय अनेक गुणोंका उल्लेख स्पष्टतः किया है—

अविस्तरमसन्दिग्धम् अविलम्बितमव्रुतम् ।
संस्कारक्रमसम्पन्नामद्रुतामविलम्बिताम् ।
उच्चारयति कल्याणीं वाचं हृदयहारिणीम् ॥
अनया चित्रया वाचा··············· ।
कस्य नाराध्यते चित्तमुद्यतासेररेरपि ॥

—रामायण ४।३।३०–३२

हनुमान्के वाक्य विस्तारसे हीन तथा सन्देहसे रहित थे। वे व्याकरणके संस्कारसे सर्वथा सम्पन्न थे। उनकी कल्याणकारिणी तथा हृदयहारिणी तथा विचित्र वाणीके द्वारा हाथमें तलवार उठाये हुए शत्रुका भी चित्त पिघल जाता है, दूसरेकी तो कथा ही न्यारी है।

यहां वाल्मीकिने कतिपय दोषों तथा गुणोंकी एकत्र सूचना दी है। विस्तार तथा सन्देह अलंकार-ग्रन्थोंके दोष प्रकरणमें उपलब्ध तथा निर्दिष्ट दोष हैं। 'संस्कार' वैयाकरण-विशुद्धि है जिसका अभाव शब्दहीनताका दोष माना गया है।

महाभारतमें भी इसी प्रकार काव्यके आवश्यक गुणोंकी सूचना उपलब्ध होती है। महाभारतमें श्रव्यत्व, श्रुतिसुखत्व, समता तथा माधुर्यका स्पष्ट निर्देश काव्यरचनाके विषयमें हमें मिलता है। व्यासजीकी उक्ति है (१) इस भारत आख्यानके सुननेके बाद दूसरी कोई श्राव्य-वस्तु रुचती ही नहीं। (२) भारत स्वयं श्रव्य तथा श्रुति-सुखद है। (३) भगवान् श्रीकृष्णका वचन धर्म और अर्थसे युक्त था तथा मधुर और सम था--

(१) श्रुत्वात्विदमुपाख्यानं श्राव्यमन्यन्न रोचते। (आदि २।३८५)

(२) श्राव्यं श्रुतिसुखं चैव पावनं शीलवर्धनम्। (आदि ६२।५२)

(३) निशम्य वाक्यं तु जनार्दनस्य।

धर्मार्थयुक्तं मधुरं समं च॥ (उद्योग १।२५)

भारतीय कवियोंके लिये वाल्मीकि और व्यास उपजीव्य हैं। आदि कवि वाल्मीकिके शोकसन्तप्त हृदयका उद्गार श्लोकरूपमें परिणत होकर प्रथम कविताका अवतार हेतु जिस समय बना, उसी समयसे भारतीय काव्यकी दिशा निर्धारित हो गई। काव्यसरिता रसकूलको स्पर्शकर प्रवाहित होती है, अलंकारकूलको नहीं--इस तथ्यका अन्तः-निर्देश कविमानसपर सदाके लिये अंकित हो गया। **काव्यमें कलापक्षकी अपेक्षा हृदयपक्षकी प्रधानता रहती है।** रामायणने ही हमें महा-काव्यकी भव्य कल्पना सिखाई है तथा काव्यके सच्चे स्वरूपका प्रथम परिचय प्रदान किया। ऊपर उद्धृत वाक्योंको अपना आधारकेन्द्र मानकर हमारे आलोचकोंने स्पष्ट मीमांसा की कि काव्यके लिए शब्द और अर्थको गुणसे मण्डित तथा अलंकारसे सत्कृत होना नितान्त आवश्यक है। इसीलिये विज्ञ आलोचक मम्मटने भी काव्यगत शब्दार्थके लिये सगुणौ तथा सालंकारौ विशेषण दिया है।

समीक्षा

विश्वनाथ कविराजको काव्यलक्षणमें इन पदोंके निवेशसे नितान्त अरुचि है। पहिले 'सगुणौ'की ही समीक्षापर दृष्टिपात कीजिए। उनका कहना है—

(१) 'सगुणौ' शब्दार्थोंका विशेषण कथमपि नहीं रखा जा सकता। जिस वस्तुका जिस पदार्थके साथ कोई सम्बन्ध ही न घटे, उसे उसका विशेषण मान लेना कहांकी बुद्धिमत्ता है? मम्मटका भी निश्चित मत है कि गुण काव्यके अंगी प्रधानभूत रसके ही धर्म होते हैं न कि शब्द और अर्थके। जैसे शौर्य तथा वीर्य आत्माके धर्म होते हैं शरीरके नहीं—

ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः ॥

—काव्यप्रकाश ८।१

अतः गुणका शब्द और अर्थके साथ साक्षात् सम्बन्ध न होनेके कारण शब्दार्थोंको सगुणौ बतलाना कहांतक उचित है?

(२) कहा जा सकता है कि शौर्यकी अभिव्यञ्जना करनेवाले शरीरके लिये भी शूरत्व विशेषण लोकव्यवहारमें व्यवहृत होता है। उसी प्रकार रसके अभिव्यञ्जक शब्द और अर्थके सम्बन्धमें भी 'सगुणौ' विशेषणका प्रयोग कथमपि अनुपपन्न नहीं है। इसके उत्तरमें विश्वनाथ कहते हैं कि तब तो साक्षात् रूपसे 'सरसौ' शब्दार्थौ कहना चाहिए था, न कि 'सगुणौ'। इस द्रविड़-प्राणायामसे लाभ ही क्या? शब्द और अर्थका रसपेशल होना ही अभीष्ट है, तो सरसौ कह कर ही इसकी स्पष्ट सूचना काव्यलक्षणमें देनी चाहिए थी। 'प्राणिमन्तो देशाः' (प्राणियोंसे युक्त देश) के स्थानपर 'शौर्यादिमन्तो देशाः' (शौर्य आदिसे युक्त देश) कहना क्या अभीष्ट होता है? शौर्य गुण है, प्राणी गुणी है। इसी प्रकार

गुण धर्म है तथा रस धर्मी है। धर्मीकी सूचनाके प्रसंगमें धर्मकी सूचना देना कथमपि उचित नहीं है[1]। इस दृष्टिसे भी 'सगुणौ' विशेषण अनुपपन्न है।

(३) तथ्य यह है कि गुण तथा अलंकारकी सत्ता काव्यमें **उत्कर्षाधायक** होती है, **स्वरूपाधायक** नहीं। स्वरूपके आधायक धर्म वे ही होते हैं जिनके अभावमें उस पदार्थके स्वरूपकी ही निष्पत्ति नहीं होती। गुण तथा अलंकार इस कोटिमें कभी नहीं आ सकते। गुण काव्यका अन्तरंग धर्म है तथा अलंकार बहिरंग धर्म। ये काव्यकी शोभाके आधायक होते हैं, रूपके आधायक नहीं होते। रूपकी उपपत्ति होनेपर भी शोभाका आधान युक्तियुक्त होता है। क्या शौर्यविहीन प्राणी मानवतासे ही विरहित होता है? अथवा भूषणोंसे रहित सुन्दरी नारीत्वसे ही विहीन हो जाती है? ऐसी दशामें काव्यके लक्षणमें इन द्विविध विशेषणोंका प्रयोग अनावश्यक ही नहीं, भ्रामक भी है। पण्डितराज जगन्नाथकी भी इस विषयमें यही सम्मति है। वे स्पष्ट कहते हैं—शौर्यविवद् आत्मधर्माणां गुणानां, हारादिवदुपस्कारकाणाम् अलङ्काराणाञ्च शरीरघटकत्वानुपपत्तेश्च। विश्वनाथके पूर्वोक्त लम्बे विवरणका यह सुन्दर सार संकलन है।

इन दोनों मान्य आलोचकोंकी समीक्षाके उत्तरमें कहा जा सकता है कि मम्मटका यह लक्षण काव्यका वैज्ञानिक लक्षण नहीं है, प्रत्युत साधारण रीतिसे सामान्य विवरण है जिसे तर्ककी कसौटीपर इतनी निर्ममतासे नहीं कसा जा सकता। यह आदर्श काव्यके स्वरूपका परि-

---

१ गुणवत्त्वान्यथानुपपत्त्या एतत् लभ्यत इति चेत्? तर्हि सरसावित्येव वक्तुमुचितं न तु सगुणाविति। नहि प्राणिमन्तो देशा इति वक्तव्ये शौर्यादिमन्तो देशा इति केनाप्युच्यते।
—साहित्यदर्पण, प्रथम परिच्छेद पृ० १६

घायक लक्षण है। आदर्श काव्यके निर्माणके लिये शब्द और अर्थकी इन विशिष्टताओंपर ध्यान देना रचयिताका प्रधान कर्तव्य होता है। रसको लक्ष्यकर प्रवृत्त होनेवाला भी कवि गुणकी ही ओर दृष्टिपात करता है। रस अलक्ष्य वस्तु ठहरी; गुण लक्ष्य पदार्थ है। अतः रसकी अभिव्यक्तिके लिये कवि गुणकी सत्तापर ही विशेष आग्रह दिखलाता है। श्रोताके हृदयमें आनन्दके उद्गमका इच्छुक गायक अपने स्वर तथा लयको सुन्दर बनानेका ही सन्तत प्रयत्न करता है। अतः सम्मट का 'सरसौ'के स्थानपर 'सगुणौ' विशेषणका निवेश एकान्त अनुरूप है।

(ग) शब्दाया काव्यम्

शब्द और अर्थ काव्यके शरीर माने गये हैं, परन्तु इन दोनोंमें किसका प्राधान्य रहता है ? इस प्रश्नकी समीक्षा करनेपर हमारे भारतीय आलोचकोंमें दो पक्ष स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं—शब्दार्थ पक्ष तथा केवल शब्द पक्ष। प्रथम पक्षवाले आचार्योंकी सम्मतिमें काव्य न तो केवल शब्दके सौष्ठवका फल है और न केवल अर्थके सौन्दर्यका विलास है, प्रत्युत शब्द और अर्थका युगल समुच्चय काव्य-पदका भाजन होता है। इस पक्षके अन्तर्गत हमारे आलंकारिकोंकी भूयसी संख्या है, यथा—भामह, रुद्रट, वामन, भोजराज, मम्मट, हेमचन्द्र आदि। द्वितीय पक्षके आलोचकोंका आग्रह शब्दपक्षके ऊपर है। उनकी सम्मतिमें काव्यमें शब्दका ही प्राधान्य रहता है; अर्थ तो गौणरूपसे स्वतः उसका अनुयायी बनकर आ ही जाता है। इस पक्षके प्रधान आलोचक हैं—दण्डी, अग्निपुराणके कर्ता, विश्वनाथ, जयदेव तथा पण्डितराज जगन्नाथ। इनके विशिष्ट लक्षणोंपर दृष्टिपात करनेसे इनका वैशिष्ट्य स्वयं भासित होने लगता है—

दण्डीके अनुसार काव्य है इष्ट अर्थसे व्यवच्छिन्न पदावली—

शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्नपदावली

—काव्या० १।१०

विश्वनाथ कविराज रसात्मक वाक्यको काव्यकी संज्ञा देते हैं—वाक्यं रसात्मकं काव्यम्। जयदेवने भी लक्षण, गुण, अलंकार आदि अंगोंसे लक्षित वाक् (वाणी-शब्द)को काव्य कहा है—

निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुणभूषिता।
सालंकार रसानेक-वृत्तिर्वाक् काव्यनामभाक्॥

—चन्द्रालोक १।७

पण्डितराज जगन्नाथका काव्यलक्षण तो नितान्त विश्रुत ही है—**रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।** रमणीय अर्थका प्रतिपादक शब्द ही काव्य होता है। स्पष्ट है कि अन्तिम आलोचकोंकी दृष्टिमें काव्यमें शब्दपक्ष ही समधिक पुष्ट तथा महत्त्वशाली है।

इसकी विस्तृत विवेचना जगन्नाथने अपने 'रसगंगाधर'में की है। वे प्रथमतः लोक-व्यवहारको ही अपने पक्षका मुख्य समर्थक मानते हैं। लोकमें यह व्यवहार सर्वदा होता है कि 'काव्य तो मैंने सुन लिया, परन्तु अर्थ नहीं समझा', या 'काव्यसे अर्थका ज्ञान होता है' 'काव्य ऊँचे स्वरमें पढ़ा जा रहा है'। इन वाक्योंमें काव्यका प्रयोग शब्दके ही निमित्त निश्चित रूपसे हो रहा है। प्रथम वाक्यके अनुशीलनसे तो यह बात नितान्त स्पष्ट है कि काव्य शब्दात्मक ही होता है, अर्थरूप नहीं। एक बात और भी मननीय है। पण्डितराज पूछते हैं[1] कि शब्दार्थ दोनों मिलकर काव्य कहलाते हैं अथवा प्रत्येक पृथक् पृथक्? उभय पक्षके माननेपर भी आपका मत नहीं जमता। यदि कहा जाय कि शब्द और अर्थ दोनों सम्मिलित रूपसे काव्यके लिये व्यवहृत होते हैं, तो यह ठीक नहीं। एक और एक मिलकर दो होता है—दो सम्मिलित एकाईओंका ही नाम दो है; दोके अवयवभूत एकको हम दो कथमपि नहीं कह सकते। इसी प्रकार श्लोकके वाक्यको आप काव्य नहीं कह सकेंगे, क्योंकि वह उसका एक अवयवरूप शब्द ही तो केवल है। अब यदि शब्द और अर्थको पृथक् पृथक् काव्य कहा जायगा,

---

१ 'एको न द्वौ' इति व्यवहारस्येव श्लोकवाक्यं न काव्यमिति व्यवहारापत्तेः। न द्वितीयः एकस्मिन् पद्ये काव्यद्वयव्यवहारापत्तेः। तस्माद् वेदशास्त्रपुराणलक्षणस्येव काव्यलक्षणस्यापि शब्दनिष्ठतैवोचिता।

—रसगंगाधर पृ० ६

तो एक पद्यमें दो काव्य होने लगेंगे, जो व्यवहारसे सन्तत विरुद्ध है। इसलिये **वेद, शास्त्र तथा पुराणोंके समान काव्यको भी शब्दरूप ही मानना चाहिए, शब्द-अर्थ युगल रूप नहीं—**

'शब्दः काव्यम्' का खण्डन

पण्डितराजके इस घोर आक्रमणसे मम्मटके काव्यलक्षणको बचानेका श्रेय देना चाहिए नागेशभट्टको जिन्होंने बहुत ही सुन्दर युक्तियोंके सहारे जगन्नाथके मतका अनौचित्य प्रदर्शित किया है। यदि लोक-व्यवहारकी दोहाई देकर वे अपने मतको पुष्ट कर सकते है, तो क्या वही व्यवहार हमारे पक्षको पुष्ट नहीं कर रहा है? 'काव्यं पठितम्' 'काव्यं श्रुतं' प्रयोगके समान ही क्या 'बुद्धं काव्यं' (मैंने काव्य समझ लिया) का प्रयोग नहीं होता? स्पष्ट है कि यहां काव्य शब्दसे अर्थकी द्योतना होती है।

वेदशास्त्र केवल शब्दप्रधान होते हैं, पण्डितराजका यह कथन भी सयुक्तिक नहीं है। महाभाष्यकार पतञ्जलिने 'तदधीते तद्वेद' (४।२।५९) सूत्रके भाष्यमें वेदत्वंको उभयवृत्तित्व-प्रतिपादक माना है। इस सूत्रका अर्थ है—किसी विषयके अध्ययन करने तथा उसके जाननेवालेके अर्थमें यह सूत्र प्रत्ययका विधान करता है। भाष्यकारकी शंका है कि 'अधीते' और 'वेद' दोनोंको पृथक् निर्दिष्ट करनेकी आवश्यकता ही क्या है? जो किसी ग्रन्थको पढ़ता है वह उसे समझता भी है। अतः दोनोंका सूत्रमें समावेश निरर्थक है। इसपर पतञ्जलिका समाधान है कि अध्ययन और वेदन दोनोंका एक साथ समावेश आवश्यक नहीं होता। कोई वेद (संपाठ) पढ़ता है, परन्तु उसका अर्थ नहीं समझता। और कोई अर्थ समझता है पर वेद पढ़ता नहीं। यहां स्पष्ट ही वेद (संपाठ, स्वाध्याय) का सम्बन्ध शब्द तथा अर्थके साथ समभावेन पतञ्जलिको मान्य है—

तदधीते तद्वेद । किमर्थमुभावपि अर्थौ निर्दिश्येते। न योऽधीते वेत्त्यपि असौ । यस्तु वेत्ति अधीतेऽप्यसौ । नैतयोरावश्यकः समावेशः । भवति हि कश्चित् संपाठं पठति[1] न वेत्ति तथा, तथा कश्चिद् वेत्ति न च संपाठं पठति

—४।२।५६ का भाष्य

रही उनकी "एको न द्वौ" वाली युक्ति । पण्डितराजका कहना है कि जिस तरह हम एकको दो नहीं कह सकते, उसी तरह यदि शब्द और अर्थ दोनोंका सम्मिलित नाम काव्य हो, तो प्रत्येकके लिये काव्य शब्दका व्यवहार नहीं हो सकता । यह युक्ति भी विशेष जोरदार नहीं है । ऐसे स्थलपर हम रूढ़ लक्षणासे काम चला सकते हैं जिसके द्वारा अवयवके लिये भी अवयवीका प्रयोग कथमपि अनौचित्यपूर्ण नहीं माना जा सकता ।

तथ्य तो यह है कि काव्यकी आस्वाद-व्यञ्जकताका आधार दोनों शब्द तथा अर्थमें समभावेन विद्यमान रहता है। जिस प्रकार शब्द रसोन्मेषमें सहायता करता है, उसी भांति अर्थ भी करता ही है । काव्य-गत अलौकिक चमत्कारके उत्पादनकी क्षमता दोनोंमें वर्तमान रहती है । ऐसी दशामें शब्दमें ही काव्यको सीमित रखना कहांका न्याय है ? शक्ति और शक्तिमान्के मञ्जुल नित्य सामरस्यके समान ही वाग् और अर्थका परस्पर नित्य सम्बन्ध है । ये परस्पर अविनाभूत सम्बन्धसे मानों इतनी सुसम्बद्धतासे जुड़े रहते हैं कि एकके बिना दूसरेकी सत्ता कथमपि सिद्ध नहीं हो सकती । प्राधान्य भी काव्यमें दोनोंका ही सम्मिलित रूपसे मानना श्रेयस्कर मार्ग है । शब्दके द्वारा काव्य श्रोताओंका श्रुति-अनु-रञ्जन कर अपनी ओर उन्हें आकृष्ट करनेमें प्रथमतः समर्थ होता है, परन्तु उनके हृदयानुरञ्जनके बिना काव्य अपने जीवनकी पूर्ति कथमपि नहीं कर सकता और यह हृदयानुरञ्जन सिद्ध होता है अर्थके ज्ञान होनेपर

---

१ संपाठं पठति अर्थनिरपेक्षं स्वाध्यायं पठतीत्यर्थः—कैयट ।

ही। अतः काव्यका शरीर शब्द तथा अर्थ दोनोंके द्वारा समभावेन सिद्ध होता है और इसीलिये काव्यमें दोनोंका ही समभावेन प्राधान्य मानना ही उत्तम पक्ष है।

पाश्चात्य आलोचकोंकी सम्मति भी इसी पक्षके समर्थनमें है। गद्य तथा गानसे कविताका वैशिष्ट्य तथा पार्थक्य प्रदर्शित करता हुआ एक पश्चिमी आलोचक-काव्यमें शाब्दिक बिन्यास तथा आर्थिक योजना दोनोंका महत्त्व अंगीकार करता है—

Good poetry stands midway between prose and music. The moment it becomes possible to say, here the delight given is sensous and due to the form alone, or here the delight given is intellectual and due to the idea alone, at that moment the poetry ceases to be of the highest type.

आशय है कि सत् कविता गद्य तथा गायनकी मध्यवर्तिनी होती है। जिस अवसरपर यह कथन सम्भव हो कि यहां आनन्द केवल इन्द्रियजन्य तथा केवल रूपके कारण ही उत्पन्न हो रहा है अथवा यहां उदीयमान आनन्द बौद्धिक है तथा केवल अर्थके ही कारण उत्पन्न हो रहा है, उसी अवसरपर वह कविता उदात्त श्रेणीसे नीचे गिर जाती है। कविताका आनन्द न तो केवल रूपजन्य होता है और न केवल अर्थजन्य, प्रत्युत वह उभयजन्य होता है। अतः काव्यमें शब्द तथा अर्थका समभावेन महत्त्व तथा प्राधान्य मानना श्रेयः पन्था है। आचार्य मम्मटके 'शब्दार्थौ काव्यम्'का यही रहस्य है।

———

१—साहित्य

(क) साहित्य—ऐतिहासिक विकास

"शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्"—भामह

'साहित्य' शब्दका प्रयोग आजकल दो प्रकारसे किया है जिनमें एक अर्थ है व्यापक तथा दूसरा अर्थ है संकीर्ण। व्यापक अर्थमें साहित्यका प्रयोग उन समस्त रचनाओंके लिए किया जाता है जो किसी भाषाविशेषमें निबद्ध हों। काव्य, नाटक, इतिहास, दर्शन, विज्ञान, आदि विषयक समग्र ग्रन्थोंका सामूहिक नाम है 'साहित्य'। इस अर्थमें यह 'वाङ्मय' शब्दका प्रतिनिधि है और अंग्रेजी भाषाके 'लिटरेचर' शब्दका पर्याय-वाची। आजकल हिन्दीमें इस अर्थमें इस शब्दका प्रचुर प्रचार हम पाते हैं। संस्कृतमें भी 'साहित्य'का इस व्यापक अर्थमें प्रयोग हम सर्वप्रथम भोजराजके अलंकार ग्रन्थोंमें पाते हैं। अतः इस अर्थमें यह शब्द लगभग एक सहस्र वर्ष पुराना है। संकीर्ण अर्थमें 'साहित्य'का प्रयोग कविनिर्मित कोमल कल्पनामय कृतियोंके लिये किया जाता है। इस प्रकार यह 'काव्य'का पर्यायवाची है। ऐतिहासिक दृष्टिसे 'काव्य' शब्द प्राचीन है और 'साहित्य' शब्द मध्ययुगी। 'साहित्य'का यह संकीर्ण अर्थ व्यापक अर्थकी अपेक्षा प्राचीनतर है, क्योंकि भोजराजसे एक शताब्दी पूर्व कविराज राजशेखरने अपनी 'काव्यमीमांसा'में इसका प्रयोग काव्यके निमित्त किया है। अलंकारशास्त्रके मध्य युगमें 'कविवाङ्निर्मिति' के निमित्त दोनों शब्दोंका प्रयोग समभावेन उपलब्ध होता है, परन्तु पिछले युगमें इन शब्दोंके अर्थमें विशेष परिवर्तन लक्षित होता है। दृश्य तथा श्रव्य रूपसे द्विविध सत्ता रखनेवाला 'काव्य' दृश्यके क्षेत्र से हटकर केवल श्रव्य

कविताके रूपमें ही संकुचित हो गया है तथा काव्यके पर्यायवाची 'साहित्य' शब्दने अपना क्षेत्र विस्तृतकर समस्त वाङ्मयको आत्मसात् कर लिया है। इस प्रकार 'काव्य' शब्दका तो हो गया है अर्थ-संकोच और 'साहित्य' शब्दका हो गया है अर्थविस्तार। इस परिच्छेदमें हम 'साहित्य'की समीक्षाके लिये समुद्यत हैं।

अलंकारशास्त्रके आद्य आचार्य भामहके ग्रन्थमें 'साहित्य' शब्द विद्यमान तो नहीं है, परन्तु इसकी कल्पना अवश्यमेव वर्तमान है। भामहका काव्यलक्षण है—शब्दार्थौ सहितौ काव्यम् (काव्यालंकार १।) शब्द तथा अर्थ मिलकर काव्य होते हैं। इस काव्यलक्षणमें प्रथमतः प्रयुक्त विशेषण रूप 'सहित' शब्दसे ही भाववाचक 'साहित्य' शब्द निष्पन्न हुआ है। 'सहितयोः भावः साहित्यम्'। परन्तु आज हम नहीं जानते कि भामहको शब्द तथा अर्थका 'सहितभाव' किस प्रकारसे अभीष्ट था? बहुत सम्भव है कि वह वाच्यवाचक रूप वैयाकरण सम्बन्ध ही हो।

भामहके अनन्तर अनेक मान्य आलोचकोंने काव्यको शब्द तथाअर्थका सम्मिलित रूप माना है। वामन[1], रुद्रट[2], वाग्भट[3], मम्मट[4], हेमचन्द्र[5],

---

१ काव्यशब्दोऽयं गुणालंकारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते।
भक्त्या तु शब्दार्थमात्रवचनोऽत्र गृह्यते।
—काव्यालंकारवृत्ति १।१।१

२ शब्दार्थौ काव्यम्—रुद्रटः काव्यालंकार २।१
३ शब्दार्थौ निर्दोषौ सगुणौ प्रायः सालंकारौ काव्यम्। (पृ० १४)
४ तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि।
—काव्यप्रकाश १।४

५ अदोषौ सगुणौ सालंकारौ च शब्दार्थौ काव्यम्।
—काव्यानुशासन, पृ० १६

विद्यानाथ[1] आदि हमारे आदरणीय आचार्य काव्यको शब्दार्थ-मय अंगीकार करते हैं। परन्तु इनके ग्रन्थोंमें 'साहित्य' शब्दकी उपलब्धि नहीं होती। साहित्यका प्रथमावतार होता है काव्यमीमांसामें। अलंकारशास्त्रके इतिहासमें राजशेखर ही सर्वप्रथम आचार्य हैं जिन्होंने 'साहित्य' शब्दका प्रयोग पहिली बार 'काव्य'के अर्थमें किया है। इन्होंने 'काव्यपुरुष'की उत्पत्तिके विषयमें एक रोचक आख्यान दिया है। सरस्वतीके पुत्र काव्यपुरुषका विवाह 'साहित्य-विद्या-वधू'के साथ सम्पन्न होता है। प्राचीन आचार्यों—जैसे कौटिल्य आदिकी दृष्टिमें लोकके व्यवहार तथा प्रतिष्ठाके निमित्त चार विद्याएँ मुख्य हैं—आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता तथा दण्डनीति। राजशेखरकी सम्मतिमें साहित्य-विद्या पञ्चमी विद्या है, क्योंकि वह पूर्वोक्त चारों विद्याओंका निष्यन्द—सार—है—

पञ्चमी साहित्यविद्या। सा हि चतसृणामपि विद्यानां निष्यन्दः

—काव्यमीमांसा, पृ० ४

साहित्यविद्याका अर्थ उन्होंने स्वयं दिया है—

शब्दार्थयोर्यथावत् सहभावेन विद्या साहित्यविद्या

—(पृ० ५)

साहित्य विद्या वह विद्या है जिसमें शब्द और अर्थका यथार्थ रूपसे सहभाव, एकत्र स्थिति हो। परन्तु यहां 'यथावत् सहभाव'के विशिष्ट अर्थका परिचय नहीं मिलता। राजशेखर 'यथार्थ सहभाव'से किन सम्बन्धोंकी ओर संकेत करते हैं? इसका पर्याप्त पता नहीं चलता।

इसका विशेष परिचय मिलता है भोजराजके आलोचना ग्रन्थोंमें, अलंकारशास्त्रके इतिहासमें भोजराजका स्थान कुछ विचित्र-सा है।

---

१ गुणालंकारसहितौ शब्दार्थौ दोषवर्जितौ।
गद्यपद्योभयमयं काव्यं काव्यविदो विदुः॥

—प्रतापरुद्रयशोभूषण पृ० ४२

ये किसी मौलिक विचारोंके लिये उतने प्रसिद्ध नहीं हैं जितने वे प्राचीन सिद्धान्तोंके समन्वय करनेमें दक्ष हैं। प्राचीन आलंकारिकोंके द्वारा उद्भावित अनेक सिद्धान्तोंका, जो आपाततः विरोधी प्रतीत होते हैं, उन्होंने समन्वय तथा अविरोध दिखलानेमें विशेष ख्याति प्राप्त की है। 'साहित्य'का सिद्धान्त भी उनके विचारसे साहित्य शास्त्रका मूलभूत सिद्धान्त है।

भोज—साहित्य

'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्'की आधारशिलाके ऊपर उनका विशाल काय 'शृंगारप्रकाश'का प्रासाद प्रतिष्ठित किया गया है। साहित्यकी व्याख्या भोजके शब्दोंमें ही देखिए—

किं साहित्यम्? यः शब्दार्थयोः सम्बन्धः। स च द्वादशधा, (१) अभिधा, (२) विवक्षा, (३) तात्पर्यम्, (४) प्रविभागः, (५) व्यपेक्षा (६) सामर्थ्यम्, (७) अन्वयः, (८) एकार्थीभावः, (९) दोषहानम्; (१०) (११) अलंकारयोगः, (१२) रसावियोगः ॥

भोजकी दृष्टिमें साहित्य शब्द तथा अर्थके सम्बन्धका अपर नाम है। यह सम्बन्ध १२ प्रकारका होता है जिनमें प्रथम आठ प्रकारके सम्बन्ध शब्द तथा वाक्यकी शक्तिसे सम्बद्ध होनेसे वैयाकरण सम्बन्ध हैं और अन्तिम चार सम्बन्ध काव्यगत सम्बन्ध हैं जिनके द्वारा काव्यमें सौन्दर्यका सन्निवेश तथा शोभाका संविधान किया जाता है। प्रथम आठ बाह्य सम्बन्ध हैं तथा वाच्यवाचक भावसे सम्बद्ध हैं। इन प्रसिद्ध सम्बन्धोंके अनुशीलनकी आवश्यकता साहित्य ग्रन्थमें नहीं है। अन्तिम चार सम्बन्ध वास्तवमें काव्यके स्वरूपोपपादक तथा अन्तरंग हैं और इन्हींका वर्णन आलोचनाशास्त्रका प्रधान उद्देश्य है। भोजने व्यापक दृष्टि रखकर ही दोनोंका समावेश अपने ग्रन्थमें किया है। रत्नेश्वरने भी अन्तिम चार सम्बन्धोंको काव्यके लिये 'सर्वस्वायमानः सम्बन्धः' (सर्वस्वभूत

सम्बन्ध) अंगीकार किया है। काव्यके निमित्त इन्हीं चारों सम्बन्धोंका अस्तित्व एकान्त आवश्यक होता है। ये सम्बन्ध हैं--

(१) दोषहान–दोषोंका परिहार,

(२) गुणोपादान–गुणका ग्रहण,

(३) अलंकार योग–काव्यके शोभाधायक भूषणोंका योग,

(४) रसावियोग–रसके साथ अभेद सम्बन्ध।

आदिम तीनों सम्बन्धोंकी सत्ता रहनेपर भी यदि काव्य रसके उन्मीलनमें समर्थ नहीं होता, तो भोजकी दृष्टिमें भी वह नितान्त हेय तथा निन्दनीय पदार्थ ही होगा। इसीलिये उनके मतमें 'रसोक्ति'की ही श्रेष्ठता सर्वत्र रहती है। इसी सिद्धान्तपर उनका काव्यलक्षण प्रतिष्ठित है—

निर्दोषं गुणवत् काव्यम् अलंकारैरलङ्कृतम्।
रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति॥

—(सरस्वती कण्ठा० १।२)

शारदातनयने अपने 'भावप्रकाश' (अध्याय ६, पृ० १४५)में भोजराजकृत साहित्य-कल्पनाको अंगीकृत किया है। उन्होंने इन द्वादश सम्बन्धोंका बड़ा ही प्रामाणिक तथा सुबोध वर्णन अपने ग्रन्थमें प्रस्तुत किया है[1]। इस प्रकार भोजकी दृष्टिमें शब्द तथा अर्थका वैशिष्ट्य, जिसके कारण साधारण शब्दार्थ काव्य रूपमें परिणत हो जाते हैं, 'साहित्य' ही है। भिन्न-भिन्न सम्प्रदायवालोंकी दृष्टिसे यह वैशिष्ट्य भिन्न-भिन्न ही होता है—अलंकार, गुण, रस तथा ध्वनि, परन्तु भोजराजने इनमें

---

१ भावप्रकाश—गायकवाड सीरीज नं० ४५, १९३०, बड़ोदा (पृष्ठ १४५–१५२)

किसीका भी खण्डन न कर सब मतवालोंके मतोंको अपने ग्रन्थमें स्थान दिया है। वे स्वत: काव्याधायक वैशिष्टयको 'साहित्य' ही मानते हैं।

कुन्तक—साहित्य

कुन्तक अपनी जिन मौलिक कल्पनाओंके लिये साहित्य-जगत्में प्रख्यात हैं उनमेंसे एक अत्यन्त कमनीय कल्पना है—साहित्य। 'वक्रोक्ति' सिद्धान्तके मौलिक व्याख्याता तथा उद्भावकके रूपमें आलोचकवर्ग उनसे सर्वथा परिचित हैं। 'साहित्य'की उदात्त कल्पना भी उसी वक्रोक्ति सिद्धान्तकी परिपूरिका मानी जानी चाहिए। भोजराज और कुन्तक समकालीन आचार्य हैं—एकने मालवामें अलंकारके तथ्योंका निरूपण किया, तो दूसरेने काश्मीरमें उसीके सिद्धान्तोंका निर्धारण किया। 'साहित्य'की आलोचनामें दोनोंमें विपुल पार्थक्य है। भोजराजने दोषहान आदि चार प्रकारके साहित्यका निर्देश कर अपनी संग्राहिका बुद्धिका ही विशेष परिचय दिया है, कुन्तकने जो मौलिक भावना, सूक्ष्म विचार, गूढ़ार्थ विवेचन 'साहित्य'के प्रसंगमें किया है उसके लिये उनकी जितनी श्लाघा तथा प्रशंसा की जाय थोड़ी ही है। भोजराजके निरूपणमें उतनी सूक्ष्मता तथा उतनी विवेकबुद्धिका सर्वथा अभाव है।

'साहित्य'के प्रकृत अर्थके प्रथम व्याख्याता कुन्तक ही प्रतीत होते हैं। इसकी सूचना उनके शब्दोंसे भलीभांति मिलती है। कुन्तकने 'साहित्य' पदका जैसा संज्ञानिर्देश तथा व्याख्यान किया है वह आजतक अतुलनीय है। इस पदके व्याख्या प्रसंगमें उन्होंने जिस आत्मप्रसाद तथा प्रच्छन्न गौरवकी सूचना दी है उससे यही ज्ञात होता है कि व्याख्यामें अभिनव दृष्टिभंगी अलंकारशास्त्रके इतिहासमें लाई है उन्होंने ही सबसे पहिले। उनके शब्द कितने सुन्दर हैं—

यदिदं साहित्यं नाम तद् एतावति निस्सीमनि समयाध्वनि साहित्यशब्द-मात्रेण प्रसिद्धम्। न पुनरेतस्य कविकर्म-कौशलकाष्ठाधिरूढिरमणीयस्य

अद्यापि कश्चिदपि विपश्चित् 'अयमस्य परमार्थः' इति मनाङ्मात्रमपि विचारपदमवतीर्णः । तदद्य सरस्वती हृदयारविन्दमकरन्दबिन्दुसन्दोहसुन्दराणां सत्कविवचसाम् अन्तरामोदमनोहरत्वेन परिस्फुरद् एतत् सहृदयषट्पद-चरणगोचरतां नीयते ।

—वक्रोक्तिजीवित

इस कमोल कमनीय गद्यका यही तात्पर्य है कि अबतक किसी विपश्चित्ने 'साहित्य'के परमार्थकी व्याख्या करनेका विचार नहीं किया था। यह केवल सरस्वतीके हृदयकमलके मकरन्दबिन्दु-पुञ्जसे सुन्दर सत्कवि वचनोंके भीतर ही आमोदसे मनोहर होकर स्फुरित हो रहा था। वही आज सहृदय मधुव्रतोंके आस्वादनके लिये बाहर प्रकट किया जा रहा है।

इससे यही ध्वनि निकलती है कि इस विषयका सांगोपांग सूक्ष्म विचार कुन्तकने ही किया है। आत्मगौरवकी महिमा दिखलाता हुआ यह वाक्य तथ्यका ही कथन है, क्योंकि पूर्ववर्ती आलंकारिकोंकी व्याख्या तथा कल्पनासे तुलना करनेपर कुन्तकका 'साहित्य' विवेचन निःसन्देह समधिक प्रौढ़, प्रामाणिक तथा प्राञ्जल प्रतीत होता है।

———

*

*

(ख) साहित्यका अर्थ

कुन्तकने 'साहित्य'की परिभाषा इस प्रकार की है—

साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रति काप्यसौ ।
अन्यूनानतिरिक्तत्व-मनोहारिण्यवस्थितिः ॥

—व० जी० १।१७, पृ० २७

साहित्य क्या है ? साहित्य शब्दार्थ-युगलकी एक अलौकिक विन्यास-भंगी है जो न्यूनता तथा अतिरिक्ततासे वर्जित होकर मनोहर तथा शोभाशालितासे सम्पन्न होती है। आशय है कि शब्द और अर्थका मनोहर विन्यास 'साहित्य' है जिसमें शब्द और अर्थ परस्पर इतने तुले हुए हों कि न तो किसीमें न्यूनता हो और न अधिकता हो ।

कुन्तकने काव्यका जो लक्षण प्रस्तुत किया है वह इसी 'साहित्य'की ही व्याख्या करता है। उनकी दृष्टिमें काव्य है—

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि ।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि ॥

—व० जी०

मिलित शब्द-अर्थ-युगल कविके वक्रव्यापारसे शोभित तथा सहृदयोंको आनन्ददायी रचनाबन्धमें विन्यस्त होनेपर 'काव्य' पदवी प्राप्त करता है। इस प्रकार कुन्तककी दृष्टिमें काव्य और साहित्य समानार्थक पद हैं।

ग्रन्थके प्रारम्भमें की गई प्रतिज्ञा भी इसी बातको पुष्ट कर रही है। आचार्यका कहना है—

साहित्यार्थसुधासिन्धोः सारमुन्मीलयाम्यहम् ।

व० जी० पृ० १

यहां काव्यके लिये ही 'साहित्य' शब्दका प्रयोग स्पष्टतः किया गया है।

काव्य और साहित्यमें भेद

काव्य और साहित्य इस प्रकार समानार्थक शब्द हैं, परन्तु इन दोनों पदोंमें दो विभिन्न अभिप्रायोंका प्रकाशन किया गया है। 'काव्य'का अर्थ है—कवेः कर्म काव्यम्—कविका कर्म अर्थात् कविके द्वारा निर्मित वस्तु। 'कवि'की व्युत्पत्ति भी देखते चलिए। इसकी व्युत्पत्ति वैयाकरण दृष्टया कुङ शब्दे कुधातुसे 'अच इः' (उणादिसूत्र ४।१३८) सूत्रसे 'इ' प्रत्ययसे निष्पन्न मानी जाती है। राजशेखर कवि शब्दकी व्युत्पत्ति कबृ वर्णे धातुसे मानते हैं। कबृ धातुका अर्थ है वर्ण अर्थात् रँगना और इसी धातुसे कर्बुर तथा कबरी शब्दोंकी निष्पत्ति वैयाकरण लोग मानते हैं। परन्तु राजशेखरके विचारसे 'वर्ण'का अर्थ वर्णन करना है। पाणिनिमें आपसमें मिलते-जुलते दो धातु हैं—कु वर्णे तथा कुङ शब्दे, जिनका अर्थ समान ही है। इन्हीं दोनोंसे निकला है औणादिक इ प्रत्ययके योगसे हमारा परिचित 'कवि' शब्द। इसी कविका कर्म है 'काव्य'—

'कवयतीति कविः', तस्य कर्म काव्यम्—इति विद्याधरः।
'कौति शब्दायते विमृशति रसभावान्' इति कविः—इति भट्टगोपालः

प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता
तदनुप्राणनाज्-जीवद् वर्णनानिपुणः कविः
तस्य कर्म स्मृतं काव्यम्।　　—भट्टतौत

इन विभिन्न व्युत्पत्तियोंका एक ही लक्ष्य है—कवि वही होता है जो किसी वस्तुके वर्णनमें निपुण होता है। कविकी अपनी विशिष्ट शक्ति है प्रतिभा और इसी प्रतिभाके बलपर कवि लोकोत्तर अलौकिक वर्णनमें निपुण होता है। ऐसे प्रतिभासम्पन्न वर्णनानिपुण कविका कर्म होता है काव्य।

उधर 'साहित्य'की व्युत्पत्ति है सहित शब्दसे भाववाचक ष्यञ् प्रत्ययसे--सहितयोः शब्दार्थयोः भावः साहित्यम्--एक साथ सम्मिलित शब्द तथा अर्थका भाव है साहित्य। इस व्युत्पत्तिके अनुसार दोनोंमें कविनिर्मितिके द्विविध पक्षका प्राधान्य लक्षित होता है। 'काव्य' शब्द कविके अर्थात् वैयक्तिक उपादानकी प्रधानताकी ओर संकेत करता है--काव्य रचयिताके व्यक्तित्वकी अभिव्यक्ति है, रचयिता अपने व्यक्तिगत गुण, दोष तथा साधनको लेकर ही अपने भावोंका प्रकाशन काव्यमें करता है। 'साहित्य' शब्द कविरचनाके कथाशरीरकी ओर संकेत करता है। 'साहित्य' पद शब्द तथा अर्थके निर्वैयक्तिक उपादानकी अभिव्यञ्जना करता है। 'साहित्य' पद, द्योतित करता है कि कविकी रचना शब्द तथा अर्थके परस्पर समन्वय तथा सामञ्जस्यका परिणत फल होती है। 'काव्य' शब्द कर्तृ पक्षका प्राधान्य उद्घोषित करता है, तो 'साहित्य' पद कृति-पक्षके सामरस्यका उन्मीलन करता है। हैं दोनों ही समानार्थक कविके द्वारा निर्मित कमनीय कृतिके अर्थमें, परन्तु व्युत्पत्तिकी दृष्टिसे दोनोंमें यह सूक्ष्म विभेद निर्दिष्ट किया जा सकता है।

साहित्यका रूप

कुन्तकके काव्यलक्षणकी समीक्षासे हम उनकी साहित्य-विषयक विचारधारासे पूर्णतः अवगत हो जाते हैं। शब्द तथा अर्थको काव्यके रूपमें परिणत होनेके लिये दो पदार्थोंकी विशेष आवश्यकता रहती है जिनमें एक है गुणरूप 'साहित्य' और दूसरा है अलंकाररूपा 'वक्रोक्ति'। 'साहित्य' शब्द तथा अर्थके सहभाव–सम्यक् योगका ही अपर नाम है। प्रश्न यह है कि शब्द तथा अर्थके परस्पर नैसर्गिक नित्य सम्बन्धके विद्यमान रहनेपर इस 'साहित्य'की आवश्यकता कौन-सी है? गो शब्दके उच्चारण मात्रसे श्रोताके नेत्रोंके सामने सास्नादिमान् पदार्थकी उपस्थिति सद्यः हो जाती है। 'घट' शब्दके श्रवणमात्रसे सुननेवाला जलके आनयनमें उपादेय पदार्थ विशेषका बोध कर लेता है। ऐसी दशामें साहित्य तो सर्वत्र विद्यमान रहता है। भाषाके माध्यम द्वारा जो कोई भी वस्तु प्रकटित होती है, वह साहित्यसे विरहित हो ही नहीं सकती। यह दशा समस्त वाङ्मयकी है। ऐसी अवस्थामें काव्यमें 'साहित्य'की सत्तापर आग्रह दिखलानेका स्वारस्य क्या हो सकता है? किसी भी वाक्यसे अर्थावगति होनेपर उसमें पदकी सत्ता रहती है, वाक्यगत नाना पदोंकी स्थिति रहती है तथा उनमें परस्पर युक्तियुक्तता अथवा परस्पर सामर्थ्यका भी अवस्थान रहता है। अतः 'साहित्य' पदवाक्यप्रमाणके अन्तर्गत ही समग्र वाङ्-निर्मितिमें स्वतः सिद्ध होता है, फिर काव्यमें उनकी सत्ता करो इतना महत्त्व देनेसे तात्पर्य क्या है? इसके उत्तरमें कुन्तकका उत्तर है—पूर्वोक्त कथन बिल्कुल ठीक है, परन्तु यह तो है सामान्य साहित्य। काव्यमें विशिष्ट साहित्यकी आवश्यकता होती है—

शब्दार्थौ सहितावेव प्रतीतौ स्फुरतः सदा ।
सहिताविति तावेव किमपूर्वं विधीयते ॥

—व० जी०, पृ० १।११६

ननु च वाच्यवाचकसम्बन्धस्य विद्यमानत्वाद् एतयोर्न कथंचिदपि साहित्यविरहः। सत्यमेतत् ,किन्तु विशिष्टमेवेह साहित्यमभिप्रेतम् । कीदृशम् ? वक्रताविचित्रगुणालंकारसम्पदां परस्परस्पर्धाधिरोहः ॥

—व० जी०, पृ० १०

प्रश्न—वाच्यवाचकसम्बन्धके विद्यमान रहनेके कारण शब्द और अर्थमें साहित्यका विरह किसी प्रकारसे हो ही नहीं सकता ? उत्तर—ठीक है, परन्तु काव्यमें विशिष्ट साहित्य अभीष्ट होता है। वक्रतासे विचित्र गुण तथा अलंकारकी सम्पत्तिका परस्पर स्पर्धा अधिरूढ़ होना।

साहित्य शब्द तथा अर्थका परस्पर मिलन है, परन्तु यह मिलन किस प्रकारका होता है ? न्यूनता तथा अतिरिक्ततासे शून्य मनोहर मिलन अर्थात् शब्द और अर्थ किसीकी अपेक्षा कम नहीं होते और न बड़ा या उत्कृष्ट ही होते हैं। दोनों संतुलित रहते हैं। वे होते हैं 'परस्पर स्पर्धित्व रमणीय' अर्थात् एक दूसरेकी स्पर्धा करके परस्पर समानभावसे बड़े होते हैं और अनन्तर परस्पर संयोगसे रमणीय होते हैं। अतः कुन्तककी सम्मतिमें केवल कविकौशल कल्पित कमनीयतापूर्ण शब्द न तो काव्य होता है और न केवल 'रचना वैचित्र्य चमत्कारकारी' अर्थ ही काव्य होता है। काव्य तो परस्पर स्पर्धासे उत्पन्न रमणीयता-सम्पन्न शब्दार्थ युगलका ही प्रख्यात अभिधान है—

वाचको वाच्यं चेति द्वौ सम्मिलितौ काव्यम् ।

—व० जी०, पृ० ७

शब्द तथा अर्थ, दोनोंके बीच आनन्दका बीज निहित रहता है। उस आनन्दको एक ही अधिकरणमें सीमाबद्ध कर देना आलोचनाकी हत्या

है। तेलकी सत्ता प्रतितिलमें होती है। उसी प्रकार सहृदयोंके आह्लाद तथा आनन्दका कारण शब्द तथा अर्थ दोनोंमें विद्यमान रहता है--

द्वयोरपि प्रतितिलमिव तैलं तद्विदाह्लादकारिकत्वं वर्तते न पुनरेकस्मिन्।

—व० जी पृ० ७

इस प्रकार कुन्तककी समीक्षासे काव्यमें रहनेवाला 'साहित्य' सामान्य न होकर विशिष्ट रूप रहता है। इस वैशिष्ट्यका रूप है-**परस्परस्पर्धाधिरोहः** या **परस्परस्पर्धित्वम्**। यह स्पर्धिता प्रतियोगितामूलक होनेपर शत्रुभावापन्न नहीं है, प्रत्युत मित्रभावापन्न है। जिस प्रकार दो मित्र आपसमें स्पर्धा कर उन्नतिके शिखरपर पहुँच जाते हैं और आपसमें सहयोगसे एक आदर्श व्यक्तित्वकी रचना करते हैं, उसी प्रकार शब्द तथा अर्थ भी आपसमें सौन्दर्यप्राप्तिके निमित्त स्पर्धा करते हुए अपने सहयोगसे नितान्त ललित वस्तुकी उत्पत्ति करते हैं जो 'काव्य' नामसे अभिहित किया जाता है। कुन्तककी दृष्टिमें शब्द तथा अर्थ दो मित्रोंके समान संयुक्त रहते हैं--

समसर्वगुणौ सन्तौ सुहृदावेव संगतौ
परस्परस्य शोभायै शब्दार्थौ भवतो यथा॥

—व० जी०, १।१८

सौभ्रात्र

वैष्णव कवि पराशरभट्ट (११२३-११५१ ई०)की सम्मतिमें शब्दार्थका सम्बन्ध 'सौभ्रात्र' सम्बन्ध होता है--शब्द तथा अर्थ भाई भाईके समान परस्पर मिले रहते हैं--

अनाघ्रातावद्यं बहुगुणपरीणाहि मनसो
दुहानं सौहार्दं परिचितमिवाथापि गहनम्।
पदानां सौभ्रात्राद् अनिमिषनिसेव्यं श्रवणयोः
त्वमेव श्रीर्मह्यं बहुमुखर वाणीविलसितम्॥

—श्रीगुणरत्नकोश, श्लो० ८

सौहार्द तथा सौभ्रात्र सम्बन्ध एक ही पदार्थ है। इस सम्बन्धमें दोनों व्यक्तियोंकी समकक्षता या तुल्ययोगिता सम्पन्न रहती है। यदि शब्द तथा अर्थमें से कोई भी किसीसे अपकृष्ट या उत्कृष्ट हो,हीन या अधिक हो, तो वह सामञ्जस्य नहीं बनता जो काव्यके लिये नितान्त उपादेय तथा आवश्यक साधन होता है। इस दृष्टिसे कुन्तकका 'साहित्य' औचित्यके समान ही आवश्यक काव्य-तथ्य प्रतीत होता है। अपने ग्रन्थके द्वितीय उन्मेषमें अलंकार-योजनाके अवसरपर कुन्तकने इस तथ्यको स्पष्टतया अभिव्यक्त किया है। उनका कथन है--अलंकारोंकी योजनाके लिये कविको निर्बन्ध, हठ या आग्रह करनेकी आवश्यकता न होनी चाहिए (नातिनिर्बन्धविहिता, व० जी० २।४)। बिना प्रयत्नसे ही जो अलंकार स्वतः उद्भूत हो जायें, उनकी योजना श्लाघनीय तथा आदरणीय होती है। अत्यन्त हठ करनेपर प्रयत्नसे अलंकार योग करनेपर प्रस्तुत औचित्यकी हानि होनेसे वाच्य तथा वाचकमें 'साहित्य'का अभाव हो जाता है। अतः शब्द तथा अर्थके संतुलनका काव्यमें एकान्त महत्त्व है--

व्यसनितया प्रयत्नविरचिते हि प्रस्तुतौचित्यपरिहाणेर्वाच्यवाचकयोः
परस्परस्पर्धित्वलक्षणसाहित्यविरहः पर्यवस्यति।

--व० जी० पृ० ८४

शब्द तथा अर्थका साहित्य

कुन्तकने काव्यमें त्रिविध साहित्यका सम्यक् निर्देश अपने ग्रन्थमें किया है। प्रथम साहित्यका आधार होता है शब्द तथा अर्थ। कविके शब्द तथा तद्गम्य अर्थ साधारणजनके शब्दार्थके समान निःस्फीत तथा निर्जीव न होकर एक अद्भुत चमत्कृतिसे स्फुरित होते हैं। इन दोनोंकी विशिष्टता कुन्तकके शब्दोंमें ही देखिए--

शब्दो विवक्षितार्थैकवाचकोऽन्येषु सत्स्वपि ।
अर्थः सहृदयाह्लादकारिस्वस्पन्दसुन्दरः ॥

—व० जी० १।९

अन्य वाचक पदोंके विद्यमान रहनेपर भी कविके द्वारा अभीष्ट अर्थका जो एकमात्र वाचक होता है वही तो होता है शब्द । सहृदयको आनन्द देनेवाले अपने स्पन्द (स्वभाव) से रमणीय होता है अर्थ । इन्हीं शब्द तथा अर्थका पूर्ण साहित्य काव्यमें सर्वत्र अभिलषित होता है ।

(ग) काव्यमें शब्द-वैशिष्ट्य

काव्यगत शब्दकी यही विशिष्टता होती है कि वह कविके द्वारा विवक्षित अर्थका एकमात्र बोधक होता है। कवि किसी विशिष्ट अर्थके प्रकाशनके लिये शब्दोंका प्रयोग करता है, परन्तु उस पदार्थके पर्यायवाची समस्त शब्दोंमें उस अर्थके प्रकाशनकी योग्यता नहीं रहती। भाषाके शब्द-भण्डारमें कोई एक ही शब्द ऐसा होता है जो कविके अभीष्ट अर्थकी अभिव्यक्ति यथार्थताके साथ कर सकता है।

कविविवक्षितविशेषाभिधानक्षमत्वमेव वाचकत्वलक्षणम् (व० जी० १७)

बादलके अर्थके पर्यायवाची अनेक शब्द हैं—जलद, पयोधर, जलमुच्, बलाहक, मेघ, पयोद, आदि; परन्तु सामान्यतः अभिधेय अर्थकी एकता होनेपर भी प्रसंग विशेषमें ही इनका प्रयोग औचित्यपूर्ण हो सकता है। सन्तप्त जगत्को जलधारासे आप्यायित करनेकी क्षमताकी जो द्योतना 'जलद' शब्दमें है वह जलधारण करनेसे हृष्टपुष्ट श्यामरंग 'पयोधर' शब्दमें नहीं है। कविके हृदयमें जिस मनोरम अर्थकी स्फूर्ति होती है उसका बाहर प्रकाशन एक ही शब्द कर सकता है और वही शब्द वस्तुतः काव्यमें प्रयोजनीय होता है। काशीके प्रौढ़ संस्कृत कवि तथा काव्यमर्मज्ञ महा-महोपाध्याय पण्डित गंगाधर शास्त्रीजी कहा करते थे कि कविताकी रचनाके अवसरपर अर्थविशेषके प्रकाशनके लिये हमारे सामने शब्दोंका एक महान् यूथ आकर खड़ा हो जाता है और कवितामें प्रयोग करनेके लिये गिड़गिड़ाने लगता है। परन्तु हम लोग सन्दर्भ तथा भावके अनुसार एक ही उपयुक्त शब्द चुनकर रख लेते हैं तथा अन्य शब्दोंका तिरस्कार कर देते हैं। शास्त्रीजीके इन शब्दोंमें काव्यगत शब्दोंका वैशिष्ट्य भलीभाँति प्रदर्शित किया गया है।

वाल्टर पेटर

अंग्रेजीके मान्य आलोचक वाल्टर पेटरकी सम्मति इस कथनसे पूर्णतः मिलती है। कुन्तकके अनुसार 'विशिष्ट शब्द' पेटरके अनुसार The unique word' ही है जो विशिष्ट भावके प्रकाशनमें एकमात्र सक्षम होता है। उनके कथनपर ध्यान देना आवश्यक है—

The one word for the one thing, the one thought, amid the multitude of words, terms that might just do;.........the unique word, Clause, sentence, paragraph, essay or song, absolutely proper to the single presentation or vision within.

—Appreciations, Style P. 29.

आशय है कि कांम चलानेवाली अनेक शब्दराशि तथा पदोंके मध्यमें एक ही वस्तु तथा एक ही चिन्ताके लिये एक ही उपयुक्त शब्द होता है—अद्वितीय शब्द, जो वाक्यांश, वाक्य, अनुच्छेद, प्रबन्ध अथवा गान सकल मानसिक व्यापार अथवा आन्तरिक प्रतिभानके लिये सर्वथा उपयुक्त होता है।

इस शब्दमें संगीतकी माधुरी भी विद्यमान रहती है, क्योंकि कुन्तककी उक्तिके अनुसार—

गीतवद् हृदयाह्लादं तद्विदां विदधाति यत्

(व० जी० पृ० २६)

यह शब्द काव्यके मर्मज्ञोंके हृदयमें गीतके समान आनन्द उत्पन्न करता है। काव्य शब्दकी गीतधर्मिताके पक्षपाती आलोचकोंने ही काव्यमें शब्दपक्षकी प्रधानतापर इतना आग्रह दिखलाया है। काव्यके शब्दमें संगीतके समान मनोज्ञताका निवास रहता है और चित्रके समान नेत्ररञ्जक

चाकचिक्यका। इसीलिये बालकसे वृद्धतक समानभावेन काव्यशब्दसे हृदयानुरञ्जन करते हैं।

लैमबार्नकी यह उक्ति इस तथ्यको पुष्ट करती है:—

Poetry is formal beauty. So far as words will take us we may call it an atmosphre, a glamour investing the verse a kind of dream-light not created but proceeding; it stils in us a sense of some mysterions meaning not expressed by the words themselves, not even consciously intended by the poet.

Lamborn: The Rudiments of criticism P. 117.

शब्दकी गीतधर्मिताके विषयमें कारलाइल तथा लेहण्डकी यह उक्ति बड़ी ही अनुरूप है। कार्लाइलका कथन है—

"All speech, even the commonest speech, has something of song in it....Poetry, therefore, we will call, musical thought."

—The Hero: A Poet.

अर्थात् सब काव्य, और क्या साधारणतम वाक्य में भी संगीतका कुछ अंश रहता ही है। इसीलिये कविताको हम लोग संगीतमय चिन्ता कहते हैं। कार्लाइलका 'संगीतमय-चिन्ता' पद काव्यमें मधुरिमा सम्पन्न 'साहित्य'का ही बोधक है। इसमें संगीत द्योतक है काव्यगत शब्दका और चिन्ता बोधक है तद्गत अर्थका।

लेहण्ट भी काव्यमें शब्दमाधुरीके प्रबल समर्थक हैं—

Poetry includes whatsoever of painting can made visible to mind's eye, and what-

so ever of music can be conveyed by sound and proportion without singing and instrumentation.

—What is Poetry?

कविताके मध्यमें निबद्ध होता है चित्रका जो कुछ भी अंश मानस चक्षुका गोचर हो सकता है वह और गीत तथा वाद्यके बिना गीतका जो कुछ भी अंश ध्वनि तथा सौषम्यके द्वारा संचारित किया जा सकता है वह पदार्थ।

लेहण्टके इस कथनमें काव्यमें चित्र होता है शब्दार्थयुगलका अर्थगत धर्म और संगीत होता है ध्वनिगत धर्म। उभय धर्मका सम्मेलन काव्यका निजी सर्वस्व है।

काव्य-शब्दके चमत्कारके निमित्त कालिदासकी इस कमनीय कविताको हम प्रस्तुत कर सकते हैं—

द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां
समागमप्रार्थनया कपालिनः।
कला च सा कान्तिमती कलावतः
त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी ॥

कुमारसम्भव (५।७१)

कपाल धारण करनेवाले व्यक्तिके साथ समागमकी प्रार्थनाके कारण इस समय दो व्यक्तियोंकी दशा अत्यन्त शोचनीय बन गई है। एक तो है कलाधारी चन्द्रमाकी कान्तिमती कला और दूसरी है इस संसारके नेत्रोंके लिए कौमुदीरूपा पार्वती स्वयम्। इस पद्यके शब्दोंका परस्पर साहित्य नितान्त मञ्जुल तथा रमणीय है। नरमुण्डोंकी मालासे सज्जित व्यक्ति घृणाका पात्र होता है। उससे यदि अगत्या अनिच्छया समागम हो भी

जाय, तो समागमकारी व्यक्ति हमारी क्षमाका पात्र होता है, परन्तु यहां तो टूट पड़ी है उससे समागमकी प्रार्थना, आग्रह तथा हठ। कपालीकी संगति वर्जनीय होती है, स्पृहणीय नहीं, परन्तु जो सुन्दरी उससे समागमके निमित्त प्रार्थना करती है वह सचमुच शोचनीयताकी पराकाष्ठापर पहुंच चुकी है!!!

(घ) अर्थका वैशिष्ट्य

कुन्तकके अनुसार अर्थकी विशेषता है—सहृदयाह्लाद स्वस्पन्द सुन्दरता। अर्थात् सहृदयोंके चित्तको आनन्दित करनेवाले अपने स्वरूप (स्पन्द)से सौन्दर्यकी सम्पत्ति। आचार्यकृत व्याख्या इस शब्दको स्पष्ट कर रही है—किसी भी पदार्थको नाना धर्मोंसे चित्रित होनेकी सम्भावना होती है, परन्तु उसी धर्मसे उसका सम्बन्ध स्थापित किया जाता है जो रसिकोंको आनन्दित करनेमें समर्थ होता है। रसका उन्मीलन ही काव्यका मुख्य प्रयोजन ठहरा, अतः जो अर्थ इस रसपोषका अंग बनकर आनन्दोदयमें क्षमता रखता है, वही अर्थ वस्तुतः काव्यमें आदरणीय होता है—

यद्यपि पदार्थस्य नानाविधधर्मखचितत्वं सम्भवति, तथापि तथाविधेन धर्मेण सम्बन्धः समाख्यायते यः सहृदय-हृदयाह्लादमाधातुं क्षमते। तस्य च तदाह्लादसामर्थ्यं सम्भाव्यते येन कदाचिदेव स्वभावमहता रसपरिपोषांगत्वं वा व्यक्तिमासादयति।

—व० जी० पृ० १६

अर्थकी इसी विलक्षणताकी व्याख्या कुन्तकने अन्यत्र भी की है—

प्रतिभायां तत्कालोल्लिखितेन केनचित् परिस्पन्देन परिस्फुरन्तः पदार्थाः प्रकृतप्रस्तावसमुचितेन केनचिद् उत्कर्षेण समच्छादितस्वभावाः सन्तो विवक्षा-विधेयत्वेन अभिधेयतापदवीमवतरन्तः तथाविधविशेषप्रतिपादनसमर्थेन अभि-धानेन अभिधीयमानाश्चेतेन चमत्कारितामापद्यन्ते।

—व० जी० पृ० १७–१८

पदका अर्थ प्रतिभामें तत्काल उल्लिखित होनेवाले किसी स्वभावसे स्फुरित होता है। तदनन्तर प्रकृत सन्दर्भके अनुकूल किसी उत्कर्षके

द्वारा उसका स्वरूप आच्छादित हो जाता है और तब वह कविकी अभि-लाषाके वशमें आकर अभिधेयकी योग्यता प्राप्त करता है। उस विशेष अर्थके प्रतिपादन करनेवाले शब्दोंके द्वारा प्रकट किये जानेपर ही वह चेतन सहृदयोंके हृदयमें चमत्कार उत्पन्न करता है।

वाच्य का विभावरूप

कुन्तकका यह वाक्य मनोविज्ञानकी दृष्टिसे बड़े ही महत्त्व तथा सम्मानका पात्र है। बाह्य अर्थ किस प्रकार विभावके रूपमें परिणत होकर चमत्कारी बनता है, इसकी क्रमबद्ध व्याख्या इस महनीय वाक्यमें विद्यमान है। पदार्थकी विभावरूपमें परिणति क्रमिक तथा व्यवस्थित रूपसे होती है। प्रथमतः पदार्थ कविकी प्रतिभामें प्रतिभासित होता है। अर्थके साक्षात्कारके समय उसका जो मनोहर रूप प्रतिभासित होता है उसी रूपमें वह कविकी प्रतिभाका विषय बनता है। प्रतिभा उसके ऊपर अपना व्यापार करती है। वक्र व्यापारके प्रभावसे उस पदार्थमें प्रकृत सन्दर्भ तथा प्रस्तावके अनुरूप एक नवीन उत्कर्ष उत्पन्न हो जाता है जिससे उसका निजी रूप आवृत हो जाता है। पदार्थके रूपमें एक मञ्जुल परिवर्तन संघटित होता है। कविके द्वारा प्रत्यक्षीकृत पदार्थ और कविके द्वारा निर्मित पदार्थ परस्पर नितान्त भिन्न होते हैं। उसका प्रथम रूप आच्छादित हो जाता है तथा अब वस्तु एक नवीन उत्कृष्ट रूपसे भूषित बन जाती है—यही है **अर्थका विभाव रूपमें आविर्भाव।** उस विशिष्ट अर्थकी अभिव्यक्तिकी योग्यता भी विशिष्ट शब्दके द्वारा होती है। शब्दोंके द्वारा प्रकटित किये जानेपर भी वह पदार्थ अब सहृदयोंके चित्तमें आह्लाद उत्पन्न करता है। प्रत्येक कवितामें अर्थके चमत्कारी होनेका यही क्रम है।

कुन्तकको ऐसे ही शब्द तथा अर्थका परस्पर साहित्य अभीष्ट है। स्वस्पन्द सुन्दर अर्थ ही प्रथमतः कविके अन्तर्लोकमें और अनन्तर बहिर्लोकमें

अनुरूप प्रतिस्पर्धी शब्दका संचार करता है। अर्थ जिस प्रकार भावमय होता है, शब्द भी उसी प्रकार भावमय होता है। रसमय शब्द तथा रसमय अर्थका सामरस्य समान हृदयवाले मित्रोंके मिलनके समान आदरणीय और चमत्कारी होता है। इसी संयोगका परिणतफल होता है—'अद्भुतामोदचमत्कार'।

मन्त्रशक्ति

पाश्चात्य आलोचकोंको भी कुन्तकका यह 'साहित्य' सर्वथा अभीष्ट है। एबरक्राम्बी जिसे काव्यका प्राणभूत मुख्य प्रयोजन मानकर Incantation (मन्त्रशक्ति)के नामसे पुकारते हैं, वह यही कुन्तक निर्दिष्ट 'शब्दार्थ-साहित्य' ही है। एबरक्राम्बीके शब्दोंमें 'मन्त्र-शक्ति'का यह रूप है—

I will call it, compending, 'incantation': the power of using words so as to produce in us a sort of enchantment; and by that I mean a power not only to charm and delight, but to kindle our minds into unusual vitality, exquisitively aware both of things and of the connexion of things.

The Idea of Great Poetry P. 18.

अर्थात् काव्यका यह प्रभाव 'मन्त्रशक्ति' कहा जा सकता है। हमारे भीतर एक प्रकारके संमोहन उत्पन्न करनेके निमित्त शब्दोंकी यह विशिष्ट शक्ति है। इस शक्तिका अभिप्राय यही नहीं है कि वह केवल चमत्कार तथा आह्लाद उत्पन्न करती है, प्रत्युत वह हमारे चित्तको असाधारण प्राणप्राचुर्यसे उद्दीप्त करनेकी शक्ति है। यह विशेषरूपसे वस्तुओं तथा वस्तुओंके सम्बन्धके विषयमें अवगतिसम्पन्न रहती है।

काव्यमें सिद्ध मन्त्रशक्ति हमारे हृदयको मुग्ध भी करती है तथा उद्दीप्त भी करती है—वस्तुतः सौम्य भाव तथा उग्रभाव द्विविध भावोंसे सम्पन्न होती है।

डिक्शन

एबरक्राम्बीको यह साहित्य सर्वतोभावेन काव्यमें स्पृहणीय तथा श्लाघनीय है। शब्द-सौष्ठवके साथ अर्थ-सौन्दर्यके साहचर्य विधानको वे डिक्शन Diction के नामसे पुकारते हैं और काव्यमें इस विधानके सर्वथा आग्रही हैं। इस 'डिक्शन' शब्दकी व्याख्या कुन्तकके 'साहित्य'के साथ सर्वथा मेल खाती है। वे कहते हैं—

The poets elaborate use of diction—his cunning manipulation of the suggestions and implications and niceties in the sense of his words is only the counterpart of the meaning side of language to his equally elaborate use of the sound of language.

Abercrombie--Poetry: Its
Music aud Meaning P. 49.

आशय यह है कि शब्दका अर्थ विधान ही कविके लिए अपेक्षणीय वस्तु नहीं है, प्रत्युत अर्थकी व्यञ्जना, गूढ़ता तथा सुषमा भी उसका अत्यावश्यक अवयव है। इसके साथ भाषाके सौष्ठव-भामहके शब्दोंमें सौशब्द्य विधानकी ओर भी उसका लक्ष्य होता है। इन दोनोंका एकत्र प्रयोग कहलाता है—डिक्शन।

इस साहित्यके अभावमें शब्द तथा अर्थकी बड़ी दुरवस्था होती है? शक्तिशाली शब्दके अभावमें अर्थ स्वतः अपनेमें परिस्फुरित होनेपर भी बाह्य प्रकाशनके बिना 'मृतकल्प' बना रहता है। और शब्द वाक्योपयोगी अर्थको न बतलाकर जब अन्य वाच्य या अर्थको प्रकट करता है तब वह वाक्यके लिए 'व्याधिभूत' (रोगके समान) होता है—

अर्थः समर्थवाचकासद्भावे स्वात्मना स्फुरन्नपि मृतकल्प एवावतिष्ठते। शब्दोऽपि वाक्योपयोगि-वाच्यासंभवे वाच्यान्तरवाचकः सन् वाक्यस्य व्याधि-भूतः प्रतिभाति ॥

—व० जी० पृ० १४

अर्थके मृतकल्प रूपको दूर करनेकी क्षमता रखता है शक्तिशाली विशिष्ट शब्द तथा वाक्यकी व्याधिको दूर करनेकी योग्यता रखता है वाक्योपयोगी अर्थ। उचित शब्द तथा उचित अर्थका श्लाघनीय संयोग ही अलंकार शास्त्रानुकूल 'साहित्य' है।

साहित्यका द्वितीय प्रकार होता है **वाक्यगत साहित्य** जहां शब्द तथा अर्थ एक साथ मिलकर आनन्द उत्पन्न करते हैं। कुन्तकने अपने काव्यलक्षणमें 'सहितौ' पदकी विशिष्टता दर्शाते लिखा है—

'सहितौ' इत्यत्रापि यथायुक्ति स्वजातीयापेक्षया शब्दस्य शब्दान्तरेण वाचस्य वाच्यान्तरेण च साहित्यं परस्परस्पर्धित्वलक्षणमेव विवक्षितम्। अन्यथा तद्विदाह्लादकारित्वहानिः स्यात्।

—व० जी० पृ० १२ (वृत्ति)

अर्थात् 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्'में 'सहितौ' का निजी स्वारस्य है। युक्तिके अनुरूप जहां एक शब्द दूसरे शब्दके साथ तथा एक अर्थ दूसरे अर्थके साथ इस प्रकार सम्मिलित रहता है कि आपसमें एक दूसरेसे स्पर्धा किया करे—अपने सौन्दर्यकी सत्ताके लिए शब्द अन्य शब्दके साथ तथा अर्थ अन्य अर्थसे परस्पर स्पर्धा करते हैं वही साहित्य है। यहां कुन्तक साहित्यको वाक्यगत भी माननेके पक्षपाती हैं।

साहित्यका एक तृतीय प्रकार भी निर्दिष्ट है जो **प्रबंधगत साहित्य** का द्योतक है। कुन्तकका कहना है—

मार्गानुगुण्यसुभगो माधुर्यादि-गुणोदयः।
अलङ्करणविन्यासो वक्रतातिशयान्वितः ॥

वृत्त्यौचित्यमनोहारि रसानां परिपोषणम्।
स्पर्धया विद्यते यत्र यथास्वमुभयोरपि ॥

जहां रीतिके औचित्यसे सुन्दर माधुर्य आदि गणोंका उदय हो, वक्रताके अतिशयसे सम्पन्न अलंकारोंका विन्यास हो, वृत्तिके अनुरूप ही रसोंका परिपोषण हो—तथा ये जहां परस्पर स्पर्धाके साथ विद्यमान हो, वह साहित्य कहलाता है। रीति, गुण, अलंकार, वक्रोक्ति, वृत्ति तथा रस—इन काव्य-तत्त्वोंका परस्पर स्पर्धा रूपसे एकत्र निवास साहित्यका सबसे श्रेष्ठ प्रकार है। काव्यके ये समग्र तत्त्व जहां आपसमें मिल-जुलकर काव्यकी सुषमा उत्पन्न करते हों वहां साहित्यका चरम निवास रहता है।

'साहित्य'के इन प्रकारोंके दृष्टान्त महाकवियोंके काव्योंमें हमें उपलब्ध होते हैं। कालिदासका 'अनाघ्रातं पुष्पं' श्लोक वाक्यगत साहित्यका निदर्शन है, तो समग्र 'अभिज्ञान शाकुन्तल' प्रबन्धगत साहित्यका दृष्टान्त है क्योंकि इसमें काव्यके समस्त तत्त्वोंका मञ्जुल सामञ्जस्य उपस्थित है।

एक उदाहरण

हिन्दीका यह प्राचीन पद्य 'साहित्य'का बड़ा ही सुन्दर दृष्टान्त है—

छहरि छहरि झिनी बूँदनि परति मानो,
घहरि घहरि घटा छाई है गगन मैं।
मोंसो कह्यो श्याम चलो आज झूलिं वे को
फूली न समाई ऐसी भई है मगन मैं।
चाहती उठोई उठि गइ निगोड़ी नींद,
सोइ गए भाग मेरो जागि वा जगन मैं।
आँखि खोलि देखो न घन है न घनश्याम
वेई छाई बूँदनि मेरे आँसू है दृगन मैं॥

वियोगविधुरा नायिकाका कितना सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया गया है। नायिका नायकके वियोगमें रोती रोती सो गई थी। वह सपना देखती है कि आकाशमें घहरानेवाले बादलोंकी घटा छाई हुई है। जलके झीने बूंद छहर छहर आसमानसे गिर रहे हैं। ऐसे समय श्यामने आकर कहा कि प्यारी झूला झूलनेके लिए चलो। मैं इस बातको सुनकर फूली न समाई। मैं उठना ही चाहती थी कि निगोड़ी नींद उठ गई और जागकर भी मेरे भाग्य सो गए। आंख खोलकर देखती हूं तो न तो घन है और न घनश्याम हैं। मेरे नेत्रोंमें कुछ आंसुओंके ही बूंद छाये हुए हैं। इस कमनीय पद्यमें शब्दकी सुषमा तथा अर्थकी सुन्दरता बड़ेही अच्छे ढंगसे एकत्र सिद्ध हो सकती है।

इस कवित्तके प्रथम चरणमें शब्दोंका इतना सुन्दर विन्यास है कि प्रतीत होता है कि आकाशमें घन घहरा रहे हों तथा पानीके बूंद छहर छहर कर भूतलपर पड़ रहे हों। शब्द तथा अर्थगत ध्वनिसाम्यका पूर्ण

विलास है। नायिका अपने प्रियतमके प्रस्तावपर स्वयं उठना ही चाहती थी कि उसकी निगोड़ी नींद उठ गई। इस चरणका विरोधाभास देखने ही योग्य है। नींद तो है स्वयं 'निगोड़ी' —गोड़से हीन, पैरसे रहित, परन्तु आश्चर्य है वह उठ खड़ी होती है। निगोड़ीका उठना विस्मय-कारक अवश्य होता है। नींद टूट जानेसे स्वप्नमें झूला झूलनेका आनन्द ही नहीं आया, अतः नींद सचमुच निगोड़ी—दुश्चरित्रा थी इसमें क्या कोई सन्देह है? नायिकाके भाग्य जागकरके भी सोय गये। प्रियतम का स्वयं झूलनेका प्रस्ताव भाग्योदयकी चरम निशानी है, परन्तु हरामी नींदने सारा मजा किरकिरा कर दिया—सारा गुड़ गोबर हो गया। अतः उसका 'निगोड़ीपना' सब तरहसे सिद्ध हो रहा है। सुन्दरी उठकर देखती है तो क्या देखती है? न तो घन कहीं है और न घनश्याम। नेत्रोंमें केवल आंसूके बूंद छाये हुए हैं। यह सब करामात है इन कतिपय आंसुओं की ही। इस अन्तिम चरणमें स्वप्नके रहस्यकी ओर संकेत है कि किस प्रकार स्वप्नमें वर्तमान तथा भविष्यका एकत्र मिलन सिद्ध होता है—आंसुओंकी, बूंदोंसे रिमझिम पानीकी बूंदोंकी स्मृति, उससे झूलेका प्रस्ताव, तथा नींद खुल जानेपर प्रस्तावका अन्त—आदि समग्र बातें परस्पर अनुस्यूत शृंखलाकी भांति मनोवैज्ञानिक हृदयको खींच रही हैं। कवित्वमें इस प्रकार शब्द तथा अर्थका पूर्ण साहित्य है।

साहित्यकी समीक्षाका अवसान कुन्तकने इन पद्योंसे किया है जिसमें 'साहित्य'के मूल्य तथा महत्त्वका अभिराम अंकन है। वे कहते हैं कि अर्थकी पर्यालोचना करनेके बिना भी जो काव्य अपने शब्द-सौन्दर्यकी सम्पत्तिसे काव्यमर्मज्ञोंके हृदयमें आह्लाद उत्पन्न करता है वही सच्चा काव्य है और इस विषयमें उसकी गीतके साथ तुलना की जा सकती है। गीतका शब्द माधुर्य अर्थबोधके बिना ही हमारे हृदयमें आनन्दका उत्स उत्पन्न कर देता है। काव्य की भी यही गति है। अर्थके ज्ञान हो जानेपर काव्य पद पदार्थ तथा वाक्यसे ऊपर उठकर पानकके स्वादके समान सज्जनोंके

हृदयमें अनिर्वचनीय आनन्द उत्पन्न करता है। जीवनके बिना शरीर तथा स्फुरण या संचलनके बिना जीवन निःसार होता है। उसी प्रकार साहित्य के बिना काव्य भी निर्जीव तथा निष्प्राण होता है। अतः 'साहित्य' ही काव्य का प्राण है——जीवनाधायक तत्त्व है—

अपर्यालोचितेऽप्यर्थे बन्धसौन्दर्यसम्पदा।
गीतवद् हृदयाह्लादं तद्विदां विदधातियत् ॥
वाच्यावबोधनिष्पत्तौ पदवामार्थव र्जितम्
यत् किमप्यर्पत्यन्ता पानकास्वादवत् सताम् ॥
शरीरं जीवितेनैव स्फुरितेनेव जीवितम्
बिना निर्जीवतां येन वाक्यं याति विपश्चिताम् ॥

—व० जी० पृ० २६, श्लोक २७–३६

(ङ) 'साहित्य'—पाश्चात्य मत

कुन्तककी इस सुन्दर कल्पनाकी तुलना पाश्चात्य आलोचकोंके साथ भलीभांति की जा सकती है। कुन्तक जिस काव्यतत्त्वको 'साहित्य' कहते हैं उसे वाल्टर पेटर स्टाइल (Styie) तथा एबरक्राम्बी डिक्शन (Dictıon) के नामसे पुकारते है। फ्रान्सके विख्यात लेखक फ्लाउबर (Flaubert) की सम्मतिमें शब्द तथा अर्थका मञ्जुल सामञ्जस्य काव्यका प्राण है। जिस प्रकार भौतिक शरीरसे रंग, विस्तार आदि गुणोंके हटा देनेसे वह एक निर्जीव पिण्ड बन जाता है, उसी प्रकार काव्यकी आकृति (शब्द) उसके विचार (अर्थ) से वञ्चित कभी नहीं की जा सकती:—

There are no beautiful thoughts, without beaueiful forms, and conversely. As it is impossible to extract from a physical body the qualities that really constitute it--colour, extension and the like-withoul reducing it to a hollow abstraction, in a word, without destroy ing it; just so it is impossible to detach the form from the idea; for the idea exists by virtue of the form.

—Walter Pater : Appreciations में उद्धृत, पृ० ३०

पेटरकी सम्मतिमें ललित कलाका भी यही वैलक्षण्य होता है कि उसमें उसकी आकृतिका उसकी आत्मासे पृथक्करण नहीं हो सकता। संगीतकी महिमाका यही रहस्य है कि उसमें उसके विषय तथा अभिव्यक्तिमें पार्थक्य

नहीं किया जा सकता। भाव तथा अभिव्यक्तिका परस्पर संवलित रूप होकर संगीत हमारे हृदयमें आनन्दके अतिशयका कारण बनता है; उसी प्रकार साहित्यकी भी दशा है। कुन्तकने भी 'गीतवद् काव्यम्' कहकर इसी साम्यकी ओर संकेत किया है। पेटरके शब्द ये हैं—

If music be the ideal of all art whatever, precisely because in music it is impossible to distinguish the form from the substance or matter, the subject from the expression; then litrature, by finding its specific excellence in the absolute correspondence of the term to its import, will be but fulfilling the condition of all artistic quality in things everywhere of all good art.

—Parte.: Appreciations pp. 37-38

पेटरके मतमें 'स्टाइल' ही काव्यमें मुख्य वस्तु होता है। इसकी व्याख्या करते हुए वे लिखते हैं कि शब्द तथा अर्थके साथ युक्त होनेकी समस्त प्रक्रियाके द्वारा शोभन लिखनेकी नियमावली मनमें ऐक्य अथवा तादूप्य उत्पन्न करनेकी ओर लक्षित करती है। शब्दपुंज, वाक्य, वाक्यावयव, समग्ररचना, गीत, लेख, आदिमें विषयके साथ अपनेको एकताके सूत्रमें बांधनेकी यदि गति विद्यमान है—ऐक्य सिद्धिकी ओर यदि गति अभिमुखी होती है, तो यही होता है स्टाइलका प्रकृत पन्था।

All the laws of good writing aim at a similar unity or identity of the mind in all the processes by which the word is associated with its import......To give the phrase, the sentance,

the structural member, the entire composition, song or essay, a similar unity with its subject and itself—style is in the right way when it tends towards that. All depends upon the original unity, the vital wholeness and identity, of the initiary apprehension of view.

—Appreciations: Style P. 22

इस उद्धरणमें unity से तात्पर्य है ऐक्य और Style से तात्पर्य है साहित्य। कविकी आत्माके साथ शब्दार्थ युगलका सामञ्जस्य उत्पन्न होनेपर भी एक प्रकारका साहित्य उत्पन्न होता है। इसीलिये पाश्चात्य आलोचक स्टाइल या साहित्यको ही वस्तुतः मनुष्य मानते हैं—Style is the man जिस अर्थमें बीज ही वृक्ष होता है उसी अर्थमें साहित्यमें ही लेखककी वास्तव सत्ता रहती है। लेखककी जितनी विशिष्टता होती है वह इसी साहित्यमें निवास करती है। अतः स्टाइल सचमुच लेखकका प्रतीक है। ब्रेडलेने पेटरकी इस मीमांसाको स्वीकृत कर इसे उपयुक्त माना है[१]।

---

१. Poetry for Poetry's sake. पृ० १६

*

(च) साहित्य—त्रिकमत

शब्दार्थ-युगलके साहित्यकी तुलना कुन्तकने समान हृदयवाले मित्रोंके सम्मिलनके साथ की है—**सुहृदाविव संगतौ** (व० जी०)। यह उपमा किसी ही अवधि तक सार्थक कही जा सकती है, सर्वांशमें नहीं। शब्दका शब्दके साथ साहित्य, अर्थका अर्थके साथ तथा वाक्यका वाक्यके साथ साहित्य समान स्थितिवाले मित्रोंके सदृश स्वीकार किया जा सकता है, परन्तु साहित्यके मुख्य प्रतिनिधि शब्द तथा अर्थके परस्पर संयोगके निमित्त यह उपमा कथमपि चरितार्थ तथा अन्वर्थ नहीं हो सकती। 'सुहृदाविव संगतौ'में संगति या संयोगकी भावना अवश्य है, परन्तु परस्पर परिपूरक होनेकी भावनाका सर्वथा अभाव है। इससे कहीं सयुक्तिक तथा अनुरूप है कविसार्वभौम कालिदासकी उपमा—

वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥

—रघुवंश १।१

वाग् और अर्थका परस्पर साहित्य है अर्धनारीश्वरके समान। समान मूर्तिमें एक ओर विराजती हैं भगवती पार्वती और दूसरी ओर शोभते हैं भगवान् शंकर। एक ही मूर्तिमें परस्पर अन्योन्याश्रय सम्बन्धसे विराजमान गौरीशंकरकी यह मूर्ति शब्दार्थयुगलके सामञ्जस्यका प्रतिनिधित्व करती है। इस उपमाके भीतर हमारे साहित्यका मञ्जुल रहस्य छिपा हुआ है। इस तुलनाकी अनुरूपता अनेक दृष्टियोंसे आलोचकोंका हृदयावर्जन करती है।

अर्धनारीश्वरकी मूर्तिमें शिव तथा पार्वती परस्पर परिपूरक हैं—कोई किसीसे घकटर नहीं है तथा एक दूसरेके आधारपर

अपनी सत्ता प्रतिष्ठित किए हुए हैं। साहित्य क्षेत्रमें शब्द तथा अर्थ इसी प्रकार परस्पर परिपूरक होते हैं—शब्दके बिना न अर्थका स्वारस्य रहता है और न अर्थके बिना शब्दकी प्रतिष्ठा। कोई किसीसे घटकर नहीं होता—शब्दका सौष्ठव उतना ही चमत्कारजनक होता है, जितना आनन्द-दायक होता है अर्थका विलास। इस मिलनमें शब्द तथा अर्थ आपसमें एकाकार होकर विकसित होते हैं—न शब्द अर्थसे घटकर होता और अर्थ शब्दसे। शब्द तथा अर्थ परस्पर एक दूसरेपर अविच्छिन्न रूपसे आश्रित रहते हैं। शब्दसत्ता अर्थसत्ताको छोड़कर एक क्षणके लिये भी टिक नहीं सकती। कविके हृदयमें अर्थकी स्फूर्ति जाग्रत होते ही वह शब्द-मय आधार खोज निकालती है तथा ललित पदोंका विन्यास अर्थकी योजना किए बिना रह नहीं सकता। इस प्रकार शब्दके लिये होता है अर्थमय अलम्बन और अर्थके लिये होता है शब्दमय आश्रयण। अर्थकी स्फूर्ति शब्दमय आलम्बनके अभावमें असिद्ध है और अर्थमयी अभिव्यक्तिके बिना शब्दकी योजना निरर्थक है।

सामरस्य

कालिदास तन्त्रशास्त्रके प्रख्यात पण्डित थे। 'चिद्गगनचन्द्रिका'के रचयिता तान्त्रिक कालिदास हमारे परिचित कवि कालिदाससे कथमपि भिन्न नहीं प्रतीत होते। वागर्थको 'जगतः पितरौ पार्वतीपरमे-श्वरौ'से उपमा देकर वे एक गम्भीरतम तान्त्रिक रहस्यकी ओर संकेत कर रहे हैं। 'वाग्' है शक्तिरूपा पार्वती और 'अर्थ' है शक्तिमान् शिव। सृष्टिके आदि कालमें शिव और शक्ति दोनों परमशिवके रूपमें विलास करते हैं। तान्त्रिक सिद्धान्तके अनुसार परमेश्वरके हृदयमें विश्वसृष्टिकी इच्छा उत्पन्न होते ही उसके दो रूप हो जाते हैं—शिवरूप तथा शक्ति-रूप। शिव प्रकाशरूप हैं और शक्ति विमर्शरूपिणी हैं। विमर्शका अर्थ है पूर्ण अकृत्रिम अहंकी स्फूर्ति। यही शक्ति चैतन्य, स्वातन्त्र्य, स्फुरत्ता, स्पन्द आदि शब्दोंसे त्रिकशास्त्रमें अभिहित की जाती है

प्रकाशका अनुभव विमर्शके द्वारा होता है और प्रकाशकी स्थितिमें विमर्शकी कल्पना चरितार्थ होती है। जिस प्रकार बिना दर्पणके मुखको अपने स्वरूपका प्रत्यक्ष नहीं होता, उसी प्रकार बिना विमर्शके प्रकाशका स्वरूप सम्पन्न नहीं होता। चिद्रूप होकर भी शिव अचेतन है। आद्याशक्ति 'शिवरूपविमर्शनिर्मलादर्शः' है। जिस प्रकार कोई राजा निर्मल दर्पणमें अपना प्रतिबिम्ब देखकर अपने सुन्दर मुखका ज्ञान प्राप्त करता है उसी प्रकार शिव भी स्वाधीनभूता स्वात्मशक्तिको देखकर अपने परिपूर्ण अहन्ता तथा प्रकाशमय रूपको जानता है। अतः प्रकाश विमर्शात्मक है अथच विमर्श प्रकाशात्मक है। एककी सत्ता दूसरेपर आश्रित रहती है और दोनों मिलकर ही जगत्की सृष्टि करते हैं।

वाग् और अर्थके परस्पर साहित्यका ज्ञान पूर्वोक्त तन्त्रसिद्धान्तपर ही आश्रितहै। वाग् है शक्ति, पार्वती, विमर्शरूपिणी और अर्थ है शंकर, शक्तिमान्, प्रकाशरूप। विमर्शके बिना प्रकाश अपना परिचय नहीं पा सकता। इसी प्रकार वाग्के बिना अर्थकी अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। वाग् अर्थमयीहै और अर्थ वाङ्मय है। दोनोंका सम्बन्ध अनुस्यूत अविच्छिन्न तथा नित्य है। दोनों साथ मिलकर काव्यजगत्की सृष्टि करते हैं। वागर्थकी कृपा काव्यका विलास है—काव्यकी सृष्टिका मूल कारण है। जैसे शिवके बिना न शक्तिकी कल्पना है और न शक्तिके बिना शिवकी, वैसे ही अर्थके बिना वाग्की कल्पना निराधार है और वाग्के बिना अर्थकी। इस गम्भीरतम रहस्यका उद्घाटन कालिदासकी यह दार्शनिक उपमा बड़ी ही सुन्दरतासे कर रही है।

इस उपमाकी भव्य कल्पनामें कविगुरु प्राचीन परम्पराका ही अनुसरण कर रहे हैं। लिंग पुराणका वचन है—अर्थः शम्भुः शिवा वाणी तथा रुद्र हृदय, उपनिषत्का कथन है—

रुद्रोऽर्थोऽक्षरः सोमा तस्मै तस्मै नमो नमः ॥

अर्थमय शम्भु तथा वाङमयी उमाका सिद्धान्त इस प्रकार उपनिषद्के ऋषियोंकी अनुभूतिका विलास है। कालिदासको यह उपमा बड़ी ही प्रिय थी। कुमारसम्भव (६।७६)में यही उपमा उपलब्ध होती है— तमर्थमिव भारत्या सुतया योक्तुमर्हति। कालिदास कुमारसम्भवमें शिव-पार्वतीके परिणयके साथ ही अपने काव्यको समाप्त करते हैं। इसका साहित्यिक रहस्य यह है कि शब्द पार्वती तथा अर्थ-शंकरसे 'रस-स्कन्द' या 'रस-कुमार'का उदय होता है, परन्तु काव्यमें रस होता है 'अवाच्य', इसीलिये कालिदास शिव-पार्वतीके परिणय तक ही वर्णन करते हैं। वे जानते हैं कि साहित्यमर्मज्ञ 'रसस्कन्द'के उदयकी बात ध्वनिसे समझ ही लेंगे। अभिधाके द्वारा प्रकट कर वे 'अवाच्यवचन' दोषका भाजन बनना नहीं चाहते।

नीलकण्ठ दीक्षित कालिदासकी ही कल्पनासे प्रभावित होकर कह रहे हैं—

सव्यं वपुः शब्दमयं पुरारे—
रर्थात्मकं दक्षिणमामनन्ति।
अङ्गं जगन्मङ्गलमैश्वरं तद्
अर्हन्ति काव्यं कथमल्पपुण्याः।

—शिवलीलार्णव १।१५

१०—रूपककी रम्यता

सन्दर्भेषु दशरूपकं श्रेयः ।[१]

—वामन

काव्यं तावन्मुख्यतो दशरूपकात्मकमेव ।[२]

—अभिनवगुप्त

हमारे भारतीय आलोचकोंने काव्यके नाना प्रभेदोंमें सौन्दर्य तथा चारुताकी दृष्टिसे उत्कर्षापकर्षका विवेचन बड़ी मार्मिकताके साथ किया है। इस विषयमें एक विख्यात लौकिक आभाणक है—काव्येषु नाटकं रम्यम्—काव्योंमें नाटक रमणीय होता है—सामाजिकके हृदयको रमाने वाला होता है। इसकी पर्याप्त समीक्षा करनेपर हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि यह लोकोक्ति कोई सामान्य निराधार उक्ति नहीं है, प्रत्युत यह साहित्यशास्त्रके एक प्रौढ़ सिद्धांतकी परिचायिका है।

विवेचन भारतीय और पाश्चात्य आलोचकोंने समय-समय पर किया है। बहुमत इसी पक्षमें है कि श्रव्य काव्यकी अपेक्षा दृश्य काव्य समधिक रुचिर तथा मनोज्ञ होता है। भारतवर्षमें भरतमुनिने नाट्यकी ही सर्वप्रथम समीक्षा की। श्रव्य काव्य तो वाचिक अभिनय का प्रकारमात्र होनेके कारण गौण माना गया है और श्रव्य काव्यकी समीक्षा भी नाट्य-समीक्षाके बाद ही आरम्भ हुई है। नाटक सरस साहित्यिक रचनाका प्रतीक ठहरा। अतः वही समीक्षाका सर्वमान्य विषय निर्धारित किया गया था।

---

१. वामन—काव्यालंकारसूत्र, १।३।३०

२. अभिनवभारती, पृ० २९२

काव्यके दो मुख्य भेद हैं—श्रव्य तथा दृश्य। श्रव्य काव्य मश्रवणके माध्य द्वारा सामाजिकके हृदयको स्पर्श करता है और दृश्य काव्य नेत्रके माध्यम द्वारा दर्शकके हृदयको आकृष्ट करता है। लक्ष्य है एक ही सामाजिकका हृदयावर्जन, परन्तु माध्यम भिन्न-भिन्न हैं। श्रव्य काव्यमें माध्यम है श्रवण तथा दृश्य काव्यमें वह माध्यम है नेत्र। यह निर्विवाद सत्य है कि कानोंसे सुनी गई वस्तुकी अपेक्षा नेत्रोंके द्वारा दृष्ट वस्तु विशेष रोचक तथा सद्यः हृदयावर्जक होती है। अतः लौकिक दृष्टिको आधार मानकर हमारा यह कथन कथमपि अयुक्तिक नहीं कहा जायगा कि श्रव्य काव्यकी अपेक्षा दृश्य काव्य अधिक रोचक, अधिक रम्य तथा अधिक मनोज्ञ होता है।

नाट्य और चित्रपट

अब शास्त्र-दृष्टिसे विचार कीजिए। आचार्य वामन हमारे प्रथम आलोचक हैं जिन्होंने इस विषयकी विवेचनाकी ओर ध्यान दिया है। वे अनिबद्ध काव्य—मुक्तक—की अपेक्षा निबद्धको श्रेयान् मानते हैं और निबद्ध काव्यों या सन्दर्भकाव्योंमें दशरूपकको श्रेष्ठ स्वीकार करते हैं। इस श्रेष्ठताकी व्याख्याके समय वे नाटककी तुलना चित्रपटके साथ करते हैं। समग्र सामग्रीके अस्तित्वके कारण चित्रपट दर्शकोंके नेत्रोंका कितना आवर्जन करता है? चित्रकारकी तूलिका रेखात्मक आकारोंमें नाना प्रकारके रंगोंको भरकर उनमें जीवनका इतना संचरण कर देती है कि वे एकान्त जीवित पदार्थ प्रतीत होते हैं तथा रंगके रुचिर मिश्रणके कारण चित्रपट एकदम सजीव तथा रोचक हो उठता है।

चित्रपटकी विचित्रताका क्या कारण है? 'विशेष-साकल्य' अर्थात् चित्रोपयोगी समस्त विशिष्ट वस्तुओंकी पूर्णता। रूपककी भी यही दशा है। रंगमंचके ऊपर शिक्षित नटोंके द्वारा उचित

भावभंगीके साथ जब रूपकका अभिनय होता है, तब दर्शकोंके लोचनोंके सामने जीवित पदार्थ अपने पूर्ण वेषमें अपनी पूर्ण गरिमाके साथ प्रस्तुत होते हैं। दर्शक जीवनके साथ इतना तादात्म्य तथा एकात्म्य देखता है, आत्मविभोर हो उठता है और वह भूल जाता है कि वह किसी बाह्य अभिनेय पदार्थका ही साक्षात्कार कर रहा है।

रूपक हमारे जीवनका औचित्यपूर्ण यथार्थ अनुकरण है। अभिनीयमान राम, सीता आदि व्यक्तियोंका नटोंके ऊपर आरोपण होनेके हेतु ही रूपककी 'रूपक' संज्ञा सार्थक मानी जाती है। धनञ्जयका कहना है[1]--रूपकं तु समोरापात्। श्रव्य काव्य-महाकाव्य, खण्डकाव्य, मुक्तक आदि--को पाठक पढ़ता है तथा सुनता है। जिस कथानकका साहित्यिक वर्णन उसमें प्रस्तुत किया जाता है उसका मानस प्रत्यक्ष करके ही वह आनन्दबोध कर सकता है। इस प्रकार श्रव्य काव्यमें जीवनके साथ सम्पर्क परोक्ष ही होता है, परन्तु दृश्य काव्यमें वास्तव जीवित व्यक्तियोंका अनुकरण हम शिक्षित नटोंके द्वारा अनुकूल वेशभूषाके साथ इतनी सुन्दरतासे पाते हैं कि वर्ण्य विषय एकदम जीवित-सम्पन्न बन हमारे इन विलोचनोंके सामने झूलने लगता है। अतः नाटकमें जीवनके साथ सम्पर्क अपरोक्ष होता है; जीवनकी यथार्थताका केवल आभास ही उपलब्ध नहीं होता, प्रत्युत यथार्थताकी पूर्ण अभिव्यक्ति यहांसम्पन्न होती है। **प्रत्यक्ष-दृश्यता तथा यथार्थताके कारण रूपक चित्रके सदृश मनोज्ञ है और समस्त काव्य-प्रकारोंमें मनोज्ञतम है।**

---

१. सन्दर्भेषु दशरूपकं श्रेयः। तद्धि चित्रं चित्रपटवद् विशेषसाकल्यात्।
—वामन, काव्यालंकारसूत्र १ । ३ । ३०–३१

रूपक—साहित्यिक कृतिकी 'प्रकृति'

वामनने रूपककी श्रेष्ठताका जो द्वितीय कारण बतलाया है उसका भी समर्थन किया जा सकता है[1]। उनका कहना है—दशरूपकसे ही काव्यके अन्य प्रभेदोंकी कल्पनाकी जाती है। कथा, आख्यायिका तथा महाकाव्य—आदि दशरूपकके ही विलास हैं। इस मतका समर्थन किया जा सकता है। नाटकमें केवल कथनोपकथनके ही द्वारा कथानककी मुख्य घटनाएँ दर्शकोंके सामने रखी जाती हैं। अनेक वस्तुओंकी तो केवल सूचना ही दी जाती है। इन्हीं सूच्य अंशोंको पूर्ण कर यदि छन्दोमयी वाणीमें कवि कथानकका वर्णन करता है तो वही बन जाता है महाकाव्य और यदि गद्यके माध्यम द्वारा कथानकका चित्रण करता है तो यह हो जाता है कथा या आख्यायिका। अतः इस ढंगसे हम सिद्ध कर सकते हैं कि नाटक ही साहित्यिक रचनाका मूल अवसान है, रसस्निग्ध रचनाका अन्तिम रसपेशल विकास है।

'काव्यं तु दशरूपात्मकमेव'

काव्य प्रधानतः दशरूपात्मक ही होता है। अभिनवगुप्तका यह कथन केवल वैयक्तिक रुचिपर अवलम्बित न होकर एक सार्वभौम आध्यात्मिक तथ्यपर आश्रित है। भारतीय तत्त्वज्ञान इस विराट् संसारकी सृष्टिकी मीमांसाकर बतलाता है कि 'यह

---

१. ततोऽन्यभेदक्लृप्तिः। ततो दशरूपकादन्येषां भेदानां क्लृप्तिः कल्पनमिति। दशरूपकस्यैव सर्वं हीदं विलसितं यत् कथाख्यायिके महाकाव्यमिति।

—वमाना काव्यलङ्कारसूत्र, १।३।३२

स्वातन्त्र्यशक्तिसम्पन्न भगवान् परमशिवकी लीलाका विलास है। त्रिक दर्शनकी स्पष्ट मान्यता है कि वह चिदानन्द परमशिव पूर्ण आनन्दकी अभिव्यक्तिके लिए ही इस विश्वका उन्मेष अपनी ही भित्तिके ऊपर स्वयं ही–स्वातन्त्र्य शक्तिके बलपर–सम्पन्न करता है। **लीला कलाकी ही अन्यतम संज्ञा है स्वातन्त्र्य शक्ति** । शिव स्वतन्त्र है। वह अनाश्रित तत्त्व है। जगत्के समग्र पदार्थ आश्रित तत्त्वके अन्तर्गत होनेसे परतन्त्र हैं। वह स्वयं अपना नियामक है। आचार्य वसुगुप्तके 'शिवसूत्र'में इसीलिए परमात्माकी उपमा नर्तकसे दी गई है—

नर्तक आत्मा (३।९)
रंगोऽन्तरात्मा (३।१०)
प्रेक्षकाणीन्द्रियाणि (३।११)

शंकरकी 'नटराज' मूर्ति तथा कृष्णचन्द्रका 'नटवर' वेश इस प्रसंगमें अपना विशेष महत्त्व रखते हैं। नटराजके ताण्डव नृत्यकी प्रक्रियासे ही विश्वका उदय होता है। नाट्य सृष्टितत्त्वका मनोरम प्रतीक है।

कवि वल्लभदेवने लीलानिकेतन भगवान्की तुलना धूलिके स्तूपपर बैठकर नाना प्रकारकी मूर्तियोंको गढ़नेवाले और बिगाड़नेवाले बालकके साथ बड़े सुन्दर शब्दोंमें की है—

इह सरजसि मार्गे चञ्चलो यद् विधाता
ह्यगणितगुणदोषो हेतुशून्यत्वमुग्धः।
सरभस इव बालः क्रीडितैः पांशुपूरै—
र्लिखति किमपि किञ्चित् तच्च भूयः प्रमार्ष्टि ॥

चञ्चल बालक धूलिके ढेरसे खेल करता है; वह स्वतः अपनी ही मनमानी उसी धूलिसे कुछ लिख देता है—कुछ बना देता है। और उसे ही बिना किसी कारणके स्वतः पोंछ डालता है। उस चञ्चल विधाताकी भी कुछ ऐसी ही करामात होती है। वह गुणदोषका कुछ भी विचार

नहीं करता, न उस रचनाके हेतुका ही कभी ख्याल करता है। वह तो स्वतः अपनी लीलाके लिए नाना प्रकारके पदार्थोंकी सृष्टि करता है और स्वयं उन्हें पोंछ डालता है इतनी सफाईके साथ कि न तो उनका कहीं नाम बाकी रहता है और न निशान। पानीपर बबूलेके समान वस्तुएं अपनी क्षणभर स्थिति रखती हैं और अनन्तर फिर उसी महा-समुद्रमें लीन हो जाती हैं।

यह सब है भगवान्‌की लीला। और इस लीलाका सुन्दरतम वर्णमय प्रतीक है—नाट्य। नाटक दर्शकोंके हृदयमें आनन्द उद्‌बुद्ध करनेवाला एक रमणीय खेल है—कमनीय क्रीड़ा है। इसी लिए नाटकको साहित्यिक कृतिकी 'प्रकृति' मानना सर्वथा सयुक्तिक है।

काव्य-कला के द्विविध पक्ष

हमारे आलोचक-शिरोमणि परममाहेश्वराचार्य अभिनवगुप्तने अभिनवभारतीमें विषयकी मीमांसा अधिक प्रौढ़ तथा अधिक सयुक्तिक रूपसे की है। उनकी आलोचना समझनेसे पहले यह जान लेना आवश्यक है कि काव्यचिन्तनके विषयमें भारतीय आलोचनाशास्त्रका दृष्टिकोण क्या है। काव्यसमीक्षणके दो पक्ष होते हैं—कविपक्ष तथा सामाजिक पक्ष अथवा कारकपक्ष और भावकपक्ष। सारस्वत तत्त्वके ये ही दोनों कवि और सहृदय ही, दो उपादेय उपकरण हैं। कवि अपने प्रातिभ चक्षुके द्वारा अदृष्टपूर्व तत्त्वोंका साक्षात्कार कर अपनी शब्दतूलिकासे उनका उन्मीलन करता है। सहृदय अपनी भावयित्री प्रतिभाके आधारपर इन शब्दार्थमय चित्रणके अन्तर्निहित आनन्दका अपनी वासनाके द्वारा अनुभव करता है। इसी लिये अभिनवगुप्तने कवि तथा सहृदयको 'सारस्वत तत्त्व'के उन्मीलनका आश्रय माना है—

सरस्वत्यास्तत्त्वं कवि-सहृदयाख्यं विजयतात्[1]।

इन उभय पक्षोंसे रूपक अन्य काव्यभेदोंसे श्रेयस्कर है। कारयित्री प्रतिभाका जितना चमत्कार रूपकमें दृष्टिगोचर होता है, भावयित्री प्रतिभाका उतना ही प्रभाव उसमें स्पष्टतर होता है। रसवत्ताकी दृष्टिसे और रसास्वादके उत्कर्षकी दृष्टिसे, दोनों भांति रूपक श्रव्य काव्यकी अपेक्षा निःसन्देह मनोज्ञ सिद्ध होता है।

रसवत्ताकी पूर्णता

रूपक रसवत्ताकी पूर्तिका चरम दृष्टान्त है। रसवत्ताका आश्रय है औचित्य। जिस रचनामें औचित्यका जितना ही अधिक सहयोग

---

१. लोचनका मङ्गलश्लोक।

होता है, वह रचना उतनी ही अधिक रसपेशल होती है। नाट्य औचित्यका सर्माधिक अवलम्बन लेकर प्रवृत्त होता है। भरतमुनिका एतद्विषयक महत्त्व-सम्पन्न सिद्धान्त है—

वयोऽनुरूपः प्रथमस्तु वेषः
वेषानुरूपश्च गतिप्रचारः।
गतिप्रचारानुगतं च पाठ्यं
पाठ्यानुरूपोऽभिनयश्च कार्यः[1]॥

नाट्यमें औचित्यकी प्रसशंनीय परम्परा विद्यमान रहती है। वयके अनुरूप रहता है वेष, वेषके अनुसार होता है गति-प्रचार, तदनुगत होता है पाठ्य तथा पाठ्यके अनुरूप ही रहता है अभिनय। इस औचित्यकी परम्पराके विद्यमान रहनेके कारण नाट्यमें रसवत्ता पूर्णरूपेण विद्यमान रहती है। इसी विशिष्टताको लक्ष्यमें रखकर अभिनवगुप्तका कहना है[2] कि नाट्य में भाषा, वृत्ति, काकु, नेपथ्य आदिके औचित्यपूर्ण संवलन द्वारा रसवत्ताकी पूर्ति होती है, परन्तु काव्यमें इतना औचित्य दृष्टिगत नहीं होता। महाकाव्यकी नायिका अपनी स्वाभाविक प्राकृत भाषाको छोड़कर संस्कृतमें बोलती है। क्या यह सर्वथा अनुचित नहीं है? सन्दर्भरसके अनुकूल न होनेपर भी महाकाव्यका रचयिता नदियों तथा पर्वतोंके लम्बायमान बीहड़ वर्णनोंमें अपनी व्युत्पत्ति क्या प्रदर्शित नहीं करता? ऐसी दशामें नाटककी स्वाभाविकता, औचित्य तथा रसवत्ताकी पूर्णतासे बाध्य

---

१. भरत नाट्यशास्त्र (काशी संस्करण) १४।६८

२. तत्र नाट्ये ह्युचितैर्भाषावृत्तिकाकुनेपथ्यप्रभृतिभिः—पूर्यते च रसवत्ता। सर्गबन्धादौ तु नायिकाया अपि संस्कृतेवोक्तिरिति बहुतरमनुचितम्। अभिनवभारती, पृ० २९२

होकर आलोचक-प्रवर अभिनवगुप्तको कहना पड़ रहा है कि काव्य तो मुख्यतः दशरूपकात्मक ही होता है—

रसास्वादका उत्कर्ष

काव्यका प्रधान लक्ष्य है सामाजिकके हृदयमें रसोन्मेष। पाश्चात्य आलोचनाशास्त्र काव्यमें कविपक्षकी बलवत्ता मानता है, भारतीय रसशास्त्र काव्यमें सहृदयपक्षकी प्रधानता अंगीकार करता है। पश्चिममें काव्य 'कविप्रतिभाव्यापारगोचर' होता है, तो भारतमें वह 'सहृदय-चर्वणा-व्यापारगोचर' माना जाता है। रसकी प्रतीतिके लिये सामाजिकका 'सहृदय' होना नितान्त आवश्यक है। सहृदयका वृत्तिलभ्य अर्थ है कविके हृदयके साथ संवाद—साम्य, एकरूपता—धारण करनेवाला व्यक्ति। अभिनवगुप्तकी व्याख्याके अनुसार सहृदय वही व्यक्ति होता है जिसका मनोमुकुर काव्यके अनुशीलनके अभ्याससे—काव्यके निरन्तर अध्ययन तथा चिन्तनसे—नितान्त विशद हो जाता है, जिससे वह वर्णनीय वस्तुके साथ तन्मय होनेकी योग्यता रखता है—

येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद् विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीय-तन्मयीभवन-योग्यता ते हृदयसंवादभाजः सहृदयाः।[1]

अतः सहृदयका हृदय कविके हृदयके साथ इतना साम्य रखता है कि स्फुट तथा प्रकीर्ण पद्योंके श्रवण-मात्रसे ही उसे रस-प्रतीति हो जाती है, क्योंकि वह अनभिव्यक्त अंशोंकी पूर्ति स्वतः अपनी भावयित्री प्रतिभाके बलपर कर लेता है। नाटकके श्रवणमात्रसे वह आनन्दकी अनुभूति कर लेता है। साधारण जनकी यह दशा नहीं होती। उसे मुक्तक काव्यसे रसास्वाद लेनेके अवसरपर अनेक पदार्थों तथा घटनाओंकी व्याख्या करनी पड़ती है। इस आवश्यक

---

१. ध्वन्यालोकलोचन, पृ० ११

भूमिकाके बिना वह इन प्रकीर्णक पद्योंसे रसका आस्वादन नहीं कर सकता। यही कारण है कि अव्युत्पन्न व्यक्तिको बिहारीके दोहे समझानेके अवसरपर उनके समुचित प्रसङ्गोंकी मीमांसा आवश्यक होती है। रूपक भी आस्वाद्य होनेके निमित्त व्याख्याकी अपेक्षा रखता है। निर्मल चित्तवाले सहृदयको इस व्याख्या तथा प्रदर्शनकी आवश्यकता नहीं रहती। वह तो नाट्यकी अपेक्षाके बिना ही काव्यमात्रसे प्रतीति ग्रहण कर लेता है[1]। परन्तु ऐसे प्रसङ्गों की कमी नहीं, जब सहृदय का भी हृदय चिन्ता तथा उद्वेग से कलुषित तथा विक्षिप्त होता है। हृदयका उद्वेग चित्त को इतना विक्षिप्त कर देता है कि रूपक के पढ़ने तथा सुनने पर भी, पठन तथा आकर्णन-मात्र से उसे रस का आस्वाद नहीं होता। ऐसी दशामें उसके लिये भी अभिनय की विपुल मनोरञ्जन सामग्री की अपेक्षा रहती है।

जब सहृदयोंकी ऐसा दशा है, तब 'असहृदयों'की तो कथा ही निराली है। उनके रसबोधके लिये नाट्यकी भूयसी आवश्यकता है। नाट्य उनको दो प्रकारसे सहायता पहुँचाता है। प्रथम तो नटोंके द्वारा रूपकके अभिनयसे वह वर्णनीय वस्तुओंको प्रत्यक्ष तथा जीवित रूपमें चित्रित करता है। उचित वेश-भूषा, जवनिकाकी सज्जा, रङ्गमञ्च की सजावट, नेत्ररंजक चित्रकारी तथा विभाव, अनुभाव एवं सञ्चारीके अभिनय आदि द्वारा दर्शकोंको वर्ण्य वस्तुमें जीवनकी सत्यता प्रतीत होने लगती है। उनके लिये शकुन्तला किसी अतीत कालकी कोई विस्मृत नायिका नहीं रहती, मालिनीके तटपर हिमालयकी

१. ये तु काव्याभ्यासप्राक्तनपुण्यादिहेतुबलादिति सहृदयाः तेषां परिमितविभावाद्युन्मीलनेन परिस्फुट एव साक्षात्कारकल्पः काव्यार्थः स्फुरति। अतएव तेषां काव्यमेव प्रतीत्युत्पत्तिकृत् अनपेक्षितनाट्यमपि।

—अभिनवभारती, खण्ड १, पृ० २८८

तलेटीमें रचा गया महर्षि कण्वका आश्रम किसी अज्ञात अतीत युगकी स्मृति उद्‌बुद्ध नहीं करता, प्रत्युत रंग मञ्चके चारु चित्र तथा नटके कौशलपूर्वक अभिनयसे ये वस्तुएँ जीवित वर्तमानकी सजीव मूर्तियाँ ही प्रतीत होती हैं।

इतना ही नहीं, रसिक नटोंके द्वारा प्रस्तुत संगीतकी माधुरी श्रोताओंके ऊपर अपना विचित्र प्रभाव जमाती है। उनका हृदय अपने स्वगत दुःखोंसे कितना भी दबा क्यों न हो, शोक तथा क्रोध आदि रसप्रतीतिसे प्रतिकूल वृत्तियोंके उदयके कारण कितना भी संकट-संकीर्ण तथा ग्रन्थिल क्यों न हो गया हो, उदात्त संगीतकी स्निग्ध माधुरी उनके श्रवणोंको सिक्त कर हृदयके ग्रन्थि-भञ्जन करनेमें सर्वथा कृतकार्य होती ही है[1]। तथ्य यह है कि रस-चर्वणके निमित्त तदनुकूल चित्तवृत्तिकी एकान्त सत्ता आवश्यक होती है। रसास्वादके लिये अनुकूल वातावरण तथा अनुरूप चित्त-प्रसाद उत्पन्न करनेके लिये नाट्य सर्वथा समर्थ होता है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। श्रव्य काव्यमें रसानुकूल सामग्रीका उदय रसिक श्रोताकी चित्त-वृत्तिपर ही आश्रित रहता है। यदि वर्णनीय वस्तुके साथ तन्मय होनेकी क्षमता उसमें वर्तमान रहती है, तो रसके आस्वादनमें विलम्ब नहीं लगता, अन्यथा काव्य अपने जीवनकी समाप्ति अरण्यरोदनमें ही करता है। अहृदयकी सहृदय रूपमें परिणति का सर्वप्रधान साधन है नाट्य। 'निजसुखादिविवशीभाव'--अपने सुख-दुःख आदि भावोंके वशमें होना—रसास्वादनके लिये महनीय प्रत्यूह है जिसका निराकरण अभिनय, अंगहार, संगीत तथा सजावट आदि नाटकीय उपकरणों द्वारा ही सम्पन्न किया जाता है। अभिनवगुप्तका स्पष्ट कथन है—

---

१. अभिनवभारती, पृ० २६२

निजसुखादिविवशीभूतश्च कथं वस्त्वन्तरे संविदं विश्रामयेदिति तद्रूप-प्रत्यूहव्यपोहनाय प्रतिपदार्थनिष्ठैः साधारण्यमहिम्ना सकलभोग्यत्वसहिष्णुभिः शब्दादिविषयमयैः आतोद्य-गान-विचित्रमण्डप-विदग्धगणिकादिभिः उपरञ्जनं समाश्रितं, येन अहृदयोऽपि सहृदयवैमल्यप्राप्त्या सहृदयीक्रियते ।[१]

इसी कारण साहित्यिक कलात्मक अनुभूति तथा रसास्वादकी पूर्तिके लिये काव्यके समस्त प्रभेदोंमें रूपक सबसे श्रेष्ठ है। उसका प्रभाव केवल सहृदयोंके ही ऊपर नहीं पड़ता, प्रत्युत समस्त व्यक्तियोंपर, चाहे वे सहृदय हों या अहृदय, समभावेन पड़ता है।

जीवनकी सत्यताकी अनुभूतिकी दृष्टिसे, रसवत्तासे स्निग्ध होनेकी दृष्टिसे और रसास्वादनके उत्कर्षसे पेशल होनेकी दृष्टि-से रूपक काव्य-प्रभेदोंमें सर्वथा अभिराम, हृदयङ्गम तथा रमणीय है।

---

१. अभिनवभारती, खण्ड १, पृ० २८२-२८३।

नाट्य-रस

नाट्य रसके उन्मेषका सर्वाधिक रम्य प्रतीक है। इसीलिये भारतनाट्यशास्त्रमें उसे नाट्यरसकी संज्ञा प्राप्त है। 'नाट्यरस'का अभिनवी व्याख्यान है[1]—

(१) नाट्य के. समुदायरूपसे उत्पन्न रस (नाट्यात् समुदायरूपाद् रसः)

(२) नाट्य ही रस है। रस-समुदाय ही नाट्य है (नाट्यमेव रसः। रससमुदायो हि नाट्यम्)।

इसका तात्पर्य है कि नाट्य रसके उन्मीलनका प्रधान साधन है। यह व्याख्यान काव्यमें रसकी सत्ताका निराकरण नहीं करता। नाट्यरसके उपकरणभूत विभाव, अनुभाव तथा सञ्चारिभावका अभिनय प्रस्तुत कर उनका दर्शकोंके हृदयमें साक्षात् अनुभव करता है। यही योग्यता जब श्रव्य काव्यको भी प्राप्त होती है तभी काव्यमें रसका आस्वादन उत्पन्न होता है। काव्यमें भी यह 'प्रत्यक्षसाक्षात्कार' कविकी अलौकिक वर्णन-शक्तिके प्रभावसे उत्पन्न हो सकता है। कवि पदार्थोंका इतना उज्ज्वल तथा प्रभावशाली वर्णन करता है कि वे पदार्थ अभिनेय पदार्थोंके समान पाठकलोचनोंके सामने सजीव रूपसे स्फुरित हो उठते हैं। इसीलिये अभिनवगुप्तके नाट्यगुरु भट्टतौतका सम्माननीय सिद्धान्त है—

रस नाट्यायमान ही होता है। काव्यार्थविषयमें भी प्रत्यक्षकल्प साक्षात्कारके उदयपर ही रसका उदय सम्पन्न होता है।

---

१. अभिनव भारती, पृष्ठ २९२

काव्येऽपि नास्वाद्यमान एव रसः। काव्यार्थविषये हि प्रत्यक्षकल्पसंवेदनोदये रसोदयः इत्युपाध्यायाः।[१]

प्रयोगत्वकी स्थितिपर पहुँचे बिना काव्यमें रसके आस्वादकी सम्भावना ही नहीं रहती, परन्तु क्या श्रव्य-काव्य इस विषयमें दृश्य काव्यके प्रयोगत्वकी योग्यता कभी प्राप्त करता है? भट्टतौतका कहना है कि तब प्राप्त कर सकता है जब कवि प्रौढ़-उक्तिके द्वारा उद्यान, नदी आदि विषयोंका इतना सजीव वर्णन करता है कि वे प्रत्यक्ष-दृश्य पदार्थोंके समान स्फुटतर प्रतीत होने लगते हैं। कविकी प्रौढ़ोक्तिमें ही रहती है श्रव्य काव्यको दृश्य काव्यके समान प्रयोग-सम्पन्न करनेकी क्षमता। तभी काव्यमें रसका आस्वाद हो सकता है, अन्यथा नहीं। भट्टतौतके विश्रुत परन्तु अनुपलब्ध 'काव्यकौतुक' ग्रन्थका इस विषयमें स्पष्ट कथन है—

प्रयोगत्वमनापन्ने काव्ये नास्वादसम्भवः।
वर्णनोत्कलिकाभोगप्रौढोक्त्या सम्यगर्पिताः।
उद्यानकान्ताचन्द्राद्या भावाः प्रत्यक्षवत् स्फुटाः।[२]

काव्य और नाट्य

अब विचारणीय प्रश्न है कि रूपककी पूर्वोक्त रमणीयता कविजन्य है अथवा नटजन्य है? रूपक कविकी प्रतिभाका एकमात्र विलास है अथवा नटकी अभिनयकलाका संवलित चमत्कार है? इस विषय में आलोचकों द्वारा उद्भावित सिद्धान्तमें विशेष अन्तर नहीं है। साधारणतया समझा जाता है नाटक 'प्रयोग-प्रधान' होता है तथा श्रव्य काव्य 'वर्णनाप्रधान' होता है। यह समझ ठीक है, परन्तु पाश्चात्योंका

---

१. अभिनव भारती, पृ०, २९१

२. वही, पृ० २९२

तथा कुछ तदनुसारी भारतीय आलोचकोंका यह मत सर्वथा अभ्रान्त नहीं है कि नाट्यमें नटकी कला कविकी कलाकी अपेक्षा समधिक मनोज्ञ होती है। आलोचकम्मन्योंकी कमी नहीं है जो नटको कविके द्वारा अनुद्भावित अर्थका व्याख्याकार मानकर उन्हें कविसे बढ़कर स्थान देनेके पक्षपाती हों। भारतीय आलोचकोंकी स्पष्ट सम्मति है कि नाटककी रोचकतामें नटकी अपेक्षा कविका अधिकतर चमत्कार प्रस्तुत करता है। इसलिए भोजराज अभिनेताकी अपेक्षा कवियोंको तथा अभिनयकी अपेक्षा काव्य (रूपक)को समधिक सम्मान तथा आदर प्रदान करनेके पक्षपाती हैं—

अतोऽभिनेतृभ्यः कवीनेव बहु मन्यामहे। अभिनेयेभ्यश्च काव्यमिति[1]।

---

१. डाक्टर राघवन्—शृङ्गारप्रकाश (प्रथम खण्ड), पृ० ८० में उद्धृत वाक्य।

*

दृश्य तथा श्रव्य काव्योंकी मौलिक एकता

भारतीय आलोचनाशास्त्रमें रूपकका रचयिता तथा श्रव्य काव्यका निर्माता दोनों ही अभिन्नरूपेण 'कवि' शब्दके द्वारा वाच्य होते हैं। पाश्चात्य जगत्‌में ड्रामाटिस्ट तथा पोयटमें शब्दतः तथा अर्थतः पार्थक्य किया जाता है, परन्तु हमारे साहित्यमें दोनों ही 'कवि' हैं। समग्र रुचिर साहित्यिक रचना 'काव्य'के नामसे अभिहित की जाती है और यही काव्य रूपक, श्रव्यकाव्य, गीतकाव्य आदि नाना विभेदोंमें विभक्त किया जाता है। रसात्मक काव्यके द्वारा सामाजिकके हृदयमें रागात्मिका वृत्तिका उदय करनेवाली वस्तु ही तो 'काव्य' नामसे अभिहितकी जाती है। श्रव्य काव्यमें कवि स्वयं वर्णन, कथन तथा चित्रणके द्वारा वह अलौकिक स्थिति उत्पन्न कर देता है जो श्रोताके हृदयमें अविलम्ब रसका उन्मीलन होता है। रूपकमें भी यही कार्य है, यही ध्येय है, परन्तु यह सम्पन्न किया जाता है नटोंके द्वारा। अतः आनन्दके उदयकी दृष्टिसे दोनोंमें यही तारतम्य है। महिमभट्टने इस विषयका एक प्राचीन पद्य अपने व्यक्तिविवेकमें उद्‌धृत किया है[1]—

अनुभावविभावानां वर्णना काव्यमुच्यते।
तेषामेव प्रयोगस्तु नाट्यं गीतादिरञ्जितम्॥

प्रयोगकी भी आवश्यकता प्रत्येक दर्शकके लिये नहीं होती। सहृदय पाठक अनभिनीत नाटकसे उसी प्रकार आनन्द उठा सकता है जितना उसके पठनमात्र से। साधारण दर्शकके ही हृदयमें रसोद्‌बोधके निमित्त प्रयोगकी आवश्यकता बनी रहती है। इसलिये भारतीय आलोचकों तथा कवियोंने नाटकमें प्रयोग—अभिनेयता—को विशेष महत्त्व नहीं

---

१. व्यक्तिविवेक (काशी संस्करण), पृ० ६६।

दिया । यदि दर्शकमें रागात्मिका वासना विद्यमान है, तो वह अभिनयकी किसी प्रकार अपेक्षा नहीं रखता । महाकवि भवभूतिके नाटकोंमें अनेक अंश अभिनयके द्वारा प्रदर्शनकी क्षमता नहीं रखते, तो क्या यह दूषण है ? बिलकुल नहीं । नाटककी महनीयता कविकी प्रतिभाका विलास है, नटके अभिनय-कौशलका चमत्कार-प्रदर्शन नहीं है । साधारण नाटक ही रसाभिव्यक्तिके निमित्त अभिनयकी सहायता रखता है; महान् नाटक न नटकी अपेक्षा रखता है और न अभिनयकी । वह स्वतः महनीय तथा महान् होता है । उसके चमत्कारको हृदयंगम करनेके लिये रङ्गमञ्चपर अभिनयकी तनिक भी अपेक्षा नहीं रहती । उसका आनन्द तो घरके किसी कोनेमें बैठकर पढ़नेसे भी उठाया जा सकता है । अभिनय तो अन्धेकी लकड़ीके समान है जो सामान्य लोकके ही रसास्वादके निमित्त जागरूक रहता है ।

पाश्चात्य मतसे साम्य

भारतीय आलोचकोंकी यह मीमांसा—नाट्य तथा काव्यका वैशिष्ट्य—पश्चिमी आलोचकोंको भी मान्य है । पश्चिमी आलोचना रूपकके लिये अभिनयकी एकान्त आवश्यकता मानती है, यह अर्थवाद-मात्र है । अरस्तूका ही कहना है कि महाकाव्यके समान ही विषादान्त रूपक अभिनयके बिना भी अपना सच्चा प्रभाव उत्पन्न करता है—केवल पठनमात्रसे यह अपनी शक्तिका उन्मीलन करता है[1] । अंग्रेज, फ्रेंच तथा जर्मन अनेक यूरोपीय कलामर्मज्ञ इस विषयमें एक मत रखते हैं कि नाटकके लिये अभिनेयता एकान्त आवश्यक गुण नहीं है । लैम्बका तो यहां तक कहना है कि नाटककी मूर्धन्य तथा श्रेष्ठ रचना जितनी

---

१. Tragedy like Epic poetry produces its true effect even without action; it reveals its power by mere reading—Poetics.

सुन्दरतासे लिखी जाती है उतनी कठिनतासे अभिनीत की जा सकती है। साधारण कोटिके नाटक ही नटोंके हाथमें पड़कर विशेष चमत्कार उत्पन्न करते हैं[१]।

कवियोंका भी यही अनुभव है। अंगरेजी साहित्यके विश्रुत कवि टामस हार्डीने 'डाईनास्ट' नामक विपुलकाय नाटककी रचना की है जो परिमाण में, बिना सन्देह, 'उत्तररामचरित' या 'बालरामायण' से चौगुना है। उसकी भूमिकामें उन्होंने यह दिखलाया है कि नाटक तो कमरेके भीतर बैठकर शान्त मनसे पढ़नेकी वस्तु है, रंगमञ्चके ऊपर अभिनीत होना नाटकके लिये आवश्यक गुण नहीं है। अभिनेय रूपकोंका प्रभाव क्षणिक तथा अस्थायी होता है, परन्तु पाठ्य नाटकोंका प्रभाव स्थायी तथा चिरकालीन होता है। दोनोंकी इस विशिष्टताकी अभिव्यक्तिके हेतु वे प्रथम प्रकारके नाटकके लिये सामान्यतः 'नाटक' शब्दका प्रयोग करते हैं और दूसरे प्रकारके महनीय नाटकको वे एपिक ड्रामाके अभिधानसे पुकारते हैं। हार्डीकी यह विवेचना भोजराजके सिद्धान्तकी ही व्याख्या है कि नटकी अपेक्षा कविका विशेष आदर होता है तथा नाट्यकी अपेक्षा काव्यका समधिक सत्कार किया जाता है। इस प्रकार भारतीय आलोचनाशास्त्रके रूपक-विषयक तथ्यका पाश्चात्य विवेचकों द्वारा उद्भावित सिद्धान्तके साथ आश्चर्यजनक साम्य उपलब्ध होता है।

इस विवेचनका तात्पर्य इतना ही है कि नाटकमें कवित्व भी होना चाहिये। नाटक तो प्रधानतया अभिनेय होता ही है और नाटककी रम्यता अभिनयकलाकी मनोज्ञताके ऊपर अवलम्बित रहती ही है।

---

१. A masterpiece is really as well represented as it is written; mediocrity always fares better with the actors.—Charles Lamb.

११—रस-प्रसङ्ग

(क) रस सुखमय या दुःखमय ?

काव्य तथा नाट्यका सर्वस्व रसोन्मेष ही है। वर्णन तथा अभिनयके द्वारा सामाजिकके हृदयमें रसका उन्मीलन करना, सहृदयके चित्तमें रागात्मिका वृत्तिका उदय करना, कविका प्रधान कर्त्तव्य होता है। परंतु रसके स्वरूपके विषयमें अर्वाचीन आलोचकों तथा प्राचीन आलंकारिकोंमें पर्याप्त मतभेद दृष्टिगत होता है। रसका आस्वाद किं-रूप हैं ? इस प्रश्नके उत्तरमें सभी आलोचकोंका उत्तर एकरूप नहीं है। रस आनन्दरूप है, सुखात्मक है, आलोचकोंका बहुमत इसीके पक्षमें है, परन्तु कतिपय आलोचकोंकी दृष्टिमें रसोंकी सुखानुभूतिमें तारतम्य है। एक ही प्रकारकी सुखात्मिका अनुभूति प्रत्येक रसके आस्वादमें उत्पन्न नहीं होती। किसीमें इस अनुभूतिकी मात्रा तीव्र होती है और किसीमें नितान्त सौम्य। अनेक आलोचक सब रसोंमें इस अनुभूतिको सुखात्मक भी नहीं अंगीकार करते। उनकी दृष्टिमें रसकी अनुभूति निश्चित रूपसे सुखात्मक है, परन्तु करुण, भयानक, बीभत्स तथा रौद्र रसोंकी अनुभूति दुःखात्मक है।

सुखदुःखात्मको रसः

हमारे प्राचीन कश्मीरी आलंकारिकोंकी सम्मतिमें तथा तदनुयायी अन्य मान्य आलोचकोंकी दृष्टिमें रस आनन्दात्मक ही होता है, परन्तु मध्ययुगी कतिपय आलोचक रसको दुःखात्मक माननेके पक्षपाती हैं:—

(क) 'नाट्यदर्पण'के रचयिता रामचन्द्र और गुणचंद्रने (बारहवीं शती) विस्तारसे इस मतका प्रतिपादन किया है। उनका सिद्धान्त है सुखदुःखा-

त्मको रसः (कारिका १०६)। भयानक, बीभत्स, रौद्र तथा करुण रसके वर्णनोंके श्रवणसे अथवा दर्शनसे श्रोता तथा दर्शकके चित्तमें एक विचित्र प्रकारकी क्लेशदशा उत्पन्न होती है। इन रसोंके अभिनयसे इसीलिए समाज उद्विग्न होता है। सुखास्वादसे कथमपि उद्वेग उत्पन्न नहीं हो सकता। अतः उद्वेगका उदय स्पष्ट प्रमाण है कि इन रसोंकी अनुभूति सुखात्मिका नहीं है। दुःखात्मक अनुभूति होनेपर भी सामाजिककी प्रवृत्ति इसीलिये होती है कि कविकी शक्ति और नटके कौशलसे वस्तुके प्रदर्शनमें विचित्र चमत्कारका उदय होता है[1]। इसी चमत्कारसे विप्रलब्ध दर्शक दुःखात्मक दृश्योंको देखनेके लिये व्याकुल रहता है। दर्शककी प्रवृत्तिका यही कारण है। कविकी प्रवृत्तिका भी रहस्य है। लोकवृत्तका अनुकरण ही नाट्य ठहरा। जगत्की घटनाओंमें ही सुख तथा दुःखका संमिश्रण इतनी विचित्रतासे उपलब्ध होता है कि यथार्थताका पक्षपाती कवि अपने काव्यमें दुःखके चित्रणकी उपेक्षा नहीं कर सकता। यदि कहा जाय कि अनुकरणके समय दुःखात्मक दृश्य सुखात्मकरूपसे प्रतीयमान किए जाते हैं, तो ऐसी दशामें क्या वह अनुकरण सम्यक् तथा शोभन माना जायगा? लोकवृत्तके सम्यक् अनुकरणके ऊपर ही तो कविकी कला आश्रित रहती है। जिस प्रकार शरबतमें तीखे स्वादवाले पदार्थोंकी सत्ता होनेपर भी विचित्र आस्वाद उत्पन्न होता है, उसी प्रकार काव्यमें

---

१. भयानकादिभिरुद्विजते समाजः। न नाम सुखास्वादाद् उद्वेगो घटते। यत् पुनरेभिरपि चमत्कारो दृश्यते, स रसास्वादविरामे सति यथावस्थितवस्तुप्रदर्शकेन कविनटशक्तिकौशलेन। अनेनैव च सर्वांगाह्लादकेन कविनटशक्तिजन्मना चमत्कारेण विप्रलब्धाः परमानन्दरूपतां दुःखात्मकेष्वपि करुणादिषु सुमेधसः प्रतिजानते।

नाट्यदर्पण पृ० १५६.

दुःखास्वादकी सत्ता होनेपर भी उससे विरति नहीं होती, प्रत्युत विचित्र आस्वादके कारण प्रवृत्ति ही होती है[1]।

(ख) 'रसकलिका'के लेखक रुद्रभट्ट इसी मतसे सहमत हैं। वे भी करुण रसकी अनुभूतिको दुःखात्मक मानने तथा रसको सुखदुःख उभयरूपात्मक स्वीकार करनेके पक्षपाती हैं।[2]

(ग) प्रसिद्ध अद्वैतवादी मधुसूदन सरस्वतीको इस मतका आंशिक समर्थन करते हुए देखकर आश्चर्य होता है। उन्होंने सांख्य तथा वेदान्त पक्षका अवलम्बन कर रस निष्पत्तिकी द्विविध प्रक्रिया प्रदर्शित की है। सांख्य मतानुयायी व्याख्यामें रसकी अनुभूतिके अवसरपर आनंदमें तारतम्य दिखलाया है। मधुसूदन सरस्वतीके मतानुसार सत्त्वमें उद्रेक कहां! क्रोधमें रजोगुणका प्राबल्य रहता है और शोकमें तमोगुणका। परंतु सत्वकी इतनी मात्रा उनमें अवश्य विद्यमान रहती है जिससे वे स्थायी भावकी कोटिपर पहुंच जाते हैं। स्वभावतः रज तथा तमके द्वारा मिश्रित होनेके कारण तद्गत सत्व विशुद्ध तथा प्रबल नहीं माना जा सकता। अतः क्रोधमूलक रौद्र रसमें तथा शोकमूलक करुण-रसमें विशुद्ध आनन्दकी सत्ता नहीं होती, प्रत्युत रज तथा तमके मिश्रणके अनुसार उनके आनन्दमें तारतम्य बना रहता है। इसीसे सब रसोंमें एक ही प्रकारके समान सुखका अनुभव नहीं होता।

---

१. कवयस्तु सुखदुःखात्मकसंसारानुरूपेण रामादिचरितं निबध्नन्तः सुखदुःखात्मकरसानुविद्धमेव ग्रथ्नन्ति। पानरसमाधुर्यमिव च तीक्ष्णा-स्वादेन दुःखास्वादेन सुतरां सुखानि स्वदन्ते।

नाट्यदर्पण, वहीं।

२. करुणामयानामपि उपादेयत्वं सामाजिकानाम्, रसस्य सुख-दुःखात्मकतया तदुभयलक्षणेन उपपद्यते। अतएव तदुभयजनकत्वम्।

रसकलिका

द्रवीभावस्य च सत्त्वधर्मत्वात्, तं विना च स्थायिभावासम्भवात् सत्त्व-गुणस्य सुखरूपत्वात् सर्वेषां भावानां सुखमयत्वेऽपि रजस्तमोंशमिश्रणात् तारतम्यम् अवगन्तव्यम्। अतो न सर्वेषु रसेषु तुल्यसुखानुभवः

—भक्तिरसायन, पृ० २२.

रसानुभूतिका यह एक पक्ष है जो युक्तिहीन होनेसे न तो माननीय है और न आदरणीय। लोककी वस्तुओंमें नाना प्रकारकी विषमता दृष्टिगोचर होती है। यह स्वरूपगत वैषम्य ही पूर्वोक्त आपत्तिका निदान है। लोकमें सिंहके जिस गर्जनको सुनकर वीर-पुरुषोंके भी हृदयमें प्रबल भयका संचार होता है उसीका काव्यगत चित्रण आनन्दके उदयका कारण कैसे बन सकता है? लोक तथा काव्यमें साम्य दीखता है। लोकमें भयजनक वस्तु काव्यमें विन्यस्त होने-पर भयजनक ही होनी चाहिए। भय तथा सुखमें भूयसी विषमता है। भयोत्पादक पदार्थ कथमपि सुखात्मक नहीं हो सकता। इस मतका यही युक्तिवाद है। यह कथमपि आश्रयणीय तथा आदरणीय नहीं है।

मतकी समीक्षा

अखिल विश्वमें व्यापक ब्रह्मको लक्ष्य कर तैत्तिरीय श्रुति कहती है--रसो वै सः । रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दी भवति[1] । वह रसरूप है । रस को ही पाकर संसारका प्राणी आनन्दी होता है । यह रसात्मक ब्रह्म जगत्के प्रत्येक पदार्थमें जब रम रहा है, तब यह कैसे माना जा सकता है कि इन पदार्थोंमें रसके उत्पन्न करनेकी क्षमता नहीं है; सुख उत्पन्न करनेकी योग्यता नहीं है । तथ्य है कि संसारका प्रत्येक पदार्थ रसात्मक है, सुखात्मक है, काव्यमें गृहीत होनेपर आनन्ददायक है । इसीलिए भामाह कविकी गरिमा तथा उत्तरदायिताका उद्घोष कर रहे हैं[2] :--

> न स शब्दो न तद्वाच्यं न तच्छिल्पं न सा क्रिया ।
> जायते यन्न काव्याङ्गमहो भारो महान् कवेः ।

ब्रह्म सच्चिदानरूप है । ब्रह्मानन्द संसारमें समस्त आनन्दोंका चरम अवसान है । आनन्दमय ब्रह्मसे व्याप्त वस्तुओंमें आनन्ददायिनी शक्ति विद्यमान रहती है । अतः स्वभावतः नानाप्रकृतिवाले पदार्थोंमें आनन्दके उन्मीलनकी क्षमता मानना नितान्त युक्तियुक्त है ।

भाव दो प्रकारके होते हैं--बोध्यनिष्ठ तथा बोद्धृनिष्ठ । वर्णनीय विषयमें रहनेवाला तथा बोद्धा सामाजिकके हृदयमें रहनेवाला । इन दोनोंमें बोध्यनिष्ठ स्थायिभाव अपने स्वभावानुसार सुख, दुःख तथा मोहकी

---

१. तैत्तिरीय उपनिषद् २।८।

२. काव्यालंकार (५।३)

उत्पत्तिका कारण बनता है, परन्तु बोद्धा सामाजिकके चित्तमें रहने वाले समस्त भाव केवल सुखके ही कारण होते हैं।

बोध्यनिष्ठा यथास्वं ते सुखदुःखादिहेतवः।
बोद्‌धृनिष्ठास्तु सर्वेऽपि सुखमात्रैकहेतवः॥

—भक्तिरसायन ३।५

इस पार्थक्यके मूलमें कारण है भावोंकी लौकिकता तथा अलौकिकता। **लौकिक भाव** अर्थात् संसारगत भाव नाना प्रकारके परिणाम उत्पन्न करते हैं, परन्तु **अलौकिक भाव** अर्थात् काव्यगत भाव केवल आनन्दकी ही अनुभूति कराते हैं। संसारके भाव वैयक्तिक होते हैं, काव्यके भाव साधारणीकृत होते हैं। वैयक्तिक सम्बन्धके कारण ही अपनी वस्तुसे प्रेम उत्पन्न होता है; शत्रुकी वस्तुसे द्वेष उत्पन्न होता है और तटस्थकी वस्तुसे उदासीनता उपजती है। काव्यकी दशा इससे सर्वथा भिन्न है। शब्दके द्वारा निबद्ध होते ही भावोंसे वैयक्तिकता-व्यापारका उच्छेद हो जाता है। श्रोता भावोंसे वैयक्तिकताका अपसरण कर देता है और उन्हें साधारण प्राणिमात्रके भावके रूपमें ग्रहण करता है। उपवनके बीच मलयानिलके झोंकेसे झूमनेवाला गुलाबका फूल कलाकारके लिये कोई विशिष्ट पुष्प नहीं होता, प्रत्युत वह आनन्दका एक सामान्य प्रतीक होता है। रंगमंचके ऊपर अभिनीत शकुन्तला किसी अतीत युगकी विस्मृतप्राय सुन्दरी नहीं होती, प्रत्युत एक हृदयावर्जक कमनीय नायिकाकी प्रतिनिधि बनकर ही प्रस्तुत होती है। इसी साधारणीकरण व्यापारके द्वारा काव्यमें निबद्ध प्रत्येक पदार्थ तथा भावमें रसके उन्मीलनकी अपूर्व क्षमता उत्पन्न हो जाती है।

भावोंको आनन्ददायक बनानेके लिये आवश्यकता है शोधनकी। शोधनके द्वारा क्षुद्र लोहा तांबा आदि धातुओंसे बहुमूल्य सुवर्ण बनाया जा सकता है। उसी प्रकार शोधनके द्वारा भावोंकी भी परिणति आनन्दरूपमें सम्पन्न

की जा सकती है। आधुनिक मनोविज्ञान इसी प्रक्रियाको भावोंका शोधन या उदात्तीकरण (सब्लीमेशन आफ इमोशन्स) के नामसे पुकारता है। भावोंकी परिणति यदि भोगमें ही होती है, तो इस अधोगामी मार्गसे नानाप्रकारके सुखदुःखादि परिणाम उपजते हैं, परन्तु उनका निरोधकर ऊर्ध्वगामी पन्थका आश्रय लेनेपर वे ही भाव उदात्त बन जाते हैं तथा आनन्दकी ही सृष्टि करते हैं। इसीलिये रसकी अनुभूति सुखात्मिका ही मानी गई है, दुःखात्मिका नहीं।

अग्निपुराणकी यह उक्ति इस प्रसंगमें ध्यान देने योग्य है। वेदान्तमें जिस परब्रह्मको अक्षर, सनातन, अज, विभु, चैतन्य तथा ज्योति आदि अभिधानोंसे पुकारते हैं उसका सहज स्वभाव है आनन्द। उसी आनन्दकी प्रभा, अभिव्यक्ति काव्य-नाटकमें 'चैतन्य', 'चमत्कार' या 'रस'के द्वारा निर्दिष्टकी जाती है। अतः परब्रह्मके आनन्दकी अभिव्यक्ति होनेके कारण रस सर्वदा आनन्ददायक होती है, इसमें सन्देहका लेश भी नहीं है :

> अक्षरं परमं ब्रह्म सनातनमजं विभुम्।
> वेदान्तेषु वदन्त्येकं चैतन्यं ज्योतिरीश्वरम्॥
> आनन्दः सहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन।
> व्यक्तिः सा तस्य चैतन्य—चमत्काररसाह्वया॥

अग्निपुराण, अ० ३३९, श्लोक १—२

तथ्य बात यह है कि जगत्में कोई भी वस्तु कुरूप नहीं है, रसहीन नहीं है। 'रसो वै सः' यदि सच्चा है, तो प्रत्येक पदार्थमें रस है, सौन्दर्य है तथा आनन्द देनेकी शक्ति है। कुरूप कोई है तो हमारी ही दृष्टि है, जगत्की वस्तु नहीं। कविवर रवीन्द्रनाथने अपने 'सौन्दर्य-बोध' नामक सुन्दर लेखमें दिखलाया है कि वस्तुतः

सौन्दर्य जगतके पदार्थोंसे ऊपर उठकर किसी आदर्श संसारकी वस्तु नहीं है, वरन् प्रत्येक पदार्थमें पूर्ण सौन्दर्य स्वतः विद्यमान है। इसके ग्रहणके लिये हमारी दृष्टि विशुद्ध होनी चाहिए। अतः संसारका प्रत्येक पदार्थ, चाहे वह कितना भी अशोभन या बीभत्स क्यों न हो, सुखात्मक अनुभूतिका उपकरण अवश्य बन सकता है।

(ख) रसपर दार्शनिक दृष्टि

द्रष्टा होनेपर ही रसका अनुभव होता है। प्रकृतिमें लीन हो जानेपर रसका अनुभव नहीं होता। 'द्रष्टा'का अर्थ है तटस्थरूपसे दर्शन करनेवाला व्यक्ति। प्रकृतिके पदार्थोंमें लीन न होकर पृथक्-रूपसे वस्तुके रूपका द्रष्टा ही प्रकृत पक्षमें रसकी अनुभूति कर सकता है। जो व्यक्ति प्रकृतिकी वस्तुओंमें आसक्त भावसे लीन हो जाता है यह केवल राग-द्वेषका ही अनुभव करता है, रसका नहीं। रसानुभूतिके निमित्त ताटस्थ्य, तटस्थता, अनासक्ति भावकी नितान्त आवश्यकता होती है। यह केवल काव्य–जगतका ही मौलिक सिद्धांत नहीं है, प्रत्युत प्रत्येक कलाके विषयमें एकान्त तथ्य है। सौन्दर्यकी अनुभूति सर्वत्र ताटस्थ्यपर आश्रित रहती है। बगीचेमें खिले हुए गुलाबके फूलसे उत्पन्न सौन्दर्य-भावनापर दृष्टिपात कीजिए। सौन्दर्यकी अनुभूतिके अवसरपर द्रष्टाको स्वत्व या अधिकारकी भावना कभी उचित नहीं होती। उस बगीचेका स्वामी भी यदि स्वत्वकी भावनासे प्रेरित होता है, तो उसके हृदयमें आनन्दका उदय नहीं हो सकता। 'यह मेरा है' यह समझकर न तो कोई उसे तोड़कर अपने कानोंके ऊपर रखता है और न उसे अपने नाकके पास सूंघनेके लिये ले जाता है। प्रत्युत वह उसे यथास्थान रहने देता है और द्रष्टारूपसे उससे आनन्द ही लेता है।

भगवान्‌की लीलाके अवसरपर भी यही बात होती है। प्रकृतिके समग्र पदार्थोंमें आसक्त रहकर भी भगवान् अपनेको पृथक् रहकर उन्हें देखता है, तभी उसे आनन्द आता है। इस प्रकार भागवती लीला आसक्तरूपसे नहीं होती, ताटस्थ्यरूपसे ही होती

है। इससे रसकी दार्शनिक दृष्टि न तो एकान्त भेदवादकी है और न नितान्त अभेदवाद की, प्रत्युत 'अभेदेऽपि भेदः' अथवा 'भेदेऽप्यभेदः' ही रसोन्मीलनका दार्शनिक दृष्टि बिन्दु है। यदि रसावस्थामें नितान्त अभेद मान लिया जाय, तो इस ऐक्यभावमें आनन्दका उदय नहीं हो सकता। यदि भेद स्वीकार किया जाय, तो इस भिन्नतामें भी आनन्दका उद्गम सम्भव नहीं। सहृदयके हृदयमें सहानुभूति होनेपर ही भावका उदय हो सकता है। सहानुभूति तभी उत्पन्न होती है जब व्यक्ति अपनेको पृथक् रखते हुए भी वस्तुके साथ तादात्म्यका अनुभव करता है। यह अवस्था न पूर्ण भेदकी है और न पूर्ण अभेदकी, प्रत्युत 'अभेदेपि भेदः' की है। रसानुभूतिका यही वैशिष्ट्य है जो विख्यात दार्शनिक सम्प्रदायोंसे उसका पार्थक्य स्पष्ट ही उद्घोषित कर रहा है।

रस और न्यायदर्शन

न्यायदर्शन द्वैतवादी तत्वज्ञान है। उसका अंतिम लक्ष्य है दुःखोंकी अत्यंत निवृत्ति। इसके अनुसार मुक्तावस्थामें जीव अपने विशिष्ट गुणोंसे रहित हो जाता है। इन गुणोंमें दुःखके साथ सुखकी भी गणना है। नैयायिकोंका आग्रहपूर्वक कथन है कि मुक्त आत्मामें आनन्दकी उपलब्धि नहीं होती। सुखके साथ रागका सम्बन्ध लगा हुआ है। और यह राग बंधनका कारण है। अतः मोक्षको सुखात्मक माननेमें रागकी सत्ता सिद्ध होनेसे बन्धनकी निवृत्ति कथमपि नहीं हो सकती। 'आनन्दं ब्रह्म' आदि ब्रह्मको आनन्दमय बतलानेवाली श्रुतियोंका तात्पर्य सत्तात्मक न होकर निषेधात्मक है। उसका अभिप्राय दुःखापाय-बोधनमें है। लोकव्यवहारमें भी तो यही बात दीख पड़ती है। सिरकी पीड़ासे कराहते हुए, ज्वरके दुःसह सन्तापसे व्याकुल पुरुषका अनुभव इसी सिद्धान्तको पुष्ट करता है। शिरःपीड़ाकी अथवा ज्वरकी

निवृत्ति होनेपर रोगी अपनेको सुखी मानने लगता है। यहां होता है केवल दुःख का अपनयन, निषेधात्मक व्यापार; परन्तु माना जाता है सुखका उदयरूप सत्तात्मक व्यापार। मोक्षकी भी यही अवस्था है।

न्यायकी इस प्रक्रियामें आनन्दमय रसके लिये स्थान कहां है? दुःख-बहुल संसारदशामें न उसका स्थान है और न दुःखसुखविहीन मोक्षदशामें उसका आश्रय है। इसीलिये नैयायिकोंका वेदान्तियों तथा वैष्णवोंने बड़ा ही उपहास किया है। नैयायिक मुक्तिकी पूर्वोक्त कल्पना अन्य दार्शनिकोंके कौतुकावह कटाक्षका विषय है। मुक्तावस्थामें समग्र अज्ञानावरणोंसे विमुक्त आत्मामें आनन्द अंगीकार करनेवाले वेदान्ती श्रीहर्षका यह उपहास जितना साहित्यकी दृष्टिसे रोचक है उतना ही दार्शनिक दृष्टिसे युक्तियुक्त है। उनका कहना है कि जिस सूत्रकारने सचेता पुरुषोंके लिये ज्ञान-सुखादि-विरहित शिलारूप प्राप्तिको जीवनका परम लक्ष्य बतलाकर उपदेश दिया है,[1] उनका 'गोतम' यह अभिधान शब्दतः ही यथार्थ नहीं है, अपितु अर्थतः भी समुचित है। वह केवल 'गो'-बैल न होकर 'गोतम' पक्का बैल, 'अतिशयेन गौः गोतमः' है। मुक्तावस्थामें आनन्दधाम गोलोक तथा नित्यवृन्दावनमें सरस बिहारकी व्यवस्था माननेवाले वैष्णवजन इस निरानन्द मुक्तिकी नीरस कल्पनासे घबरा उठते हैं और भावुक हृदयसे पुकार उठते हैं कि वृन्दावनके सरस निकुंजोंमें शृगाल बनकर जीवन बिताना हमें स्वीकार है, पर नैयायिकोंकी मुक्ति पाना हमें कथमपि पसन्द नहीं है :—

---

१. मुक्तये यः शिलात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम्।
गोतमं तमवेक्ष्यैव यथा वित्थ तथैव सः

—नैषध चरित १७।७५

वरं वृन्दावने रम्ये शृगालत्वं वृणोम्यहम् ।
वैशेषिकोक्तमोक्षात्तु सुखलेशविवर्जितात्[१] ।।

ऐसे नैयायिकोंके तर्कोंसे आनन्दरूप रसकी निष्पत्ति कथमपि नहीं हो सकती। न्यायपक्षके रसिक श्री शंकुकका यह निराधार कथन है कि अभिनयके कौशलसे नटमें, तदुपरान्त सामाजिकमें रसकी निष्पत्ति अनुमानसे होती है। उनका अनुकरणात्मको रसः सिद्धांत केवल खंडन-रसकी चरितार्थताके लिये ही हमारे आलोचनाग्रन्थोंमें निर्दिष्ट किया गया है[२], कोई भी आलोचक उसका मंडन तथा पोषण करने आगे नहीं आता।

रस और सांख्य

रसकी व्याख्याके अवसरपर आलोचकोंने सांख्य दर्शनके तत्वोंका बहुशः उपयोग किया है। भुक्तिवादी भट्ट नायक सांख्यमतानुयायी रस व्याख्यानके पक्षपाती बतलाए जाते हैं। आदिरसको अभिमान रूप माननेवाले भोजराज भी निश्चय ही सांख्यके ऋणी हैं, परन्तु सांख्यके मौलिक मतसे रसकी अभिव्यक्तिका कथमपि सामञ्जस्य नहीं घटता। भट्टनायकने अपने भोगव्यापारको सत्वोद्रेक प्रकाशानन्दमय संविद्विश्रान्तिरूप स्वीकार किया है। इसका अभिप्राय यही है कि रसकी भुक्तिमें जिस आनन्दमयी संवित्का उदय होता है वह सत्त्वके उद्रेकसे ही होती है। तीनों गुणोंमें सत्व ही सुखात्मक होता है। अतः उसके आधिक्यके अवसरपर आनन्दका उद्गम

---

१. सर्वसिद्धान्त संग्रह पृ० २८

२. श्री शंकुकके मतका दारुण खंडन अभिनवगुप्तके नाट्यगुरु भट्टतौतने विस्तारसे किया है। द्रष्टव्य अभिनव-भारती, खंड १ पृष्ठ. २७५-७८

मानना नितान्त सयुक्तिक है। और इस सिद्धान्तको अभिनवगुप्त आदि व्यक्तिवादी आचार्योंने भी अंगीकार किया है। इतना माननेके लिए हम भी तैयार हैं, परन्तु इसके आगे बढ़कर दोनोंकी समता दिखलानेमें अनेक विप्रपत्तियां प्रस्तुत हो जाती हैं।

रसकी अनुभूतिके लिए दो वस्तुओंकी विशेष आवश्यकता होती है। पहिली है पार्थक्य और दूसरी है संयोग। प्रथमतः वियोग, तदनन्तर संयोग। प्रथमतः विरह, अनंतर मिलन। विरहावस्था रसानुभूतिकी प्रक्रियामें एक अत्यंत आवश्यक शृंखला है। विरह मिलनकी माधुरीका जनक है। बिना बिरह हुए क्या मिलन कभी आनन्ददायक हो सकता है? विप्रलम्भके ऊपर कविजनोंके आग्रहका यही रहस्य है। अलकापुरीसे यक्षको बिना निर्वासित किए उसका अपनी प्रेयसीसे मिलन क्या आनन्दमय मांना जा सकता है? इसीलिये कालिदासने विरहमें आनन्दानुभूतिकी महिमा गाते हुए कहा है:—

> स्नेहानाहुः किमपि विरहे ध्वंसिनस्ते त्वभोगा-
> दिष्टे वस्तुन्युपचितरसाः प्रेमराशीभवन्ति ॥

—उत्तरमेघ, ५१ श्लोक.

विरहकी दशामें स्नेह अन्तर्हित हो जाता है, सचमुच रसानभिज्ञ मूर्खोंकी ही यह कल्पना है। वे सीधे निरे कवि यह भी नहीं जानते कि विरहमें भोग न होनेके कारण इष्ट वस्तुके विषयमें स्नेह कम नहीं होता, प्रत्युत उसका आनन्द वृद्धिगत होकर वह प्रेमका महनीय भंडार बन जाता है। अतः विरहके अनंतर संयोगकी पुष्टता तथा प्रौढ़ता कविजनमान्य है। कालिदासका यह स्नेहविषक कथन रसके मौलिक तथ्यका परिचायक है।

रसका यह वैशिष्ट्य सांख्यमतमें कथमपि सिद्ध नहीं होता। सांख्यमतमें आरम्भसे ही पुरुष प्रकृतिके साथ संयुक्तावस्थामें वर्तमान रहता

है। परन्तु इस दशामें रसका उदय नहीं हो सकता, क्योंकि यह है अज्ञानदशा। पुरुष अपने शुद्ध रूपको कथमपि जानता ही नहीं। पुरुष स्वभावतः असंग तथा मुक्त है, परन्तु अविवेकके कारण उसका प्रकृतिके साथ संयोग आरम्भसे ही निष्पन्न हो गया है। तत्वज्ञानसे विवेक-ख्याति उत्पन्न होती है। तब पुरुष प्रकृतिसे अपनेको पृथक् कर लेता है। अतः रसका प्रथम पक्ष पार्थक्य तो सम्पन्न हो गया, परन्तु संयोगरूप द्वितीय पक्ष अभी तक उदित नहीं हुआ। ज्ञानी पुरुषके सामने प्रकृतिकी समस्त लीलायें स्वतः बन्द हो जाती है। इस विषयमें सांख्याचार्य प्रकृतिकी तुलना उस अभिनयशीला नटीके साथ करते हैं[1] जो रंगस्थलमें उपस्थित दर्शकोंके सामने अपनी कलाबाजी दिखलाकर कृतकार्य होकर नर्तन व्यापारसे स्वतः निवृत्त हो जाती है। वस्तुतः प्रकृतिसे बढ़कर सुकुमारतर व्यक्ति दूसरा है ही नहीं। वह इतनी लज्जाशीला है कि एक बार पुरुषके द्वारा अनुभूत हो जानेपर उसके सामने कभी उपस्थित ही नहीं होती[2]।

विवेकी व्यक्तिके सामने प्रकृतिका कोई व्यापार ही नहीं होता। उस प्रयोजनकी सिद्धि होनेपर प्रकृतिका व्यापार स्वयं विरामको प्राप्त कर लेता है। यही है 'सांख्यानुसार मोक्षकी कल्पना सांख्यसूत्र (३।६५) के अनुसार अपवर्ग है दोनों प्रकृति पुरुषका परस्पर वियोग होना या एकाकी होना अथवा पुरुषका प्रकृतिसे पृथक स्थित

---

१. रंगस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात्।
पुरुषस्य तथात्मानं प्रकाश्य विनिवर्तते प्रकृतिः॥
—सांख्य कारिका, ५९.

२. प्रकृतेः सुकुमारतरं न किंचिदस्तीति मे मतिर्भवति।
या दृष्टास्मीति पुनर्न दर्शनमुपैति पुरुषस्य॥
सांख्यकारिका, ६१ का०

केवल स्वरूपमें रहना। मुक्तावस्थामें पुरुषको यह निश्चित ज्ञान उत्पन्न हो जाता है[१] कि 'नास्मि' में स्वभावतः निष्क्रिय हूँ, क्योंकि मुझमें किसी प्रकारकी क्रियाका सम्बन्ध नहीं है। 'नाहम्' क्रियाके निषेध होनेसे मुझमें किसी प्रकारका कर्तृत्व नहीं है। 'न में' असंग होनेके कारण किसीके साथ मेरा स्वस्वामिभाव सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार क्रियाहीनता, संगहीनता तथा कर्तृत्वहीनताका उदय मुक्त पुरुषमें प्रकृतिके व्यापार विरत होते ही होने लगता है।

यही है सांख्यानुयायी अपवर्गकी कल्पना। इस प्रक्रियामें रसके लिये कहीं स्थान नहीं है। रसके लिये पार्थक्य तो यहां विद्यमान है, परन्तु तदनंतर संयोगकी सत्ता कैवल्य—सम्पन्न पुरुषमें कहां? प्रकृतिकी लीलाका ही जब अवसान हो गया है, तब पुरुष आनन्दका अनुभव ही किस प्रकार कर सकता है? रसके लिये उपयोगी विरहानन्तर मिलनकी कल्पना यहां नितान्त असम्भव है। रसके लिये चाहिए प्रकृतिपुरुषका ज्ञानपूर्वक ६३ का सम्बन्ध, परन्तु सांख्य मुक्तिमें विद्यमान रहता है पुरुष-प्रकृतिका ज्ञानपूर्वक ३६ का संबंध। अतः सांख्यसिद्धान्तके अनुसार रसकी यथार्थ निष्पत्ति सिद्ध नहीं की जा सकती।

---

१. एवं तत्वाभ्यासान् नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्।
अविपर्ययाद् विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्॥
—सांख्यकारिका, ६४ का०

वेदान्त और रस

जगत्में आनंद तीन प्रकारका होता है—१. विषयानन्द, २. ब्रह्मानंद तथा ३. रसानंद। ब्रह्म सच्चिदानंद रूप है। वह स्वयं आनंदरूप है। उसी आनंदमय ब्रह्मसे प्राणी उत्पन्न होते हैं, जीते हैं और अंतमें उसीमें लीन हो जाते हैं:—

आनन्दादेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनंदेन जातानि जीवन्ति।
आनन्दे प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति, आनंदो ब्रह्मेति व्यजानात्॥
—तैत्तिरीय उपनिषद्, ३।६।१

आनंदकी उच्चतम कोटि ब्रह्मानंद है जिसके अंतर्गत जगत्के समस्त आनंद सिमिटकर एकत्र हो जाते हैं। इस आनंदमय ब्रह्मसे ही आनंदकी मात्रा ग्रहण कर जगत्की वस्तुओंमें आनंद-उपलब्धि होती है। एतस्येव आनंदस्य अन्य आनन्दा मात्रामुपजीवन्ति। इन तीनोंमें विषयानंद हेय है तथा अन्य दोनों आनंद उपादेय हैं। इन तीनोंकी स्थिति वासना या कामके ऊपर निर्भर है। विषयानंदकी अपेक्षा रसानंद नितान्त विलक्षण तथा उदात्त है। विषयानंद लौकिक है, रसानंद अलौकिक। अशुद्ध वासना तथा सम भावकी सत्ता रहनेपर ऐश्वर्यकी प्राप्ति हो सकती है, परंतु रस-उपलब्धि नहीं हो सकती।

ब्रह्मानन्द और रस

अब ब्रह्मानंद तथा रसानंदके परस्पर वैलक्षण्यकी मीमांसा आवश्यक है। भट्टनायकने रसको 'ब्रह्मानन्दसचिवः' तथा विश्वनाथ कविराजने 'ब्रह्मानन्दसहोदरः' कहा है, 'ब्रह्मानन्दरूपः' नहीं कहा।

तथ्य बात यह है कि ब्रह्मानंद तथा रसानंदमें आकाश-पातालका अंतर विद्यमान है। ब्रह्मानंद वासना या कामनाके उच्छेदसे उत्पन्न होता है। परन्तु रसानंद वासनाके विशोधनसे साध्य होता है। सकाम भावमें वासना अवश्यमेव रहती है, परंतु यह वासना होती है अशुद्ध जो विषयकी ओर ही प्राणियोंको ले जाती है। ब्रह्म-प्राप्तिके अवसरपर इस वासनाका सर्वथा उन्मूलन आवश्यक होता है, क्योंकि वासनाकी कणिकाके शेष रहते आत्मा कभी बंधनसे उन्मुक्त नहीं हो सकती, अतः वासनाक्षय वेदान्तमें मुक्तिके लिये नितान्त आवश्यक उपकरण होता है। साहित्यशास्त्रके अनुसार स्थायिभावकी ही तो रस रूपमें परिणति होती है, परंतु वेदान्तमतमें वासनारूपी स्थायिभाव ही विद्य-मान नहीं रहता है तब रसका उन्मीलन किस प्रकार हो सकता है? वह भित्ति ही नहीं है जिसपर प्रासाद खड़ा किया जाय। वह बीज ही नहीं है जो वृक्षके रूपमें परिणत होकर आनंद और छाया प्रदान करे।

वेदान्तमतमें मुक्तिका प्रबल साधन कामका सर्वथा उन्मूलन रसोन्मेषका नितान्त विरोधी है। रसकी निष्पत्तिके लिये कामका उन्मूलन अभीष्ट नहीं है, प्रत्युत विशोधन आवश्यक है। वासनाका विषम विषदंत है सकाम भावना। इस विषदंतको बिना उखाड़े वासनाका शोधन नहीं होता। रसकी उपलब्धिके हेतु सकाम भावको निष्काम भावमें परिणत होना ही होगा। इसी भावशुद्धिको बौद्ध लोग 'परा-वृत्ति'के नामसे तथा आधुनिक मनोवैज्ञानिक सब्लीमेशन आव इंस्टिं-क्टस्के अभिधानसे पुकारते हैं। आलोचनाशास्त्र साधारणीकरण व्यापारको भावविशोधनका एकमात्र साधन अंगीकार करता है। वैय-क्तिक सम्बन्धकी कल्पना ही भावोंकी अशुद्धिका कारण होती है। 'ममेयं रतिः' यह मेरा प्रेम है कहनेवाला व्यक्ति व्यक्तिगत सम्बन्धकी स्थापना कर अपने भावको कलुषित तथा मलिन बना देता है। विभावादि

व्यापारके द्वारा वैयक्तिक सम्बन्धके अपसारणसे ही मलापनयन होता है और भाव अपने विशुद्ध रूपमें चमक उठते हैं।

वासनाक्षयके ऊपर आश्रित ब्रह्मानन्दसे वासना-शुद्धिपर आधारित रसानन्दकी तुलना कथमपि नहीं की जा सकती।

वेदांतके अनुसार लोक-दशामें त्रिपुटी विद्यमान रहती है; पर ब्रह्मानंदकी दशामें त्रिपुटीका सर्वथा भंग हो जाता है। यह त्रिपुटी है, ज्ञाता, ज्ञेय तथा ज्ञान। आत्मा विषयको जानता है, यहां व्यवहारदशामें इन तीनोंकी सत्ता विद्यमान रहती है। तीनों वस्तुओंकी सत्ता सांसार दशामें पृथक् रूपसे रहती है, परंतु मोक्षदशामें यह त्रिपुटी सिमिट कर ब्रह्ममें ही लीन हो जाती है। एक सच्चिदानंद, अखंडको छोड़कर न ज्ञेयकी और न ज्ञानकी ही सत्ता पार्थक्येन सिद्ध होती है।

रसोन्मेषकी दशामें त्रिपुटीका भंग नहीं होता, त्रिपुटीकी सत्ता सिद्ध ही रहती है। इस प्रसंगमें मम्मट तथा विश्वनाथके शब्द ध्यानसे अव-धारणीय हैं। उनका कथन तत्काल-विगलित-परिमितप्रमातृभाववशोन्मिषित-वेद्यान्तरसम्पर्क-शून्यापरिमितभावेन प्रमाण-वेद्यान्तरस्पर्श-शून्यः' अर्थात् रसदशामें अन्य वेद्य पदार्थका स्पर्श तक नहीं रहता। 'वेद्यान्तर' शब्द इस बातका स्पष्ट प्रमाण है कि दूसरी वेद्य वस्तु रसदशामें नहीं होती, वेद्यरूप रस ही विद्यमान रहता है। 'अपरप्रमाता' 'परप्रमाता'के रूपमें केवल बदल जाता है, परन्तु उसके प्रमातृत्वका उपशम नहीं होता। तात्पर्य यह है कि रसकी उन्मीलन-अवस्थामें प्रमाता सामाजिक विद्यमान रहता है, प्रमेय रस विद्यमान रहता है तथा तत्सम्बन्धमें प्रमा भी विद्यमान रहती है। अतः त्रिपुटीके अभावके कारण ब्रह्मानंद, प्रपंचातीत आनंद होता है जिसे मुक्त पुरुष ही अपनी अनुभूतिमें लाते हैं, परन्तु रसानंद प्रपंचगत आनंद है जिसके आस्वादका अधिकार मुक्त पुरुषके समान बद्ध पुरुषको भी सर्वप्रकारेण सिद्ध है।

'रसानंद' और श्री हर्ष

इसी वैषम्यको लक्ष्य कर वेदांतके परम मर्मज्ञ महाकवि श्री हर्षने दमयन्तीकी रूपमाधुरीके वर्णनप्रसंगमें बड़ी ही सुन्दर उक्ति कही है—

ब्रह्माद्वयस्यान्वभवत् प्रमोदं रोमाग्र एवाग्रनिरीक्षितेऽस्याः ।
यथौचितीत्थं तदशेषदृष्टावथ स्मराद्वैत मुदं तथासौ ॥

—नैषध, ७।३

राजा नलने दमयंतीके रोमके अग्रभागको ही प्रथमतः देखकर ब्रह्माद्वैतके आनंदका अनुभव किया। अतः उचित ही था कि दमयंतीके समग्र शरीरके अवलोकनसे वह कामाद्वैतके आनंदका अनुभव करता। श्री हर्षकी दृष्टिमें रसानंद, ब्रह्मानंदकी अपेक्षा बड़ी ही उत्कट कोटिकी वस्तु ठहरता है। दमयंतीके विशेष अंगका नहीं बल्कि अंगके बिलकुल ही छोटे अंशके स्वल्प भागका अवलोकन नलके हृदयमें ब्रह्मानंदका उद्गम करता है, तो सम्पूर्ण शरीरका साक्षात्कार उससे कितनी अधिक मात्रामें आनंद उत्पन्न करेगा? वह अद्वैत वेदांती जो केवल ब्रह्माद्वैतसे ही परिचित है, बिल्कुल ही नहीं जानता कि साहित्य जगत्का सर्वस्वभूत रसाद्वैत कितना सरस, आनंदमय तथा रुचिरतम पदार्थ है। ब्रह्मानंद रसानंदकी तुलनामें एक नगण्य वस्तु है जिसका अभिलाष जगत्के कोमल-कलित भावोंसे परांगमुख विरक्त जनोंके ही हृदयको उद्वेलित किया करता है। भावशोधनके ऊपर आश्रित रसानंद संसारके कमनीय पदार्थोंमें अनुरक्त अथच अनासक्त व्यक्तियोंके चित्तको आकृष्ट करनेवाला अलौकिक पदार्थ है।

रागात्मिका अनुभूतिका स्थान शुष्क ज्ञानात्मिका अनुभूतिकी अपेक्षा कहीं उच्चतर होता है। इसीलिये रस 'ब्रह्मानन्द-सहोदर' माना जाता है, ब्रह्मानन्द रूप नहीं।

(ग) आनंदः परमो रसः

विषयकी सूक्ष्म समीक्षा करनेसे हम इसी निष्कर्षपर पहुंचते हैं। पंडितराज जगन्नाथका कथन है कि जिस प्रकार सविकल्पक समाधिमें, ज्ञाता-ज्ञेयके पृथक् अनुसंधानवाली समाधिमें, योगीकी चित्तवृत्ति आनंदमयी हो जाती है, उसी प्रकार रसास्वादनके अवसरपर सहृदयकी चित्तवृत्ति स्थायिभावसे संवलित स्वस्वरूपा आनंदात्मिका हो जाती है अर्थात् उसकी चित्तवृत्तिको उस समय स्थायिभावसे युक्त आत्मानंदके अतिरिक्त अन्य किसी पदार्थका बोध नहीं होता[1]। यहां समाधि-स्थित योगीकी उपमा सहृदयके अनुभवको निर्विकल्पक समाधिमें रमनेवाले योगीकी अनुभूतिसे पृथक् सिद्ध करनेके लिये दी गई है। निर्विकल्पक समाधिमें ज्ञाता और ज्ञेयका पृथक्-पृथक् अनुसंधान नहीं रहता, वहां किसी प्रकारका विकल्प रहता ही नहीं। योगी ब्रह्मानंदमें लीन हो जाता है। यह रसानंदकी अवस्था नहीं है। अतः सहृदयकी तुलना 'सविकल्पक योगी'के साथ निष्पन्न कर पंडितराज पूर्वोक्त विवेचनकी पुष्टि कर रहे हैं।[2]

---

१. विभावादिचर्वणमहिम्ना सहृदयस्य निज-सहृदयतावशोन्मिषितेन तत् स्थाय्युपहितस्वस्वरूपानंदाकारा समाधाविव योगिनश्चित्तवृत्ति-रुपजायते, तन्मयीभवनमिति यावत्।

रसगंगाधर, पृ० २२.

समाधौ सविकल्पकसमाधौ, निर्विकल्पके तदनंगीकारादिति बोध्यम्

नागेशकृत व्याख्या।

२. इयं च परमब्रह्मास्वादात् समाधेर्विलक्षणा। विभावादिविषय-संवलितचिदानंदालम्बनत्वात् वही, पृ० २३

यह रसानंद अन्य लौकिक सुखोंके समान नहीं है, क्योंकि वे सब सुख अन्तःकरणसे युक्त चैतन्यरूप होते हैं, अर्थात् इनकी अनुभूतिके समय चैतन्यका और अंतःकरणकी वृत्तियोंका योग रहता है, परन्तु रसका आनंद शुद्ध चैतन्यरूप, अंतःकरणकी वृत्तियोंसे युक्त चैतन्य नहीं होता। इस अनुभवके समय चित्तवृत्ति आनंदमयी हो जाती है और यह आनंद अनवच्छिन्न रहता है। अन्तःकरणकी वृत्तियोंके द्वारा इसका अवच्छेद नहीं होता। अतः लौकिक आनंदसे रसानंदकी विशिष्टता दार्शनिक दृष्टिसे स्फुटतर है[1]। पंडितराज जगन्नाथके शब्दोंमें रसका रूप है 'भग्नावरणाचिद्विशिष्टो रत्यादिः स्थायी भावो रसः'। चैतन्यके ऊपर अज्ञानका आवरण पड़ा रहता है जिसका अपनयन विभावादि व्यापारके द्वारा सिद्ध होता है। उस दशामें अज्ञानरूप आवरणसे रहित जो चैतन्य है उससे युक्त स्थायिभावको 'रस' कहते हैं। अथवा 'रसो वै सः' आदि ब्रह्मको रसरूप बतलानेवाली श्रुतियोंके सारस्यसे स्थायिभावसे युक्त तथा अज्ञान आवरणसे विरहित चैतन्यका ही नाम 'रस' है, 'रत्याद्यवच्छिन्नभग्नावरणा चिद् एव रसः'। रस कोई इतर पदार्थ नहीं है, प्रत्युत वह चैतन्यरूप ही है जिसके ऊपरसे अज्ञानका आवरण हट गया है तथा जिसमें रति आदि स्थायिभाव विशेषणतया भासित होते हैं।

पंडितराजने अभिनवगुप्त आदि व्यक्तिवादियोंकी ही रस व्याख्याका दर्शन दृष्टिसे परिष्कार किया है। अभिनवगुप्तकी स्पष्ट उक्ति है 'रसना च बोधरूपैव किन्तु बोधान्तरेभ्यो लौकिकेभ्यो विलक्षणा, उपायानां विभावादीनां लौकिकवैलक्षण्यात्, (अभिनवभारती पृ०

---

१. आनन्दो ह्ययं न लौकिकसुखान्तरसाधारणः। अनन्तःकरणवृत्तिरूपत्वात्

—रसगंगाधर, पृ० २२,

२८६) । रसना, स्वाद ज्ञानरूप ही होता है, परन्तु अन्य लौकिक ज्ञानोंसे यह विलक्षण होता है, क्योंकि इसके उत्पादक साधन विभाव आदि स्वतः लौकिक साधनोंकी अपेक्षा विलक्षण होते हैं। अभिनवगुप्तके इसी वाक्यकी व्याख्या पंडितराजने दर्शनिक पद्धतिसे की है।

वस्तुतः आनंद ही रस है। रस एक है, अनेक नहीं। रस रस ही है। उसके लिये किसी पर्यायशब्दकी आवश्यकता नहीं होती। रस ब्रह्मके समान है। रस स्फोटके सदृश है। ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है। नानात्मक विकृतियां असत्य हैं। उसी प्रकार, शृंगार हास्य आदि रसकी अनेकता तथा पार्थक्य वस्तुतः असत्य है। रस ही एकमात्र सत्य है। रस अंशी है। शृंगारादि रस उसके अंशमात्र हैं। अभिनवगुप्तके प्रमाण्य तथा भाष्यके अनुसार भरतमुनिका यही मत है। उन्होंने मूलस्थानीय रसके लिये 'महारस' शब्दका प्रयोग किया है तथा अंशभूत रसोंको केवल 'रस' शब्दसे अभिहित किया है। रसकी एकरूपताकी सिद्धिके हेतु भरतने इस विख्यात वाक्यमें एक वचनका ही प्रयोग किया है।

न हि रसाद् ऋते कश्चिदर्थः प्रवर्तते।

—नाट्यशास्त्र पृ० २७३-७४

अभिनवकी व्याख्या

एक एव तावत् परमार्थतो रसः सूत्रस्थानत्वेन रूपके प्रतिभाति। तस्यैव पुनर्भागदशाविभागः।

—अभिनवभारती पृ० २७३

तथा च 'रसादृते' (६।३३) इत्यत एकवचनोपपत्तिः। ततश्च मुख्यभूतात् महारसात् स्फोटदृशीव असत्यानि वा, अन्विताभिधानदृशीव उभयात्मकानि

सत्यानि वा, अभिहितान्वयदर्शीव तत् समुदायरूपाणि वा, रसान्तराणि भागाभिनिवेश दृष्टानि रूप्यन्ते ।

—अभिनवभारती पृ० २६६

कविकर्णपूरने अपने 'अलकार-कौस्तुभ'में इस मतकी बड़े परिष्कारके साथ व्याख्याकी है । इन्होंने महारसके निमित्त एक विलक्षण स्थायिभाव की ही कल्पना की है । इस स्थायी भावका नाम है आस्वादांकुरकन्द, जो रसावस्थामें आस्वादका अंकुर उपजता है उसका यह भाव, कन्द अर्थात् बीज है । जब चित्त रज तथा तमसे हीन होकर शुद्ध सत्वमें प्रतिष्ठित होता है तब उसका जो विशिष्ट धर्म या स्वभाव होता है उसीका नाम है आस्वादांकुरकन्द । यह चित्तका ही गुण है । जब रज तथा तम गुणोंकी सत्तासे चित्त लुब्ध नहीं होता, प्रत्युत सत्वगुणके प्राचुर्यके कारण नितान्त शान्त रहता है और विश्रान्तिका अनुभव करता है, तब उसकी आनन्दमयी तथा शान्त स्थिति 'आस्वादांकुरकंद'के अभिधानसे पुकारी जाती है ।

आस्वादाङ्कुरकन्दोऽस्ति धर्मः कश्चन चेतसः ।
रजस्तमोभ्यां हीनस्य शुद्धसत्त्वतया सतः ॥

—अलंकार कौस्तुभ, का० ६३ ।

यह रसानंदके उदय होनेकी पूर्वावस्था है । यह सब रसोंकी साम्यावस्था है । यही स्थायी विभावादिके साहाय्यसे रसरूपमें परिणत हो जाता है । आस्वादांकुरकन्दोऽसौ भावः स्थायी रसायते (कारिका ६२)। आनंदधर्म होनेसे रस एक हीहोता है । भाव उपाधिस्थानीय होते हैं । जिस प्रकार जपाकुसुम आदि उपाधिकी सन्निधिमें शुद्धवर्ण स्फटिक नानावर्णका प्रतीयमान होता है अथवा सूर्यका प्रतिबिम्ब एक होनेपर भी जगगत उपाधिभेदसे नाना प्रतीत होता है उसी प्रकार यह स्थायी भाव रति, उत्साह, भय आदि भावोंके कारण शृंगार, वीर, भयानक

आवि रसके रूपमें भासित होता है । रसगत समस्त भेद उपाधिजन्य है, स्वगत जन्य कोई भी भेद नहीं है ।

रसस्य ह्यानन्दधर्मात् एकध्यं भाव एव हि ।
उपाधिभेदान्नानात्वं रत्यादय उपाधयः[१] ॥

—अलंकारकौस्तुभ, कारिका ७१ ।

अतः आनन्दमय रस ही 'महारस' है । अन्य रस उस मूल महारसके केवल विकारमात्र हैं । इसलिये रस वस्तुतः एकरूप ही है । भारतीय साहित्यशास्त्रका सर्वस्वभूत सिद्धांत है...एको रसः ॥

---

१. रत्यादयः स्थायिनः यथा नानाविधशरावसलिलतारतम्येऽपि तरणिबिम्बप्रतिबिम्ब एक एव । तथा उपाधिगत एव भेदो नानन्दकृतो रसस्य । आनंदधर्मत्वात् चरमानन्दरूपत्वात् एकध्यम् एकविधत्वं रसस्य ।

—वृत्ति पृ० १३०

(घ) काव्यमें रसवत्ता

विचारणीय विषय है–काव्यमें रसवत्ता कहां रहती है ? कवि, विषय तथा सामाजिक––रसशास्त्रकी यही त्रिपुटी है। आन्तर अथवा बाह्य विषयकी स्वयं अनुभूति कर कवि अपनी रसमयी कविताके द्वारा सामाजिकोंके हृदयमें उसे उतारता है। विषयको सामाजिक तक पहुंचानेके कार्यमें कवि रुचिर माध्यम होता है। कविकी अन्तर्मुखी दृष्टि यदि विषयके ऊपर न पड़े, तो विषय स्वयं निराकार रूपमें पड़ा ही पड़ा अपना दिन गिनता रहेगा। कविकी प्रतिभाके आलोकसे ही विषय आलोकित हो जाता है। उसके अभावमें वह स्वयं गाढ़ अन्धकारके पटलको भेदकर बाहर अनुभूतिमें आनेकी क्षमता नहीं रखता। अतः काव्यके उपादानकी सामग्री प्रस्तुत करनेपर भी विषयकी काव्यमें एकान्त महत्ता नहीं है। तबतक उसका उपभोग सहृदयकी क्षमताके भी बाहर है, जबतक कवि प्रातिभ लोचनसे वर्ण्य वस्तुका अवलोकनकर पाठकोंके सामने उसके स्वरूपका उन्मीलन स्वयं नहीं कर देता। अतः काव्यके जनक होनेके कारण स्रष्टा कविका विपुल महत्त्व है। हमारे भारतीय आलोचनाशास्त्रमें कलाका सहृदयपक्ष विशेषतः पुष्ट है तथा गौरवकी दृष्टिसे देखा जाता है। सहृदयकी दृष्टिसे ही काव्यकी परीक्षा की जाती है, उसके गुण-दोषोंका विवेचन होता है, हेयोपादेयताकी कसौटी तैयार की जाती है। अतः हमारा आलोचनाशास्त्र काव्यको 'सामाजिक –चर्वणा–व्यापार'के रूपमें ही अंकित करता है। पूर्वनिर्दिष्ट त्रिकोणका केन्द्र बिन्दु है––रस। रसकी छटासे ही यह समस्त काव्य त्रिकोण सरसता तथा मनोज्ञतासे छलकता रहता है। विषय सुगमताके लिये इस रेखाचित्रसे भी दिखलाया जाता है:––

काव्य-त्रिकोण
वस्तु
सामाजिक
रस
दर्शन
वर्णन
कवि
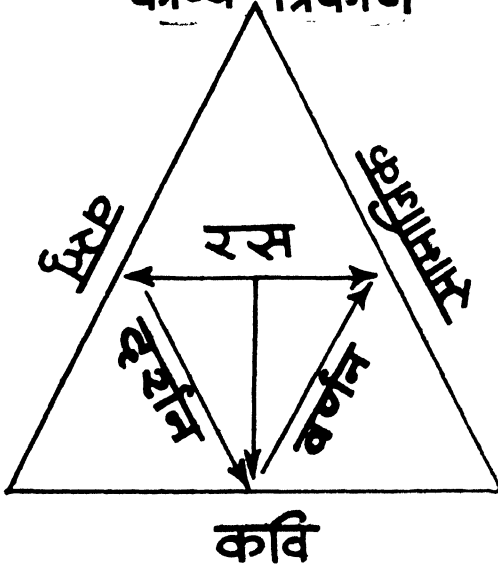
काव्य-त्रिकोण

इस त्रिकोणकी समीक्षा करनेपर काव्यके तीनों तत्त्व—वस्तु, कवि तथा सामाजिक—के परस्पर सन्तुलनकी समस्या समझमें आ जाती है। सामाजिक ही काव्यका पर्यवसान है। समाजका प्रतिनिधित्व करनेवाला सहृदय ही काव्यरचनाका अन्तिम उपास्य है। कवि उसका माध्यम है। वस्तुकी अनुभूति सामाजिकको कराना कविका लक्ष्य है। दर्शन और वर्णनसे ही कवि कविपदवीका भाजन बनता है। वस्तुको वह आत्मसात् करता है दर्शनके द्वारा और स्वतः अनुभूत सत्यको वह सामाजिकको अनुभव कराता है वर्णनके द्वारा। इसीलिये जैसा पहिले कहा गया है भट्टतौतने काव्यकलाके विकासमें दोनोंको महत्त्वपूर्ण स्थान दिया था—

दर्शनाद् वर्णनाच्चापि लोके जाता कविश्रुतिः।

'दर्शन'के बिना कविका 'वर्णन' ही निराधार तथा निःसत्त्व होता है तथा 'वर्णन'के अभावमें 'दर्शन' भी केवलः अन्तःसंभूतिमात्र रहता है। कवित्वप्रासादके दर्शन तथा वर्णन दो सुचारु स्तम्भ हैं। इसी प्रकार वस्तु तथा सहृदय—विषय तथा सामाजिक—दोनों ही कविके लिये उपादेय तथा स्पृहणीय तत्त्व होते हैं। कविको दर्शनके द्वारा वस्तुकी जो अन्तः अनुभूति उदित होती है उसीको सामाजिकके मनमें उसी रूपसे वह वर्णनके द्वारा जागरित कर देता है। इसके केन्द्रमें विराजता है—रस। रसजन्य आनन्द काव्यका जीवनाधार है।

अब प्रश्न है कि रसकी सत्ता कहां-कहां रहती है? सामाजिकमें रस विद्यमान रहता है; यह तो हमारे आलोचना-शास्त्रका मान्य सिद्धांत ही है, परन्तु वस्तु तथा कवि इन दोनोंमें रसका आधार कौन होता

है ? वस्तुमें स्वतः रसकी सत्ता विद्यमान रहती है अथवा कविगत रस रहता है ? गीतिकाव्यके दृष्टान्तसे यह विषय समझाया जा सकता है। कतिपय आलोचक गीतिकाव्यके वर्ण्य विषयमें ही रसवत्ता मानते हैं। उनका कथन है कि गीतिकाव्यका विषय ही स्वयं रस-निर्भर रहता है। कवि उनके सामान्य वर्णनमात्रसे ही काव्यको रसस्निग्ध बना डालता है। परन्तु तथ्य बात इसके ठीक विपरीत है। काव्यमें समस्त चमत्कार कविके व्यक्तित्वपर आश्रित रहता है—काव्य कविके व्यक्तित्वकी ही अभिनन्दनीय अभिव्यक्ति है।

कहा गया है कि आचार्य उद्भट वस्तुका रूप **'स्वरूपनिबन्धन'** मानते थे, परन्तु राजशेखरका सम्मान्य मत था कि वस्तुका रूप 'स्वरूप-निबन्धन' न होकर **'प्रतिभास-निबन्धन'** होता है। इसका अभिप्राय है कि काव्यकर्ताको वस्तुका रूप अपनी प्रतिभाके बलपर जैसा प्रतिभासित होता है वैसा ही वह अपने काव्यमें रखता है। वह इस वैज्ञानिक झमेलेमें नहीं पड़ता कि आकाशमें कोई रंग होता है या नहीं, वह अपनी अनुभूतिको ही आश्रय मानकर आकाशको 'नीलोत्पलदल-द्युति' या 'असिश्याम' वर्णन करता है। कवि वैयक्तिक प्रतिभासके ऊपर ही वस्तुका रूप निर्धारित करता है—

न स्वरूपनिबन्धनमिदं रूपमाकाशस्य सरित् सलिलादेर्वा किन्तु प्रतिभासनिबन्धनम्। यथाप्रतिभासं च वस्तुनः स्वरूपं शास्त्रकाव्ययोर्निबन्धोपयोगि। —का० मी० पृ० ४४

राजशेखरका यह सिद्धान्त नितान्त उपादेय है—

काव्ये कविवचनानि रसयन्ति विरसयन्ति च नार्थाः—का० मी० पृ० ४५

अर्थ स्वयं एकाकार ही रहता है। उसमें रसवत्ता भरने या रस-हीन बनानेकी क्षमता कविकी वाणीमें ही होती है। उनकी पत्नी आलोचकप्रवरा अवन्तिसुन्दरी भी इसीकी पुष्टिमें कहती हैं—

वस्तुस्वभावोऽत्र कवेरतन्त्रं गुणागुणावुक्तिवशेन काव्ये ।
स्तुवन्निबध्नात्यमृतांशुमिन्दुं निन्दंस्तु दोषाकरमाह धूर्तः ॥

वस्तुका निजी स्वभाव एकाकार रहता है। परन्तु उसमें गुणका उदय तथा दोषका उद्गम करती है कविकी वाणी ही। चन्द्रमा अपनी स्निग्ध चन्द्रिका छिटकाता हुआ समानरूपसे गगमण्डलमें विहार करता है, परन्तु उसकी प्रशंसाके अवसरपर कवि उसे 'अमृतांशु' का -अभिधान प्रदान करता है और दोषके अवसरपर उसे 'दोषाकर' (रातको करने-वाला तथा दोषोंका खजाना) कहता है। कविका विलोचन ही कभी उसके किरणोंमें अमृपोपम स्निग्धताका दर्शन करता है और कभी दोषोंकी कालिमाका ।

(ङ) कविगत रस

प्रतिभाजन्य काव्यनिर्माणकी चर्चा हमने अबतक कवियों तथा आलोचकोंके प्रामाण्यपर पर्याप्तरूपसे की है। विचारणीय प्रश्न है कि कवि वर्ण्य विषयसे रसोपलब्धि प्राप्त कर निर्माण करता है या अन्य किसी प्रकार? हमारे भारतीय आलोचकोंका कहना है कि कविको रसके स्रष्टा होनेसे पहिले वर्ण्य विषयका द्रष्टा तथा भोक्ता भी होना ही चाहिए। कवि शब्दोंके माध्यमद्वारा स्वानुभूतिका इतना सुन्दर रोचक चित्रण करता है कि वह तुरन्त पाठकोंका हृदयंगम बनकर उनकी भी अपनी अनुभूति बन जाती है। कवि जब तक रसका स्वतःद्रष्टा तथा भोक्ता नहीं होता तबतक वह अपने पाठकों तथा श्रोताओंके हृदयमें क्या रसका उन्मीलन कर सकता है? जिसने स्वयं अंगूर नहीं चाखा है वह क्या अंगूरकी मिठासका यथार्थ प्रभावशाली वर्णन कर सकता है! अतः व्यावहारिक दृष्टि हमें इसी परिणामपर पहुंचाती है कि कविमें स्वयं रसोद्भूति होती है, अन्यथा वह अपने काव्यपाठकोंके हृदयमें रसोन्मीलन नहीं कर सकता। शास्त्रकारोंका इस विषयमें क्या मत है? इसी विषयकी मीमांसा यहां अब प्रस्तुत की जा रही है।

मूल प्रश्न है—क्या सामाजिकगत रसके समान कविगत रस होता है? अभिनवगुप्तके भाष्यसे जान पड़ता है कि भरतका मत था—कविमें रस होता है। आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्तका भी मत है—कविमें रस होता है। भरतका वह महनीय श्लोक जिसके ऊपर यह मत आश्रित है इस प्रकार है—

> यथा बीजाद् भवेद् वृक्षो वृक्षात् पुष्पं फलं यथा।
> तथा मूलं रसाः सर्वे तेभ्यो भावा व्यवस्थिताः।
>
> —नाट्यशास्त्र, ६।४२

जैसे बीजसे वृक्ष होता है, वृक्षसे फूल तथा फूलसे फल होता है, वैसे ही रससमूह ही काव्यका मूल होता है और उससे भावोंकी व्यवस्था होती है।

इस पद्यकी अभिनवभारती इस तत्त्वकी स्पष्ट द्योतिका है—

एवं मूलबीजस्थानीयात् कविगतो रसः। कविर्हि सामाजिकतुल्य एव। तत एवोक्तं 'शृङ्गारी चेत् कविरित्यादि' आनन्दवर्धनाचार्येण। ततो वृक्षस्थानीयं काव्यम्। तत् पुष्पादिस्थानीयोऽभिनयादिनटव्यापारः। तत्र फलस्थानीयः सामाजिकरसास्वादः। तेन रसमयमेव विश्वम्।

—अभिनवभारती पृ० २९५

मूलबीजके समान होता है कविगतरस। कवि सामाजिकके समान ही होता है। इसीलिये आनन्दवर्धनाचार्यने 'शृंगारी चेत् कविः काव्ये' कहा है। उससे वृक्ष स्थानीय होता है काव्य। अभिनय आदि नटव्यापार पुष्पके स्थानपर होता है तथा सामाजिक जनका रसास्वाद फलस्थानीय होता है। इस प्रकार समग्र विश्व ही रसमय बन जाता है।

आचार्य अभिनवगुप्तका यही तात्पर्य प्रतीत होता है कि कवि जगत्-काव्यसे अर्थात् संसारकी बाह्य वस्तुओंसे विभावादि व्यापारके बिना ही स्वतः रसकी उपलब्धि कर सकता है। इस विषयमें उसका दर्जा सामाजिककी अपेक्षा कहीं बढ़कर है। सामाजिक विभावादि व्यापारके द्वारा व्यक्तीकृत स्थायी भावसे रसकी उपलब्धि करनेमें समर्थ होता है, परन्तु कविको इसकी आवश्यकता ही नहीं। अभिनवगुप्त कविके दो प्रकारकी शक्तियां बतलाते हैं—प्रथम शक्ति है साक्षात् भावसे जगत्के पदार्थोंसे भाव तथा रसकी उपलब्धि। संसारकी वस्तुओंसे भावका ग्रहण तथा साधारणीकरण व्यापारके द्वारा अपने सीमित व्यक्तित्वसे ऊपर उठकर रसका अनुभव—साक्षात्रूपसे, किसी आवश्यक सामग्रीके

सहयोगके बिनाही—कविका निजी वैशिष्ट्य है। दूसरी शक्ति प्रतिभाके बलपर स्वयं अनुभूत रसका तदनुरूप शब्दोंके द्वारा अभिव्यक्ति करना या काव्य-निर्माण करना है। कविगत रस होनेपर ही काव्यमें भी रसवत्ता होती है। अग्निपुराणका इस विषयमें स्पष्ट कथन है—

शृङ्गारी चेत् कविः काव्ये जातं रसमयं जगत्।
स एव वीतरागश्चेन्नीरसं सर्वमेव तत्॥

(अध्याय ३४५।११)

यदि काव्यका निर्माता कवि स्वयं शृंगारी या रसिक होता है, तो जगत् रसमय बन जाता है। यदि वह स्वयं वीतराग—राग-रहित या नीरस होता है, तो सब वस्तु ही नीरस हो जाती है।

इसका स्फुट तात्पर्य है कि कविकी रसवत्ता ही काव्य-रसवत्ताकी जननी होती है। यह असम्भव ही है कि नीरस कविका काव्य रस-स्निग्ध या रस-पेशल हो। भट्टनायकने हृदयदर्पण में और भी स्पष्ट रूपसे लिखा है—

यावत् पूर्णो न चैतेन तावन्नैव वमत्यमुम्।

जब तक कवि रससे पूर्ण नहीं होता, तब तक वह रसका उद्गरण किस प्रकार कर सकता है? काव्य रसपूर्ण कविके हृदयके उद्गारके अतिरिक्त और क्या है! रसशून्य कवि रसका प्रकाशन अपनी कविताके द्वारा किस प्रकार कर सकता है? अतः काव्यमें रसवत्ताका उदय कविकी रसवत्तासे ही होता है।

१२—काव्य और प्रकृति-वर्णन

इस विश्वके समग्र रूपों तथा व्यापारोंका आधारस्तम्भ मनुष्य ही है। मनुष्यकी कमनीय केलिभूमि है यह पृथ्वी, परन्तु वह भी अपने उत्साहके लिये, अपनी स्फूर्तिके निमित्त, उस नानारूपात्मक वस्तुका आश्रय लिया करता है जिसे हम कहते हैं—बाह्य प्रकृति, निसर्ग या नेचर। इस भागवती सृष्टिमें मनुष्य तथा प्रकृतिका परस्पर सम्बन्ध बड़ा ही घनिष्ठ तथा स्निग्ध है। सृष्टिके आरम्भमें जब मनुष्यने अपनी आँखें खोलीं तब उसने अपनेको करुणामयी प्रकृतिकी प्रेममयी गोदीमें पड़ा पाया। प्रकृति चारों ओरसे उसे घेरकर अपनी अभिराम लीला दिखलाती रही है तथा उसके जीवनको स्निग्ध, रसमय तथा कोमल बनाती रही है। मनुष्यका प्रकृतिके साथ भाई-चारेका सम्बन्ध उतना ही पुराना है जितना पुराना है यह संसार। आरम्भसे ही वह प्रकृतिका पुजारी रहा है। कमनीय उपवनके नाना रँगीन फूलोंकी शोभा निरखता हुआ वह कभी नहीं अघाता। रसालकी रसभरी मृदुल मञ्जरीका रसपान करनेवाली स्निग्धकण्ठ कोकिलाकी कूक सुनकर उसके हृदयम आनन्दका प्रवाह सदासे बहता रहा है। शरद् कालमें स्वच्छ सलिलको उछालकर प्रवाहित होनेवाली तरंगिणीको देखकर उसका हृदय हर्षसे तरंगित होता आया है। दोनोंका वयस्यभाव इतना कोमल, कमनीय तथा इतना कारुण्यपूर्ण रहा है कि आज भी, सभ्यताके बाहरी आडम्बरके विकसित युगमें भी, किसी न किसी प्रकारसे इस स्निग्ध सम्बन्धकी सत्ताका पता रसिक हृदयोंको हो रहा है।

मानव तथा बाह्य प्रकृतिके इस प्राचीन लगावको, इस रागात्मक सम्बन्धको, छिन्न-भिन्न कर विशृंखल करनेवाली वस्तुका ही नाम है सभ्यता। सभ्यताके विकासका इतिहास इस परम्परागत पारस्परिक अनुरागके ह्रासकी एक दीर्घ करुण कहानी है। सभ्यताकी अभिवृद्धिका प्रकट चिह्न है नैसर्गिकताका ह्रास तथा कृत्रिमताका उपबृंहण। मनुष्य सभ्यता-मन्दिरकी सीढ़ियोंपर ज्यों-ज्यों ऊपर चढ़ता जाता है, त्यों-त्यों वह इन नैसर्गिक वस्तुओंसे अपने चित्तको किनारे करता चला जाता है। प्राचीन युगमें उसके प्रेमके पात्र थे वन-उपवन, नदी-नाले, गिरि-पहाड़, नदीकी उपत्यका तथा घाटी, परन्तु सभ्यताके इस युगमें सभ्य मनुष्योंके अनुरागके भाजन हैं मिलोंकी चिमनियां जो सदा काले धूएंका गुब्बारा उड़ाती हुई वायुमण्डलको कलुषित तथा विषदिग्ध किया करती हैं, नगरोंकी अट्टालिकाएं जिनमें निवास करनेवाले धनी-मानी सुखकी नींद सोते हैं तथा चैनकी बंसी बजाते हैं, परन्तु जिनके सामने जीर्ण हीन-दीन व्यक्ति मानवताका अट्टहास बना हुआ कूड़ेमें पड़े हुए दानोंको बीनकर भी अपने पेटकी ज्वाला शान्त करनेमें समर्थ नहीं होता। सुन्दर बगीचोंमें हम घूमते हैं, परन्तु उसमें खिले हुए मधुपोंके गुंजारसे मुखरित फूलोंकी रंगीन सुषमाकी ओर हम भूले-भटके भी अपनी आंखें नहीं उठाते। सैर सपाटेके लिये हम पहाड़ी स्थानोंपर जाते हैं, परन्तु पहाड़की उस बीहड़ता तथा उग्रताको फूटी नजरों भी नहीं देखते। यह सब सभ्यताके विकासका विषमय विषम प्रभाव है।

जिसका हृदय वर्षाकालमें काले बलाहकोंके बीच कौंधनेवाली बिजुलीकी चमकसे तथा मेघोंके स्निग्धमन्थर गर्जनसे विस्फारित नहीं हो जाता, उत्तुंग हिमाच्छादित शिखरपर सोना ढलकानेवाले बालसूर्यकी रश्मियोंको निरखकर आनन्दविभोर नहीं हो जाता; काली शिलापर रजतकी राशि उड़नेवाले जलप्रपातकी द्रुतगामिनी धाराको देखकर

जिसके नेत्रोंमें शीतलताका संचार नहीं होता; वसन्तके आगमनपर हरी-भरी पत्तोंसे घिरी, कोमलकण्ठ कोकिलाके पञ्चमसे प्रतिध्वनित खड़ी अमराईको लोचनगोचर कर जिसका हृदय मधुमय तथा सुधा-सिक्त नहीं हो जाता वह व्यक्ति क्या मनुष्य कहलानेका अधिकारी है ? प्रकृतिके सरस आकर्षणके प्रति जिसका हृदय आकृष्ट नहीं होता, वह पुरुष यदि मानव है, तो दानव किसे कहेंगे ? हम तो इस प्रकृति-प्रेमको ही मानव हृदयकी सच्ची कसौटी समझते हैं। तार्किक लोग तर्क बुद्धिको मानवताका प्रतीक भले ही समझें, हम साहित्य-भक्तोंके लिये तो मानवताका सच्चा प्रतीक है स्निग्धहृदयता—चारुचित्तता—जो मनुष्यके प्रकृति-निरीक्षणमें ही सबसे अधिक अभिव्यक्त होती है।

प्रकृतिका द्विविध रूप

बाह्य प्रकृतिका वर्णन भारतीय साहित्यमें दो प्रकारसे उपलब्ध होता है—उद्दीपनके रूपमें तथा आलम्बनके रूपमें। प्रकृति मनुष्यके भावोंपर सदा अपना प्रभाव जमाती है। वह उसके मनोभावोंको तीव्र तथा उद्दीप्त किया करती है। प्रेमीकी सुप्त प्रेम-भावनाको प्रकृतिकी रमणीयताका झकझोर झोरकर जगा डालता है। तड़ागमें खिले हुए नील कमल, उपवनमें विकसित फूल, पञ्चममें कूकती हुई कोकिलाका वर्णन हमारे अधिकांश कवि उद्दीपन विभावके ही भीतर करते हैं और यह करना उचित ही है। परन्तु इससे पृथक् है प्रकृतिका स्वतन्त्र रूपसे वर्णन, उसकी आलम्बनके रूपमें काव्यमें प्रतिष्ठा। यह तभी सम्भव होता है जब कविकी दृष्टि प्रकृतिके मानव-हृदयपर होनेवाले प्रभावोंकी ओर न जाकर प्रकृतिके प्रकृत रूपकी ओर स्वतः आकृष्ट होती है। बाह्य प्रकृति स्वयं है सुषमाका निकेतन, सौन्दर्यका सदन, परन्तु इसके निरखनेके लिए चाहिए कविकी स्निग्ध दृष्टि जो प्रकृतिके रूपका विश्लेषण अपना महनीय कार्य मानती है। प्रकृतिका आलम्बन-रूपसे वर्णन अपनेको दूसरे प्रकारके वर्णनसे स्वतः पृथक् कर देता है।

शिक्षित आलोचककी दृष्टि दोनों प्रकारके वर्णनोंमें सूक्ष्म विवेचन करनेमें कृतकार्य होती है ।

शब्दके माध्यम द्वारा प्रकटित किये गये पदार्थ दो प्रकारसे गृहीत होते हैं--(१) अर्थग्रहण तथा (२) बिम्बग्रहण। अर्थग्रहणका तात्पर्य है—पदार्थका सामान्यरूप प्रस्तुत करना । बिम्बग्रहण से तात्पर्य है उस वस्तुके स्वरूपाधायक चित्रसे। अर्थग्रहणका क्षेत्र है शास्त्र और बिम्बग्रहणका क्षेत्र है काव्य। मान लीजिए किसीने कहा 'कोकिल'। इसका सामान्य अर्थ हुआ एक प्रकारकी विशिष्ट चिड़िया; परन्तु इस शब्दके उच्चारण करते ही यदि श्रोताके सामने लाल आँखवाली, इधर उधर फुदकनेवाली, स्वल्पकाय काले रंगकी चिड़ियाकी मूर्ति झलकने लगती है, तो समझना चाहिए कि यहां बिम्ब ग्रहण हो रहा है। जब प्रकृतिके पदार्थोंका केवल नामग्रहण मान कर कवि अपने कर्तव्यकी इतिश्री समझता है, उपवनमें खिलनेवाले अनेक फूलोंका केवल नामोल्लेख कर चुप बैठ जाता है, तब यह यथार्थ प्रकृतिवर्णन नहीं हुआ। प्रकतिकी प्रकृत प्रतिष्ठा काव्यमें तभी होती है जब कवि पूर्ण संश्लिष्ट वर्णन प्रस्तुत करता है। 'आमके पेड़पर बैठी कोयल बोल रही है'--होगा असंश्लिष्ट वर्णन। 'बसन्तके आगमनपर हरे-भरे आमके पेड़ोंकी पीली-पीली मञ्जरियोंसे लदी हुई, मलयानिलके झोंकोंसे झुकती हुई टहनियोंके ऊपर बैठी हुई रक्तलोचना कृष्णवर्णा कोकिल पञ्चम स्वर कूक रही है'--यह होगा संश्लिष्ट वर्णन। 'संश्लेष' का अर्थ है आलिंगन। कवि समग्र आवश्यक पदार्थोंका एकत्र आलिंगन कराकर इतना सुन्दर वर्णन करता है कि प्रकृतिका चित्र नेत्रोंके सामने झूलने लगता है।

भारतीय साहित्यमें प्रकृतिवर्णनका संश्लिष्टरूप परम्परासे प्रतिष्ठित किया गया है। संस्कृतके मान्य कवियोंने—वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, भवभूति-आदिने—प्रकृतिके इस रूपका चित्रण अपने काव्योंमें

बड़ी मार्मिकता तथा स्निग्धताके साथ किया है। इतना ही नहीं, प्रकृति-चित्रणकी इस परम्पराकी खोज करनेपर वह वेदों में भी उपलब्ध होती है। वर्षाऋतुका प्रथम वर्णन उपलब्ध होता है ऋग्वेद संहिताके पर्जन्य सूक्त (७मण्डल, १०३ सूक्त)में, जहां अनेक नवीन कल्पनायें वर्णनको यथार्थ तथा मञ्जुल बना रही हैं। मैत्रावरुणि वसिष्ठ ऋषि एक मण्डूककी आवाज सुनकर दूसरे मण्डूकके बोलनेकी तुलना वैदिक ब्राह्मणोंके वेदपाठसे करते हैं जहां शिष्य गुरुके मन्त्रपाठको सुनकर स्वयं मन्त्रोंका पाठ करता है--

यदेषामन्यो अन्यस्य वाचं शाक्तस्येव वदति शिक्षमाणः।
सर्वं तदेषां समृधेव पर्व यत् सुवाचो वदथनाध्यप्सु ॥
—ऋग्० ७।१०३।५

जाने या अनजाने यही उपमा मिलती है तुलसीदासमें--

दादुर धुनि चहुँ ओर सुहाई।
वेद पढ़ै जनु बटु समुदाई ॥

इस परम्पराका निर्वाह दृष्टिगोचर होता है वाल्मीकि रामायणमें, भगवान् श्रीकृष्णकी ब्रजलीलाके प्रसंगमें श्रीमद्भागवत में, कालिदासके ऋतुसंहारमें, जयदेवके गीतगोविन्दमें तथा गोस्वामी तुलसीदासके रामचरितमानसमें। इन कवियोंने प्रकृतिके मार्मिक अंशको ग्रहण कर उसे नाना उपादानोंसे परिबृंहित कर एक आवर्जक संश्लिष्ट चित्र प्रस्तुत किया है।

(क) प्रकृतिका निरीक्षण

प्राकृतिक दृश्यके यथार्थ चित्रणके निमित्त कविमें निरीक्षण शक्तिकी सत्ता नितान्त आवश्यक होती है। प्रकृति नानारूपात्मक होती है। उसके इन नाना रूपोंका सूक्ष्म अवलोकन कर जो कवि अपनी शब्द-तूलिकाके द्वारा इनका चित्रण कर सकता है वही वास्तविक कवि है। संस्कृतके प्राचीन कवियोंमें इस निरीक्षण शक्तिका हमें प्राचुर्य उपलब्ध होता है, परन्तु ज्यों-ज्यों हम पिछले युगकी ओर बढ़ते हैं त्यों-त्यों कवियोंकी दृष्टि मार्मिक अंशके भीतर पैठनेमें एकदम असहाय हो उठती है। महाकवि कालिदासके काव्योंमें प्रकृतिके मधुर संश्लिष्ट रूपकी झांकी किसे मुग्ध नहीं बनाती? कालिदास प्रकृतिके प्रवीण पुजारी थे। उनकी दृष्टिमें प्रकृति तथा मानवके बीच विराजमान परस्पर सम्बन्ध विश्वमें विराजनेवाली भगवद्-विभूतिकी एक विस्पष्ट अभिव्यक्ति है। उनका हृदय प्रकृतिके नानारूपोंमें रमता है तथा उनकी पैनी दृष्टि बाह्य आवरणको हटाकर प्रकृतिके उस सूक्ष्म तात्त्विक बिम्बके देखनेमें समर्थ होती है जिसे अन्य कवियोंकी आंखें देखकर भी नहीं देखतीं।

सूक्ष्म निरीक्षणका एक मञ्जुल उदाहरण लीजिए। हिमाञ्चलकी कविके सन्ध्याके वर्णनका प्रसंग है। भगवान् शशिशेखर पार्वतीकी दृष्टि को सन्ध्याकालीन हैमवती सुषमाकी ओर आकृष्ट कर रहे हैं। वे कह रहे हैं कि तुम्हारे पिताके झरनोंमें सूरजके पच्छिमकी ओर लटक जाने-से अब इन्द्रधनुषका मण्डल नहीं दीख पड़ता है जो उनके ऊपर रहने-पर दिखलाई पड़ता था। बात यह है कि सूर्यकी किरणें जब झरनोंसे उठनेवाली फूहीपर पड़ती हैं, तब हजारों इन्द्रधनुष इन रविरश्मिरञ्जित जलकणोंमें अपना सप्तरंगी रूप सर्वदा दिखलाया करते हैं। यह हमारे

नित्यका अनुभव है। जलप्रपातका यह वैचित्र्य सहस्रों दर्शकोंको इसी कारण अपनी ओर सदा आकृष्ट किया करता है। कालिदासकी कविदृष्टि इस दृश्यमें रमती है, इन नाना मनोज्ञ रंगोंको पहचानती है। इसीलिए सन्ध्याकाल सूरजके पश्चिम ओर लटकनेके कारण झरनोंके जलशीकरोंमें इन्द्रचापका अभाव उन्हें बेतरह खटक रहा है। प्रकृतिके सूक्ष्म निरीक्षणका परिचायक यह पद्य कविकी अवलोकनकलाका एक विशिष्ट दृष्टान्त है—

शीकरव्यतिकरं मरीचिभि—
दूरयत्यवनते विवस्वति।
इन्द्रचाप-परिवेष-शून्यतां
निर्झरास्तव पितुर्व्रजन्त्यमी॥

—कुमारसम्भव ८।३१

यह उक्ति किसी रूढ़िवादी कविकी नहीं है, प्रत्युत उस कविकी है जो प्रकृतिकी विविध लीलाको अपने विलोचनोंसे निरखकर आनन्द-विभोर हो उठता है तथा अपना आपा खो बैठता है।

भारतीय संस्कृतिके प्रतीक रूप हिमालयकी सुषमाका सूक्ष्म निरीक्षण किया है महाकवि कालिदासने। हिमालय हमारे कविजीको बड़ा ही प्यारा था। उनके अत्यधिक ग्रन्थोंमें हैमवती सुषमाका रंगीन चित्रण पाठकोंके चित्तको हठात् आकृष्ट करता है। इस वर्णनकी यथार्थता पुकार कर कह रही है कि यह कालिदासकी प्रतिभाका विलास नहीं है, प्रत्युत उनकी अलोकसामान्य सूक्ष्मेक्षिकाका परिणत फल है। हिमालयकी छटा तथा विचित्रताको अपनी आंखों निरखनेवाले ही जान सकते हैं कि इस प्रकृति-वर्णनका अंश-प्रत्यंश अनुभूति तथा निरीक्षण शक्तिपर कितना अवलम्बित है। हिमालयके इस वर्षाकालीन दृश्यका चित्रण कितना सजीव तथा सटीक है—

आमेखलं संचरतां घनानां
छायामधः सानुगतां निषेव्य ।
उद्वेजिता वृष्टिभिराश्रयन्ते
शृंगाणि यस्यातपवन्ति सिद्धाः ॥
—कुमारसम्भव १।५

हिमालयकी चोटियां इतनी ऊँची उठी हैं कि मेघ भी उनके बीच तक पहुँचकर ही रह जाते हैं। उनके ऊपरका आधा भाग मेघोंके ऊपर निकला रहता है। इसलिए निचले भागमें छायाका आनन्द लेनेवाले सिद्ध लोग जब अधिक वर्षा होनेसे घबड़ा उठते हैं, तब वे बादलके ऊपर उठी हुई उन चोटियोंपर दौड़कर चढ़ जाते हैं जहां धूप बनी रहती है। इस श्लोकमें वर्णित दृश्यकी शोभन स्थितिका पता मैदानके निवासियोंको कभी नहीं लग सकता। हिमाचलकी चारुता निरखनेवाली चक्षु ही इस वर्णनको सोच सकती है और समझ सकती है और यही है निरीक्षणकी सूक्ष्म शक्ति—वैचित्र्य तथा वैशिष्ट्यकी परीक्षक आलोक शक्ति।

पिछले कंड़ेके कवियोंके लिए प्रकृतिवर्णन अलंकारोंकी सजावटका एक विशिष्ट अवसर प्रदान करता है। वे न तो प्रकृतिके बाह्य रूपकी विचित्रतापर मुग्ध होते हैं और न उसे अपनी पैनी निगाहोंसे निरखनेका प्रयास करते हैं। अलंकारोंका जमघट खड़ाकर वे अपने चित्तको सन्तुष्ट किया करते हैं। नैषधकार श्रीहर्षका सन्ध्यावर्णनात्मक यह श्लोक इस प्रसंगमें प्रस्तुत किया जा सकता है—

अस्ताद्रि - चूडालय - पक्वणालि—
च्छेकस्य किं कुक्कुट-पेटकस्य ।
यामान्त-कूजोल्लसितैः शिखौघैः
दिग् वारुणी द्रागरुणीकृतेयम् ॥
—नैषध २२।५

अस्ताचलकी चोटीपर बने हुए शबरोंके गृहोंमें रहनेवाले मुर्गे सायंकालमें प्रहरके बीतनेके अवसरपर जोरोंसे कूक रहे हैं। उनकी लाल लाल कलगियां माथेपर खड़ी हो गई हैं और इसीलिए पश्चिमी दिशा एकदम लाल रंगकी बन गई है। इस पद्यमें कुक्कुट जातिकी विशिष्टताका निरीक्षण भले ही हो, परन्तु सन्ध्याकी किसी मार्मिक विशिष्टताकी ओर संकेत कहां है ? कालिदासके पूर्वोक्त सन्ध्या-वर्णनकी तुलनामें इस वर्णनका हल्कापन तथा फीकापन किसी भी आलोचकको स्पष्ट हो जायगा। कहां निर्झरकणमें इन्द्रधनुषका साक्षात् निरीक्षण और कहां सन्ध्याकालीन आकाशको कुक्कुटोंकी कलंगीसे लाल होनेकी अकल्पित घटना !!!

हिन्दीके कवियोंमें भी यह वैषम्य दृष्टगोचर होता है। जहां प्राचीन कालके कवियोंने प्रकृतिके मार्मिक रूपका स्वयं निरीक्षण कर भव्य भावामें वर्णन किया है, वहां रीतिकालके कवियोंने फूलों तथा पत्तियोंकी एक लम्बी फिहरिश्त देकर ही अपने कामसे छुट्टी ले ली है। बाहरी रूपके निरखनेमें ही जिनके नेत्र अटक रहते हैं उन कवियोंसे प्रकृतिकी अन्तः प्रकृतिके अवलोकनकी आशा करना अपने आपको धोखेमें डालना है। रीतिकालमें भी कभी कभी प्रकृतिके मार्मिक रूपपर रीझनेवाले कविका दर्शन सौभाग्यवश हो जाता है। कविवर सेनापतिकी गणना हम ऐसी ही दुर्लभ कविकोटिमें मानते हैं।

(ख) प्रकृतिका सौन्दर्य-पक्ष

कवियोंने अपनी रचनाओंमें प्रकृतिके अनेक पक्षोंका विवरण प्रस्तुत किया है। सच्चा कवि वही होता है जिसका मन प्रकृतिके नाना रूपोंमें रमता है। जो केवल प्रकृतिकी सुषमा, कोमलता तथा सौम्यभावके ही ऊपर रीझता है वह प्रकृतिका क्या सच्चा प्रेमी माना जा सकता है? प्रकृतिकी मृदुलताके समान प्रकृतिके उग्रभाव, भयंकरता, कठोरता तथा विषमताके द्वारा भी जिस व्यक्तिका चित्त विस्फारित होकर आह्लादका अनुभव करता है हम उसे ही सच्चा प्रकृति-प्रेमी मान सकते हैं। महाकवि कलिदासका प्रकृति-वर्णन सौम्यपक्षके विलासकी मधुर झाँकी प्रस्तुत करता है, तो भवभूतिमें प्रकृतिका उग्रपक्ष अपनी स्वाभाविक भयंकरताके साथ पाठकोंके हृदयको आह्लाद-मिश्रित विस्मयमें डुबा देता है। इन दोनों महाकवियोंने पावसके आगमनका मञ्जुल वर्णन सीधी-साधी भाषामें नितान्त यथार्थताके साथ किया है। कालिदासका मेघ आषाढ़के पहिले ही दिन पर्वतके शिखरको आलिंगन कर उदित होता है—

आषाढ़स्य प्रथमदिवसे मेघमाश्लिष्टसानुं (मेघदूत)

इधर भवभूतिका नूतन जलधर पर्वतके शिखरका आश्रय करता दृष्टिगोचर होता है—

श्रयति शिखरं नूतनस्तोयवाहः।

कालिदासकी उक्तिसे प्रभावित होने पर भी इस पंक्तिके अनुकरणमें कितनी नूतनता है जो 'तोयवाह' (जलसे भरा हुआ मेघ) तथा उससे जुड़े हुए 'नूतन' विशेषतासे द्योतित होती है। जलसे संभृत मेघ इतना

भाराक्रान्त था कि वह ऊँचे आश्रयको पकड़कर विश्राम ले रहा था। यह ध्वनि 'तोयवाह' तथा 'श्रयति' शब्दोंके संयोगसे स्पष्ट प्रतीत हो रही है।

कालिदासने कहीं कहीं एक पंक्तिके द्वारा ही समस्त वस्तुका रंगीन चित्र प्रस्तुत कर दर्शकोंके नेत्रोंको लुभा रखा है। समुद्रके चित्रणके लिए एक ही पंक्ति पर्याप्त है--

प्राप तालीवनश्याममुपकण्ठं महोदधेः ॥

(रघु ४।३४)

रघु अपनी सेनाके साथ ताली वनोंके कारण श्याम रंगवाले समुद्रके किनारे पहुँचे। यहां 'तालीवनश्यामम्' केवल एक विशेषणसे ताल-वनोंकी सघनताके कारण नीलिमा-सम्पन्न महोदधिका चित्र मानस-पटलपर अंकित हो उठता है। महाकविकी दृष्टि पक्षियोंके वैचित्र्य परखनेमें भी उतनीही दक्ष है। पम्पा तालाबके चित्रको सारस पक्षियोंने कितना सुन्दर तथा रोचक बना डाला है। उसी प्रकार वे रामचन्द्रके विमानमें बजनेवाले घुंघरुओंका शब्द सुनकर आकाशमें उड़कर स्वागत करते हुए प्रतीत हो रहे हैं--

अमूर्विमानान्तर-लम्बिनीनां
श्रुत्वा स्वनं काञ्चनकिङ्किणीनाम्।
प्रत्युद्व्रजन्तीव खमुत्पतन्त्यो
गोदावरी-सारस-पंक्तयस्त्वाम् ॥

(रघु १३।३३)

कविने यहां चित्रके साथ संगीतका भी अनुपम मेल जुटा दिया है। इस चित्रके साक्षात्कारके लिए दूर आकाशमें एक विमानकी कल्पना कीजिए और उसमें सुवर्णके घुंघरू लगाइए। इन घुंघरुओंकी मीठी ध्वनिसे आकृष्ट होकर सारसकी पंक्तियां आकाशमें उड़ रही हैं।

नील जमीनके ऊपर उजले सारसोंकी उड़ती हुई पांत कितनी सुहावनी तथा नेत्ररञ्जक प्रतीत होती है। इन सारसोंको उड़ते देखनेमें ही खूबी है और इस खूबीको नेत्रगोचर करनेके लिए स्थिर चित्रकी नहीं, प्रत्युत सिनेमा जैसे चल चित्रकी कल्पना नितान्त आवश्यक है।

कविके लिए चित्रको रंगीन बनानेकी बड़ी जरूरत होती है। कवि चित्रकार होता है। चित्रकार अपनी तूलिकासे चित्रमें रंग भरता है और कवि अपनी लेखनीसे शब्दोंके माध्यमसे वर्णमय चित्रकी योजना करता है। इस कार्यमें संश्लिष्ट चित्रकी चारुता कितनी मुग्ध-कारिणी होती है। इसका प्रत्यक्ष हमें भवभूतिकी इस कमनीय उक्तिमें उपलब्ध होता है :—

इह समदशकुन्ताक्रान्तवानीरवीरुत्—
प्रसव-सुरभि-शीतस्वच्छतोया वहन्ति।
फलभर-परिणाम-श्याम-जम्बू-निकुञ्ज—
स्खलनमुखरभूरि-स्रोतसो निर्झरिण्यः ॥

—उत्तर रामचरित

[यहिं वेतस-वल्लरी पै खग बैठि कलोल करैं मृदु बोल सुनावैं
तिनसो झरे-पुष्प-सुगंधित तोय, बहै अति शीतल हीतल भावैं।
फल-पुंज पकेनीके कारन श्यामल मञ्जुल जम्बु निकुंज लखावैं
उनमें रुकि कै करि रोर घनी, झरनानिके स्रोत-समूह सुहावैं ॥

—सत्यनारायण]

भावार्थ— पहाड़ोंसे झरनें झर रहे हैं जिनके किनारे उगी हुई वानीर लताके ऊपर मधुरकण्ठ पक्षिगण विहार कर रहे हैं। उनके बैठनेसे लताओंके फूल झरनेमें गिरकर पानीको सुगन्धित बना रहे हैं। पहाड़ोंसे बहनेके कारण झरनोंका जल स्वभावसे शीतल तथा स्वच्छ है।

उनकी धारायें पके हुए फलोंसे लदे काले जामुनके वृक्षोंकी कुंजसे टकरानेपर अत्यन्त शब्द करती हुईं अनेक मार्गोंसे बह रही हैं।

इस पद्यका समग्र चमत्कार वर्णनकी यथार्थतामें समा रहा है। वानीरकी बेलपर बैठे हुए पक्षियोंके चित्रसे तथा 'समद' शब्दसे सूचित की गई उनके स्वरकी ध्वनिसे यह वर्णन अत्यन्त हृदयंगम बन गया है। चित्रकारकी तूलिकाकी अपेक्षा कविकी वीणामें अधिक सामर्थ्य रहता है। यहां कविकी कलामें चित्र और वीणा--रूप और शब्द--दोनोंहीका मधुर सन्निवेश है। समद शकुन्तोंके द्वारा आक्रान्त वानीर लता तथा फलोंके पकनेसे श्याम जामुनकी सत्ता चित्रको रंगोंसे सजा रही है, तो टकरानेसे घोर शब्द करनेवाली धाराओंका अस्तित्व---नदीकी मुखरध्वनि--वर्णनमें ध्वनिका अनुपम संयोग प्रस्तुत कर रहा है।

हिन्दीके मान्य कवियोंके काव्योंमें बाह्य प्रकृति अपनी भव्य झांकी प्रस्तुत कर सहृदयोंका हृदयानुरञ्जन करती है। महाकवि सेनापतिका प्रकृति-वर्णन अनेक दृष्टियोंसे अनूठा है। उनका हृदय प्रकृतिके मनोरम दृश्योंमें खूब रमता है और इसीलिए उनके प्रकृति-वर्णनोंमें बड़ी सजीवता तथा रोचकता है। पूसके महीनेमें रातके समय जलती हुई आगको घेरकर बैठनेवाले ग्रामीणोंका यह दृश्य कितना सच्चा, सजीव तथा सदयतापूर्ण है:--

सीत कौ प्रबल सेनापति कोपि चढ्यौ दल,
निबल अनल, गयौ सूर सियराइ कै।
हिम के समीर, तेई बरसैं विषम तीर,
रही है गरम भौन कोनन मैं जाइ कै।
धूम नैन बहैं, लोग आगि पर गिरे रहैं,
हिए सौं लगाइ रहैं नैंक सुलगाइ कै।

मानों भीत जानि महा सीत तै, पसारि पानि,
छतियाँ की छाँह राख्यौ पाउक छिपाइ कै[१] ॥

जेठकी तपती दुपहरीका यह दृश्य कविकी अवलोकन-शक्तिका पर्याप्त परिचायक है—

बृषको तरनि तेज सहसौ किरन करि
ज्वालन के जाल बिकराल बरसत है।
तचति धरनि, जग जरत झरनि, सीरी
छाँह को पकरि पंथी—पंछी बिरमत है।
'सेनापति' नैक दुपहरी के ढरत, होत
धमका विषम, ज्यौं न पात खरकत है।
मेरे जान पौनौं सीरी ठौर कौ पकरि कौंनो
घरी एक बैठि कहूँ घामै बितवत है[२]।

---

१ कवित्तरत्नाकर, तीसरी तरंग, पद्य ४५.

२ वही, पद्य ११

(ग) प्रकृतिका अध्यात्मपक्ष

'अचैतन्यं न विद्यते'—जगत्के समग्र पदार्थजातमें चैतन्यका सुभग साक्षात्कार करनेवाले भारतीय कवियोंकी दृष्टिमें बाह्य प्रकृति सजीवता की ज्वलन्त मूर्ति है। हमारे कवियोंने 'वनश्री', 'वनलक्ष्मी' या 'वन-देवताकी' कल्पनाकी है और सांख्यसिद्धान्तका आश्रय लेकर सचराचर विश्वमें व्याप्त एक प्रकृतिका दर्शन तथा उसकी दिव्यता तथा भव्यता सूचित करनेके लिए उसे देवीके रूपमें अंकित किया है। प्रकृति तथा मनुष्यका पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्रकृति मनुष्यके जीवनको उदात्त, गम्भीर तथा मञ्जुल बनानेमें सर्वथा कृतकार्य होती है। इस संसारमें मनुष्य अपने सुख तथा दुःख, उल्लास तथा विषाद, उन्नति तथा अवनतिके भोगनेमें अकेला नहीं है। चारों ओरसे उसे आवृत कर बाह्य प्रकृति उसके साथ अपनी मार्मिक सहानुभूति प्रकट किया करती है। सुखकी संवेदनाके अवसरपर प्रकृतिमें उल्लासके चिह्न प्रकट होते हैं। दुःखके समय प्रकृति प्राकृतिक संकेतोंके द्वारा आंसू बहाकर अपना विषाद प्रकट करती है। प्रकृति तथा मनुष्य दोनोंका सम्बन्ध इतना प्राचीन तथा मार्मिक है कि मनुष्य प्रकृतिके सहयोग तथा सहानुभूतिके अभावमें पनप नहीं सकता, उसका जीवन एकांगी बन जाता है तथा वह अपने उद्देश्यकी प्राप्तिमें कथमपि सफल नहीं होता।

कालिदासका 'अभिज्ञानशकुन्तल' नाटक प्रकृति तथा मानवके मञ्जुल सहयोग तथा सामरस्यका मनोहर चित्रण है। उन्हें प्रकृतिकी साधारणसे साधारण वस्तु भी अत्यन्त रहस्यपूर्ण तथा गम्भीर अर्थपूर्ण दृष्टगत होती थी। कालिदासका सम्पूर्ण साहित्य एक प्रकारसे

प्रकृतिका अमर चित्रण है। शकुन्तलाका मादक सौन्दर्य तथा रूपलावण्य प्रकृतिके प्रभावका अमर विलास है। मनुष्योंके प्रति सौहार्दभावकी तथा सहेलियोंके साथ सहृदयताकी शिक्षा वह लताओंसे सीखती है। उसका जीवन ही प्रकृतिका कोमल विलास नहीं है, प्रत्युत वह स्वयं एक खिलनेवाली ललित लता है—

अधरः किसलयरागः कोमलविटपानुकारिणौ बाहू ।
कुसुममिव लोभनीयं यौवनमङ्गेषु संनद्धम् ॥

शकुन्तलाका लाल होठ किसलयोंकी लालिमा जैसा स्निग्ध है। सुन्दर भुजायें कोमल शाखा-सी प्रतीत होती हैं और अंग-प्रत्यङ्गमें उमड़ने वाला तारुण्य कुसुमके समान आकर्षक और लुभावना है। फलतः शकुन्तला स्वयं कोमल लता है। अतः प्रकृतिके उसके प्रति पूर्ण सहानुभूति दिखलानेके अवसरपर हमें तनिक भी आश्चर्य नहीं होता।

शकुन्तला पतिगृह जानेकी तैयारी कर रही है। तब प्रकृति उसे अलंकृत करनके लिए स्नेहसे आभूषण तथा सजावटके सामान वितरण कर रही है। उसकी बिदाईके अवसरपर महर्षि कण्व, प्रियम्वदा तथा अनसूयाका हृदय ही भावी विरहकी आशंकासे नहीं रो उठता प्रत्युत तपोवनका हृदय भी विषण्ण तथा शोकोद्विग्न हो जाता है। अपनी संगिनीके वियोग-से दुःखित मृगियां कुशके कौर उगलकर चिन्तामें ग्रस्त हो जाती हैं। आनन्दके उल्लासमें नाचनेवाली मयूरी अपना नाचना छोड़ बैठती है। लतायें पीले-पीले पत्तोंके झड़नेके रूपमें आंसुओंकी झड़ी बरसा रही हैं। शकुन्तलाके प्रयाणमंगलके अवसरपर पितृस्थानीय महर्षि कण्वका गला बँध जाना सहज है, सहेली प्रियम्वदा तथा अनसूयाकी भी विह्वलता बोधगम्य है, परन्तु अचेतना बाह्य प्रकृतिका यह हार्दिक शोक, अन्तः-करणकी करुणदशाको व्यक्त करनेवाली प्रकृतिकी यह मूकवाणी सच्चे सहृदयके अतिरिक्त कौन सुन सकता है? प्रकृतिमें मानव-वियोग-जन्य

यह आलोडन मार्मिक कविके अन्तर्चक्षुद्वारा ही प्रत्यक्ष किया जा सकता है। मनुष्य तथा प्रकृतिका यह परस्पर सौहार्द किस रसिक-की हृत्तन्त्रीको निनादित नहीं करता? कालिदास अपने भावोंकी अभिव्यक्ति किन मञ्जुल शब्दोंमें कर रहे हैं--

उद्गलितदर्भकवला मृग्यः परित्यक्तनर्तना मयूरी।
अपसृत-पाण्डुपत्राः मुञ्चन्त्यश्रूणीव लताः॥

(शाकुन्तल० ४।११)

न्यायका प्रतीक

महाकवि भवभूतिने अपने 'उत्तर रामचरित'में 'वासन्ती' नामसे वनदेवताको पात्ररूपमें अंकित किया है। सीताके स्निग्ध हृदयकी साक्षिणी वासन्ती उनकी अकृत्रिम सुहृद् थी। रामके द्वारा किये गए परित्यागरूपी नृशंस अपराधको सुनकर वह एकदम क्रोधसे उद्दीप्त हो उठती है और उन्हें सीताकी ओरसे इतनी निर्मम उलाहना और कठोर भर्त्सना करती है कि वे उद्विग्न होकर अपना अपराध स्वीकार कर लेते हैं। वासन्तीके उलाहनेमें इतनी मर्मस्पर्शिनी बातें हैं कि रामका हृदय दुःख तथा आशंकाके आघातसे कांप उठता है। उन्हें स्वप्नमें ख्याल न था कि सीताका न्यायपक्ष लेकर कोई इतनी उग्र भर्त्सना करनेका साहस कर सकता था; स्वयं जानकीके भी सामर्थ्यकी सीमा उतनी दूर तक नहीं पहुंचती। आखिर वकालतकी भी हद होती है। वादीके लिए प्रमाण देनेवाला वकील भी सहानुभूतिके उद्रेक तथा युक्तिके अतिशयसे भी अपराधका इतना मार्मिक शोध नहीं कर सकता, जितना वनदेवी वासन्तीने जनकनन्दिनीके निमित्त किया है। प्रथमतः वह रामचन्द्रके उस दण्डकारण्यमें स्वेच्छया पदार्पण करनेपर खूब स्वागत करती है। मधु चुलानेवाले वृक्षोंसे, पुष्पों तथा फलोंके द्वारा अर्घ्य देनेकी प्रार्थना करती है। विकसित कमलके सुगन्धसे आमोदित वनानिलसे शीतल मन्दरूपसे बहनेकी कामना करती है। रक्तकण्ठ पक्षियों से अविरल अस्फुट मधुर ध्वनि करनेकी अभ्यर्थना करती है। परन्तु सीताका प्रसंग उठते ही वह रामचंद्रपर गहरी चोट करनेमें नहीं चूकती। रामसे वह प्राचीन प्रेमकथाकी सुध दिलाती हुई स्वयं मूच्छित हो जाती है--

त्वं जीवितं त्वमसि मे हृदयं द्वितीयं
त्वं कौमुदी नयनयोरमृतं त्वमङ्के ।
इत्यादिभिः प्रियशतैरनुरुध्य मुग्धां
तामेव शान्तमथवा किमिहोत्तरेण ।

तब मर्यादापुरुषोत्तम रामचन्द्रजी एक बार तिलमिला उठते हैं और प्रकृतिरञ्जनकी कठोर वेदीपर किये गये इस घोर बलिदानको 'लोको न मृष्यतीति' कहकर प्रजाके सिर मढ़कर स्वयं चुप्पी साध लेते हैं।

वनदेवताका यह चरित्र भवभूतिकी कोमल कलाका विमल विलास है। मनुष्यसे अगम्य तथा असाध्य कार्यका सम्पादन कर वनदेवताकी मानवहृदयके साथ गहरी सहानुभूति, एकतानता तथा एकसूत्रताका परिचय बड़े ही मर्मस्पर्शी शब्दोंमें चित्रित किया गया है। इस जघन्य कार्यके लिए रामचन्द्रको भर्त्सना करनेका घोर कार्य तथा प्रेम और विश्वासकी मूर्ति धर्मपत्नीके त्यागके लिए वाग्प्रहार—दण्डप्रहार भले न सही—गुरुजनोंकी अनुपस्थितिमें वनदेवताके अतिरिक्त और कौन कर सकता है? भवभूति ने प्रकृतिको मानव-जीवनकी शोधिकारूपमें चित्रित किया है। ये महाकवि प्रकृतिके उग्ररूपके ही द्रष्टा तथा वर्णयिता नहीं हैं, प्रत्युत प्रकृतिके अन्तस्तलमें विराजमान व्यवस्था, अपराध-मार्जना, कालुष्यविभंजना शक्तिके भी विज्ञ विवेचक हैं।

भारतीय विद्वानोंने प्रकृतिके भीतर जागरूक रहनेवाली व्यवस्थाकी आदिमकालसे दृष्टिपात किया है। यह संसार ही व्यवस्था-नटीके नृत्य अभिनय तथा नर्तनका विशाल रंगस्थल है। इसकी ही वैदिक ऋषियोंकी परिभाषा 'ऋत' है। फलतः प्रकृति कहीं भी अव्यवस्थाको पनपने नहीं देती, अन्यायको अपनी क्रीड़ा दिखलानेका अवसर नहीं देती। प्रकृतिका साम्राज्य न्यायके आधार पर खड़ा है। वह अन्यायका कहीं आश्रय न स्वयं देती है और न आश्रयदाताको क्षमा ही करती है। बड़ेसे बड़े पुरुषको वह भर्त्सना मार्मिक संकेत करनेमें नहीं चूकती।

जड़ प्रकृतिके भीतर नितान्त उदात्त तथा महनीय तथ्योंका भी संकेत कवि-बुद्धि सदा पाती आ रही है। संस्कृत तथा हिन्दीके महाकवियोंने ऐसे स्थलोंका निर्देश 'अन्योक्तिके' रूपमें अधिकतर किया है। कवि केलेको मस्तीमें झूलते देखकर खीझ उठता है कि यह नादान इस तुच्छ सम्पत्तिके ऊपर—कतिपयदिन स्थायी समृद्धिके ऊपर-रीझकर इतने आनन्दसे हिलोरे ले रहा है। वह जानता नहीं कि इस क्षणिक सम्पत्तिकी बात ही क्या? उसका समग्र शरीर, सुन्दर सौभाग्यपूर्ण वपु भी एक जनमसे अधिक टिकनेका नहीं। मनुष्य केलेसे सुन्दर उपदेश स्वयं लेकर अपनेको, अपनी सम्पत्तिको तथा अपने अनुचर वर्गको निरभिमान रूपसे जीवन बिताकर बचा सकता है—

रम्भा झूमत हो कहा थोरे ही दिन हेत।
तुमसे केते ह्वै गए अरु होइहिं एहि खेत॥
अरु होइहिं एहि खेत, मूल लघुसाखा हीने।
ताहू पर गज रहै, दीठि तुम पै प्रति दीने॥
बरनै 'दीनदयाल' हमैं लखि होत अचंभा।
एक जनम कै लागि कहा झुकि झूमत रंभा॥

पण्डितराज जगन्नाथ कुएँको देखकर उसे सीख दे रहे हैं—भैया कुंआं 'मैं अत्यन्त नीच हूँ' यह सोचकर कथमपि अपने चित्तको खिन्न मत करो। शायद तुम जानते नहीं हो कि तुम्हारा हृदय अत्यन्त सरस (जलपूर्ण) है और इसीलिए तुम दूसरे लोगोंके गुण (रस्सीको) ग्रहण करनेमें निपुण हो। कूप नीच कुलोत्पन्न, परन्तु अत्यन्त सरस हृदय तथा गुणग्रहीता पुरुषोंका प्रतीक है। उसकी सीख गांठ बांध लेनेपर हम चेतन मानवोंका भी विशेष कल्याण सिद्ध हो सकता है—

नितरां नीचोऽस्मीति खेदं कूप! कदापि मा वृथाः।
अत्यन्त-सरस-हृदयो यतः परेषां गुणग्रहीतासि॥

श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्ध (२० अध्याय) में प्रावृड् ऋतुके वर्णनके अवसरपर प्रकृति द्वारा सूचित आध्यात्मिक उपदेशोंकी कमनीय लड़ी सहृदयोंका नितान्त मनोरञ्जन करती है। इसीकी छाया गोसाईंजीके वर्षावर्णनमें भी स्पष्टरूपसे दीख पड़ती है। भागवतमें पावसके विविध दृश्योंसे श्लाघ्य शिक्षाकी ओर, जीवन के सुधारके निमित्त नूतन तात्विक उपदेश की ओर, स्पष्ट संकेत उपलब्ध होते हैं।

पावस ऋतुमें आंधीके कारण ऊँची उठती हुई तरंगसे युक्त समुद्र नदियोंके संगमसे क्षुब्ध होने लगा, जैसे कच्चे भोगीका वासनापूर्ण चित्त विषयोंके सम्पर्कसे क्षुब्ध हो जाता है—

सरिद्भिः संगतः सिन्धुश्चुक्षुभे श्वसनोर्मिमान्।
अपक्वयोगिनश्चित्तं कामाक्तं गुणयुग् यथा॥
—भाग० १०।१०।१४

वर्षाकी निरन्तर धाराओंके पड़नेपर भी पर्वत व्यथित नहीं होते, जिस प्रकार भगवान्में निविष्ट-चित्त भक्त लोग दुःख पड़ने पर भी व्यथित नहीं होते—

गिरयो वर्षधाराभिर्हन्यमाना न विव्यथुः।
अभिभूयमाना व्यसनैर्यथाऽधोक्षज – चेतसः॥
—वही, श्लो० १५

घासपातकी ढेरसे ढक जानेके कारण बेमरम्मत रास्तोंको देखकर उनपर चलनेमें सन्देह जान पड़ता था जिस प्रकार ब्राह्मणोंके द्वारा अभ्यास न की गईं तथा कालसे हत श्रुतियां अर्थ समझनेमें सन्देह उत्पन्न कर देती हैं—

मार्गा बभूवुः संदिग्धास्तृणैश्छन्ना ह्यसंस्कृताः।
नाभ्यस्यमानाः श्रुतयो द्विजैः कालहता इव॥
(वही, श्लो० १६)

गोसाईं जी भी वर्षाकालीन प्रकृतिसे इसी प्रकारके सुन्दर तथा उपादेय उपदेश ग्रहण करनेमें नहीं चूकते—

हरित भूमि तृण संकुल समुझि परै नहि पंथ।
जिमि पाषंड विवाद तें लुप्त भये सद्ग्रंथ॥

इस प्रकार प्रकृतिके विषयमें भारतीय कवियोंकी भावनायें नाना रूपसे उपलब्ध होती हैं। किसी भावुक कविके लिए प्रकृति स्निग्ध सौन्दर्यके अखिल उपकरणोंसे सुसज्जित नयनाभिराम सुन्दरी है, तो किसीकी दृष्टिमें मनुष्योंके रोंगटे खड़े कर देनेवाली, अपनी प्रलयंकरी भयानकतासे हृदयको क्षुब्ध कर देनेवाली प्रकृति अपने व्यक्तित्वकी छापसे उद्दीप्त नारी है। कोई उसके सौम्यभाव पर मुग्ध है, तो कोई उसकी उग्रता तथा दीप्ततासे मण्डित रूप पर नितरां आसक्त है। कोई कवि प्राकृतिक दृश्योंके द्वारा सूचित तथ्योंके निर्देशोंकी अभिव्यक्तिकी ओर आकृष्ट है, तो कोई उसके भीतर ज्वलन्त शक्तिका प्रतीकरूप आत्माकी भव्य झांकी पाकर अपनेको कृतज्ञ समझता है। इन नाना भावनाओंसे साक्षात्कृता प्रकृति मनुष्यके साथ इतनी घनिष्ठतासे सम्बद्ध है कि दोनोंमें परस्परोपकार्योपकारक भावकी गहराई गूढ़ दृष्टिसे अवलोकनीय तथा माननीय है। अचेतन प्रकृति कविजनोंकी दृष्टिमें चेतन-भावनापन्न एक उपादेय तत्त्व है जिसका प्रभाव मानवके जीवनको सरस, सुखमय तथा उदात्त बनानेके लिए सर्वथा कृतसंकल्प होता है।

(घ) प्रकृति और मानव

मनुष्य तथा प्रकृतिके परस्पर सामञ्जस्यके अतिरिक्त वैषम्यकी ओर भी कवियोंकी दृष्टि स्वतः आकृष्ट हुई है। अंग्रेजी कवियोंने प्रकृतिको पदार्थोंके समुच्चय रूपमें ग्रहण कर मानवजीवनके साथ उसकी तुलना दिखलाई है। प्रकृति सन्तत अपरिवर्तनशील, अपरिणामी, शाश्वत तथा शाश्वतिक है। उसकी अपेक्षा मनुष्यकी जीवन-अवधि कितनी न्यून, कितनी क्षणिक तथा कितनी अस्थायी है। महाकवि होमरके कथनानुसार प्रकृति जंगलके वृक्षोंके समान अटल तथा स्थायी है और मनुष्य उनपर उगनेवाले तथा थोड़े समय बाद झड़ जाने वाले पत्तोंके समान हैं। कवियोंकी दृष्टिमें प्रकृतिकी तुलनामें मानव-जीवनकी हीनता तथा अस्थायिता ही स्पष्टतः दृष्टिगोचर होती है। महाकवि आर्नाल्डने प्रकृतिके मुखसे इस तथ्यका उद्घाटन किया है। मानव समझता है कि वह प्रकृतिके समस्त रहस्योंसे परिचित है; प्रकृतिका प्रयोजन ही मानव-जीवनका अनुरञ्जन तथा यशोवर्धन है, परन्तु मानव धूलमें मिल जाता है, मर जाता है, परिवर्तित हो जाता है, परन्तु प्रकृति अखण्ड तथा नित्यभावसे विद्यमान रहती है—

Race after race. man after man,
Have thought that my secrets are theirs,
Have dreamt that I lived for them,
That they were my glory and my joy,
They are dust, they are changed, they are gone!
I remain.

—Arnold

महाकवि टेनिसनने झरनेके झरनेमें दिव्य सन्देशकी वाणी सुनी है कि मनुष्य आते रहते हैं और जाते रहते हैं, परन्तु मैं सदा ही चला करता हूं, कभी रुकता नहीं—

For men may come and men may go,
But I go on for ever.

टेनिसनकी दृष्टिमें प्रकृति मनुष्योंको सन्तत गति तथा क्रियाशीलताकी शिक्षा देती है। इस प्रकार प्रकृतिमें आध्यात्मिक तथ्योंकी ओर स्पष्ट संकेतका दर्शन कविजनोंकी अन्तर्दृष्टि सदा किया करती है।

पाश्चात्य साहित्यमें भिन्न भिन्न साहित्यिक पद्धतिके युगमें प्रकृतिके विषयमें भी भावनायें क्रमशः विकसित तथा परिबृंहित उपलब्ध होती हैं। उन्नीसवीं शतीमें अंग्रेजी साहित्यमें स्वच्छन्दतावादके जमानेमें प्रकृतिकी भावनाने खूब ही पलटा खाया है। इस युगके सबसे बड़े मार्मिक कवि हैं वर्ड्सवर्थ जिन्होंने प्रकृतिको एक अखण्ड तथा सजीव वस्तु मानकर उसका साक्षात्कार किया है। उनके लिए प्रकृति उपदेशोंका भाण्डार है। मानव-जीवनको सुधारने तथा श्लाघनीय बनानेके लिए एक क्षुद्र पत्तेकी भी शिक्षा पर्याप्त है।

इस सम्बन्धमें यह बात ध्यान देने योग्य है कि वर्ड्सवर्थके दृष्टिबिन्दु पर फ्रांसके प्रख्यात दार्शनिक रूसोका प्रभाव पड़ा था। फ्रान्समें क्रान्ति उत्पन्न करनेवाले तत्त्वचिन्तकोंमें अन्यतम विद्वान् रूसोकी यह धारणा थी कि इस संसारको मनुष्यने स्वयं बिगाड़ा है अपने ही हाथों। वह उत्पन्न हुआ था स्वतन्त्र, परन्तु सर्वत्र वह जकड़ा हुआ है लोहेकी बेड़ियोंसे। मनुष्य यदि वर्तमान झूठी संस्कृतिको छोड़कर प्रकृतिके स्वरूपको प्राप्त कर ले तो वह अधिक निर्दोष तथा सुखी होगा। प्रकृतिका रूप मानव-द्वारा उत्पादित विकृतिके परे होनेसे नितान्त विशुद्ध, निर्दोष तथा स्निग्ध है। उन्नीसवीं शतीके प्रारम्भमें यही कल्पना फ्रान्ससे

इंगलैण्डमें संक्रान्त हुई थी और इसी दृष्टिका काव्यात्मक रूप हमें वर्ड्सवर्थकी कवितामें मिलता है।

प्रकृतिकी आध्यात्मिक व्याख्याएँ कवियोंके वैयक्तिक सिद्धान्त तथा रुचिकी प्रतीक हैं। वर्ड्सवर्थकी दृष्टिमें प्रकृति स्वतः दिव्यरूप है तथा उसके अन्तर्विद्यमान आत्माके साथ एकता स्थापित कर मनुष्य प्रकृतिसे एकत्व स्थापितकर अपने जीवनका सुधार कर सकता है। शेलीकी दृष्टिमें प्रकृति उस परमात्माकी एक रहस्यात्मक अभिव्यक्ति है जिसमें जगत्के नाना पदार्थ अपना एकत्व स्थापित करते हैं; बायरनको प्रकृतिमें आनन्द-दायक स्वतन्त्रता दृष्टिगोचर होती है जिससे मनुष्योंकी अवस्था ने उन्हें वञ्चित कर रखा है। इस प्रकार कविकी भावना तथा स्वभावके कारण प्रकृतिके रूपनिर्देशमें विशेष भिन्नता, पार्थक्य तथा विभेद दृष्टिगोचर होता है। पश्चिमी साहित्यमें ईसाई धर्म तथा यूनानी तत्त्वज्ञानके उपदेशोंसे संघर्षके कारण पश्चात्य कवियोंकी प्रकृतिकी अभिव्यक्ति अनेकात्मक प्रतीत होती है। भारतीय साहित्यमें इस प्रकारका कोई संघर्ष धर्म तथा साहित्यके क्षेत्रमें मूलतः विद्यमान न था। अतः भारतीय भावना पाश्चात्य भावनासे अनेक स्थलोंपर विभिन्नता रखती है, यह कोई आश्चर्यका विषय नहीं है।

(ङ) प्रकृति और रस

विचारणीय प्रश्न है कि प्रकृति तथा रस का संबन्ध क्या है ? प्रकृति क्या किसी विशिष्ट रसके उदयमें कृतकार्य होती है ? प्रकृतिसे रसोदय या भावोदयके विषयमें आलोचकोंमें किसी प्रकारकी विमति नहीं है, परन्तु विवेच्य विषय यह है कि क्या वह भाव या रस सर्वथा सब परिस्थितियोंमें एक ही रूप रहता है अथवा नाना भावों या नाना रसोंका उद्गम परिस्थितिकी अनुकूलता तथा विषमताके कारण हुआ करता है।

इस विषयकी मार्मिक मीमांसा हमारे अलंकार-ग्रन्थोंमें उपलब्ध होती है । आनन्दवर्धनकी दृष्टिमें संसारमें ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं होता जो विभावका रूप धारण कर रसका अंग नहीं बन जाता। रस आदि चित्तवृत्ति-विशेष ही तो हैं। ऐसी दशामें उस पदार्थका सर्वथा अभाव है जो किसी विशिष्ट चित्तवृत्तिको उत्पन्न करनेमें समर्थ नहीं होता अर्थात् जगत्का क्षुद्रसे क्षुद्र पदार्थ, महान्से महान् पदार्थ द्रष्टाके हृदयमें किसी विशिष्ट वृत्तिको अवश्यमेव उत्पन्न करता है । यदि वह किसी चित्तवृत्तिका उत्पादन नहीं करता, तो कविका विषय ही नहीं बन सकता[१] ।

---

१ वस्तु च सर्वमेव जगद्गतमवश्यं कस्यचिद् रसस्य भावस्य वा अंगत्वं प्रतिपद्यते अन्ततो विभावत्वेन । चित्तवृत्ति-विशेषा हि रसादयः । न च तदस्ति वस्तु किञ्चिद् यन्न चित्तवृत्ति-विशेषमुपजनयति तदनुत्पादने वा कविविषयतैव तस्य न स्यात् ।

—ध्वन्यालोक पृ० ४६५

से उसका रंग भी पीला पड़ गया होगा। इस प्रकार हे बड़भागी मेघ! अपनी यह वियोगकी दशा दिखाकर वह यही बता रही होगी कि मैं तुम्हारे वियोगमें सूखी जा रही हूँ। देखो! तुम ऐसा उपाय करना कि उस बेचारीका दुबलापन दूर हो जाय अर्थात् जल बरसाकर उसे भर देना॥]

अतः अचेतन पदार्थ विभावका अंग बनकर रसका उदय कराता है अथवा चेतन वृत्तान्तकी योजना करनेपर रसका अंग बनता है।

प्रकृति और भाव

बाह्य वस्तुका प्रथम प्रभाव पड़ता है कविके चित्तपर। वह उसके निरीक्षणमें तन्मय होकर अपने चित्तमें एक विशिष्ट वृत्तिका उदय कराता है। यह हुआ कवि चित्तमें रस-संचार। इसीका परिणत फल होता है रसमय काव्यकी सृष्टि जो सामाजिकोंके हृदयको स्पर्श कर सामाजिक रसकी उद्भावनामें कृतकार्य बनती है। अतः कवि-रसकी परिणत होती है सामाजिक-रसमें। अब प्रकृतिके पदार्थ अनेक रसोंके उद्गमके कारण बनते हैं। प्राणियोंकी वृत्तिविशेषके अनुसार ही प्रकृति अपनी लीला दिखाकर नाना रसों अथवा भावोंका विलास प्रकट करती है। सान्ध्य समीरणके झोंकेसे झुकी हुई, रंगीन पुष्पोंके भारसे लदी हुई लतायें कामुकोंके हृदयमें शृंगाररस उत्पन्न करती हैं और प्रपञ्चसे पराङ्गमुख विषयासक्तिसे विहीन मानवके चित्तमें वैराग्य उत्पन्न करनेमें सहायक बन शान्तरसका आविर्भाव करती है। अतः सबसे अधिक विचारणीय वस्तु जो प्राकृत दृश्योंके ऊपर अपनी भावनाका आरोप किया करती है मानव चित्त ही है।

प्रकृतिके स्पर्शसे कविचित्तमें कौन-सा भाव उठेगा, यह प्रधानतया अवलम्बित होता है कविकी तत्कालीन चित्तावस्था (या mood मूड) पर। इस विषयमें मनोवैज्ञानिक विद्वान् मिचेलका यह कथन मनन

करने योग्य है--Whether we see the same sunlit sky to be smiling frankly or in treachery is a matter of our mood.[१] सूर्यसे उद्भासित समुद्रके ऊपर यदि हम दृष्टिपात करते हैं तो वह सरलभावसे अथवा कपटभावसे मुसकाता दीख पड़ता है, यह सब हमारी मानसिक अवस्थाका एक विशिष्ट व्यापार होता है।

प्रकृतिकी एकात्मिका आकृति दर्शकोंकी चित्तवृत्तिकी भिन्नताके कारण नाना रूप धारण करती है। रजनीकी एकान्ततामें जोरसे बहनेवाली हवाका स्पर्श किसी प्राणीके चित्तमें भयका संचार करता है, किसीके हृदयमें शान्तिका भाव उत्पन्न करता है, किसीके मानस-पटल पर प्रकृति-की दिव्य वाणीका रूप अंकित करता है। वायुके प्रवाहका रूप एकही प्रकारका होता है। प्रकृति न तो स्वतः भयका संचरण करती है और न स्वतः शान्तिका उद्गम करती है। यह अनुभवकर्ताकी चित्तवृत्तिका ही वैषम्य है जो उसे नाना रूपोंमें अंकित करता है।

प्रकृति और हेगल

प्रसिद्ध दार्शनिक हेगलकी दृष्टि भी प्रकृतिकी इसी रूपमें प्रतीति करती है। उनका कथन है कि कविताका उदात्ततम विषय मानव प्राणी है, क्योंकि उसके भीतर मनस्तत्त्वका अधिष्ठान है। वही किसी विषयको अपनी मानसिक शक्तिके बलपर समझता है, बूझता है तथा उसे सुन्दर रूपमें अभिव्यक्त करता है। इतर प्राणी उसकी अपेक्षा निम्न श्रेणीके होते हैं, क्योंकि उनका मस्तिष्क अपरिपक्व रहता है, परन्तु प्रकृतिकी अपेक्षा वे भी रमणीय, अधिक घनिष्ठ तथा सुन्दर होते हैं। प्रकृति इनकी अपेक्षा हीन श्रेणीकी होती है, क्योंकि उसमें आरोपित

---

१ Mitchell : Structure and Growth of the mind p. 173.

सौन्दर्य होता है और काव्यकलाके कारण ही उसमें चित्ताभासकी सत्ता रहती है।

प्रकृति और वर्ड्सवर्थ

यह तो हुआ पाश्चात्य दार्शनिकोंका एक पक्ष। दूसरा पक्ष वर्ड्सवर्थ, रस्किन आदि अंग्रेजी कवियोंके द्वारा अंगीकृत किया गया है। विशेषतः कविवर वर्ड्सवर्थ प्रकृतिको जीवनी शक्तिसे सम्पन्न मानते थे। प्रकृति जड़ पदार्थोंका एक अनगढ़ जमघट नहीं है, प्रत्युत उसके भीतर चैतन्य शक्ति वर्तमान रहती है—उसके भीतर आत्माका निवास है। प्रकृति-वर्णनमें वर्ड्सवर्थका यह वैशिष्ट्य है कि वे प्रकृति में हेगेलके समान आरोपित चैतन्य एवं आरोपित सौन्दर्यकी सत्ता अंगीकार नहीं करते, प्रत्युत प्रकृति शाश्वत सौन्दर्य तथा वास्तव चैतन्यकी अधिष्ठात्री देवी है। गिरि-नदी-वृक्षसे संवलित प्रकृतिमें एक अखण्ड आत्माका अधिष्ठान है, कविकी चित्तवृत्ति प्रकृतिके ऊपर आरोपित नहीं होती, प्रत्युत प्रकृति अपने विशिष्ट भावसे कविचित्तको भावालुप्त करती है—

From Nature and her overflowing soul
I have received so much, that all my thoughts
Were steeped in feeling; I was only then
Contented, when with bliss ineffable
I felt the sentiment of Being spread
Over all that moves and all that seemeth still.
The Prelude, II, 397-402

कविका आशय है—

प्रकृतिसे एवं उसके सर्वत्र उल्लसित आत्मासे मैंने इतना अधिक प्राप्त किया है कि हमारे समस्त विचार भावनासे सिक्त हो गए हैं,

जब एक अवर्णनीय दिव्य आनन्दसे मैंने अनुभव किया कि एक भावमयी सत्ता समस्त वस्तुओंके ऊपर—जो कुछ चलायमान है और जो कुछ स्तब्धप्राय प्रतीत होता है—फैली हुई है उसी समय में केवल सन्तुष्ट हुआ ।

भारतीय साहित्यके महनीय कवियोंने भी प्रकृतिके भीतर एक दिव्य चैतन्यका भव्य दर्शन किया है। प्रकृति दार्शनिक दृष्टिसे भले ही जड़, आत्मविहीन पदार्थ प्रतीत हो, परन्तु कवियोंकी अन्तर्दृष्टि प्रकृतिके भीतर एक दिव्य चैतन्यालोकका साक्षात्कार करती है। कालिदास प्रकृतिके प्रवीण पारखी थे। उन्होंने प्रकृतिके भीतर हृदय स्पन्दनका स्वयं अनुभव किया था तथा उनका भी हृदय इसी स्पन्दनके आश्रयमें स्पन्दित, आन्दोलित तथा उद्वेलित हुआ था। उनका प्रकृति-वर्णन इसका साक्षात् प्रमाण है।

इस प्रकार प्रकृतिके रूपके विषयमें वैषम्य तथा विमति होने पर भी आलोचकोंकी दृष्टिमें प्रकृति किसी एक रसका आलम्बन तथा साधन बननेकी क्षमतासे सर्वथा वञ्चित है। दर्शककी चित्तवृत्तिकी विषमताके कारण वह नाना रसों तथा भावोंका उदय सम्पादित करती है।

१३—काव्यमें प्रेम-भावना

मानव-हृदयकी अत्यन्त कोमल वृत्तिका नाम है प्रेम। मानव-जीवनमें इसका जितना व्यापक प्रभाव है, काव्य-जगत्‌में उतना ही इसका अधिक सत्कार है। मानव ही क्यों, प्राणिमात्रमें इसका विशाल साम्राज्य है। हृदयको स्निग्ध बनानेका यह परम उपादेय साधन है। अतः मानव-जीवनको अपने काव्योंमें चित्रित करनेवाले कविजन सब भुला सकते हैं, परन्तु प्रेमको कभी भी नहीं भुला सकते। प्रेमकी गाथा गाने-वाले कवियोंकी गणना कविमण्डलीमें सबसे अधिक है। चाहे पाश्चात्य साहित्यकी समीक्षा की जाय, अथवा प्राच्य साहित्यका अनुशीलन किया जाय, प्रेमकी महिमाका सर्वत्र प्रचुर प्रचार दृष्टिगोचर होता है।

हमारे साहित्यके महारथी कविगण प्रेमकी प्रशस्तिमें किसी भी साहित्यके कवियोंसे पीछे नहीं हैं। उन्होंने जो प्रेमका रूप दिखलाया है, वह नितान्त निखरा हुआ, विशुद्ध तथा निष्कलंक है। प्रेमके सच्चे रूपकी जानकारीके लिए हमें उसे 'काम' से पृथक् करना होगा। काम भी हृदयकी ही वृत्ति है, और एक प्रमुख वृत्ति है, परन्तु दोनोंकी कल्पनामें जमीन-आसमानका अन्तर है। स्वार्थकी भावनासे उद्‌बुद्ध वृत्तिकी संज्ञा है—काम। कामको आश्रय देनेवाला व्यक्ति कभी पर-मार्थकी ओर देखता नहीं, वह हमेशा अपने ही क्षुद्र स्वार्थकी सिद्धिके लिए प्रयत्नशील रहता है—वह इस बातपर कभी ध्यान ही नहीं देता कि उसके आचरणका प्रभाव लोगों पर कैसा पड़ता है। वह सदा अपनेमें ही केन्द्रित रहता है। उसका 'स्व' नितान्त क्षुद्र होता है। वह उसी तक सीमित रहता है। इसके विपरीत 'प्रेम' बड़ी ही उदात्त तथा उदार वृत्ति है। प्रेम कभी स्वार्थमूलक नहीं होता। प्रेमका पुजारी अपने

हृदयमन्दिरमें अपने इष्टदेवकी उपासनामें ही सदा अनुरक्त रहता है। उसकी पूजाका होता है एक आधार, उसकी कामनाका होता है एक आलम्बन, उसकी अभिलाषाका होता है एक आश्रय। वह अपना व्यक्तित्व अपने आराध्यमें मिटा देता है। अपने इष्टदेवके सामने नतमस्तक होकर वह अपना अस्तित्व ही मिटाये बैठा रहता है। चैतन्य-चरितामृतमें भक्तप्रवर कृष्णदास गोस्वामीने इन दोनों वृत्तियोंका पार्थक्य बड़ी सुन्दरतासे अभिव्यक्त किया है कि सांसारिक वस्तुओंमें जो हमारी अभिलाषा लगी रहती है वह तो होती है काम, और भग-वान् अखिल रसामृतमूर्त्ति श्रीकृष्णचन्द्रके चरणारविन्दमें जो हमारी हार्दिक वृत्ति लगी रहती है उसीका नाम है--प्रेम। काम बन्धनका साधन है, तो प्रेम मोक्षका उपाय है।

गृहस्थ धर्म

भारतीय धर्मके अनुसार गृहस्थाश्रम भगवत्प्राप्तिके लिये साधन-भूमि है, भोग-भूमि नहीं। जो व्यक्ति गार्हस्थ्य-जीवन को 'खाओ, पीओ और मौज उड़ाओ' वाली चार्वाक-शिक्षाका आधारस्तम्भ मानकर भोग-भूमि मानते हैं, वे वास्तविकतासे बहुत दूर हैं। पाश्चात्य तथा भारतीय विवाहकी कल्पनामें यही तो प्रधान अन्तर है। पश्चिमी जगत् विवाहको भोगका साधन मानता है, भारतीय संसार विवाहको त्यागका उपाय स्वीकार करता है। पश्चिममें विवाह परिस्थितिवश एकत्र होने-वाले स्त्री-पुरुषोंके यौन-सम्बन्धकी सिद्धिके निमित्त अल्पकालस्थायी एक सामाजिक ठीका (कण्ट्रैक्ट) है। भारतवर्षमें विवाह समान मानसिक विकासवाले स्त्री-पुरुषोंको अभेद्य बन्धनमें बांधनेवाला हृदयका हृदयसे गठबंधन है। यह कभी छिन्न-भिन्न नहीं होनेवाला सम्बन्ध है। पाश्चात्योंकी तरह यह सौदा पटाना नहीं है, प्रत्युत स्त्री-पुरुषके आध्यात्मिक विकास की प्रमुख शृंखला है। गार्हस्थ्य-जीवनके ऊपर

ही विशाल संस्कृति अवलम्बित है। हमारी सभ्यतामें इसीलिए गृहस्थाश्रमकी भूयसी प्रशंसा उपलब्ध होती है। भगवान् मनुने मानव-समाजके पोषक गृहस्थाश्रमकी उपमा विश्वको धारण करनेवाले वायुके साथ दी है :—

यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्व-जन्तवः।
तथा गार्हस्थ्यमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः ॥

—मनुस्मृति ३।७७

इस गृहस्थाश्रमका चित्रण हमारे कवियोंने बड़ी ही सुन्दर शब्द तूलिकासे किया है। उनका चित्रण जितना आकर्षक है उतना ही यथार्थ भी है। उन्होंने गृहस्थ-धर्मका मूल मन्त्र 'काम' को नहीं माना है, प्रेमको माना है; और गार्हस्थ्य-जीवनकी सफलताकी कुंजी है यही प्रेम। बिना कामका बलिदान किये, स्वार्थमूलक भावनाका बिना उच्छेद किये, अखण्ड तथा अनन्त सुखकी उपलब्धि कदापि नहीं हो सकती। मदनदहन होनेपर ही पार्वती और शिवका सुखद समागम सम्पन्न होता है। मदनका बिना दाह किये जगत्के जनकरूप शंकरका मिलन जननीरूपा पार्वतीसे कदापि सिद्ध नहीं हो सकता। स्वार्थमूलक कामवासनाका ही नाम है—मदन। मृत्युके गर्तमें ले जानेके कारणही वह बौद्ध जगत्में 'मार' कहलाता है। बिना मार-पर विजय प्राप्त किये कोईभी व्यक्ति ज्ञानी नहीं बन सकता। गौतम मार-विजयके अनन्तर ही बोधि प्राप्त कर गौतम बुद्ध बने थे। इस कथनका अभिप्राय यही है कि आध्यात्मिक जगत्में उन्नतिके बाधक मारका जो स्थान है, वही स्थान भौतिक जगत्में उन्नतिके निरोधक मदनका है। बिना इस बाधाको मार्गसे दूर हटाये, इस प्रतिकूल व्यक्तिका बिना विनाश किये, उपयुक्त उन्नति दुर्लभ है। इसी लिए हमारे साहित्यमें कविगण गार्हस्थ्य-जीवनको मनुष्यके आध्यात्मिक विकास

की एक आवश्यक शृंखला समझते हैं। उसके नियमोंका पूर्णतः पालन होने परही मनुष्य वास्तविक उन्नतिकी ओर अग्रसर हो सकता है। यही है भोगमें त्यागकी भावना, स्वार्थ और परमार्थका सामंजस्य, क्षुद्र तथा महत्तमका समन्वय।

इस जीवनको सुखमय बनानेके लिए धर्म, अर्थ तथा काम इन तीनों पुरुषार्थोंका सामंजस्य स्थापित रहना नितान्त आवश्यक होता है—

धर्मार्थकामा सममेव सेव्याः
यो ह्येकसक्तः स नरो जघन्यः।

इस त्रिवर्गमें धर्म ही सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ है। कालिदासने अपने कुमारसम्भवमें धर्म ही पर आग्रह दिखलाया है—त्रिवर्गसारः प्रतिभाति भामिनि (कुमार० ५।३८),। परन्तु अर्थ और काम अपनी स्वच्छन्द सत्ता स्थापित करनेके लिए धर्मके साथ सदा संघर्ष किया करते हैं। अर्थ धर्मको दबाकर समस्त विश्वको कौड़ीकी क्रीड़ाका कौतुकी बनाना चाहता है। काम धर्मको परास्त कर समस्त जगत्को अपना अनन्य भक्त बनाना चाहता है। ऐसी दशामें धर्मके साथ इनका घोर संघर्ष होना स्वाभाविक है।

धर्म और काम

हमारे कवियोंने इस संघर्षकी कठोरता दिखलाकर धर्मकी विजय-वैजयन्ती फहरानेका बड़ा ही रोचक वर्णन किया है। कविका काम केवल दिन-प्रतिदिन घटनेवाली सामान्य घटनाओंका अंकन ही नहीं है, उसका उदात्त कर्त्तव्य है उस आदर्शका अंकन जो मानवमात्रके कल्याणका साधन बनकर भूतलको सौख्यसम्पन्न तथा शान्तिभूषित स्वर्गके रूपमें परिणत कर देता है। यह तभी सम्भव है जब धर्मकी प्रबलता अर्थ तथा कामके ऊपर स्थापित होती है। बिना धार्मिक भावनाके मानव अर्थलोलुप पिशाच बन जाता है तथा धर्मवृत्तिके अभाव में मनुष्य मनुष्य न होकर नरपशु बन जाता है। अतः धर्म तथा काम, दोनोंकी धर्मके साथ सामंजस्यमेंही चरितार्थता है। धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ (गीता, ७।१४) गीताके इस माननीय वाक्यका यही रहस्य है—मानव-जीवनके साफल्यका मूलमन्त्र है कामका धर्मसे अविरोध, कामकी प्रेमरूपमें परिणति।

मदन-दहनका रहस्य

संस्कृतके कवियोंने इस परिणतिकी मधुरिमा अपने काव्योंमें बड़ी सुन्दरतासे दिखलायी है। कालिदासके कुमारसम्भवमें वर्णित मदन-दहनका यही तात्पर्य है। मदन चाहता था कि पार्वतीके सुन्दर रूपका आश्रय लेकर समाधिनिरत शंकरके ऊपर चोट करें—उन्हें समाधिसे विरत करें। प्रकृतिमें वसन्तका उदय होता है। झूमती लताएँ झूल-झूल-कर पेड़ोंसे अपना प्रेम जताने लगती हैं। एकही कुसुमपात्रमें बैठी हुई भ्रमरी अपने वल्लभके साथ मधुपान करती हुई मतवाली बन जाती है। मदन व्याधिके समान विश्वको त्रस्त बना डालता है।

इतनाही यदि होता तो कोई विशेष चिन्ताकी बात न थी, परन्तु उसका तो हौसला बढ़ जाता है। वह शंकरके ऊपर आक्रमण कर बैठता है। जगत्के आत्यन्तिक मंगल तथा कल्याणका ही तो नाम है "शंकर"। मदन इसी शंकरको परास्त कर जगत्को अपना अन्ध अनुयायी बनाना चाहता था। शंकरके धैर्यका बांध ढह गया। उन्होंने अपना तीसरा नेत्र खोलकर कामकी ओर देखा। देखते ही वह राखका एक स्तूपाकार ढेर बन गया।

इस कथानकके आध्यात्मिक पक्षपर ध्यान देनेकी आवश्यकता है। काम सर्वत्र विश्वभरमें अपनी प्रभुता चाहता है। वह कल्याण तथा मंगलके प्रतिनिधिपरभी अपना प्रभाव जमाना चाहता है। विश्वकल्याण पर अपना मोहक बाण छोड़ता है, परन्तु फल होता है एकदम उलटा। शंकरका ललाटस्थित तृतीय नेत्र है 'ज्ञान-नेत्र'। यह प्रत्येक मनुष्यमें विद्यमान रहता है। यह सदा वर्त्तमान रहता है, परन्तु रहता है प्रसुप्त। इसीलिए हमें इसके अस्तित्वका भान नहीं होता। शंकरका यह नेत्र जाग्रत् दशामें रहता है। इसी ज्ञानकी ज्वालामें कामका हवन होता है। धर्मसे विरोध करनेवाला काम भस्मकी राशि बन जाता है। कालिदासके इस रूपकका यही रहस्य है कि विश्वका कल्याण मदनकी उपासनामें नहीं, प्रत्युत उसके धर्मविरोधी रूपके दबानमें ही है। कामकी चितासे प्रेमका प्रादुर्भाव होता है। कामका विलय प्रेमके उदयका सहज मार्ग है। गार्हस्थ्य जीवनकी सफलताकी कुंजी धर्मविरोधी, स्वार्थमूलक काम नहीं है, प्रत्युत धर्माविरोधी, परार्थ-निरत प्रेम है।

मेघदूतकी आध्यात्मिकता

मेघदूतमेंभी कालिदासने इसी तथ्यकी ओर संकेत किया है। धर्म और कामका संघर्ष इसका प्रमुख विषय है। यक्ष धनराज कुबेरका

सेवक है। उसका जीवन स्वामीकी सेवामें समर्पित है। उसका सर्वात्मना सेवा-विधान उसके जीवनका मूल मन्त्र है, परन्तु वह अपनी नवोढ़ाके प्रेमपाशमें बँधकर अपने कर्मसे च्युत हो जाता है। अपने धर्मका पूर्ण निर्वाह उससे हो नहीं पाता। काम उसकी धर्म-भावनाको पछाड़ डालता है। वह "स्वाधिकारात् प्रमत्तः" बन जाता है—अपने अधिकारसे नितान्त च्युत हो जाता है। इसीलिए उसे अपने स्वामीके कोप तथा शापका भाजन बनना पड़ता है। उसे अपनी जन्मभूमि अलकापुरीका, हिमधवल-कैलासका, सहृदय स्वजनोंका, तथा सबसे बढ़कर अपनी रूपयौवनसम्पन्ना कामवशगा प्रेयसीका वर्षभरके लिए परित्याग करना पड़ता है। और वह शापका समय बिताना पड़ता है कहां? भोगभूमिसे हटकर कर्मभूमि भारतवर्षमें, और उसमेंभी 'जनकतनया-स्नानपुण्योदकेषु रामगिर्याश्रमेषु' पर उसे निवास करना पड़ता है। कालिदासने यक्षके लिए बड़ा ही समुचित स्थान ढूँढ़ निकाला है।

संस्कारके अनुरूप ही स्थानका चुनाव आवश्यक होता है। गृहस्थ-धर्ममें अपराधी सिद्ध होनेवाले यक्षके चित्त-शोधन तथा चित्त-संस्कारके लिए वही स्थान चुना जा सकता है जहां रहकर वह अपनी त्रुटियोंका मार्जन कर सके और वह अपनेको सन्मार्गपर ला सके। स्थान चुना गया है रामगिरिके आश्रममें, जहांका जल जनकनन्दिनी श्रीजानकीके स्नान करनेसे परम पवित्र हो गया है। राम तथा सीता गार्हस्थ्य-प्रेमके पावन प्रतीक ठहरे, वे शील तथा सौन्दर्यकी महिमासे उद्दीप्त होनेवाले विशुद्ध प्रेमके प्रतिनिधि थे। अतः कालिदासने यक्षको राम-सीताके संसर्गसे पवित्र हुए आश्रममें लाकर बिठा दिया है। सीता जनककी तनया है—उस जनककी वह दुहिता है जिन्होंने भोग तथा योग दोनोंका जीवनमें मधुर सामंजस्य उपस्थित किया था, जो भगवद्गीताके अनुसार राजर्षि थे। अतः सीता स्वयं धर्म तथा प्रेमकी मधुर मूर्त्ति,

थीं। उनका जीवन स्वार्थत्यागकी विपुल परम्पराका केन्द्र था। अतः सीताके स्नानसे सम्बन्धित जल स्वयं पवित्र था तथा दूसरोंको पवित्र बनानेकी क्षमता रखता था। शिक्षाका स्थान बड़ाही सुन्दर था। यहांके निवासने यक्षके ऊपर अतुल प्रभाव भी डाला। वह अब नितान्त विशुद्ध चरित्रवाला प्रेमी बन गया। इसका संकेत स्वयं कालिदासने किया हैः—

शापान्तो मे भुजगशयनादुत्थिते शार्ङ्गपाणौ
शेषान् मासान् गमय चतुरो लोचने मीलयित्वा।
पश्चादावां विरहगुणितं तं तमात्माभिलाषं
निर्वेक्ष्यावः परिणतशरच्चन्द्रिकासु क्षपासु॥

—उत्तर मेघ, श्लोक ४३

अर्थात्, जब भगवान् शार्ङ्गपाणि विष्णु अपनी शेषशय्यासे उठेंगे तब हमारे शापका अन्त होगा। बाकी बचे चार महीनोंको आंखें मीचकर बिता डालेंगे। शापकी समाप्तिपर हम-तुम दोनों विरहकाल में गुनी गयी अपनी-अपनी अभिलाषाओंको शरद्‌की चन्द्रिकासे चमकनेवाली रातोंमें भोगेंगे। 'परिणतक्षपा'का उल्लेख इस बातका स्पष्ट परिचायक है कि यक्षके चरित्रमें सुधार हो गया है और वह अब रातमें ही—दिनमें नहीं—अपने मनोरथको पूर्ण चरितार्थ करनेका अभिलाषी है। अब वह अपराधी, अधिकारप्रमत्त, कामी यक्ष नहीं है, प्रत्युत वह विशुद्ध धर्मानुयायी प्रेमी है। उक्त शब्द इसी सुधार तथा शोधनकी ओर संकेत करते हैं।

भवभूति–प्रेमभावना

भवभूति भी प्रेमके उपासक कवि थे। उन्होंने अपने समस्त नाटकोंमें विशुद्ध प्रेमकी गरिमाके मनोरम गीत गाये हैं। उनके नायक नायिका प्रेममार्गके प्रवीण पथिक हैं। प्रेमी केवल अपने सौख्यसे ही अपने प्रेमीका सौख्य-सम्पादन करता है। स्वयं निरीह तथा कामनारहित होकरभी वह अपने सुखद अवस्थानमात्रसे अपने स्नेहीके हृदयमें स्नेहकी तरंगें उछालने लगता है। भवभूतिका कथन कितना सटीक तथा समुचित है:

> अकिञ्चिदपि कुर्वाणः सौख्यैर्दुःखान्यपोहति।
> तत् तस्य किमपि द्रव्यं यो हि यस्य प्रियो जनः॥

—उत्तररामचरित।

अर्थात्, जो जिसका प्रियजन होता है, वह उसके लिए अनिर्वचनीय वस्तु (किमपि द्रव्यं) होता है, ऐसी वस्तु जिसका शब्दोंके माध्यम द्वारा वर्णन नहीं हो सकता, जो केवल अनुभवके ही द्वारा बोधगम्य होती है। सचमुच प्रियका मूल्य आंकना सब किसीका काम नहीं। प्रेमीकी स्नेहभरी आंखोंसे निरखनेपर ही प्रेमीके वास्तविक रूपकी झलक मिलती है तथा उसके कोमल हृदयसे अनुभव करनेपर ही प्रेमीकी सच्ची रसात्मिका वृत्तिका परिचय मिलता है। भवभूतिके कथनका यही तात्पर्य प्रतीत होता है।

सच्चे प्रेमकी कल्पनामें कालिदास तथा भवभूति एकमत हैं। कुछ अनजान लोग, जो प्रेमकी महिमासे सर्वथा अपरिचित होते हैं, कहते हैं कि विदेशमें रहनेसे प्रेम नष्ट हो जाता है—"मैत्री चाप्रणयात् समृद्धिरनयात् स्नेहः प्रवासाश्रयात्।" ये महानुभाव संयोगको ही

स्नेहका एकमात्र पोषक मानते हैं, परन्तु कालिदासकी अनुभूति कुछ और ही है। वे कहते हैं—

स्नेहानाहुः किमपि विरहे ध्वंसिनस्ते त्वभोगात् ।
इष्टे वस्तुन्युपचितरसाः स्नेहराशीभवन्ति ॥

—उत्तरमेघ श्लो० ५५।

अर्थात्, घटनेकी तो बात दूर रहे, वियोगमें स्नेह बढ़ता है। कारण यह है कि वियोगमें स्नेहके रसका आस्वादन तो होता नहीं; और आस्वादनसे ही कोई वस्तु घटती है। अतः वियोगमें रस एकत्र होते-होते एक महान् राशि बन जाता है। सच तो यह है कि संयोगमें ही आस्वाद लिये जानेके कारण स्नेह घटता-सा प्रतीत होता है। यदि संयोगमें प्रेमी एक व्यक्तिके रूपमें झलकता है, तो वियोगमें वह सर्वत्र दीख पड़ता है। संयोगमें द्वैतावस्था बनी रहती है। वियोगमें पूर्ण अद्वैतका भान होता है। अतः सच्चे स्नेहके उपचयकी दृष्टिसे संयोगकी अपेक्षा वियोग श्लाघ्यतर अवस्था होता है।

भवभूतिकी भी प्रेमभावना बड़ी उदात्त तथा उदार है। उनकी मान्यता बड़ी मार्मिक है—

अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगुणं सर्वास्ववस्थासु यत्
विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः ।
कालेनावरणात्ययात् परिणते यत् स्नेहसारे स्थितं
भद्रं प्रेम सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत् प्राप्यते ॥

—उत्तररामचरित १।३९।

अर्थात्, सच्चा प्रेम सुख तथा दुःख, दोनों दशाओंमें अद्वैत, एक-रस रहता है। वह प्रत्येक दशाके अनुकूल होता है। हृदयको पूर्ण विश्राम मिलता है। बुढ़ापा उसके आनन्दको हरण नहीं कर सकता। समय बीतनेसे जब बाहरी आवरण हट जाते हैं, तो वह स्नेहका सार

बन जाता है । ऐसा कल्याणकारी प्रेम सचमुच एक श्लाघनीय पदार्थ होता है और इसको पानेवाला व्यक्ति भी सचमुच धन्य होता है।

कालिदास और भवभूति, दोनों ही कवि आदिकवि महर्षि वाल्मीकिकी प्रतिभाके चिर ऋणी हैं। वे इनके काव्यके रसिक अनुशीलनकर्ता हैं। प्रेमकी भव्य भावनाका मूल स्रोत वाल्मीकि रामायण है। सीता और रामके स्निग्ध स्नेहकी गरिमासे वह सिक्त है। इन दोनों पात्रोंका प्रेम कितना पवित्र, कितना उदात्त, कितना उदार तथा कितना मधुर था, इसके लिए वाल्मीकि रामायणकी पंक्ति-पंक्ति साक्ष्य है। साहित्य समाजका दर्पण कहा जाता है। हमारे संस्कृत-काव्योंमें प्रेमकी वह भव्य स्निग्ध मूर्ति उपलब्ध होती है जिससे स्पष्ट है कि भारतीय समाज सदा विशुद्ध स्नेहका उपासक रहा है--उदात्त प्रेमकी आराधना ही हमारे समाजका एकमात्र व्रत रहा है।

१४—काव्यमें विश्वमंगल

कवि समाजका सबसे बड़ा उपकारी व्यक्ति है। वह अपनी कविताके द्वारा ऐसे आदर्शकी सृष्टि करता है जिसका अनुगमन समाजके स्तरको बहुत ही ऊपर उठा देता है। कुछ कवि देश और कालकी परिधिके भीतर ही सीमित रहते हैं। उनकी रचना किसी विशेष देशके लिये ही और किसी विशेष कालके लिये ही उपयुक्त होती है। उस स्थितिके परिवर्तनके साथ ही साथ उनकी कवितामें लोकरुचिका ह्रास हो जाता है। परन्तु किन्हीं कवियोंकी कविता देश तथा कालकी परिधिसे बाहर होकर सार्वकालिक तथा सार्वभौमिक होती है। ये मानव हृदयके उस मनोज्ञ वृत्तिको अपने काव्यका लक्ष्य बनाते हैं जिसके प्रति सब देशोंमें और सब कालोंमें एकरस आकर्षण होता है। ऐसे कवि कवियोंकी गणनामें विशेष महनीय और मान्य होते हैं। ये अपने राष्ट्रके मंगलके साथ साथ विश्वमंगलके लिये भी प्रयत्नशील होते हैं।

इस सिद्धान्तके दृष्टान्तके लिये हम महाकवि कालिदासकी कविताका अनुशीलन करेंगे। उन्होंने नाना प्रकारके क्लेशोंसे तथा असफलताओंसे व्यथित होनेवाले संसारके कल्याणके लिये जो संदेश दिया है वह आज भी उतना ही महत्त्वशाली है जितना वह पहले था। कालिदासका यह संदेश भारतीय संस्कृतिका विश्वके प्रति श्लाघनीय संदेश है क्योंकि कालिदास भारतीय संस्कृतिके सबसे उज्ज्वल प्रतीक थे।

(क) राष्ट्र-मंगल

भारतवर्ष एक अखण्ड राष्ट्र है। इस विशाल विस्तृत देशके नाना प्रान्तोंमें भाषा तथा स्थानीय वेश-भूषाकी इतनी विभिन्नता दृष्टिगोचर होती है कि बाह्य दृष्टिसे देखनेवालोंको विश्वास नहीं होता कि देशमें समरसताका साम्राज्य है, अखण्डताका बोलबाला है। परन्तु बाहरी आवरणको हटाकर निरखनेवालोंकी दृष्टिमें इसकी सांस्कृतिक एकता तथा अभिन्नताका परिचय पद-पद पर मिलता है। कालिदास भारतीय संस्कृतिके हृदय थे। उनकी कवितामें हमारी सभ्यता झलकती है; उनके नाटकोंमें हमारी संस्कृति विश्वके रंगमंच पर अपना भव्य रूप दिखलाती है। उनकी वाणी राष्ट्रीय भाव तथा भावनासे ओतप्रोत है। इतिहास साक्षी है, इसी महाकविने आजसे डेढ़ सौ वर्ष पहले, जब भारत पाश्चात्य जगत्के सम्पर्कमें प्रथम बार आया, तब इस देशके सरस हृदय, कोमल वाणी तथा उदात्त भावनाका प्रथम परिचय पाश्चात्य संसारको दिया। आज भी हम इस महाकविकी वाणीसे स्फूर्ति तथा प्रेरणा पाकर अपने समाजको सुधार सकते हैं तथा अपना वैयक्तिक कल्याण सम्पन्न कर सकते है।

कलिदासने अखण्ड भारतीय राष्ट्रकी स्तुतिकी है। अभिज्ञान-शाकुन्तलकी नांदीमें कविवर ने शंकरकी अष्टमूर्तियोंका उल्लेख किया है। कुमारसम्भव (६।२६) में भी इन्ही मूर्तियोंका विस्तार कर जगत्के रक्षण-कार्यका स्पष्ट संकेत है। अष्टमूर्ति शंकरकी उपासना कालिदासको अत्यंत प्रिय थी। इसमें एक रहस्य है। महादेवकी आठ मूर्तियां ये हैं--सूर्य, चन्द्र, यजमान, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश। ये समस्त मूर्तियां प्रत्यक्ष रूपसे दृष्टिगोचर होती हैं। अतः

इन प्रत्यक्ष मूर्तियोंको धारण करनेवाले इस जगत्के चेतन नियामककी सत्तामें किसीको संदेह करनेका अवकाश नहीं है। कालिदास वैदिक धर्म तथा संस्कृतिके प्रतिनिधि ठहरे। 'प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः'—इन शब्दोंमें वैदिक कविने निरीश्वरवादी बौद्धों को कड़ी चुनौती दी है। भगवान्को प्रत्यक्ष—दृश्य मूर्तियोंमें अविश्वास रखना किसी भी चक्षुष्मान्को शोभा नहीं देता।

इतना ही नहीं, इस श्लोकमें भारतकी एकता तथा अखण्डताकी ओर भी संकेत किया गया है। शिवकी इन मूर्तियोंके तीर्थ इस देशके एक छोरसे लेकर दूसरे छोर तक फैले हुए हैं। सूर्य प्रत्यक्ष देवता है। चन्द्रमूर्तिकी प्रतिष्ठा दो तीर्थोंमें है— एक है भारतके पश्चिममें काठियावाड़का सोमनाथ और दूसरा है भारतके पूरबमें बंगालका चन्द्रनाथ क्षेत्र। सोमनाथका प्रसिद्ध तीर्थ प्रभासक्षेत्रमें है और चन्द्रनाथका मन्दिर चटगांवसे लगभग चालीस मील उत्तर-पूर्वमें एक पर्वत पर स्थित है। नेपालके पशुपतिनाथ लिंग-रूपमें नहीं है; बल्कि मानुषी विग्रहके रूपमें विराजमान हैं। पञ्च तत्त्वोंकी सूचक मूर्तियोंके क्षेत्र दक्षिण-भारतमें विद्यमान हैं। क्षिति लिंग शिवकांचीमें एकाम्रेश्वरनाथके रूपमें है। जललिंग जम्बुकेश्वरके शिव-मन्दिरमें मिलता है। तेजोलिंग अरुणाचल पर है। वायुलिंग कालहस्तीश्वरके नामसे विख्यात है, जो दक्षिणके तिरुपति बालाजीके कुछ ही उत्तरमें है। आकाशलिंग चिदम्बरके मन्दिरमें है। 'चिदम्बर' का अर्थ ही है 'चिदाकाश'। इसीसे मुख्य मन्दिरमें कोई मूर्ति नहीं है क्योंकि आकाश स्वयं मूर्तिहीन ठहरा।

इस प्रकार भगवान् चन्द्रमौलीश्वरकी ये आठों मूर्तियां भारतके सबसे उत्तरीय भाग नेपालसे लेकर दक्षिण चिदम्बर तक तथा काठिया-वाड़से लेकर बंगाल तक फैली हुई हैं और इनकी उपासनाका अर्थ है

समग्र भारतवर्षकी आध्यात्मिक एकताकी उपासना। महाकविने राष्ट्रीय एकताकी ओर इस श्लोकमें गूढ़ रूपसे संकेत किया है।

राष्ट्रका मंगल किस प्रकार सिद्ध हो सकता है ? क्षात्र बल तथा ब्राह्म तेजके परस्पर सहयोगसे ही किसी देशका वास्तव कल्याण हो सकता है। ब्राह्मण देशके मस्तिष्क हैं, उन्हींके विचार तथा मार्ग पर समग्र देश आगे बढ़ता है। क्षत्रिय राष्ट्रके विजयी बाहु हैं, जिनकी संरक्षतामें राष्ट्र पनपता है। मस्तिष्क और बाहुके इस परस्पर सम्पर्क तथा साहाय्यका माहात्म्य वैदिक ग्रन्थोंने स्पष्ट प्रतिपादित किया है। सम्राट् त्रैवृष्ण त्र्यरुण और महर्षि वृश जानके आख्यानका यही रहस्य है। कालिदासने इस तत्त्वका स्पष्टीकरण बड़े सुन्दर शब्दोंमें किया है:—

स बभूव दुरासदः परैर्गुरुणाथर्वविदा कृतक्रियः।
पवनाग्निसमागमो ह्ययं सहितं ब्रह्म यदस्त्रतेजसा ॥

—रघु० ८।४।

अथर्ववेदके जाननेवाले गुरु (वशिष्ठ) के द्वारा संस्कार कर दिये जाने पर महाराज आज शत्रुओंके लिये और भी दुर्द्धर्ष हो गया। ठीक ही है, शस्त्र-तेजसे युक्त होनेपर ब्रह्म-तेज आग-हवाके संयोगके समान प्रदीप्त हो उठता है।

आदर्श राजा

भारतीय राजाओंका जीवन परोपकारकी एक दीर्घ परम्परा होता है। कालिदासने महाराज अजके वर्णनमें कहा है कि उसका धन ही केवल दूसरोंके उपकारके लिये न था, प्रत्युत उसके समस्त सद्गुण दूसरोंका कल्याण-सम्पादन करते थे; उसका बल पीड़ितके भय तथा दुःखका निवारण करता था तथा उसका शास्त्राध्ययन विद्वानोंके सत्कार और आदर करनेमें लगता था—

बलमार्तभयोपशान्तये विदुषां सत्कृतये बहुश्रुतम् ।
वसु तस्य विभोर्न केवलं गुणवत्तापि परप्रयोजना ॥

—रघु० ८।३।

उस प्रतापशाली राजा अज का बल दुःखियोंके दुःखको हटानेके लिये था, ज्ञान विद्वानोंके सत्कारके लिये था। यहाँ तक कि उसका धन ही नहीं, किन्तु उसके गुण भी दूसरोंके उपकारके लिये थे।

राजाकी सार्थकता प्रजापालनसे है। 'राजा प्रकृति-रञ्जनात्'—हमारी राजनीतिका आदर्श वाक्य है। प्रकृतिका अनुरञ्जन ही हमारे शासकोंका प्रधान लक्ष्य होता था। और प्रजाका कर्त्तव्य था राजाकी भक्तिके साथ अपनी व्यक्तिगत स्वतन्त्रताकी रक्षा। समाज वर्णाश्रम धर्म पर प्रतिष्ठित होकर ही श्रेय साधन कर सकता है; कालिदासकी यह स्पष्ट सम्मति प्रतीत होती है। भारतका वास्तव कल्याण दो ही वस्तुओंसे हो सकता है—त्यागसे और तपोवनसे। जिस दिन त्यागका महत्त्व कम हो जायगा तथा तपोवनके प्रति हमारी आस्था नष्ट हो जायगी, उसी दिन न हम भारतीय रहेंगे और न हमारी सभ्यता भारतीय रहेगी। आर्य संस्कृतिकी मूल-प्रतिष्ठा इन्हीं दो पीठों पर है। भारतीय राष्ट्रके संरक्षक रघुके जन्मका कारण नगरसे बहुत दूर, वसिष्ठके पावन आश्रममें निवास तथा गोचारण है। रघुका उदय गोमाताके वरदानका उज्ज्वल प्रभाव है। इसी प्रकार दुष्यन्त-पुत्र भरतका जन्म और पोषण हेमकूट पर्वत पर मारीचाश्रममें होता है। भारतीय राष्ट्रके संचालक पावन तपोवन और पवित्र त्यागके वायु-मण्डलमें पले हैं और बड़े हुए हैं। हमारे राजाओंने जिस दिन कालि-दासके इस सन्देशको भुला दिया, उसी दिन उनका अधःपतन आरम्भ हो गया।

रघुकी तेजस्विता तथा अग्निवर्णकी स्त्रैणताका कितना सजीव चित्र कालिदासने खींचा है। रघु था त्यागका उज्ज्वल अवतार और अग्निवर्ण था स्वार्थ-परायणताकी सजीव मूर्ति। रघुकी वीरता तथा उदारता भारतीय नरेशका आदर्श है। रघु हिन्दू राजाका प्रतीक है, तो अग्निवर्ण पतितपातकी भूपालोंका प्रतिनिधि है। राजभक्त प्रजा प्रातःकाल अपने राजाका मुख देखकर 'सुप्रभात' मनाने आती थी; परन्तु अग्निवर्ण मंत्रियोंके लाखों सिफारिश करने पर कभी दर्शन देता था तो खिड़कीसे लटकाकर अपने पैरका। प्रजा राजाका मख देखनेके लिये आती थी पर पैरका दर्शन पाकर लौटती थी,। वाहरी विडम्बना !

गौरवाद्यदपि जातु मंत्रिणां दर्शनं प्रकृतिकांक्षितं ददौ।
तद्‍गवाक्षविवरावलम्बिना केवलेन चरणेन कल्पितम्॥

(रघु०, १९।७)

मंत्रियोंके बहुत कहने-सुनने पर प्रजाकी इच्छापूर्तिके लिये उस (अग्निवर्ण) ने दर्शन तो दिया, पर वह भी झरोखेसे अपने पैरोंको नीचे लटकाकर! अग्निवर्ण पार्थिव भोगविलासका दास था। उसे फल भी अच्छा ही मिला—राष्ट्र तथा देशका सत्यानाश। अग्निवर्णके दुश्चरित्रका कुफल कविने बड़े ही प्रभावशाली शब्दोंमें अभिव्यक्त किया है। इस चित्रको देखकर हमारे रोंगटे खड़े हो जाते हैं।

(ख) विश्व-मंगल

हमारी राष्ट्रीय भावनामें और विश्व-कल्याणकी भावनामें किसी प्रकारका विरोध नहीं है। भारतीय कवि राष्ट्रका मंगल चाहता है और साथ-ही-साथ वह संसारकी मंगल-कामना किया करता है। कालिदासके काव्योंमें इस सामञ्जस्यका मनोरम रूप दृष्टिगत होता है। इस महाकविकी वाणीमें जिस प्रकार आदिकवि वाल्मीकिकी रसमयी धारा प्रवाहित होती है, उसी प्रकार उपनिषदों तथा गीताका अध्यात्म भी मञ्जुल रूपमें अपनी अभिव्यक्ति पा रहा है। भारतीय ऋषियोंके द्वारा प्रचारित चिरन्तन तथ्योंको मनोभिराम शब्दोंमें भारतीय जनताके हृदय में उतारनेका काम कालिदासकी कविताने सुचारु रूपसे किया है। कविताका प्रणयन मानव हृदयकी शाश्वत प्रवृत्तियों तथा भावोंका अवलम्बन कर किया गया है। यही कारण है कि इसके भीतर ऐसी उदात्त भावना विद्यमान है जो भारतीयोंको ही नहीं, [illegible] मानवमात्रको सदा प्रेरणा तथा स्फूर्ति देती रहेगी। इस भारतीय कविकी वाणीमें इतना रस भरा हुआ है, इतना जोश भरा हुआ है कि दो सहस्र वर्षोंके दीर्घकालने भी उसमें किसी प्रकारका फीकापन नहीं उत्पन्न किया। उसकी मधुरिमा आज भी उसी प्रकार भावुकोंके हृदयको रसमय करती है जिस प्रकार उसने अपनी उत्पत्तिके प्रथम क्षणमें किया था। वैदिक धर्म तथा संस्कृतिका जो भव्य रूप इन काव्यों में झलकता दिखाई देता है वह बहुत सजीव है। मानव-कल्याणके निमित्त इन काव्यों में मधुर शब्दोंमें उपदेश दिये गये हैं। आजका मानव-समाज परस्पर कलह तथा वैमनस्यसे छिन्न-भिन्न हो रहा है। प्रबल समरानलके भीतर संसारकी अनेक जातियां अपना सर्वस्व स्वाहा कर रही हैं। विश्व नितान्त उद्विग्न है। मानवताके लिए

यह महान् संकटका समय है। इस सम्बन्धमें भी विचार करनेकी आवश्यकता है कि कालिदासका क्या कोई सन्देश है।

आशावाद

मानवजीवनमें नैराश्यवादके लिये स्थान नहीं है। जो लोग इसे मायिक बतलाकर निःसार तथा व्यर्थ मानते हैं उनका कथन किसी प्रकार प्रमाणिक नहीं है। जो जीवन हम बिता रहे हैं तथा जिससे हम अपना अभ्युदय प्राप्त कर सकते हैं उसे सारहीन क्यों मानें? कालिदासका कहना है कि देहधारियोंके लिये मरण ही प्रकृति है। जीवन तो विकृतिमात्र है। जन्तु श्वास लेता हुआ यदि एक क्षणके लिये भी जीवित है तो यह उसके लिये लाभ ही है—

मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवितमुच्यते बुधैः।
क्षणमप्यवतिष्ठते श्वसन् यदि जन्तुर्ननु लाभवानसौ॥

—(रघु० ८।८७)

इस जीवनको महान् लाभ मानना चाहिये तथा इसे सफल बनानेके लिये अर्थ, धर्म तथा कामका सामञ्जस्य उपस्थित करना चाहिये। इस त्रिवर्गमें धर्म ही सर्वश्रेष्ठ है (त्रिवर्गसारः प्रतिभाति भामिनि—कुमार० ५।३८) परन्तु अर्थ और काम अपनी स्वतन्त्रता और सत्ता बनाये रखनेके लिये धर्मसे विरोध कर सकते हैं। धर्मको दबाकर अर्थ अपनी प्रबलता चाहता है। और धर्मको ध्वस्त कर काम भी अपना प्रभाव जमाना चाहता है। इस विश्वमें आज धर्म-विरोधी अर्थ और कामका नग्न नृत्य हो रहा है। धर्म कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता। परन्तु भगवान् श्रीकृष्णके शब्दमें 'धर्मसे अविरुद्ध काम' भगवान्की ही विभूति है। कालिदासने अपने काव्यों तथा नाटकोंमें 'धर्माविरुद्धः कामोऽस्मि लोकेषु भरतर्षभ' इस गीता-वाक्यकी सत्यता अनेक प्रकारसे प्रमाणितकी है।

धर्म और कामका सामञ्जस्य

मदनदहनका रहस्य दिखलाया गया है। मदन चाहता था कि पार्वती के सुन्दर रूपका आश्रय लेकर समाधिनिरत शंकरके हृदय पर चोट करें। प्रकृतिमें वसन्तका आगमन होता है। लता वृक्ष पर झूल-झूलकर अपना प्रेम जताने लगती है। एक ही कुसुमपात्रमें भ्रमरी अपने सहचरके साथ मधु पान करती हुई मत्त हो जाती है। व्याधिके समान मदन संसारको त्रस्त करने लगता है। वह अपनी आकांक्षा बढ़ाता है और शंकर पर आक्रमण कर बैठता है। जगत्के कल्याण, आत्यन्तिक मंगलका नाम 'शंकर' है।

विश्व-कल्याण मदनकी उपासनामें नहीं है, प्रत्युत उसके धर्म-विरोधी रूपके दबानेमें है। काम अपनी प्रभुता चाहता है। विश्व-कल्याण पर अपना मोहन बाण छोड़ता है। शंकर अपना तृतीय नेत्र खोलते हैं। तृतीय नेत्र 'ज्ञाननेत्र' है। वह प्रत्येक मनुष्यके भ्रूमध्यमें विद्यमान है। परन्तु हमें सुप्त होनेसे उसके अस्तित्वका पता नहीं चलता। शंकरका वह नेत्र जाग्रत् है। इसी ज्ञानकी ज्वालामें मदनका दहन होता है। धर्मसे विरोधवाला काम भस्मकी राशि बन जाता है। शंकरको वशमें करनेके लिये पार्वती तपस्या करती है। धर्म-सिद्धिका प्रधान साधन है—तपस्या। बिना अपना शरीर तपाये तथा बिना हृदयस्थित दुर्वासना जलाय धर्मको भावना जाग्रत् नहीं होती। कालिदासने कामका जलना दिखाकर यही चिरन्तन तथ्य प्रकट किया है। पार्वतीने घोर तपस्या कर अपना अभीष्ट प्राप्त किया। इस प्रकार कालिदासकी दृष्टिमें काम तथा धर्मके परस्पर संघर्षमें हमें कामको दबाकर उसे धर्मानुकूल बनाना ही पड़ेगा। जगत्का कल्याण इसी भावनामें सिद्ध होता है।

व्यक्ति तथा समाज

व्यक्ति तथा समाजका गहरा सम्बन्ध है। व्यक्तिकी उन्नति वाञ्छनीय वस्तु है, परन्तु इसकी वास्तविक स्थिति समाजकी उन्नति पर अवलम्बित है। व्यक्तियोंके समुदायका ही नाम समाज है। कालिदास वैयक्तिक उन्नतिकी अपेक्षा सामाजिक उन्नतिके पक्षपाती है। उनका समाज श्रुतिस्मृतिकी पद्धति पर निर्मित समाज है। वह त्यागके लिये धन इकट्ठा करता है। सत्यके लिये परिमित भाषण करता है। यशके लिये विजयकी अभिलाषा रखता है, प्राणियों तथा राष्ट्रोंको पददलित करनेके लिये नहीं। गृहस्थीमें निरत होता है सन्तान उत्पन्न करनेके लिये; कामवासनाकी पूर्तिके लिये नहीं। कालिदास द्वारा चित्रित नरपति भारतीय समाजका अनुकरणीय आदर्श उपस्थित करते हैं। वे शैशवमें विद्याका अभ्यास करते हैं, यौवनमें विषयके अभिलाषी हैं। वृद्धावस्थामें मुनिवृत्ति धारण कर सारे प्रपञ्चसे मुँह मोड़कर निवृत्तिमार्गके अनुयायी बनते हैं तथा अन्तमें योग द्वारा अपना शरीर छोड़कर परम पदमें लीन हो जाते हैं। यह आदर्श भारतीय समाजकी अपनी विशेषता है—

त्यागाय संभृतार्थानां सत्याय मितभाषिणाम्।
यशसे विजिगीषूणां प्रजायै गृहमेधिनाम्॥
शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्धक्ये मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥

—(रघुवंश, १।७—८)

यज्ञ

उपनिषदोंमें धर्मके तीन स्कन्ध प्रतिपादित हैं--यज्ञ, अध्ययन और दान। इनके अतिरिक्त 'तपः' की महिमासे भारतीय धार्मिक साहित्य भरा पड़ा है। कालिदासने इन स्कन्धोंका विवेचन स्थान-स्थान पर बड़ी ही मनोरम भाषामें किया है। यज्ञका महत्त्व वे स्वीकार करते हैं। पुरोहित यज्ञके रहस्योंका ज्ञाता होता है। राजा दिलीप यह बात भली भाँति जानते हैं कि वसिष्ठ जी के यथाविधि सम्पादित होम द्वारा जलकी वृष्टि होती है जो अकालसे सूखनेवाले शस्यको हरा-भरा बनाती है--

हविरावर्जितं होतस्त्वया विधिवदग्निषु।
वृष्टिर्भवति शस्यानामवग्रहविशोषिणाम्॥

—रघु० १।६२

नरराज तथा देवराज---दोनोंका काम परस्पर संयोगसे मानवोंकी रक्षा करना है। नरराज पृथ्वीको दूहकर उससे सुन्दर वस्तुएँ प्राप्त-कर यज्ञ सम्पादन करता है और देवराज इसके बदलेमें शस्य उत्पन्न होनेके लिये आकाशसे दूहकर पुष्कल वृष्टि करता है ! इस प्रकार ये दोनों अपनी सम्पत्तिका विनिमय कर उभय लोकका कल्याण करते हैं—

दुदोह गां स यज्ञाय शस्याय मघवा दिवम्।
संपद्विनिमयेनोभौ दधतुर्भुवनद्वयम्॥

(—रघु० १।२६)

यज्ञपूत जलके द्वारा अनेक अलौकिक पदार्थोंकी सिद्धि हमारे महाकविको मान्य है। रघु सर्वस्वदक्षिण यज्ञके अनन्तर कौत्सकी याञ्चा पूरा करनेके लिये जिस रथ पर बैठते हैं उसे वसिष्टजीने

मन्त्रपूत जलसे अभिमन्त्रित कर दिया है और उसमें आकाश, नदी, पहाड़, आदि सब विकट तथा विषम मार्गों पर चलनेकी क्षमता है (रघु० ५।२७)। इस प्रकार कालिदासकी दृष्टिमें सामाजिक कल्याणके साधनोंमें यज्ञका भी महत्त्वपूर्ण स्थान है।

दान

दानकी गौरवगाथा गाते हुए हमारे महाकवि कभी अन्त नहीं पाते। समाज आदान-प्रदानकी भित्ति पर अवलम्बित है। धनी-मानी व्यक्तिका सञ्चित धन केवल उन्हींकी आवश्यकता अथवा व्यसन पूरा करनेके लिये नहीं है, प्रत्युत उसका सदुपयोग उन निर्धनोंकी उदर-ज्वाला शान्त करनेमें भी है जो समाजके विशेष अंग हैं। बृहदारण्यक उपनिषद्में डंकेकी चोट कहा गया है कि दैवीवाग् मेघगर्जनके रूपमें सदा पुकारती है--दाम्यत (अपने इन्द्रियोंको वशमें रखो), दत्त (दान दो) तथा दयध्वम् (दया करो)। यदि हमलोग इस दैवी वाणीकी पुकार सुनकर भी अनसुनी कर देते हैं, तो यह अपराध हमारा है। दानके बिना समाज छिन्न-भिन्न होकर ध्वस्त हो जायगा, इसमें सन्देह नहीं।

कालिदासने रघुवंशके पञ्चम सर्गमें दानका बड़ा ही उज्ज्वल दृष्टान्त प्रस्तुत किया है। वरतन्तुके शिष्य कौत्स गुरुदक्षिणाके लिये तब रघुके पास आते हैं जब उन्होंने अपनी सारी सञ्चित सम्पत्ति यज्ञमें दे डाली थी। रघु अलकापुरी पर चढ़ाई कर यक्षराज कुबेरसे धन पानेका उद्योग करते हैं। इतनेमें कोशमें सोनेकी वृष्टि होती है। राजाका आग्रह है कि शिष्य सम्पूर्ण धन ले जाय और उधर शिष्यका आग्रह है कि वह अपने कामसे अधिक एक कौड़ी भी न छूवेगा। दाता और ग्रहीताका यह आग्रह आश्चर्यजनक वस्तु है। यह दृश्य इस भारत महीके इतिहासमें भी दुर्लभ है, अन्य देशोंकी तो कथा ही क्या !

तप

तप—तप भारतीय संस्कृतिका मूल मन्त्र है। इसकी आराधनासे मनुष्य अपनी सारी कामनाओंकी ही पूर्ति नहीं करता, प्रत्युत परोपकारके यथावत् सम्पादनकी योग्यता भी अर्जन करता है। तपकी महिमासे हमारा साहित्य भरा पड़ा है। कालिदासने इसका महत्त्व बड़े ही भव्य शब्दोंमें अभिव्यक्त किया है। मदन-दहनके अनन्तर भग्नमनोरथ पार्वतीने तपको ही अपना एकमात्र अवलम्बन बनाया। जगत्की समग्र आशाएं छोड़कर वह इसकी सिद्धिमें लग गई। उसकी तपस्या इतनी कठोर थी कि कठिन शरीरसे उपार्जित मनुष्योंकी तपस्या उसके सामने नितान्त प्रभाहीन तथा प्रभावविहीन जान पड़ती। प्रकृतिके नाना प्रकारके विषम कष्ट झेलकर वह अपनी कामना सिद्धिमें सफल होती है। कालिदासने पार्वतीके तपका रहस्य विशेष रूपसे प्रकट किया है—

> इयेष सा कर्तुमवन्ध्यरूपतां
>
> समाधिमास्थाय तपोभिरात्मनः।
>
> अवाप्यते वा कथमन्यथा द्वयं
>
> तथाविधं प्रेम पतिश्च तादृशः॥
>
> —(कुमारसम्भव ५।२)

पार्वतीकी तपस्याका फल था—'तथाविधं प्रेम', अलौकिक उत्कट कोटिका प्रेम और 'तादृशः पतिः' उस प्रकारका मृत्युको जीतनेवाला महादेव रूप पति। जगत्के समस्त पति मृत्युके वश हैं। एक ही व्यक्ति मृत्युञ्जय है। महादेव ही मृत्युको भी जीतकर अपनी स्वतन्त्र स्थिति धारण कर सदा विराजते हैं। आज तक कोई भी कन्या मृत्युञ्जयको पतिरूपमें पानेमें समर्थ न हुई। और वह प्रेम भी कैसा ? कालिदासने 'तथाविधं' शब्दके भीतर गम्भीर अर्थकी अभिव्यञ्जना की है। शंकरने पार्वतीको अपने मस्तक पर स्थान दिया है। आदरकी भी

एक सीमा होती है। पत्नीको इतना उच्च स्थान प्रदान करना सत्कारका महान् उत्कर्ष है, आदरकी पराकाष्ठा है। अन्य देवताओंमें किसीने अपनी पत्नीको इतना गौरव नहीं प्रदान किया। भारतीय कन्याओंके लिये गौरीकी यह साधना अनुकरणीय वस्तु है। यही कारण है कि हमारी कन्याओंके सामने एक ही महान् आदर्श है, और वह है पार्वतीका। भारतीय समाजमें 'गौरीपूजा' का रहस्य इसी महान् स्वार्थ-त्यागके भीतर छिपा हुआ है। तपस्याने गौरीको इतना महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है।

तपस्या करनेवालेके ऋषियोंके भीतर विचित्र तेज छिपा रहता है, वे स्वयं शान्तिमें रमते हैं, सूर्यकान्त मणिकी भाँति वे छूनेमें बड़े कोमल हैं, परन्तु दूसरे तेजके द्वारा अभिभूत होते ही वे जलता हुआ तेज वमन करते हैं। वे किसीकी धर्षणा सह नहीं सकते। यही है तपस्याका प्रभाव—

> शमप्रधानेषु तपोधनेषु गूढं हि दाहात्मकमस्ति तेजः।
> स्पर्शानुकूला इव सूर्यकान्तास्तदन्यतेजोऽभिभवाद् वमन्ति ॥
>
> —शाकुन्तल, २।७

मांगलिक उपाय

आजकल समर-ज्वालामें दग्ध होनेवाले संसारके लिये कालिदासका सन्देश विशेष रूपसे उपादेय है। विश्वके मानवोंको चाहिये कि इस सुन्दर सन्देशको सुनकर अपने जीवनमें उसका बर्ताव करें। इस सन्देशको हम तीन तकारादि शब्दोंमें प्रकट कर सकते हैं—त्याग, तपस्या तथा तपोवन। विश्वकी शान्ति भंग करनेवाली वस्तुका नाम 'स्वार्थपरायणता' है। समस्त जातियाँ अपने बड़प्पनका स्वप्न देखती हुई अपने क्षुद्र स्वार्थकी सिद्धिमें निरत दिखाई पड़ती हैं। भयानक संघर्षका यही निदान है। इसका निवारण त्याग और तपस्याकी

साधनाके बिना कथमपि सम्पन्न नहीं हो सकता। पाश्चात्य जगत्ने नगरको विशेष महत्त्व दिया और उसका अनुकरण कर पूर्वी जगत् भी नागरिक सभ्यताकी उपासनामें दत्तचित्त हो चला, परन्तु कालिदासकी सम्मतिमें तपोवनकी गोदमें पली हुई सभ्यता ही मानवका सच्चा मंगल कर सकती है। जिसने हमारे देशको 'भारतवर्ष' जैसा मंजुल नाम प्रदान किया उस दौष्यन्ति भरतका जन्म मारीचके आश्रममें हुआ। गोचारणका फल रघुके जन्मके रूपमें प्रकट हुआ। दिलीपने अपनी राजधानीका परित्याग कर वसिष्ठके आश्रममें निवास किया तथा गुरुकी गायकी विधिवत् परिचर्या की। उसीका फल हुआ इन्द्र जैसे वज्रधारीके मानमर्दक वीरका उदय। तपोवनमें अलौकिक शान्ति तथा शक्तिका साम्राज्य छाया रहता है। प्रकृति निखिल विषमताको दूर कर समताके अभ्यासमें निरत रहती है। हिंसक पशु भी इसी नैसर्गिक शान्तिके कारण अपनी प्रकृति भुलाकर परस्पर मैत्रीभावसे निवास करते हैं।

कालिदासकी दृष्टिमें प्रपञ्चके पचड़ेमें पच मरनेवाला जीव दयाका पात्र है। सुखमें आसक्त जीवको तापस उसी दृष्टिसे देखता है जिससे स्नान करनेवाला व्यक्ति तैल मर्दन करनेवाले व्यक्तिको, शुचि अशुचिको, प्रबुद्ध सुप्त व्यक्तिको, स्वच्छन्द गतिवाला पुरुष बद्ध पुरुषको—

> अभ्यक्तमिव स्नातः शुचिरशुचिमिव प्रबुद्ध इव सुप्तम्।
> बद्धमिव स्वैरगतिर्जनमिह सुखसङ्गिनमवैमि॥
>
> —शाकुन्तल ५।११।

जब तक यह संसार त्याग और तपस्याका आश्रय लेकर तपोवनकी ओर न मुड़ेगा, तब तक इसकी अशान्ति कभी न बुझेगी, पारस्परिक कलह कभी न समाप्त होगा तथा वैमनस्यका नाश कभी न होगा।

कालिदासका विश्वमंगल सन्देश उनकी सर्वश्रेष्ठ रचनाके अन्तिम श्लोकमें एक ही पद्यके रूपमें प्रकट किया गया है:—

प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिवः
सरस्वती श्रुतिमहतां महीयताम् ।
ममापि च क्षपयतु नीललोहितः
पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः ॥

राजा प्रजाके हित साधनमें लगे। शास्त्रके अध्ययनसे महत्त्वशाली विद्वानोंकी वाणी सर्वत्र पूजित हो। शक्तिसम्पन्न भगवान् शंकर समग्र जीवोंका पुनर्जन्म दूर कर दें। इससे सुन्दर सन्देश और क्या हो सकता है ? राजाका प्रधान कार्य प्रजाका अनुरञ्जन है। अराजक राज्यके दुर्गुणोंसे हम भली भाँति परिचित हैं। राजाके बिना समाज उच्छिन्न हो जायगा, परन्तु राजाका प्रधान कर्त्तव्य होना चाहिये समाजकी रक्षा। राष्ट्रको उन्नति तथा अभ्युदयके मार्ग पर ले जानेवाले उसके विद्वज्जन ही होते हैं। अतः उनकी सरस्वतीका पूजन तथा समादर पवित्र कार्य है। राजा क्षात्र बलका प्रतीक है तथा विद्वज्जन ब्राह्म तेजके प्रतिनिधि हैं। इन दोनोंके परस्पर सहयोगसे ही देशका सच्चा कल्याण हो सकता है। ब्राह्मतेज तथा क्षात्रबलका सहयोग पवन तथा अग्निके समागमके समान नितान्त उपादेय तथा फलप्रद है। समाजकी सुव्यवस्था होनेपर व्यक्ति अपनी आध्यात्मिक उन्नति कर सकता है। इस प्रकार समाज तथा व्यक्तिका परस्पर अभ्युदय भारतीय संस्कृतिका चरम लक्ष्य है।

अनुक्रमणिका

(क)

ग्रन्थ और ग्रन्थकार

(ख)
पारिभाषिक शब्द

———

(ग)

आलोचना ग्रन्थ

हिन्दी पुस्तकें

१ भानु—काव्य प्रभाकर।

२ ,, छन्द प्रभाकर

३ पोद्दार—काव्य कल्पद्रुम।

४ ,, संस्कृत साहित्यका इतिहास।

५ परमानन्द शास्त्री—काव्यसर्वस्व

६ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—काव्यमें रहस्यवाद

७ ,, —रसमीमांसा

८ श्यामसुन्दर दास—साहित्यालोचन

९ विश्वनाथप्रसाद मिश्र—वाङमय विमर्श

१० गुलाब राय—नव रस

११ करुणापति त्रिपाठी—शैली

१२ रामदहिन मिश्र—काव्यालोक (द्वि० सं०)

१३ डा० नगेन्द्र—रीतिकाव्य की भूमिका

अहिन्दी पुस्तकें

1 S. K. De–Sanskrit Poetics, Vol. I. II
2 Kane –Introduction to Sahitya Darpana
3 काणे –साहित्यशास्त्र (मराठी)
4 गोदावरी बाई –भरतनाट्यशास्त्र (मराठी)
5 –रस-विमर्श („)
6 गोपीनाथ कविराज –रस ओ सौन्दर्य (बंगला)
7 Dr. Raghavan –Number of Rasas
8 „ –Some Concepts of Alamkara Shastra
9 „ – शृंगार प्रकाश (भाग १ और २, अं०)
10 P. Shastri –Philosophy of Aesthetic Pleasure
11 Dr. Bhagavan Das –Science of Emotions.
12 R. Sastri –Hindu Aesthetics.
13 Dr. Shankaran–Theories of Rasa and Dhwani.
14 Dr. Chaudhari –Riti and Guna
15 Dr. Nobel –Introduction to Indian Poetics
16 Hiriyanna –Hindu Aesthetics
17 गुह –सौन्दर्य शास्त्र (बंगला)
18 –Studies in Dhvanyaloka
19 डा० सुधीरकुमार दासगुप्त –काव्यालोक (प्रथमखण्ड; बंगला)
20 Dr. K. C. Pandeya –Comparative Aesthetics Vol I
21 Dr. Rakesh Gupta –Psychological Studies in Rasa